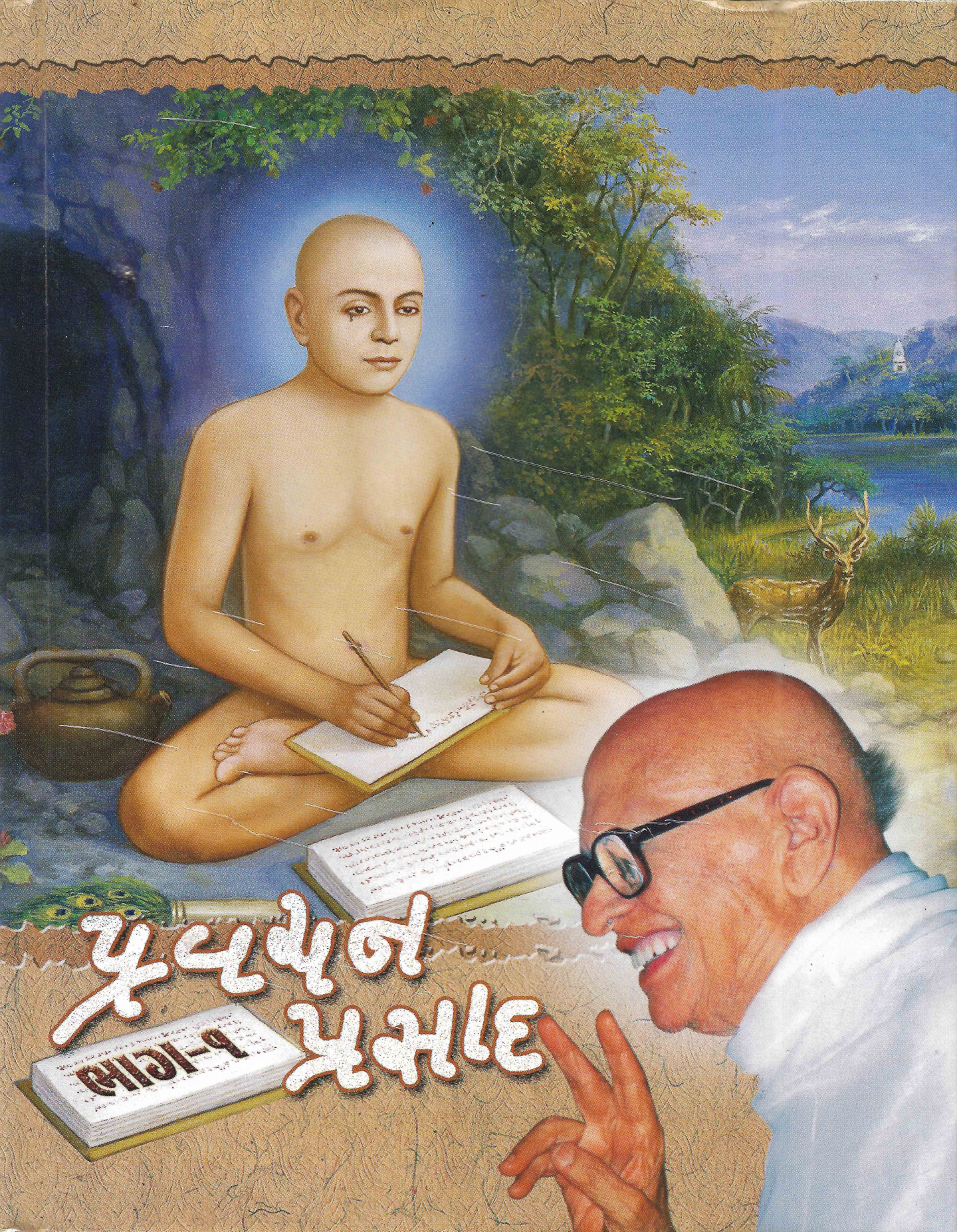




પ્રવચન પ્રભાત

સર્ગ-૧



श्री चीतरागाय नमः

पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद (भाग - 1)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस पूरित
मंगल प्रवचन (गाथा 1 से 104 तक)

: गुजराती संकलनकार :
श्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत्
2082

वीर संवत्
2551

ई. सन
2025

—: प्रकाशन :—

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की
मंगल जन्मजयन्ती के अवसर पर
वैशाख शुक्ल 2 (मंगलवार, 29 अप्रैल 2025)

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitravani.com, email - info@vitravani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।



प्रकाशकीय

सद्धर्म तीर्थ स्तम्भरूप भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आम्नाय-अन्तर्गत वर्तमान धर्म तीर्थ प्रवर्तित है। जिनके द्वारा प्ररूपित श्री पंचास्तिकायसंग्रह नामक परमागम द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य भगवन्त के हार्द प्रकाशक महान समर्थ टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य इस परमागम की प्रशस्ति में गाथा 103 की टीका करते हुए फरमाते हैं कि : 'वास्तव में समस्त ही (द्वादशांगरूप से विस्तीर्ण) प्रवचन, कालसहित पंचास्तिकाय से अन्य कोई भी प्रतिपादित करता नहीं...' तथा इस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीकाकार महान तपोधन श्री जयसेनाचार्यदेव फरमाते हैं कि 'पंचास्तिकायसंग्रह नाम संज्ञां ग्रन्थं-किं विशिष्टम्? प्रवचनसारं...' तथा पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा है कि : 'पंचास्तिकाय भेदज्ञान का कारण है।' 'पाँच अस्तिकाय का स्वरूप जानने का फल वीतरागता है।

ऐसे इस पंचास्तिकायसंग्रह की गाथा 1 से 104 पर अध्यात्म युगप्रवर्तक प्रत्यक्ष परमोपकारी मंगलमूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संकलनरूप प्रस्तुत श्री पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद, भाग-१ नामक इस ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

प्रस्तुत प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रत्येक द्रव्य की स्वयंसिद्धता, निरपेक्षता, अहेतुकता, परिपूर्ण स्वतन्त्रता, अनन्त विभूता और ऐश्वर्यतादि का सिंहनाद करके आत्मार्थी मुमुक्षुओं पर अनुपम उपकार किया है, जिसका प्रतिउपकार करने में कोई समर्थ नहीं है। जो आत्मार्थी जीव स्वावलम्बन द्वारा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप को स्वीकार करे, तो उसका भवच्छेद हो जाता है, यह निःसंशय है; इसलिए यह प्रवचन परम अमृततुल्य है।

वर्तमान अध्यात्मयुग में पूज्य गुरुदेवश्री एक अजोड़ युगपुरुष हुए, जिनके प्रभावनायोग में महत्वपूर्ण योग है, ऐसे पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के प्रति उपकार अंजलि व्यक्त करते हैं, जिनकी अन्तर्बाह्य दशा आत्मार्थी जगत को अतुल आदर्शरूप है।

सुज्ञ पाठकों की सुविधा हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रमशः मूलगाथा, संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, समयव्याख्या टीका अनुवादसहित प्रकाशित की गयी है। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन प्रस्तुत किया गया है।

इसी ग्रन्थ की गाथा 103 पर पूज्य गुरुदेवश्री के विशिष्ट प्रवचन (1) आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन, (2) आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मनिर्णय, (3) आत्मार्थी जीवों को वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन प्रवचन परिशिष्टरूप से प्रकाशित किये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों का संकलन स्वर्गीय आत्मार्थी श्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ ने अकथ्य परिश्रम से किया है जो तत्कालीन प्रकाशित होनेवाली 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' नामक दैनिक पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। उनका यह प्रयास उनके अन्तरंग में विद्यमान गुरुभक्ति को प्रदर्शित करता है, उनके इस महान प्रयास का फल था कि मुमुक्षुओं को प्रतिदिन होनेवाले गुरुदेवश्री के प्रवचनों का लाभ इस पत्रिका के माध्यम से प्राप्त होता रहा, जो सन् 1950 से 1956 तक नियमितरूप से प्रकाशित हुआ, इस महान कार्य के लिये मुमुक्षुगण उनके चिरऋणी हैं। हम उनके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसी ग्रन्थ पर गुरुदेवश्री के उपलब्ध सी.डी. प्रवचनों का प्रकाशन पंचास्तिकाय संग्रह प्रवचन भाग 1 से 4 तथा पंचास्तिकाय प्रकाश भाग 1 से 4 तक पूर्व में इसी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब प्रस्तुत संकलित प्रवचनों का प्रकाशन होने से पंचास्तिकायसंग्रह के हमारी जानकारी के अनुसार उपलब्ध सभी प्रवचनों का प्रकाशन पूर्ण हो चुका है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है।

सभी आत्मार्थीजन प्रस्तुत प्रवचन संग्रह का स्वाध्याय कर निज आत्महित साधें, इसी भावना के साथ -

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई



अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी (संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव ।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था ।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली । दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा ।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया । सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं । जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है ।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित ‘समयसार’ नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **‘सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है ।’** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है । इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ । भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा । तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है । इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी । अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया ।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल 'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से)

आत्मधर्म नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरू हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वी सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरू किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन

तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरू हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्पेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज

परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिङ्गी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता ।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है ।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं ।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है ।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं ।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती ।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है ।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है ।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है ।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं ।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तों !

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तों !!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों !!!



अनुक्रमणिका

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक	श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
श्लोक १	१	गाथा २४	२०१
श्लोक २	७	गाथा २५	२०७
श्लोक ३	१२	गाथा २६	२११
श्लोक ४	१७	गाथा २७	२१४
श्लोक ५	१८	गाथा २८	२२४
गाथा १	२२	गाथा २९	२३३
गाथा २	२७	गाथा ३०	२४५
गाथा ३	३२	गाथा ३१-३२	२५४
गाथा ४	४२	गाथा ३३	२६१
गाथा ५	५६	गाथा ३४	२६७
गाथा ६	७६	गाथा ३५	२७३
गाथा ७	८१	गाथा ३६	२७६
गाथा ८	८४	गाथा ३७	२८१
गाथा ९	१०४	गाथा ३८	२८८
गाथा ९	१०४	गाथा ३९	२९८
गाथा १०	११४	गाथा ४०	३०१
गाथा ११	१२४	गाथा ४१	३०३
गाथा १२	१२८	गाथा ४२	३१६
गाथा १३	१३३	गाथा ४३	३२४
गाथा १४	१३७	गाथा ४४	३३१
गाथा १५	१४४	गाथा ४५	३३९
गाथा १६	१४७	गाथा ४६	३५२
गाथा १७	१५६	गाथा ४७	३६८
गाथा १८	१६१	गाथा ४८	३७४
गाथा १९	१६६	गाथा ४९	३८३
गाथा २०	१७१	गाथा ५०	३९२
गाथा २१	१८४	गाथा ५१-५२	३९५
गाथा २२	१९३	गाथा ५३	४०१
गाथा २३	१९६	गाथा ५४	४०८

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक	श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
गाथा ५५	४११	गाथा ८२	५८९
गाथा ५६	४१४	गाथा ८३	५९४
गाथा ५७	४२२	गाथा ८४	५९७
गाथा ५८	४२६	गाथा ८५	६००
गाथा ५९	४३५	गाथा ८६	६०४
गाथा ६०	४४२	गाथा ८७	६०७
गाथा ६१	४४७	गाथा ८८	६११
गाथा ६२	४४९	गाथा ८९	६१७
गाथा ६३	४६०	गाथा ९०	६२१
गाथा ६४	४६३	गाथा ९१	६२३
गाथा ६५	४६५	गाथा ९२	६३१
गाथा ६६	४७१	गाथा ९३	६३४
गाथा ६७	४७५	गाथा ९४	६३७
गाथा ६८	४८२	गाथा ९५	६४१
गाथा ६९	४८६	गाथा ९६	६४४
गाथा ७०	४९४	गाथा ९७	६४७
गाथा ७१-७२	५००	गाथा ९८	६५०
गाथा ७३	५२५	गाथा ९९	६६०
गाथा ७४	५२८	गाथा १०१	६७०
गाथा ७५	५३१	गाथा १०२	६७२
गाथा ७६	५३८	गाथा १०३	६७६
गाथा ७७	५४५	गाथा १०४	६८८
गाथा ७८	५४८	परिशिष्ट-१	६९४
गाथा ७९	५६०	परिशिष्ट-२	७०३
गाथा ८०	५६९	परिशिष्ट-३	७१०
गाथा ८१	५८४		



ॐ

श्री वीतरागाय नमः

पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद

(भाग १)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्रीपंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस पूरित मंगल प्रवचन

षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायवर्णन

मूल गाथाओं का तथा 'समयव्याख्या' नामक टीका का हिन्दी अनुवाद

[प्रथम, ग्रन्थ के आदि में श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत प्राकृतगाथाबद्ध इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक शास्त्र की 'समयव्याख्या' नामक संस्कृत टीका रचनेवाले आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोक द्वारा मंगल के हेतु परमात्मा को नमस्कार करते हैं:—]

प्रवचन :

*वीर संवत् २४७८, आसोज कृष्ण ४, मंगलवार, दिनांक २३-१०-१९५६

अरहन्त सर्वज्ञ वीतरागदेव नमस्कार करनेयोग्य हैं।

यह पंचास्तिकाय नया प्रकाशित हुआ है, इसकी आज शुरुआत होती है। आज मंगलवार है, गुजराती में इसका अक्षरशः भाषान्तर पहली ही बार होता है। सर्वज्ञदेव परमात्मा ने त्रिकाल ज्ञान में पदार्थों को जाना, उन्हें कहा, उसी प्रकार से निर्णय में लाकर जो जानता-मानता है, उसे तत्त्वार्थों का और हित-अहित का सच्चा ज्ञान होता है। गुजराती प्रकाशन में पहले-पहले यह वाँचन होता है। पण्डितभाई श्री हिम्मतभाई शाह

* प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचास्तिकाय के श्लोक १ से ६ तक के प्रवचन अनुपलब्ध होने से इन प्रवचनों को १९५६ के सद्गुरु प्रवचन प्रसाद (दैनिक) से लिये गये हैं।

ने निष्पृहता से-उत्साह से यह सब मेहनत की है। श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री नियमसार, श्री पंचास्तिकाय का अक्षरशः अनुवाद किया है। समयसार तथा नियमसार का अर्थ हिन्दी में था, परन्तु पंचास्तिकाय और प्रवचनसार का हिन्दी में अक्षरशः अनुवाद नहीं था। अभी उनका अक्षरशः गुजराती में अनुवाद पहली ही बार प्रकाशित हो रहा है।

जगत में सर्वज्ञ परमात्मा ने छह द्रव्य देखे हैं, उनमें पाँच अस्तिकाय हैं तथा असंख्य कालाणु हैं, वे बहुत प्रदेशी नहीं होने से अस्तिकाय नहीं हैं। जगत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी भिन्न-भिन्न हैं। पुण्य-पाप हो, वह विकार है, उनसेरहित ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान-लीनता का अनुभव करे, वह पुण्य-पाप को हेय जानता है, अपना स्वभाव उपादेय जानता है।

ॐ पहला शब्द है। परमात्मपद और केवलज्ञानदशा प्रगट होने के पश्चात् तीर्थकरदेव को ॐकारमयी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है, और ॐ में पंच परमेष्ठी आ जाते हैं। जैसे कि अरहन्त का अ; अशरीर सिद्ध का अ; आचार्य का आ; उपाध्याय का उ और मुनियों का म — पाँच अक्षर का समास करने पर ॐ होता है। इससे इन पाँचों पदों का संक्षिप्तरूप है। मांगलिकरूप से प्रथम शब्द ॐ रखा है। आत्मा की ज्ञानज्योति को साध्य बनाकर उसमें एकाग्रता से अरहन्तदशा प्रगट होने पर तीन काल-तीन लोक जाने और आकुलता न रही। सर्वज्ञ पद प्राप्त किया, उन्हें अठारह दोषरहित वीतरागदशा हुई, उन्हें नमस्कार करते हैं। आत्मा में सर्वज्ञ, शान्ति स्थित है, उसे ध्येय में लेकर नमस्कार करते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हुई, उसे नमस्कार करते हैं। हमको संयोग, राग तथा अल्पज्ञता का आदर नहीं है, हमको सर्वज्ञस्वभाव का आदर है। ऐसा समझकर सर्वज्ञदेव को नमस्कार करते हैं।

श्री अर्थात् पवित्र स्वरूप लक्ष्मीवाले ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को नमस्कार करते हैं। जो महिमावन्त भावलिंगी निर्ग्रन्थ नग्नदिगम्बर मुनि थे, जिन्होंने भरतक्षेत्र में सत्श्रुत की प्रतिष्ठा की है, जिन्होंने वर्तमान काल में तीर्थकर जैसा दिव्य कार्य किया है, उन्हें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नमस्कार करते हैं। पंचास्तिकाय शास्त्र की मूल गाथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा हुई है। यहाँ पाँच अस्तिकाय का वर्णन है, इसलिए इस शास्त्र का नाम 'पंचास्तिकाय संग्रह' है।

छह द्रव्य, पंचास्तिकाय वर्णन

छह द्रव्य में काल आ जाता है। पंचास्तिकाय द्रव्यों में कालद्रव्य गौणरूप से आता है। ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्तर की श्रेणी में शुद्धि की वृद्धि होने पर जिन्हें बहुत राग नाश हुआ है—ऐसे अन्तर और बाह्य निर्ग्रन्थ सच्चे भावलिंगी मुनि श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए, उनकी यह टीका है। प्राकृत भाषा की मूल गाथायें और समयव्याख्या नाम की टीका का गुजराती अनुवाद तथा मूल गाथाओं का हरिगीत छन्द में भाषान्तर श्री हिम्मतभाई पण्डितजी ने बहुत अन्तरंग से किया है। समय अर्थात् पदार्थ, उनकी व्याख्या वह समयव्याख्या।

प्रथम ग्रन्थ के आदि में भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत प्राकृत गाथाबद्ध इस पंचास्तिकाय संग्रह नामक शास्त्र की समयव्याख्या नाम की संस्कृत टीका रचनेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोक के द्वारा मंगल के लिये परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

★ ★ ★

श्लोक - १

सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय महीयसे।
नमोऽनेकान्तविश्रान्तमहिम्ने परमात्मने॥१॥

[श्लोकार्थः-] सहज आनन्द एवं सहज चैतन्यप्रकाशमय होने से जो अति महान है तथा अनेकान्त में स्थित जिसकी महिमा है, उस परमात्मा को नमस्कार हो। [१]

परम ज्ञान और आनन्द प्रगट हुए परमात्मा को नमस्कार हो।

आत्मा के अन्तरंग में पूर्ण आनन्द है, वह जिन्होंने प्रगट किया है, जिन्हें कुछ दुःख रहा ही नहीं, कोई कार्य भी करना बाकी नहीं, वे कृतकृत्य परमात्मा हैं, उन्हें नमस्कार हो! बाह्य विषयों के आश्रव में आकुलता ही है, सुख नहीं। आत्मा सत् अर्थात् कायम रहनेवाला है तथा ज्ञानानन्द उसका स्वरूप है, उसकी ज्ञान-श्रद्धा एकता द्वारा जिन्होंने पूर्ण ज्ञानानन्द प्रगट किया, वे परमात्मा कहलाते हैं। आत्मा में पूर्ण आनन्द था,

वह प्रगट कर दिया, जैसे छोटी पीपर में दाने-दाने में चौंसठ पहरी चरपराहट है, वह प्रगट होती है। सोलह आना उसकी शक्ति प्रगट होती है, तब उसका पूर्णरूप कहलाता है और वह सर्दी को उड़ा देता है, उसी प्रकार आत्मा त्रिकाल रहनेवाला है। शक्तिरूप से उसमें पूर्ण ज्ञान-आनन्द है, उसका अवलम्बन लेकर पूर्ण आनन्द प्रगट किया, वह परमात्मा है। सहज अर्थात् स्वाभाविक आनन्द। मांगलिक में सहज आनन्द की बात उठाते हैं।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मस्वरूप। देह से भिन्न आत्मा है, देह-मन-वाणी मैं नहीं पुण्य-पाप विकार है, वह मैं नहीं। आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है। वह ज्ञानानन्द प्रगट किया, उसे पहिचानकर उसका आदर करता हूँ। आत्मा का आनन्द आत्मा में है, शरीर और संयोग में नहीं। जो वर्तमान दशा में परमात्मा हुए। उन्हें संयोग की आवश्यकता नहीं, पुत्र-पुत्री और भाई की भी आवश्यकता नहीं। जीव को भाई के प्रति राग होता है, उसमें सुख नहीं, सुख तो आत्मा में है। निर्लेप परमात्मा समान मेरा आत्मा शक्तिरूप से विद्यमान है, निश्चय से उसका आदर करता हूँ, व्यवहार से आपका आदर करता हूँ।

पूरी दुनिया को सुख का ध्येय है। सुख मिले और दुःख न मिले, ऐसा चाहते हैं परन्तु ऐसा सुख कहाँ है ? सुख का स्वरूप क्या है और वह कैसे प्रगट हो, इसकी खबर नहीं। मोटरगाड़ी चलावे, उसमें सुख प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसी इच्छा-आशावाले का आदर नहीं करके कृतकृत्य परमात्मदशा को प्राप्त हैं। उन्हें ही नमस्कार हो ! आत्मा में ही स्वाभाविक आनन्द है। तीन कषाय (चौकड़ी) रहित अतीन्द्रिय सहज आनन्द मुनि को प्रगट हुआ है, ऐसे मुनि अन्तर-आनन्द में निरन्तर झूलते हैं-सच्ची मौज करते हैं। अन्तर में आनन्द ही देखते हैं। पूर्णानन्द की श्रद्धा करते हैं और इसमें स्थिरता करते हैं, उसकी मुख्यता है परन्तु अभी वर्तमान दशा में पूर्ण आनन्द प्रगट नहीं हुआ, इसलिए जिन्हें पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ है, उन्हें नमस्कार करते हैं। आत्मा में ज्ञानज्योति है, उसमें एकाग्रतारूप घिसावट से उसे प्रगट करते हैं। अकेला समस्वभावी चैतन्यसूर्य उदित हो गया है। केवलज्ञानमय चैतन्यज्योति प्रकाशमय है, इसलिए वह तीन लोक में महिमावन्त है। परमात्मा को महिमा का कारण यह है कि उसमें तीन काल-तीन लोक को प्रकाशित

करे, ऐसा दिव्यज्ञान प्रगट हुआ है। ऐसा सहज आनन्द आनन्दमय, प्रकाशमय आत्मा है। पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए हैं। इसलिए वे परमात्मा हैं। जिन्हें राग-द्वेष बाकी है और संसार के भय करना बाकी है, उन्हें परमात्मा नहीं कहा जाता, महान नहीं कहा जाता। अरबों रुपये का दान दे, वह भी महान नहीं। अन्तर में निर्मल प्रकाशमय आत्मा हो गया, उसकी महत्ता है। ज्ञान और आनन्द में खण्ड-खण्ड होता था, अब अखण्ड ज्ञानानन्द दशारूप हो गया है, इसलिए भगवन्त है, महान है।

हे परमात्मा! आप आपमें हो और पर में नहीं, ऐसे अनेकान्त में आपकी महिमा है।

भगवान! आपको पूर्ण ज्ञानानन्द प्रगट हुए हैं। इसलिए उसमें अधूरा ज्ञान नहीं, दुःख नहीं। एक गुण है, वह दूसरे गुणरूप नहीं। एक गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह उससे है, दूसरे गुण से नहीं। किसी निमित्त से नहीं। स्व से है, पर से नहीं—ऐसे परम अमृत अनेकान्तस्वरूप में आप स्थित हैं। आत्मा शक्तिरूप से था, वह पर्याय में शुद्धतारूप से प्रगट हुआ, उसे परिभ्रमण नहीं। पूर्ण ज्ञानानन्ददशा प्रगटी है, वह कभी अभावरूप हो, ऐसा नहीं। स्वयं परपदार्थों से अभावरूप है, परपदार्थ के भावरूप नहीं। अपने में भी स्थित है और पर में भी स्थित है, ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। ज्ञान को करे तथा राग को भी करे, ऐसा नहीं। आत्मा अपना तथा अन्य जड़-चेतन का कार्य भी करे, ऐसा अनेकान्त स्वरूप नहीं है। हे सर्वज्ञदेव! आप आपमें ही हैं और अनन्त ज्ञेय परपदार्थों में नहीं। अर्थात् परद्रव्य की सत्ता में आपका अभाव है और ऐसा स्वरूप आपने सर्व पदार्थों का देखा है—कहा है। जगत जगतरूप से और परमात्मारूप से हो, ऐसा नहीं होता। अनन्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु द्रव्य उनके अस्तित्व से ही हैं, परन्तु आपकी महिमा आपमें ही है। उनके कारण से आपकी महिमा है, पर के कारण से किसी की महिमा नहीं है।

दूसरे को सहायता करे मदद करे दूसरों के कार्य करे, ऐसा स्वभाव नहीं है। स्वयं अपनेरूप से है, पररूप से नहीं, ऐसी अनेकान्त की महिमा है। पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय में आप हो। अल्पज्ञता तथा रागादि में आप नहीं। ऐसा अनेकान्त से सिद्ध सिद्धान्त है। पर से स्वयं हो और और अपने से परवस्तु की अस्ति हो तो वस्तु का वस्तुपना ही नहीं रहता। स्वयं सर्वज्ञ वीतरागरूप से हो और इच्छा-रोगादिसहित हो क्रमिक उपयोगवान

हो तो पूर्ण दशा में स्थित नहीं, इसलिए यहाँ अनेकान्त में स्थित की बात कही है। आप पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ हो और किंचित् राग तथा अल्पज्ञरूप से नहीं, ऐसी परमेश्वरता से आप हो, ऐसे अनेकान्त में आप हो; इसलिए आपको नमस्कार करता हूँ। अपूर्णता का-राग का आदर नहीं करता।

आप जगत को जानते हो। ऐसा सर्वज्ञता में है परन्तु जगत आपमें और आप जगत में हो, ऐसा इसमें नहीं आता। आप पूर्ण ज्ञानानन्द हो। उससे विपरीत में नहीं, इसलिए आप जगत के सुख-दुःख की रचना करो, ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा हो तो चोरी, हिंसा, झूठ, कसाईखाना आदि निन्द्य कार्य में भी आपका कार्य सिद्ध हो और इससे तो अमहिमा है। इसलिए 'कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्धस्वभाव, अथवा प्रेरक वह गिने ईश्वर दोष प्रभाव।' ऐसा कहा है।

अनन्त परमात्मा हैं। आपके अतिरिक्त अनन्त परमात्मा हुए, वे आपमें नहीं, ऐसा पहिचानकर, परमात्मा हुए उन सर्व को मेरा नमस्कार हो! जीव वस्तु स्वभाव में परिपूर्ण ही होती है और पर्याय में प्रगटे तब परिपूर्ण होता है। हे सर्वज्ञ भगवान! आप ही कृतकृत्य हो। जिन्हें कार्य करना बाकी रहे, वे दुःखी कहलाते हैं। आपको सहज आनन्ददशा प्रगटी है। आप स्व में हो और पर में नहीं, ऐसी अनेकान्तदशा प्रगटी है। वह महामांगलिक है। यह मंगलमय माणेकस्तम्भ है। विवाह में माणेकस्तम्भ का स्थापन करते हैं, वहाँ तो चार गति में भटकने की बात है। यहाँ पूर्ण पवित्र परमात्मा का आदर करके मांगलिक के माणेकस्तम्भ रोपे हैं। जिन्होंने आत्मा में परमात्मा की स्थापना की, वे क्रम-क्रम से परमात्मा होनेवाले हैं। इस प्रकार परमात्मा को नमस्कार करके मांगलिक किया है। मण्डप में बड़ों को बुलाते हैं परन्तु यहाँ तो परमात्मा ही बड़े हैं। ऐसे परमात्माओं का मैं सत्कार करता हूँ, सन्मान करता हूँ, आदर करता हूँ, ऐसे पूर्ण स्वभाव की ओर ढलता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग को नमस्कार करते हैं।



श्लोक - २

[अब टीकाकार आचार्यदेव श्लोक द्वारा जिनवाणी को स्तुति करते हैं:—]

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।

स्यात्कारजीविता जीयाजैनी सिद्धान्तपद्धति॥२॥

[श्लोकार्थः—] 'स्यात्कार जिसका जीवन है, ऐसी जैनी (-जिनभगवान की) सिद्धान्तपद्धति—जो कि 'दुर्निवार नयसमूह के 'विरोध का नाश करनेवाली औषधि है वह—जयवन्त हो। [२]

जैन सिद्धान्त का जीवन स्यात्कार है।

जिन्हें परम आनन्द ज्ञानदशा हुई उनकी वाणी कैसी होती है ? उन्हें राग रहा नहीं इसलिए उनकी वाणी में अनेकान्त अमृतमय वीतरागता बरसती है, परपदार्थ की उपेक्षा और ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करावे, ऐसी अनेकान्तमय वाणी को परमात्मा की वाणी अथवा जिनवाणी कहते हैं। आपने आत्मा को वीतरागस्वभावी पहिचाना। रागादि कर्तृत्व का निषेध करके ज्ञातास्वभाव बतलाया, ऐसी वाणी को नमस्कार हो ! जिनेश्वर कथित सिद्धान्त कैसा है ? कि स्यात्कार जिसका जीवन है। आत्मा है ? किस अपेक्षा से ?

१. 'स्यात्' पद जिनदेव की सिद्धान्तपद्धति का जीवन है। (स्यात्=कथञ्चित्; किसी अपेक्षा से; किसी प्रकार से।)
२. दुर्निवार=निवारण करना कठिन; टालना कठिन।
३. प्रत्येक वस्तु नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक अन्तमय (धर्ममय) है। वस्तु की सर्वथा नित्यता तथा सर्वथा अनित्यता मानने में पूर्ण विरोध आने पर भी, कथञ्चित् (अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा से) नित्यता और कथञ्चित् (अर्थात् पर्याय-अपेक्षा से) अनित्यता मानने में किञ्चित् विरोध नहीं आता—ऐसी जिनवाणी स्पष्ट समझती है। इस प्रकार जिनभगवान की वाणी स्याद्वाद द्वारा (अपेक्षा कथन से) वस्तु का परम यथार्थ निरूपण करके, नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मों में, (तथा उन-उन धर्मों को बतलानेवाले नयों में) अविरोध (सुमेल) अबाधितरूप से सिद्ध करती है और उन धर्मों के बिना वस्तु की निष्पत्ति ही नहीं हो सकती—ऐसा निर्बाधरूप से स्थापित करती है।

अपनी अपेक्षा से है। आत्मा नहीं? हाँ, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं, पर से अभावरूप है। सर्वथा नहीं, ऐसा नहीं, किसी अपेक्षा से लेना, आत्मा को नित्य ही कहना अथवा अनित्य ही कहना, ऐसा नहीं। कोई सम्यक् अपेक्षा से एक-एक धर्म को निश्चितरूप कहे वह स्यात्वाद है। जिस अपेक्षा से नित्यधर्म है, वह नित्य ही है, अनित्य नहीं। निश्चय मोक्षमार्ग वीतरागभाव ही है, सरागभाव नहीं। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है, राग और निमित्तादि के आश्रय से नहीं, ऐसा नियम है, इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार, वह मोक्षमार्ग नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग में सहचर होता है। विरुद्ध व्यवहार होता नहीं, यह बतलाने के लिये शुभराग को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। अर्थात् कि वह निश्चय से मोक्षमार्ग नहीं है। इसका नाम स्यात्वाद है।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी स्यात्कार द्वारा विरोध मिटाती है।

नयों के समूह के विरोध का नाश करनेवाली औषधि स्यात्कार है। दो नयों के विषयों में विरोध होने पर भी सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से उस विरोध को उत्पन्न न होने दे। शुद्ध-अशुद्धता में विरोध दिखता है तो भी नय की अपेक्षा विरोध का नाश करती है। क्योंकि एक ही आत्मा में वर्तमान पर्याय में अशुद्धता है और उसी द्रव्य के स्वभाव में पूर्ण शुद्धता है। ऐसा कहकर एकान्त मत का निराकरण करते हैं। वह जयवन्त वर्तों, ऐसा कहकर आचार्यदेव ने आह्लाद बतलाया है।

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान।

गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥

भगवान की वाणी निमित्तरूप से औषधि है। आत्मा और परमाणु इत्यादि सर्व द्रव्य अपनी शक्ति से कायम रहनेवाले हैं, इसलिए नित्य हैं। अपनी-अपनी सत्ता में नवीन-नवीन पर्याय की उत्पत्तिरूप और पूर्व पर्याय के व्ययरूप कार्य किया करते हैं, ऐसे अनित्य हैं। जड़ जड़रूप रहता है और नये-नये काम करता है, आत्मा और परमाणु इत्यादि स्वयं टिककर क्षण-क्षण में अवस्था बदलते हैं। कायम न रहे तो अनुभव करनेवाला न रहे।

एक ही वस्तु में नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि

वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानो और पर्याय अपेक्षा से अनित्य न मानो तो विरोध आता है। सर्वथा अनित्य ही मानो तो भी वस्तु की साबिती नहीं होती और पूरा-पूरा विरोध आता है। इसलिए एक धर्म उस धर्मरूप से सत् है, परन्तु दूसरे धर्म अपेक्षा से असत् है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म एक साथ है, तथापि विरोध नहीं आता। आत्मा सर्वथा नित्य ही हो तो उसे दुःख टलकर शान्ति प्रगट करने का रहता नहीं। जिस अपेक्षा से नित्य है, उस अपेक्षा से अनित्य नहीं। जिस अपेक्षा से आत्मा इत्यादि सर्वपदार्थ सर्वथा नित्य है परन्तु उतना एक धर्म जितना मान ले तो एकान्त विषरूप का दोष आता है तथा सर्वथा अनित्य मानो तो भी विरोध आता है। आत्मा इत्यादि प्रत्येक पदार्थ कायम टिके रहने की अपेक्षा से नित्य है, परन्तु नवीन पर्यायरूप से पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। द्रव्य अपेक्षा से सर्वथा नित्य कहो तो उचित है, परन्तु द्रव्य अपेक्षा से कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य ऐसा नहीं है।

अनेकान्त ही सर्व वस्तु का स्वतन्त्रपना अस्ति-नास्ति से स्वयंमेव प्रसिद्ध करता है।

वस्तु द्रव्य अपेक्षा से नित्य है और पर्याय में पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। जीव है, उसने चार गति में अनन्त बार नये-नये अवतार धारण किये, परन्तु जीव वह का वह है। उसके विचार और इच्छायें बदलती हैं, परन्तु आत्मा पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जगत के जितने पदार्थ हैं, वे सत् लक्षणवाले होने से किसी वस्तु का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, परन्तु अवस्थान्तर होता है। आत्मा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सर्वथा नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सर्वथा अनित्य है। ऐसा कहना बराबर है; परन्तु आत्मा ही सर्वथा नित्य है और सर्वथा अनित्य है, ऐसा नहीं कहा जाता, इसलिए कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ में अस्ति-नास्तिरूप दो अपेक्षा है, उस द्वारा अनन्त धर्मों को धारण करनेवाली अखण्ड वस्तु की सिद्धि होती है। अनन्त जीव और अजीव पदार्थ साबित होते हैं। आत्मा कायम रहनेवाला, वह नित्यता की अपेक्षावाला एक भंग है। बदलनेवाला है, वह अनित्यता की अपेक्षावाला भंग है। स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा, स्यात्कार निर्बाध वचन है, वह आत्मा द्रव्य से नित्य है और पर्याय से सर्वथा अनित्य है, ऐसा कहकर विरोध मिटा देता है।

संसारदशा में आत्मा द्रव्य अपेक्षा से शुद्ध है और वही आत्मा पर्याय अपेक्षा से अशुद्ध है। सर्वथा शुद्ध नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। तू कायम तुझसे रहनेवाला है और तुझसे पलटनेवाला भी तू ही है। इससे सिद्ध होता है कि दूसरे पदार्थ भी कायम रहनेवाले सत् हैं, इसलिए उनसे है, दूसरे से नहीं। इसलिए तू उनकी रक्षा कर सकता है अथवा पलटा सकता है, ऐसा नहीं है। दूसरे अनन्त द्रव्य हैं, वे टिके रहें तो द्रव्य के कारण से और पलटते हैं तो उसकी पर्याय शक्ति के ही कारण से, परन्तु तेरे कारण से नहीं। इसका नाम सच्चा अनेकान्त है। वस्तु को सर्वथा नित्य-अनित्य माने तो विरोध आता है, परन्तु द्रव्य अपेक्षा से सर्वथा नित्य कहे और पर्याय अपेक्षा से सर्वथा अनित्य कहे तो विरोध नहीं है।

भवरोग के औषधरूप जिनवाणी जयवन्त वर्तों।

इस प्रकार जिन भगवान की वाणी स्याद्वाद द्वारा अपेक्षा के कथन से वस्तु का परम यथार्थ निरूपण करती है। परवस्तु पर के कारण से है, तेरा टिकना-पलटना तेरे कारण से है। इस प्रकार पर से उदासीन होकर स्वभाव सन्मुख ढलना, वह धर्म है। तेरा पलटने का धर्म है, वह धर्म क्या दूसरे कर देंगे? नहीं। मुझे मोक्षदशारूप पलटना है, परन्तु पलट नहीं सकता तो किसके कारण से तेरी ही अशुद्धता के कारण से है। जड़कर्म के कारण से मोक्षदशा नहीं होती, ऐसा नहीं है। पलटना तेरा धर्म है, वह तुझसे ही होता है; पर से नहीं, ऐसा नियम बतलानेवाली जिनवाणी ही वस्तु का परमयथार्थ निरूपण करती है। नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मों को और वे-वे धर्म बतलानेवाले नयों में अविरोध (सुमेल) अबाधितरूप से सिद्ध करती है। निश्चितरूप से वे-वे धर्म बताते हैं। एक-एक धर्म विषय है और एक-एक नय विषयी है। इस प्रकार अबाधितरूप से प्रत्येक वस्तु को अखण्डरूप से सिद्ध करती है। कायम रहना सदृशरूप से है पलटना विसदृश पर्याय से है। ऐसा अबाधरूप से सिद्ध करके पूर्वापर बाधा न आवे, ऐसा साबित करती है। आत्मा द्रव्य से कायम रहता है, पर्याय से क्षण-क्षण में पलटता है। द्रव्य से शुद्ध है और संसार में पर्याय अशुद्ध है, ऐसा निर्बाधरूप से स्थापित करती है। निश्चयमोक्षमार्ग सर्वथा मोक्षमार्ग है और व्यवहार बिल्कुल मोक्षमार्ग नहीं। परन्तु राग की मन्दता उस काल में सहचररूप से होती है, उसका ज्ञान कराने के लिये उसे उपचार से मोक्षमार्ग

कहा गया है, वास्तव में वह मोक्षमार्ग नहीं तथापि व्यवहार से कथन है। जैसे कि व्रत पालन, दया, दान, शुभविकल्प वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान रमणता वह निश्चयमोक्षमार्ग है। एक की एक वस्तु को अपेक्षा से नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि कहकर एकान्तरूप कहनेवाले सबका विरोध मिटाती है। जिस अपेक्षा से कहते हैं, उस अपेक्षा से वही धर्म है, दूसरी अपेक्षा से वह धर्म नहीं, ऐसी जिनवाणी है।

संसार के भवरोग मिटाने के लिये जिनवाणी परम औषधि है।

आत्मा कायम रहकर पलटता है। आनन्द स्वभाव के लक्ष्य से आनन्ददशा प्रगट होती है। नित्य रहनेवाला मैं हूँ और पर्याय में परसन्मुखता, उतना दुःख मेरे कारण से ही है। ऐसा समझे तो स्वभावसन्मुख ढले और सुख प्रगट होता है। पूर्णरूप से स्व में ढले तो पूर्ण सुख प्रगट हो, फिर दुःख न रहे। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं -

वचनामृत वीतराग के परम शान्त रसमूल,
औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल

आत्मा शान्त आनन्दस्वरूप है, वह वस्तुरूप से सर्वथा नित्य ही है, तो भी वही आत्मा पर्यायदृष्टि से अनित्य है। अशुद्ध भी है, पर्याय में दुःख है तथापि त्रिकाली स्वभाव में दुःख नहीं, ऐसे वीतराग के वचन परम शान्तरसमय होने से भवरोग टालने में कारण हैं। किसे ? जो समझकर भवरोग मिटाने में वर्तता है, उसे ही। तीनों काल में वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान और वीतरागी आनन्द से ही कल्याण है। किसी काल में किसी को भी इससे विरुद्ध पुण्य-पाप से, अज्ञान से, निमित्त से कल्याण नहीं है, ऐसा सुनकर कायर का कलेजा काँप उठता है। तू आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसके अवलम्बन से ही आनन्द प्रगट होता है। राग-व्यवहार के आलम्बन से वह प्रगट नहीं होता, ऐसा सुनकर राग और निमित्त की रुचिवाले विरोध करते हैं कि अरे ! ऐसी यह बात होगी ! एक-दूसरे को निमित्तकर्ता होवें, दूसरे को मदद की आवश्यकता पड़े तो ऐसे कायर को वीतराग की वाणी नहीं रुचती।

वीतराग की वाणी तो प्रत्येक द्रव्य के लिये स्वतन्त्रता की घोषणा करती है।

प्रत्येक द्रव्य अपने से है, पर से नहीं, ऐसा वह नगाड़ा पीटकर मोक्ष का मार्ग बतलाती है। तेरा पलटना तुझसे है। दुःख में तू है और आनन्द में भी तू है। तेरे अवलम्बन से ही तेरा पलटना होता है, ऐसी वीतरागता की बात निमित्ताधीन दृष्टिवाले को—पर की आशावाले को रुचेगी नहीं। तेरे कारण से मैं नहीं और मेरे से कारण से तू नहीं, ऐसी बात पुरुषार्थरहित कायरों को नहीं रुचेगी। ऐसा कहकर स्वतन्त्रता की ढिंढोरा पीटनेवाली जिनवाणी जयवन्त रहे, इस प्रकार मंगलाचरण किया।

★ ★ ★

वीर संवत् २४७८, आसोज कृष्ण ५, बुधवार, २४-१०-१९५६

श्लोक - ३

[अब टीकाकार आचार्यदेव श्लोक द्वारा इस पञ्चास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्र की टीका रचने की प्रतिज्ञा करते हैं: —]

सम्यग्ज्ञानामलज्योतिर्जननी द्विनयाश्रया।

अथातः समयव्याख्या संक्षेपेणाऽभिधीयते॥३॥

[श्लोकार्थः-] अब यहाँ से, जो सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल ज्योति की जननी है, ऐसी द्विनयाश्रित (दो नयों का आश्रय करनेवाली) 'समयव्याख्या' (पञ्चास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्र की समयव्याख्या नामक टीका) संक्षेप से कही जाती है। [३]

प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप दो नय से ही जानना चाहिए। यह तीसरा श्लोक है। समयव्याख्या अर्थात् द्रव्य की व्याख्या। केवली भगवान ने कहे हुए पञ्चास्तिकाय का दो नय द्वारा ज्ञान करना। निश्चय से सामान्य स्वभाव है, व्यवहार से पर्याय विशेष स्वभाव

१. समयव्याख्या=समय की व्याख्या; पञ्चास्तिकाय की व्याख्या; द्रव्य की व्याख्या; पदार्थ की व्याख्या। [व्याख्या=व्याख्यान; स्पष्ट कथन; विवरण; स्पष्टीकरण।]

है। ऐसे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान करना। आत्मा वस्तु है, वह त्रिकाल है—अभेद है, व्यवहार से भेद है, त्रिकाल सामान्य है, पर्याय से विशेष है, ऐसे दो नयाश्रित ज्ञान करना, वह सच्चा ज्ञान है। छह द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, एक जीवास्तिकाय स्वयं है अपना ज्ञानादिस्वभाव और असंख्य अरूपी प्रदेश हैं वह उसका स्वरूप है। शरीर पुद्गल अस्तिकाय है। शरीर के कारण से आत्मा नहीं, आत्मा के कारण से शरीर नहीं, आत्मा स्वयं नित्य असंख्यप्रदेशी है, उसमें सामान्य-विशेष स्वरूप को जानकर और नित्य एकरूप अखण्ड चैतन्य सामान्य का आदर करना, उसके अवलम्बनरूप ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा है तो शरीर चलता है, ऐसा माननेवाला जीवास्तिकाय से पुद्गलास्तिकाय चलता है, ऐसा मानता है। उसने दो द्रव्य भिन्न स्वतन्त्र नहीं माने। आत्मा अरूपी है, उसकी क्रिया (पर्याय) अरूपी है, कर्म आत्मा की क्रिया नहीं, कर्म पुद्गलास्तिकाय है। द्रव्यार्थिकनय वह पर्यायार्थिक नहीं, ऐसे दो नय से पदार्थ ज्ञान करना वह सम्यग्ज्ञान है। कर्म के कारण से राग हुआ, ऐसा माननेवाला पुद्गल के कारण से राग मानता है, इसलिए मूढ़ है। क्योंकि स्वतन्त्रकर्तापने द्वारा मैं अशुद्धता टालकर शुद्धता उत्पन्न कर सकूँ, ऐसी श्रद्धा नहीं करता। एक दूसरे दूसरे का काम करे तो दोनों एक हो जाते हैं। इस बात का मूढ़ जीव को भान नहीं। पदार्थ का स्वरूप दो नय द्वारा जानना। द्रव्य सामान्य, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है; पर्याय विशेष वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। शरीर के रजकण द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाल हैं और पर्यायार्थिकनय से उनकी पर्याय बदलती है। यदि आत्मा के कारण से बदले तो जीवास्ति पलटकर पुद्गलास्तिकाय हो जाता है। इस मकान के परमाणु द्रव्यदृष्टि से देखो तो कायम रहते हैं और पर्यायनय से देखो तो निरन्तर बदलते हैं। यदि कारीगर के कारण से बदले तो जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय भिन्न स्वतन्त्र नहीं रहते।

सर्वज्ञ भगवान ने छहों द्रव्य स्वतः टिककर बदलनेवाले देखे हैं।

द्रव्य अपने से नित्य एकरूप टिके रहते हैं और अपनी परिणाम शक्ति से-पर्याय से बदलते हैं। धर्म के नाम से पुण्यपरिणाम करे तो भी धर्म नहीं होता क्योंकि जिस भाव द्वारा बन्धन होता है, उस भाव द्वारा मुक्ति का उपाय नहीं होता। पुण्य से या राग से धर्म

माननेवाले की दृष्टि विपरीत है। प्रत्येक तत्त्व की मर्यादा स्वयं से है, पर से नहीं। इस प्रकार पदार्थ की व्याख्या संक्षेप से कही है। जितने पदार्थ हैं, उनके द्रव्य-गुणरूप सामान्य अंश तथा पर्यायरूप विशेष अंश उस-उस द्रव्य से है, पर से नहीं, ऐसा ही जानना चाहिए।

आत्मा में एक समय की मर्यादा का नया-नया रागादि अंश होता है, वह पर्यायनय का विषय है। वह उससे उसमें है और आत्मा त्रिकाल एकरूप शुद्ध ज्ञानघन है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। आत्मा ज्ञातारूप से है, किसी का करनेवाले रूप से नहीं। आत्मा के कारण से शरीर चलता नहीं। शरीर के परमाणु कायम रहते हैं, वे द्रव्यार्थिकनय से और पलटते हैं वे पर्यायनय से—ऐसे दो नय शरीर में तथा प्रत्येक परमाणु में लागू पड़ते हैं तथा आत्मा में और अन्य द्रव्य में भी दो नय लागू पड़ते हैं।

एक के कारण से दूसरे में काम करने का सामर्थ्य रहे अथवा एक के कारण से दूसरे का टिकना हो तो दो अस्तिकाय भिन्न नहीं रहते। एकेन्द्रिय निगोद आदि अनन्त जीव हैं। इस जीवों के कारण से दूसरा जीव रहता है, निभता है, टिकता है—ऐसा माने तो दो नयाश्रित सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। हम हैं तो छह काय की दया पालते हैं, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। अनन्त जीवादि पदार्थ त्रिकाल स्वतन्त्र हैं। द्रव्य अंश और पर्याय अंश से उसका अस्तित्व है। ऐसा दो का ज्ञान करना चाहिए। यह बात अनन्त काल में सुनी नहीं। आत्मा संख्या से अनन्त है, परमाणु-पुद्गल है, वे भी अनन्त हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और काल असंख्य हैं। सर्वज्ञ भगवान ने ऐसे छह द्रव्य देखे हैं, यह आत्मा की वर्तमान अवस्था में दयादि के भाव हों वह व्यवहार स्वज्ञेय है और त्रिकाली शुद्ध स्वभाव निश्चय स्वज्ञेय है। ऐसा ज्ञान करना चाहिए। परन्तु इस जीव की दया के कारण से परजीव बच जाये, ऐसा नहीं है। एक कन्दमूल-आलू के टुकड़े में असंख्य जीव हैं। एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुणे जीव हैं। परन्तु मैं उस जीव को बचा सकता हूँ, यह मिथ्यादृष्टि है। उसको वीतराग की आज्ञा की खबर नहीं।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने साक्षात् वाणी सुनकर इन शास्त्रों की रचना की है।

इस शास्त्र के कर्ता श्रीमद् भगवन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं। शास्त्र होनेवाला था

उस काल में ही हुआ है। परन्तु निमित्त की पहिचान कराने के लिये ऐसा कथन में आता है। वे दो हजार वर्ष पहले हुए थे, उस समय शाश्वत् मार्ग दिगम्बर जैन चालू था। संवत् ४९ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य थे उनके दूसरे नाम पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य है।

श्री जयसेनाचार्यदेव इस शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि—कुमारनन्दि सिद्धान्तिदेव के शिष्य श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान श्री सीमन्धरनाथ के पास गये थे। अभी भी सीमन्धर भगवान वहीं विदेहक्षेत्र में विराजते हैं। वहाँ किसी का करोड़पूर्व का दीर्घ आयुष्य होता है। आगामी चौबीसी में इस भरतक्षेत्र में तेरहवें तीर्थंकर के समय वे वहाँ से देहरहित होकर सिद्धपरमात्मदशारूप मोक्ष पायेंगे, अभी वे तीर्थंकर अरहन्त परमेष्ठिरूप से विराजते हैं, 'णमो अरिहंताणं' इस पद में विराजते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान सीमन्धर के दर्शन किये थे, उन्हें आकाश में अद्भुत गमन करने की लब्धि थी। जमीन से चार अंगुल ऊँचे चलते थे। अपनी लब्धि से विदेहक्षेत्र में जाकर छह द्रव्यों का स्वरूप साक्षात् भगवान के निकट सुना। विशेष निर्मल समाधान करके भरतक्षेत्र में आकर शास्त्रों की रचना की है। 'णमो लोए सव्व साहूणं' पद में आवे, ऐसे सच्चे सन्त से। चिदानन्द भगवान आत्मा पवित्र है पर्याय में पुण्य-पाप के भाव हों वह विकार है, विपरीत है, हेय है। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध है, वही उपादेय है, उसके आलम्बन से ही कल्याण है, ऐसा वस्तुस्वरूप सुना था। अवधारित पदार्थों द्वारा शुद्धात्म तत्त्वादि सारभूत अर्थ को ग्रहण करके वहाँ से वापस आकर अन्तःतत्त्व और बहिर्तत्त्व के गौण-मुख्य प्रतिपादन द्वारा शिवकुमार राजा के लिये पंचास्तिकाय बनाया गया है। संक्षेप में समझे, इसके लिये पंचास्तिकाय बनाया गया है। अनन्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का स्वरूप बतलाया है। उनका यथाक्रम से शुद्धिपूर्वक तात्पर्यरूप व्याख्यान किया जाता है। आत्मा के आनन्द की दशा में झूलते थे। विकल्प आया और शास्त्रों की रचना हो गयी। तीर्थंकरदेव ने जो कहा है, तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने शास्त्र में कहा है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका की है।

प्रत्येक द्रव्य द्रव्यनय से कायम रहता है; पर्यायनय से बदलता है।

प्रत्येक पदार्थ को दो दृष्टि से देखने का कहा है। अनन्त आत्मा वस्तुरूप से कायम रहते हैं और पर्याय से बदलते हैं। उन्हें कोई दूसरा बदला दे, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पैसा जगत की वस्तु है। अनन्त पुद्गलों का टिकना-बदलना उसके कारण से है। उसका टिकना-बदलना पर के कारण से हो तो पदार्थ स्वयंसिद्ध नहीं रहते। हम पर की दया पालते हैं, परोपकार करते हैं, यह लोक कथन है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उससे टिककर बदलता है। उसकी अवस्था का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है। शरीर कायम रहकर बदलता है। आत्मा के कारण से ही शरीर चलता है, ऐसा माननेवाला जैन नहीं। अनादि वीतरागमार्ग में दिगम्बर मार्ग है। महाविदेहक्षेत्र में त्रिकाल दिगम्बर जैनधर्म एक ही प्रकार से है। वहाँ कायम सर्वज्ञदेव विराजते हैं। एक प्रकार से मोक्षमार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं, दूसरा वेश नहीं है। अट्ठाईस मूलगुण धारक सब नग्न मुनि होते हैं, अकेले नग्न रहे वे मुनि नहीं कहलाते।

आत्मा देह के रजकणों से भिन्न है। आत्मा में पाँच महाव्रत का विकल्प उठे, वह चारित्र नहीं और धर्म नहीं। इसलिए उससे रहित ज्ञानस्वभाव में लीनता हुई है। वह चारित्र है। और वही मुनि है। भगवान ने छह पदार्थ देखे हैं। अनन्त जीव अनन्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश (एक-एक) और काल में दो अंश हैं। एक कायमी अंश है और एक बदलनेवाला अंश है।

दो नय पदार्थ की स्वतन्त्रता जानने के लिये है।

एक के कारण से दूसरा बदलता है, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। प्रत्येक द्रव्य का निरूपण दो नयाश्रित है। उसके विषय के दो भाग हैं। एक कायमी टिकाऊ भाग है, दूसरा बदलनेवाला भाग है, वह स्वयं से है; पर से नहीं। पर से बदलता है, ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। दाल, भात, रोटी, पुद्गलास्तिकाय है। स्त्री के हाथ से रोटी होती है, ऐसा माने वह मूढ़ है। रोटी पुद्गल है, वह उसके अस्तित्व से टिककर बदलती है। अनन्त परमाणु अपनेरूप से रहकर पर्यायशक्ति से अपने में ही बदलते हैं, ऐसा नहीं मानकर जीव से बदलते हैं, ऐसा माननेवाला पुद्गलास्तिकाय को मानता नहीं, इसलिए उसे भेदविज्ञान नहीं है और धर्म नहीं होता। रागदशावाले को दया के भाव आते हैं,

परन्तु उसके कारण से वे जीव बचते हैं, ऐसा नहीं, क्योंकि उनका रहना-बदलना उनके ही कारण से है तथापि मेरी अनुकम्पा से रहते हैं, ऐसा माननेवाले को प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता की खबर नहीं। घड़ा होता है वह और कुम्हार का हाथ दोनों को पृथक्ता न मानकर, शरीर के काम अन्य के काम मुझसे हैं, वे मेरे आधीन हैं, ऐसा माननेवाला दो तत्त्वों का नाश करता है। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने तीन काल-तीन लोक को जाना है। वस्तु का स्वरूप क्या है, वह न जाने तो ००००० बिना एक का शून्य है। प्रत्येक पदार्थ के नित्य-अनित्य अंश उससे है, ऐसे दो नय जानने के पश्चात् सम्यग्ज्ञान होता है और फिर व्रत-तप होते हैं। दो नय पदार्थ की स्वतन्त्रता बतलाने के लिये है। अब तीन श्लोकों द्वारा टीकाकार आचार्यदेव इस पञ्चास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्र में किन-किन विषयों का निरूपण है, वह अतिसंक्षेप से कहते हैं।

★ ★ ★

श्लोक - ४

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।

पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम्॥४॥

[श्लोकार्थ :-] यहाँ प्रथम *सूत्रकर्ता ने मूल पदार्थों का पञ्चास्तिकाय एवं

- * इस शास्त्र के कर्ता श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं। उनके दूसरे नाम पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य हैं। श्री जयसेनाचार्यदेव इस शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि:—“अब श्री कुमारनन्दि-सिद्धान्तिदेव के शिष्य श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने—जिनके दूसरे नाम पद्मनन्दि आदि थे — उन्होंने — प्रसिद्ध कथान्याय से पूर्व विदेह में जाकर वीतराग-सर्वज्ञ सीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन करके, उनके मुखकमल से निकली हुई दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थ शुद्धात्मतत्त्वादि सारभूत अर्थ ग्रहण करके, वहाँ से लौटकर अंतःतत्त्व एवं बहिःतत्त्व के गौण-मुख्य प्रतिपादन के हेतु अथवा शिवकुमारमहाराजादि संक्षेपरुचि शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ रचे हुए पञ्चास्तिकाय-प्राभृतशास्त्र का यथाक्रम से अधिकार-शुद्धिपूर्वक तात्पर्यार्थरूप व्याख्यान किया जाता है।”

षड्रव्य के प्रकार से प्ररूपण किया है (अर्थात् इस शास्त्र के प्रथम अधिकार में श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने विश्व के मूल पदार्थों का पाँच अस्तिकाय और छह द्रव्य की पद्धति से निरूपण किया है।) [४]

पूर्व में आचार्य ने कहे हुए भावानुसार यहाँ श्री हिम्मतभाई ने संस्कृत में से अक्षरशः गुजराती भाषा में अर्थ किये हैं परन्तु सत्समागम से अभ्यास करना चाहिए। 'गम पढ़े बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं।' बही में जमा करने के बदले उधार करे तो मिलान नहीं खाता, उसी प्रकार त्रिलोकनाथ की वाणी का अपनी बुद्धि से अर्थ करे तो सच्चा नहीं होता। यहाँ सूत्रकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं, उन्होंने पंचास्तिकाय—धर्म, जीव, पुद्गल, अधर्म, आकाश का वर्णन किया है। इस शास्त्र में प्रथम अधिकार में श्रीमद् भगवन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने विश्व के मूल पदार्थों का पंचास्तिकाय और छह द्रव्य की पद्धति से निरूपण किया है।

★ ★ ★

श्लोक - ५

जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।

ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता॥५॥

[श्लोकार्थ :-] पश्चात् (दूसरे अधिकार में), जीव और अजीव—इन दो की पर्यायोरूप नव पदार्थों की—कि जिनके मार्ग अर्थात् कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, उनकी—व्यवस्था प्रतिपादित की है। [५]

नौ तत्त्व के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिए।

संक्षेप से पदार्थों के जीव-अजीव ऐसे दो भेद हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञाता-दृष्टा भी कार्य है, उसे भूलकर पर को अपना मानना, वह मिथ्या अभिप्राय है। मैं पर को मदद कर सकता हूँ, पर मुझे सहायता कर सकता है, यह विपरीत मान्यता है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे सातों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं। जीव का कार्य तो जानना-देखना है, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। दया, दान, भक्ति का विकल्प उठता

है, वह बन्ध का कारण है। पुण्य, पाप, आस्रव का कार्य मलिनता है।

जीव का कार्य जानने का है। आत्मा की पर्याय में हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव हों तो वह तीव्र मलिनभाव है। व्रतादि पुण्य-पाप है। दोनों आस्रव हैं। आस्रव का कार्य मलिनता है। आत्मा का कार्य ज्ञाता-दृष्टापना है। दानादि के शुभभाव, वे मन्द कषाय हैं, वह पुण्यास्रव मन्द मलिनता का कार्य है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है पुण्य-पाप दोनों होकर आस्रव है, उनसे नया बन्धन होता है, आस्रव में रुकना वह भावबन्ध है। एकरूप आत्मा को नहीं बतलाते, बन्ध में द्विरूपता बतलाते हैं, वह उसका कार्य है, अन्तर्मुख ज्ञानानन्दमय स्थिरता, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष है। आत्मा ज्ञानानन्द है वह स्व में आता है, वह उपादेय है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध पर में जाते हैं। आत्मा स्वज्ञेय है। अजीव अजीव के कारण से परिवर्तन किया करता है। शरीर, शब्द, मकान, लक्ष्मी, दाल, भात, चलना, खड़ा होना, बैठना वह कार्य है, वह मेरे कारण से नहीं है। एक घर में चार भाई रहते हों, परन्तु प्रत्येक के लक्षण और कार्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और स्वयं से एकमेक होते हैं, उसी प्रकार नौ तत्त्व के लक्ष्य और कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसा न देखे, मिश्रण करके, खिचड़ा करके देखे तो दृष्टि में विपरीतता आती है। नौ तत्त्व नहीं रहते।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का पाठ जड़ में है, जो उससे रागादि होते हैं ऐसा माने तो जीव और जड़कर्म अजीवतत्त्व भिन्न न रहे। दो के कार्य भिन्न न रहे। रोटी, दाल, भात, जड़ का कार्य है। परमाणु द्रव्य वह निश्चय है। उसकी पर्याय वह उसका व्यवहार है। वे स्वतन्त्ररूप से अपनी ही पर्याय में अपना-अपना कार्य करते हैं। आस्रव का कार्य जीवतत्त्व के कार्य से भिन्न है। यदि जीव स्वभाव के कारण आस्रव की उत्पत्ति या बन्ध हो तो नव तत्त्व रहते नहीं। नौ के कार्य भिन्न हैं। नौ के कार्य एक-दूसरे में मिला दे तो नौ नहीं रहते। प्रत्येक जीव का कार्य जानना-देखना है। पुण्य-पाप का और आस्रव का कार्य मलिनता है। बन्धतत्त्व द्विरूपता बताता है। अजीव अजीव के कारण से आते-जाते हैं।

जीव की होशियारी के कारण से पैसे आये माने, वह भ्रम है। जीव के पास

ममता आयी है। पुण्य-पाप को जीव का कर्तव्य माने, मैं कर्ता और वह मेरा कार्य, ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को वर्तमान दशा के प्रमाण में पुण्य-पाप होते हैं तो भी ज्ञाता रहता है। जितने अंश में स्वसन्मुख ज्ञाता-दृष्टा रहे, वह संवर है, जब तक वीतरागदशा न हो, तब तक राग होता है, परन्तु पुण्य-पाप का ज्ञाता रहता है। मैं अजीव का ज्ञाता हूँ। ज्ञाता-दृष्टा की प्रतीति वह सम्यग्दर्शन है। संवर-निर्जरा का कार्य शुद्धता और शान्ति उपजाने का है।

परमात्मा ने फरमाया हुआ यह कल्याण का मार्ग, उसकी बात है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, पुण्य-पाप आस्रव (बन्ध) का कारण है। इत्यादि का भेदज्ञान गृहस्थदशा में भी निरन्तर हो सकता है। इस काल में तीन तीर्थंकर तो चक्रवर्ती थे। तीन ज्ञान लेकर जन्मे हैं, उनकी सोलह हजार देव सेवा करते थे, बत्तीस हजार राजा चँवर ढोरते थे। अमर्यादित पुण्य के ठाठ होने पर भी उसका अन्तर में आदर नहीं करते। मैं तो संयोग और विकार से भिन्न हूँ, ऐसा अन्तर में भान था। देह की क्रिया और राज्य की व्यवस्था मुझसे नहीं होती। मैं किसी का स्वामी नहीं। पदार्थ का टिकना-उपजना-बदलना उससे ही है, ऐसा जानते हैं, इसलिए वे विरागी हैं। और मिथ्यादृष्टि नग्न मुनि ऐसा माने कि मैं पर की दया पालता हूँ, शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, उसे नौ तत्त्व की खबर नहीं। एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अंश मिलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। नौ तत्त्व के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, उसकी व्यवस्था सर्वज्ञ भगवान ने क्या बतायी है, इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। पुण्य-पाप बन्ध मार्ग है; अजीव का परिणमना-बदलना उसके आधीन है, वह अजीव का मार्ग है, जीव का मार्ग नहीं, किसी के मार्ग में आड़ा आवे तो दिक्कत लेता है, उसी प्रकार यहाँ कहते हैं, नौ तत्त्व के नौ मार्ग हैं। जीव का स्वरूप और कार्य जीव में ही है; अजीव में नहीं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव हैं। पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध मलिन पर्याय है। संवर-निर्जरा-मोक्ष निर्मल पर्याय है, ऐसे नौ तत्त्व के नौ कार्य हैं। अधूरी शुद्धि वह संवर-निर्जरा का कार्य है। मोक्ष में पूर्ण निर्मलता का कार्य है। उसमें किंचित् अधूरापन नहीं। भगवान किसी को तिरा दे तो उनका तथा तेरा तत्त्व एक हो जाता है।

तीनों काल के सम्यग्ज्ञानियों का एक मत है।

अनन्त जीवास्तिकाय अनन्त रूप से पृथक्-पृथक् कब माने कहलाये कि एक का कार्य दूसरे में न माने। दूसरे के आधार से न माने, दूसरे जीव का कार्य दूसरे में ही है। तेरा कार्य तुझसे है परन्तु पर में कुछ होता ही नहीं। एक भाई दूसरे को सहला देने का राग करे, राग के कारण दूसरे में कार्य हो, ऐसा नहीं होता। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में ऐसा आया है तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य आदि सन्त एक ही बात करते हैं। अनन्त तीर्थंकर यही बात करते हैं। स्वयं ज्ञाता-दृष्टारूप से काम करता है। इंजेक्शन से बुखार उतरता है, यह बात सत्य नहीं है। सारणगाँठ जड़ की पर्याय है, उसके कारण द्वेष होता हो तो आस्रव और अजीव एक हो गये। अजीव का कार्य भिन्न है और जीव में होनेवाले आस्रव का कार्य भिन्न है। नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न जाने बिना धर्म नहीं होता। तीर्थंकर भगवान विराजते हैं, वहाँ समवसरण में आठ-आठ वर्ष की नन्हीं कन्यायें भी सत्य सुनने जाती हैं और तत्त्व समझती हैं। तथा कोई नग्न मुनि हो, अट्ठाईस मूलगुण भी पाले, नग्न होने पर भी न समझे तो मिथ्यादृष्टि रहता है।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उनकी जिस प्रकार से व्यवस्था प्रतिपादित की है, वैसा माने तो सम्यग्दर्शन का अधिकारी होता है।

●●

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्गन्धदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है। उनको अपवाद-व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासनं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०

गाथा - १

अथ सूत्रावतार :-

इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवानं॥१॥

इन्द्रशतवन्दितेभ्यस्त्रिभुवनहितमधुरविशदवाक्येभ्यः।
अन्तातीतगुणेभ्यो नमो जिनेभ्यो जितभवेभ्यः॥१॥

अथात्र 'नमो जिनेभ्यः' इत्यनेन जिनभावनमस्काररूपमसाधारणं शास्त्रस्यादौ मङ्गलमुपात्तम्। अनादिना सन्तानेन प्रवर्तमाना अनादिनैव सन्तानेन प्रवर्तमानैरिन्द्राणां शतैर्वन्दिता ये इत्यनेन सर्वदैव देवाधिदेवत्वात्तेषामेवासाधारणनमस्कारार्हत्वमुक्तम्। त्रिभुवनमूर्ध्वाधो-मध्यलोकवर्ती समस्त एव जीवलोकस्तस्मै निर्व्याबाधविशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भोपायाभि-धायित्वाद्धितं, परमार्थरसिकजनमनोहारित्वान्मधुरं, निरस्तसमस्तशंकादिदोषास्पदत्वाद्विशदं वाक्यं दिव्यो ध्वनिर्येषामित्यनेन समस्तवस्तुयाथात्म्योपदेशित्वात्प्रेक्षावत्प्रतीक्ष्यत्वमाख्यातम्। अन्तमतीतः क्षेत्रानवच्छिन्नः कालानवच्छिन्नश्च परमचैतन्यशक्तिविलासलक्षणो गुणो येषामित्यनेन तु परमाद्भुतज्ञानातिशयप्रकाशनादवाप्तज्ञानातिशयानामपि योगीन्द्राणां वन्द्यत्वमुदितम्। जितो भव आजवंजवो यैरित्यनेन तु कृतकृत्यत्वप्रकटनात्त एवान्येषामकृतकृत्यानां शरणमित्युपदिष्टम्। — इति सर्वपदानां तात्पर्यम्॥१॥

अब (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित) गाथासूत्र का अवतरण किया जाता है :—

शतइन्द्र वन्दित त्रिजगहित निर्मल मधुर जिनके वचन।
अनन्त गुणमय भवजयी जिननाथ को शत-शत नमन॥१॥

अन्वयार्थ :- [इन्द्रशतवन्दितेभ्यः] जो सौ इन्द्रों से वन्दित हैं, [त्रिभुवनहितमधुर-विशदवाक्येभ्यः] तीन लोक को हितकर, मधुर एवं विशद (निर्मल, स्पष्ट) जिनकी वाणी है, [अन्तातीतगुणेभ्यः] (चैतन्य के अनन्त विलासस्वरूप) अनन्त गुण जिनको वर्तते हैं और [जितभवेभ्यः] जिन्होंने भव पर विजय प्राप्त की है, [जिनेभ्यः] उन जिनों को [नमः] नमस्कार हो।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) 'जिनों को नमस्कार हो' ऐसा कहकर शास्त्र के आदि में जिनको भावनमस्काररूप असाधारण 'मंगल' कहा। 'जो अनादि प्रवाह से प्रवर्तते (-चले आ रहे) हुए अनादि प्रवाह से ही प्रवर्तमान (-चले आ रहे) 'सौ-सौ इन्द्रों से वन्दित हैं' ऐसा कहकर सदैव देवाधिदेवपने के कारण वे ही (जिनदेव ही) असाधारण नमस्कार के योग्य हैं, ऐसा कहा। 'जिनकी वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीन लोक को — ऊर्ध्व-अधो-मध्य लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को-निर्बाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहनेवाली होने से हितकर है, परमार्थरसिकजनों के मन को हरनेवाली होने से मधुर है और समस्त शंकादि दोषों के स्थान दूर कर देने से विशद (निर्मल, स्पष्ट) है' — ऐसा कहकर (जिनदेव) समस्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप के उपदेशक होने से विचारवन्त बुद्धिमान पुरुषों के बहुमान के योग्य हैं (अर्थात् जिनका उपदेश विचारवन्त बुद्धिमान पुरुषों को बहुमानपूर्वक विचारना चाहिए ऐसे हैं), ऐसा कहा। 'अनन्त-क्षेत्र से अन्तरहित और काल से अन्त रहित-परमचैतन्यशक्ति के विलासस्वरूप गुण जिनको वर्ता है' ऐसा कहकर (जिनों को) परम अद्भुत ज्ञानातिशय प्रगट होने के कारण ज्ञानातिशय को प्राप्त योगन्द्रों से भी वंद्य है ऐसा कहा। 'भव अर्थात् संसार पर जिन्होंने विजय प्राप्त की है' ऐसा कहकर कृतकृत्यपना प्रगट हो जाने से वे ही (जिन ही) अन्य अकृतकृत्य जीवों को शरणभूत हैं ऐसा उपदेश दिया। — ऐसा सर्व पदों का तात्पर्य है।

भावार्थ :- यहाँ जिनभगवन्तों के चार विशेषणों का वर्णन करके उन्हें भावनमस्कार किया है। (१) प्रथम तो, जिनभगवन्त सौ इन्द्रों से वंद्य हैं। ऐसे असाधारण नमस्कार के योग्य अन्य कोई नहीं है, क्योंकि देवों तथा असुरों में युद्ध होता है इसलिए (देवाधिदेव जिनभगवान के अतिरिक्त) अन्य कोई भी देव सौ इन्द्रों से वंदित नहीं है। (२) दूसरे,

१. मल को अर्थात् पाप को गाले-नष्ट करे वह मंगल है, अथवा सुख को प्राप्त करे - लाये वह मंगल है।
२. भवनवासी देवों के ४० इन्द्र, व्यन्तर देवों के ३२, कल्पवासी देवों के २४, ज्योतिष्क देवों के ०, मनुष्यों का १ और तिर्यचों का १-इस प्रकार कुल १०० इन्द्र अनादि प्रवाहरूप से चले आ रहे हैं।

शत-इन्द्रवंदित, त्रिजगहित-निर्मल-मधुर वदनारने,
निःसीम गुण धरनारने, जितभव नमुं जिनराजने॥१॥

जिनभगवान की वाणी तीन लोक को शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय दर्शाती है, इसलिए हितकर है; वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सहज-अपूर्व परमानन्दरूप पारमार्थिक सुखरसास्वाद के रसिकजनों के मन को हरती है इसलिए (अर्थात् परम समरसीभाव के रसिक जीवों को मुदित करती है इसलिए) मधुर है; शुद्ध जीवास्तिकायादि सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय का संशय-विमोह-विभ्रमरहित निरूपण करती है, इसलिए अथवा पूर्वापरविरोधादि दोषरहित होने से अथवा युगपद् सर्व जीवों को अपनी-अपनी भाषा में स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादन करती है; इसलिए विशद-स्पष्ट-व्यक्त है। इस प्रकार जिनभगवान की वाणी ही प्रमाणभूत है; एकान्तरूप अपौरुषेय वचन या विचित्र कथारूप कल्पित पुराणवचन प्रमाणभूत नहीं है। (३) तीसरे, अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का जाननेवाला अनन्त केवलज्ञानगुण जिनभगवन्तों को वर्तता है। इस प्रकार बुद्धि आदि सात ऋद्धियाँ तथा मतिज्ञानादि चतुर्विध ज्ञान से सम्पन्न गणधरदेवादि योगेन्द्रों से भी वे वंछ हैं। (४) चौथे, पाँच प्रकार के संसार को जिनभगवन्तों ने जीता है। इस प्रकार कृतकृत्यपने के कारण वे ही अन्य अकृतकृत्य जीवों को शरणभूत हैं, दूसरा कोई नहीं।—इस प्रकार चार विशेषणों से युक्त जिनभगवन्तों को ग्रन्थ के अदि में भावनमस्कार करके मंगल किया।

प्रश्न :- जो शास्त्र स्वयं ही मंगल हैं, उसका मंगल किसलिए किया जाता है?

उत्तर :- भक्ति के हेतु से मंगल का भी *मंगल किया जाता है। सूर्य की दीपक से, महासागर की जल से, वागीश्वरी (सरस्वती) की वाणी से और मंगल की मंगल से अर्चना की जाती है।१॥

* इस गाथा की श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में, शास्त्र का मंगल, शास्त्र का निमित्त, शास्त्र का हेतु (फल), शास्त्र का परिमाण, शास्त्र का नाम तथा शास्त्र के कर्ता — इन छह विषयों का विस्तृत विवेचन किया है।

पुनश्च, श्री जयसेनाचार्यदेव ने इस गाथा के शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ समझाकर, 'इस प्रकार व्याख्यानकाल में सर्वत्र शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ प्रयुक्त करनेयोग्य हैं' — ऐसा कहा है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ६, बुधवार

इस शास्त्र का फल सम्यक्ज्ञान की उत्पत्ति होकर शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होना, वह है।

यह पंचास्तिकाय की प्रथम गाथा है। भगवान को नमस्कार वही मांगलिक है। मांगलिक करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। विघ्न का नाश होता है तथा सुख की प्राप्ति होती है।

यह पंचास्तिकाय शिवकुमार महाराजा आदि शिष्यों के लिये बनाते हैं। इसका हेतु अज्ञान का नाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति और शुद्धस्वभाव की प्राप्ति का है। इसका परिमाण अर्थात् गाथा संख्या। इसका नाम पंचास्तिकाय, इसके मूल कर्ता सर्वज्ञ भगवान श्री वर्धमानस्वामी, उत्तरकर्ता गणधर श्री गौतमस्वामी और परम्पराकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान को नमस्कार करते हैं। वे भगवान कैसे हैं ? भगवान अनादि के हैं, सौ इन्द्रों से पूज्य हैं। भगवान की वाणी मीठी, मधुर और रसिक है, और उस वाणी के सुननेवाले पात्र जीव भी ऐसे हैं कि जो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हैं। जिन्हें संसार की अरुचि हुई है और स्वभाव की प्राप्ति करनी है। 'पंचास्तिकाय का फल अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति है। शिष्ट सम्यग्ज्ञान पाकर शुद्धि में बढ़े और चैतन्य का अनुभव करे, वह इस शास्त्र का फल है।'

भगवान अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणों के भरपूर भण्डार हैं।

अब भगवान के गुणों की बात करते हैं। अन्तरहित भगवान के गुण हैं। भगवान को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन इत्यादि गुण प्रगट हो गये हैं, जिनका पार नहीं, ऐसे अपने ज्ञान से सब वस्तुओं को, क्षेत्र को काल की मर्यादा बिना जान सकते हैं; वे ज्ञानादि गुण अपने असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में रहे हुए हैं, परन्तु दूसरे के क्षेत्र में नहीं। एक समय में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख प्रगट हो गये हैं। एक समय में अनन्त गुणों की होकर अनन्त पर्यायें हैं, एक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं।

भगवान ने पाँच परावर्तनरूप संसार को जीता है।

और भगवान कैसे हैं ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार का परावर्तन जीता है अर्थात् कि जो करने का था, वह कर लिया और संसार से जीवनमुक्त हुए। कितने ही लोग कहते हैं कि भगवान ने दूसरों का भला कर दिया। उपदेश दिये, चार तीर्थ की स्थापना की, हिंसा को रोका, जगत को सत्य समझाया, परन्तु ये सब निमित्त के कथन हैं। भगवान ने पर का कुछ किया नहीं। क्योंकि पर का कोई भी जीव कुछ भी नहीं कर सकता। स्वयं अपने में भावभोक्ष की पर्याय का उत्पाद किया और संसारपर्याय को जीता, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं किया। 'तिन्नाणं तारयाणं' पाठ आता है। तारण तरण है अर्थात् कि स्वयं अपने से तिरे तो भगवान निमित्त कहे जाते हैं।

भगवान छद्मस्थ जीवों को मोक्ष प्राप्त करने में किस अपेक्षा से शरणभूत है।

और जिन जीवों को मोक्षदशा प्राप्त हुई नहीं, उन्हें भगवान शरणरूप है, यह कथन निमित्त का है। कोई किसी को शरण दे नहीं सकता, परन्तु जीव अपने आत्मा की सच्ची समझण करके, अन्तर दशा में एकाग्र होकर, राग और अल्पज्ञता टालकर, वीतराग और सर्वज्ञ पद प्रगट करता है। तो भगवान निमित्त कहे जाते हैं। चार शरण का पाठ तो जीव अनन्त बार बोल गया, परन्तु अपना आत्मा निमित्तरहित और रागरहित है, इसलिए स्वरूप जाने बिना और उसकी शरण बिना भगवान का शरण निमित्त नाश पावे नहीं। स्वभाव का शरण ले उसे भगवान का शरण निमित्त कहा जाता है।

ऐसे जिनेश्वर भगवान को नमस्कार हो!

ऐसे जिनेश्वर भगवान को नमस्कार हो। जो जीव निमित्त, संयोग, राग-द्वेष और पुण्य की रुचि छोड़कर अन्तर-एकाग्रता करता है वह भावनमस्कार है। ऐसा भावनमस्कार अपने आत्मा को करता है। उसने भगवान को द्रव्यनमस्कार सच्चा किया कहा जाता है। सर्वज्ञदेव को तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वर्तता है, उनके अतिरिक्त दूसरे किसी देव को वह जीव मानता नहीं। इस प्रमाण ऊपर कहे ऐसे गुणवाले भगवान को नमस्कार किया।

अब आचार्य भगवान जिनागम को नमस्कार करके पंचास्तिकायरूप समयसार ग्रन्थ कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

गाथा - २

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
 एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि॥२॥
 श्रमणमुखोद्गतार्थं चतुर्गतिनिवारणं सनिर्वाणम्।
 एष प्रणम्य शिरसा समयमिमं शृणुत वक्ष्यामि॥२॥

समयो ह्यागमः। तस्य प्रणामपूर्वकमात्मनाभिधानमत्र प्रतिज्ञातम्। युज्यते हि स प्रणन्तुमभिधातुं चाप्तोपदिष्टत्वे सति सफलत्वात्। तत्राप्तोपदिष्टत्वमस्य श्रमणमुखोद्गतार्थत्वात्। श्रमणा हि महाश्रमणाः सर्वज्ञवीतरागाः। अर्थः पुनरनेकशब्दसम्बन्धेनाभिधीयमानो वस्तुतयै-
 कोऽभिधेयः। सफलत्वं तु चतसृणां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां निवारणत्वात्
 पारतन्त्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपस्य परम्परया कारणत्वात् स्वातन्त्र्य-
 प्राप्तिलक्षणस्य च फलस्य सद्भावादिति॥२॥

सर्वज्ञभाषित भवनिवारक मुक्ति के जो हेतु हैं।
 उन जिनवचन को नमन कर मैं कहूँ तुम उनको सुनो॥२॥

अन्वयार्थ :- [श्रमणमुखोद्गतार्थे] श्रमण के मुख से निकले हुए अर्थमय
 (-सर्वज्ञ महामुनि के मुख से कहे गये पदार्थों का कथन करनेवाले), [चतुर्गतिनिवारणं]
 चार गति का निवारण करनेवाले और [सनिर्वाणम्] निर्वाण सहित (-निर्वाण के
 कारणभूत) [इमं समयं] ऐसे इस समय को [शिरसा प्रणम्य] शिरसा नमन करके
 [एषवक्ष्यामि] मैं उसका कथन करता हूँ; [शृणुत] वह श्रवण करो।

टीका :- समय अर्थात् आगम; उसे प्रणाम करके स्वयं उसका कथन करेंगे, ऐसी
 यहाँ (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) प्रतिज्ञा की है। वह (समय) प्रणाम करने एवं
 कथन करनेयोग्य है, क्योंकि वह *आप्त द्वारा उपदिष्ट होने से सफल है। वहाँ, उसका
 आप्त द्वारा उपदिष्टपना इसलिए है कि जिससे वह 'श्रमण के मुख से निकला हुआ

* आप्त = विश्वासपात्र; प्रमाणभूत; यथार्थ वक्ता। [सर्वज्ञदेव समस्त विश्व को प्रति
 समय सम्पूर्णरूप से जान रहे हैं और वे वीतराग (मोहरागद्वेषरहित) होने के कारण उन्हें
 असत्य कहने का लेशमात्र प्रयोजन नहीं रहा है; इसलिए वीतराग-सर्वज्ञदेव सचमुच
 आप्त हैं। ऐसे आप्त द्वारा आगम उपदिष्ट होने से वह (आगम) सफल हैं।]

अर्थसमय' है। 'श्रमण' अर्थात् महाश्रमण-सर्वज्ञवीतरागदेव; और 'अर्थ' अर्थात् अनेक शब्दों के सम्बन्ध से कहा जानेवाला, वस्तुरूप से एक ऐसा पदार्थ। पुनश्च उसकी (-समय की) सफलता इसलिए है कि जिससे वह समय -

(१) 'नारकत्व' तिर्यचत्व, मनुष्यत्व तथा देवत्वस्वरूप चार गतियों का निवारण करने के कारण और (२) शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप 'निर्वाण का परम्परा से कारण' होने के कारण (१) परतन्त्रतानिवृत्ति जिसका लक्षण है और (२) स्वतन्त्रताप्राप्ति जिसका लक्षण है — ऐसे 'फलसहित' है।

भावार्थ :- वीतरागसर्वज्ञ महाश्रमण के मुख से निकले हुए शब्दसमय को कोई आसन्नभव्य पुरुष सुनकर, उस शब्दसमय के वाच्यभूत पंचास्तिकायस्वरूप अर्थसमय को जानता है और उसमें आ जानेवाले शुद्धजीवास्तिकायस्वरूप अर्थ में (पदार्थ में) वीतराग निर्विकल्प समाधि द्वारा स्थित रहकर चार गति का निवारण करके, निर्वाण प्राप्त करके, स्वात्मोत्पन्न, अनाकुलतालक्षण, अनन्त सुख को प्राप्त करता है। इस कारण से द्रव्यागमरूप शब्दसमय नमस्कार करने तथा व्याख्या करनेयोग्य है॥२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ६, बुधवार

आत्मा वाणी का कर्ता नहीं परन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिये वाणी का कर्ता उपचार से कहा जाता है।

'मैं कुन्दकुन्दाचार्य, यह पंचास्तिकायरूप समयसार नामक ग्रन्थ को कहूँगा।'— यह व्यवहार वचन है। आत्मा वाणी कर नहीं सकता, तथा वाणी से आत्मा समझता नहीं, तथापि ऐसा वाक्य क्यों लिखा? निमित्त का क्या काम है? ऐसा किसी को प्रश्न हो तो उसकी स्पष्टता तो ऐसी है कि भाषा तो भाषा के कारण से निकलती है। 'मैं कहूँगा' यह शब्द शब्दों के कारण से निकलते हैं, परन्तु पंचास्तिकाय कहने में निमित्त कौन है, उसका ज्ञान कराते हैं।

१. चार गति का निवारण (अर्थात् परतन्त्रता की निवृत्ति) और निर्वाण की उत्पत्ति (अर्थात् स्वतन्त्रता की प्राप्ति) वह समय का फल है।

और कहते हैं कि 'इस ग्रन्थ को तुम सुनो'—वहाँ भी जिसकी समझने की योग्यता होती है, वह समझेगा। दूसरा जीव समझा दे, ऐसा नहीं, तथापि 'सुनो' ऐसा कहने का हेतु यह है कि सामनेवाला जीव पात्र है। पंचास्तिकाय समझने के योग्य है, इसलिए कहा है कि 'अन्यत्र से चित्त हटाकर एकाग्र हो और मैं कहता हूँ, उसे सुन', ऐसा कहने का भाव है। यह सब निमित्त के कथन हैं। वाणी जड़ है। जड़ जड़ के कारण से परिणमता है, वह निरपेक्ष है। उसके कर्ता, कर्म इत्यादि छह कारक उसमें हैं। आत्मा के कारण से वाणी नहीं, वाणी का कर्ता वाणी के परमाणु स्वयं है, वहाँ वाणी होने की नहीं थी और आचार्य भगवान के विकल्प से वाणी का परिणमन हो गया है, ऐसा नहीं, परन्तु वाणी का उपादानकर्ता जड़ परमाणु स्वयं है, तब आचार्य भगवान का विकल्प था, इसलिए आचार्य भगवान को निमित्तकर्ता अर्थात् उपचार से वाणी का कर्ता कहा जाता है। निमित्तकर्ता अर्थात् जड़ की पर्याय होने में कुछ सहायता करते हैं, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। वाणी जड़ है, उसे आत्मा बना नहीं सकता। वाणी वाणी के कारण से परिणमती है। तब आचार्य भगवान को विकल्प उठा है, उसका ज्ञान कराया है, तथा 'सुनो' के ऊपर से सुननेवाले भी होना चाहिए, ऐसा ज्ञान कराया है।

सर्वज्ञ के वचन प्रमाणभूत हैं, इसलिए उनके आगमों को नमस्कार करनायोग्य है।

अब वे शास्त्र किस प्रकार से कहेंगे, यह कहते हैं। श्रमण अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागदेव, उनके श्रीमुख से उत्पन्न हुए वचनों को मस्तक से प्रणाम करके कहूँगा, क्योंकि सर्वज्ञ का वचन ही प्रमाणभूत है। इस कारण से उनके आगम को ही नमस्कार करनायोग्य है। भगवान को श्रमण कहते हैं। भगवान की वाणी आत्मा के सभी प्रदेशों से निकलती है, कण्ठ, होंठ इत्यादि सब निमित्त से रहित निकलती है। वाणी निकलते समय होंठ, कण्ठ, जीभ इत्यादि चलते नहीं, श्वास लेना पड़ता नहीं, ऐसी असंख्य प्रदेशों से वाणी निकलती है। और भगवान के श्रीमुख से निकली, ऐसा कहा है और वाणी को बहुमान देने के लिये कहा है कि 'यह भगवान की वाणी है।' और मस्तक से प्रणाम करने का यहाँ लिखा है तो मस्तक तो जड़ है, आत्मा मस्तक को नमा नहीं सकता, परन्तु उसका विनयभाव बताते हैं। जैसे लौकिक में सूर्य की पूजा दीपक से करते हैं, समुद्र की पूजा

समुद्र के पानी की अंजुलि से करते हैं; उसी प्रकार भगवान की वाणी का प्रपात निकला, उस सरस्वती की पूजा भी वाणी से होती है।

और, वाणी को नमस्कार क्यों किया ? सर्वज्ञ की वाणी है, पुरुष प्रमाण से वचन प्रमाण। इसलिए उनकी वाणी को नमस्कार किया है। जिन्हें राग टल गया है और सर्वज्ञ दशा प्रगट हुई है, ऐसे पुरुष की वाणी प्रमाण हो सकती है,... मिथ्यादृष्टि रागी जीव की वाणी प्रमाण नहीं हो सकती। (परन्तु छद्मस्थ ज्ञानी मुनि हो तो उनकी वाणी भी प्रमाण गिनी जाती है, क्योंकि पूरा आत्मा भगवान को प्रगट हो गया है, वैसे मुनि ने प्रतीति में लिया है और उस दशा को मुनि साध रहे हैं, इसलिए भावलिंगी मुनि के वचन भी प्रमाण गिने जाते हैं) सर्वज्ञ भगवान की वाणी प्रमाण है, इसलिए उस वाणी को अथवा उनके आगम को नमस्कार किया है।

भगवान के आगम संसार के दुःखों का नाश करनेवाले हैं।

कैसे हैं भगवान के आगम ? नरक, मनुष्य, तिर्यच और देव, इन चार गति के निवारण करनेवाले हैं अर्थात् कि संसार के दुःखों का नाश करनेवाले हैं। भव का अभाव होकर गतिरहित शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति कैसे हो, ऐसा बतावे, उसे आगम कहते हैं, भव का ज्ञान कराकर भव को टलाते हैं, वे आगम हैं। चार गतिरूप भव और भव का कारण विकार करने का जो कहे, वह आगम नहीं, फिर वह भव सर्वार्थसिद्धि के देव का हो या तीर्थंकर का भव हो, परन्तु वह भव करने का आगम कहता नहीं। भगवान गतिरहित हुए हैं, जिससे भगवान दूसरे जीवों को गति में निमित्त होते नहीं, गति का ज्ञान करावे, वह भी गतिरहित होने के लिये।

इस शास्त्र की गाथा १७२ में कहेंगे कि समस्त शास्त्रों का सार वीतरागभाव है। निश्चय और व्यवहार की बात अविरोध होने चाहिए, विकार और उसका फल संसार को रखने के लिये भगवान की वाणी नहीं हो सकती, परन्तु वाणी संसार के दुःखों का नाश करनेवाली है। और आगम तो पर है, परन्तु उनके निमित्त से भाव—आगम या सम्यग्ज्ञान जो जीव अपने में प्रगट करता है और संसार का नाश करता है तो द्रव्य—आगम निमित्त कहे जाते हैं, आगम में अविरोध बात है, ऐसा स्वीकार करनेवाला कौन

है ? अन्तर्मुख ज्ञान की महिमावाला अपने ज्ञान की महिमा गाता है, तब निमित्तरूप आगम की महिमा गाता है और वह आगम संसार का नाश करता है, ऐसा कथन किया जाता है।

भगवान के आगम मोक्षपद के परम्परा कारण हैं।

और वे आगम कैसे हैं ? आगम मोक्षफलसहित हैं अर्थात् कि शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्तिरूप मोक्षपद के परम्परा कारणरूप हैं। मोक्ष का कारण तो अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की पर्याय है, परन्तु उस पर्याय में शास्त्र की ओर का शुभराग—शास्त्र का व्यवहारज्ञान निमित्त है, वह राग का अभाव करके वीतरागता प्रगट करता है। इसलिए शास्त्र को मोक्ष का परम्परा कारण कहा गया है।

अब शब्द, ज्ञान और अर्थ, ऐसे तीन भेदों में से समय शब्द के अर्थ अथवा लोकालोक के भेद कहते हैं।

●●



मुनि बनने की भावना

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनि बनने की ही होती है। वह विचारता है कि अहो! मैं कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसङ्ग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ। मुनि बनकर चैतन्य के जिस मार्ग पर तीर्थङ्कर विचरे, मैं भी उसी मार्ग पर विचरण करूँ - ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा? धर्मीजीव आत्मा के भानपूर्वक इस प्रकार मुनि बनने की भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निज पुरुषार्थ की मन्दता और निमित्तरूप में चारित्रमोह की तीव्रता से कुटुम्बीजनों के आग्रहवश स्वयं ऐसा मुनिपद नहीं ले सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर देवपूजा आदि षट्कर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, श्रावकधर्मप्रकाश

गाथा - ३

*समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।

सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं॥३॥

*समवादः समवायो वा पंचानां समय इति जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तम्।

स च एव भवति लोकस्ततोऽमितोऽलोकः खम्॥३॥

अत्र शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिविधाऽभिधेयता समयशब्दस्य लोकालोकविभागश्चाभिहितः। तत्र च पंचानामस्तिकायानां समो मध्यस्थो रागद्वेषाभ्यामनुपहतो वर्णपदवाक्यसन्निवेशविशिष्टः पाठो वादः शब्दसमयः शब्दागम इति यावत्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यगवायः परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। तेषामेवाभिधानप्रत्ययपरिच्छिन्नानां वस्तुरूपेण समवायः संघातोऽर्थसमयः सर्वपदार्थसार्थ इति यावत्। तदत्र ज्ञानसमयप्रसिद्ध्यर्थं शब्दसमयसम्बन्धेनार्थ-समयोऽभिधातुमभिप्रेतः। अथ तस्यैवार्थसमयस्य द्वैविध्यं लोकालोकविकल्पात्। स एव पंचास्ति-कायसमवायो यावांस्तावाँल्लोकस्ततः परममितोऽनन्तो ह्यलोकः, स तु नाभावमात्रं किन्तु तत्समवायातिरिक्तपरिमाणमनन्तक्षेत्रं खमाकाशमिति॥३॥

पंचास्तिकाय समूह को ही समय जिनवर ने कहा।

यह समय जिसमें वर्तता वह लोक शेष अलोक है॥३॥

अन्वयार्थ :- [पंचानां समवादः] पाँच अस्तिकाय का समभावपूर्वक निरूपण [वा] अथवा [समवायः] उनका समवाय (-पंचास्तिकाय का सम्यक् बोध अथवा समूह) [समयः] वह समय है, [इति] ऐसा [जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तम्] जिनवरों ने कहा है। [सः च एव लोकः भवति] वही लोक है। (-पाँच अस्तिकाय के समूह जितना ही लोक है।) [ततः] उससे आगे [अमितः अलोकः] अमाप अलोक [खम्] आकाशस्वरूप है।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) शब्दरूप से, ज्ञानरूप से और अर्थरूप से (शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय) — ऐसे तीन प्रकार से 'समय' शब्द का अर्थ कहा है तथा लोक-अलोकरूप विभाग कहा है।

* मूल गाथा में 'समवाओ' शब्द है; संस्कृत भाषा में उसका अर्थ 'समवादः' भी होता है और 'समवायः' भी होता है।

वहाँ, (१) 'सम' अर्थात् मध्यस्थ यानि जो रागद्वेष से विकृत नहीं हुआ; 'वाद' अर्थात् वर्ण (अक्षर), पद (शब्द) और वाक्य के समूहवाला पाठ। पाँच अस्तिकाय का 'समवाद' अर्थात् मध्यस्थ (रागद्वेष से विकृत नहीं हुआ) पाठ (मौखिक या शास्त्रारूढ़ निरूपण) वह शब्दसमय है, अर्थात् शब्दागम, वह शब्दसमय है। (२) मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर, उस पंचास्तिकाय का ही *सम्यक् अवाय अर्थात् सम्यक् ज्ञान, वह ज्ञानसमय है, अर्थात् ज्ञानागम, वह ज्ञानसमय है। (३) कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उस पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से *समवाय अर्थात् समूह, वह अर्थसमय है, अर्थात् सर्व पदार्थसमूह, वह अर्थसमय है। उसमें यहाँ ज्ञान समय की प्रसिद्धि के हेतु शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय का कथन (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) करना चाहते हैं।

अब, उसी अर्थसमय का, ^१लोक और अलोक के भेद के कारण द्विविधपना है। वही पंचास्तिकायसमूह जितना है, उतना लोक है। उससे आगे अमाप अर्थात् अनन्त अलोक है। वह अलोक अभावमात्र नहीं है किन्तु पंचास्तिकायसमूह जितना क्षेत्र छोड़कर शेष अनन्त क्षेत्रवाला आकाश है (अर्थात् अलोक शून्यरूप नहीं है किन्तु शुद्ध आकाशद्रव्यरूप है)॥३॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ६, बुधवार

यहाँ पाँच अस्तिकाय के समूह को समय कहते हैं। काल का कथन गौण है। काल अस्ति है, परन्तु अस्तिकाय नहीं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ऐसे पाँच अस्तिकाय हैं। जीव, धर्म और अधर्म असंख्यप्रदेशी हैं और आकाश अनन्त प्रदेशी

* समवाय = (१) सम्+अवाय; सम्यक् अवाय; सम्यक् ज्ञान। (२) समूह। (इस पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र में यहाँ कालद्रव्य को कि जो द्रव्य होने पर भी अस्तिकाय नहीं है उसे - विवक्षा में गौण करके 'पंचास्तिकाय का समवाय वह समय है।' ऐसा कहा है; इसलिए 'छह द्रव्य का समवाय वह समय है' ऐसे कथन के भाव के साथ इस कथन के भाव का विरोध नहीं समझना चाहिए, मात्र विवक्षाभेद है ऐसा समझना चाहिए। और इसी प्रकार अन्य स्थान पर भी विवक्षा समझकर अविरुद्ध अर्थ समझ लेना चाहिए।)

१- 'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थ यत्र स लोकः' अर्थात् जहाँ जीवादिपदार्थ दिखाई देते हैं, वह लोक है।

है, इसलिए काय कहा गया है। एक परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए पुद्गलद्रव्य को उपचार से अस्तिकाय कहा गया है और काल में स्पर्श गुण नहीं, इसलिए एक कालाणु को दूसरे कालाणु के साथ स्कन्धरूप होने की योग्यता नहीं, इसलिए कालाणु अस्तिकाय नहीं, और इसलिए यहाँ काल का वर्णन गौण है। पाँच अस्तिकाय के समूह को अर्थसमय कहते हैं, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् वीतरागदेव ने कहा है।

समय के तीन भेद (१) शब्दसमय (२) ज्ञानसमय और अर्थसमय।

समय तीन प्रकार से है : (१) शब्दसमय (२) ज्ञानसमय (३) अर्थसमय।

जैसे कि शक्कर शब्द, वह शब्दसमय; शक्कर सम्बन्धी अपना ज्ञान, वह ज्ञानसमय और शक्कर पदार्थ, वह अर्थसमय।

बँगला शब्द, वह शब्दसमय; बँगला सम्बन्धी अपना ज्ञान, वह ज्ञानसमय और बँगला पदार्थ, वह अर्थसमय।

आत्मा शब्द, वह शब्दसमय; आत्मा सम्बन्धी अपना ज्ञान, वह ज्ञानसमय और आत्मा वस्तु, वह अर्थसमय।

पंचास्तिकाय शब्द, वह शब्दसमय; पंचास्तिकाय सम्बन्धी अपना ज्ञान, वह ज्ञानसमय और पंचास्तिकाय—पाँच अस्तिकाय (पदार्थ), वे अर्थसमय।

तीनों स्वतन्त्र हैं। शब्द में ज्ञान तथा पदार्थ नहीं, ज्ञान में शब्द तथा पदार्थ नहीं, अर्थ में (पदार्थ में) ज्ञान तथा शब्द नहीं।

जैसे कि 'पंचास्तिकाय' ऐसे शब्द बोले, उनमें पंचास्तिकाय का ज्ञान नहीं और उनमें पंचास्तिकाय पदार्थ नहीं, इसी प्रकार पंचास्तिकाय में (समूहरूप से बात लेनी है, अकेले जीव में ज्ञान है, वह अलग बात है)। पदार्थों में ज्ञान नहीं तथा शब्द नहीं, ज्ञान में शब्द तथा पदार्थ नहीं, परन्तु शब्दों का तथा पदार्थों का ज्ञान आ जाता है।

रागरहित द्रव्यश्रुत की रचना, वह शब्दसमय है।

इन तीन भेदों से पंचास्तिकाय की राग-द्वेषरहित यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य की रचना है, उसे द्रव्यश्रुतरूप शब्दसमय कहते हैं। इस पंचास्तिकाय में—द्रव्यश्रुतरूप

शब्दों में कहीं भी राग-द्वेष स्थापित करे, ऐसा कथन नहीं है। पंचास्तिकाय का वाँचन करके शुभभाव करनेयोग्य है, ऐसा जो भाव निकाले, उसने पंचास्तिकाय का वाँचन किया नहीं। व्यवहार से या पुण्य से धर्म होगा, ऐसा कथन पंचास्तिकाय में नहीं है। जो जीव अपना स्वभाव राग-द्वेषरहित है, ऐसा निर्णय करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, वह जीव द्रव्य—आगम का राग-द्वेषरहितरूप से कथन कर सकता है। व्यवहार के कथन आवे कि शुभभाव, वह वीतरागता का साधन है, तब धर्मी जीव समझता है कि यह उपचार से कथन है। राग वास्तव में साधन नहीं है। ऐसे अर्थ समझकर राग का स्थापन करे नहीं। वीतराग के शब्द राग-द्वेष का ज्ञान कराते हैं, परन्तु राग-द्वेष का स्थापन नहीं कराते। इस प्रकार शब्दसमय भी वीतरागता में निमित्त होता है।

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ७, गुरुवार

जो शास्त्र पुण्य से और निमित्त से धर्म कहे अथवा द्रव्य को पराधीन बतावे, वे शास्त्र नहीं, उसे शब्दसमय कहते नहीं।

समय तीन प्रकार से कहे हैं : (१) शब्दसमय, (२) ज्ञानसमय, (३) अर्थसमय। उसमें प्रथम शब्दसमय की बात करते हैं—जो पंचास्तिकाय की राग-द्वेषरहित यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य की रचना द्रव्यश्रुतरूप करते हैं, वह शब्दसमय है। 'जीव' शब्द बोला गया उसमें 'जी' और 'व' ये अक्षर हैं। 'जीव' यह पद है और 'जीव अनादि-अनन्त है' यह वाक्य है। इस प्रकार अक्षर, पद और वाक्य की रचना को द्रव्यश्रुत कहा है, परन्तु 'राग-द्वेषरहित' जो शब्द कहे हैं, उसके ऊपर विशिष्ट वजन है। जिस शास्त्र में राग-द्वेषरहित कथन आता है, वह यथार्थ शास्त्र है और वही शब्दसमय है, परन्तु जिस शास्त्र में ऐसा कथन आवे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर सकता है, पुण्य से धर्म होता है, जीव जड़ का या शरीर का कर सकता है, एक गुण से दूसरे गुण को लाभ होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को पराधीन बनाता है, राग-द्वेष अथवा पुण्यभाव करनेयोग्य है, ऐसा बतावे, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, निमित्त से उपादान में कार्य होता है'—इस प्रकार के कथन आवे तो उसे शब्दसमय नहीं कहते। जो कथन राग और द्वेष

अर्थात् मिथ्यात्व-राग-द्वेष उत्पन्न करने में निमित्त हो, उसे शब्दसमय कहते ही नहीं।

जिस शास्त्र के कथन का सार वीतरागतापोषक है, वे ही सच्चे शास्त्र हैं और शब्दसमय है।

जिसमें वीतरागता की बात आवे, अपने आत्मा को लाभ हो, वह बात आवे, सभी आत्मा और परमाणु स्वतन्त्र हैं, उन सबके द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र हैं, कर्म राग कराता नहीं और गुरु धर्म प्राप्त कराते नहीं, परन्तु स्वयं राग करे तो राग होता है और स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व-राग-द्वेष टालकर धर्म कर सकता है, इत्यादि प्रकार से यथार्थ कथन जिसमें आवे, उसे शब्दसमय कहते हैं। द्रव्यश्रुत कहो, द्रव्यआगम कहो, शब्दसमय कहो—एक ही है। यहाँ शब्दसमय तो जड़ की पर्याय है, तथापि उसे राग-द्वेषरहितपना कैसे कहा ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान ऐसा है कि उसमें राग नहीं तथा रागरहितपना भी नहीं। वह तो पुद्गल की पर्याय है, परन्तु शब्दसमय में जो कहा है, उसका भाव समझकर जीव अपने में मिथ्यात्वरहित यथार्थ ज्ञान करता है, जैसे कि शब्दसमय में कथन आवे कि 'जीव अपने आश्रय से मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश कर सकता है' इस कथन का यथार्थ भाव समझकर धर्मी जीव अपने स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश करता है और अपने में ज्ञानसमय प्रगट करता है अथवा निमित्त के और व्यवहार के कथन आवें तो उन्हें उपचारकथन समझकर वीतरागता निकाले, अर्थात् जैसा शब्दसमय में भाव कहा था, वैसा ही यहाँ ज्ञान करता है; इसलिए शब्दसमय मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश करता है और वह राग-द्वेषरहित है, ऐसा कथन किया जाता है, वही यथार्थ शास्त्र अथवा शब्दसमय है।

शब्दसमय के निमित्त से आत्मा के आश्रय से होते भावश्रुतज्ञान को ज्ञानसमय कहते हैं।

पंचास्तिकाय में पाँच अस्तिकाय—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का वर्णन है। वे सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं, उन शब्दों को शब्दसमय कहते हैं, वे शब्द पर की ओर का लक्ष्य छोड़ने का और मिथ्यात्व टालने का कहते हैं।

शब्दश्रुत का अथवा शब्दसमय का यथार्थ ज्ञान किया कब कहलाये ? भ्रमणा का

नाश निमित्तदृष्टि से अथवा पर्यायदृष्टि से होता नहीं, परन्तु आत्मा के लक्ष्य से भ्रमणा का नाश होता है, ऐसा पंचास्तिकाय का कहना है। सर्वज्ञ के सन्मुख देख तो तेरा मिथ्यात्व नाश होगा, ऐसा पंचास्तिकाय में आता नहीं, परन्तु तू तेरे सन्मुख देख तो तेरे मिथ्यात्व, राग-द्वेष का नाश हो, ऐसा है; इसके बिना उनका नाश नहीं होता। मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश करता है, यह भी व्यवहार-कथन है। अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से मिथ्यात्व, राग और द्वेष उत्पन्न नहीं होते, इसलिए मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार अपने में सच्चा ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञानसमय है। ज्ञानसमय कहो, भावश्रुतज्ञान कहो, भावआगम कहो, वह सब एक ही है। वह सम्यग्ज्ञानी जीव के ज्ञानगुण की पर्याय है। शब्दसमय द्वारा ज्ञान होता है, ऐसा कहना नहीं है, परन्तु जीव अपने आत्मा के आश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, तब जैसा शास्त्र का कहना था, वैसा ही उसने किया, इसलिए शब्दसमय द्वारा हुआ, ऐसा कथन किया जाता है और तब शब्दसमय का भी यथार्थ ज्ञान किया कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान द्वारा जो यथार्थ जानने में आवे, उसे अर्थसमय कहते हैं।

स्वयं सम्यक्ज्ञान प्रगट करे तो आगम और पदार्थों को यथार्थ जानना कहा जाता है।

जिस सम्यग्ज्ञान द्वारा (जो) पदार्थ ज्ञात होते हैं, उसका नाम अर्थसमय है। अर्थसमय अथवा पदार्थसमय दोनों एक ही हैं, शब्द वाचक है और पदार्थ वाच्य है।

यहाँ अर्थसमय की व्याख्या में स्पष्ट है कि ज्ञान द्वारा पदार्थ ज्ञात हों, उसे अर्थ कहा। परन्तु अर्थ द्वारा अर्थात् पदार्थ द्वारा ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहा। स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्ज्ञान जो उत्पन्न हुआ, वह ज्ञान पदार्थों को यथार्थ जानता है। पंचास्तिकाय अर्थात् पाँच पदार्थ—जीव, पुद्गल इत्यादि से अर्थात् कि अर्थसमय से ज्ञान होता है, ऐसा कहा नहीं, पंचास्तिकाय शब्द बोला गया, उस शब्दसमय से ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु तेरे स्वयं से ज्ञान होता है, इसलिए ज्ञानसमय में अर्थसमय तथा शब्दसमय ज्ञात हो जाते हैं, अर्थात् पंचास्तिकाय पदार्थ सम्यग्ज्ञान द्वारा ज्ञात होंगे और समझे जा सकेंगे, परन्तु पदार्थों से तथा शब्दसमय से

अर्थात् पंचास्तिकाय शास्त्र से पंचास्तिकाय का ज्ञान होगा नहीं, अर्थात् कि आगम द्वारा ज्ञान होगा नहीं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान होने से सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और वह सम्यग्ज्ञान शब्दसमय का भाव तथा पदार्थों को जान लेता है। और तभी उसने शब्दसमय और अर्थसमय सच्चे जाने कहा जाता है।

ज्ञानसमय बिना शब्दसमय और अर्थसमय का ज्ञान यथार्थ किया नहीं कहा जाता। संक्षिप्त में स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तो आगम तथा पदार्थों को यथार्थ जाना कहा जाता है, यह इसमें से सार निकलता है।

अर्थसमय के दो भेद (१) पंचास्तिकायरूप समूह—लोक, (२) अकेला आकाश, वह अलोक।

जो अर्थसमय है, उसमें पाँच अस्तिकाय को लोक कहा है। काल अस्ति है, उसका लोक में से अभाव बतलाना नहीं है, काल अस्तिकाय नहीं है, इसलिए लोक में से निकल जाता है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। कालाणु वस्तु है, उसमें एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ इकट्ठा नहीं होता। परमाणु एक होने पर भी रूक्षता—चिकनाई की योग्यता के कारण उपचार से अस्तिकाय कहा जाता है, जबकि कालाणु में ऐसी रूक्षता—चिकनाई की योग्यता नहीं, क्योंकि उसमें स्पर्शगुण नहीं, इसलिए वह उपचार से भी अस्तिकाय नहीं कहलाता। परन्तु अस्तिकाय नहीं है, इसलिए लोक में नहीं आता, ऐसा नहीं समझना। वह भी अस्तिधारक पदार्थ है। वह लोक में आ जाता है परन्तु उसका वर्णन इस शास्त्र में गौण है और पाँच अस्तिकाय का वर्णन मुख्य है, इसलिए पाँच अस्तिकाय को लोक कह दिया है। परन्तु काल लोक में आ जाता है, ऐसा समझना। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ऐसे पाँच को लोक कहते हैं और लोक से भिन्न मर्यादारहित अनन्त आकाश को अलोक कहते हैं। यहाँ आकाश के दो भाग होते हैं, ऐसा समझना नहीं। लोक और अलोक में आकाश धारावाही एक द्रव्य है, परन्तु पाँच अस्तिकाय, अस्तिकाय है, उस भाग को लोक कहते हैं और जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं।

भावश्रुतज्ञान की एक समय की पर्याय में अनन्त द्रव्यों को, अनन्त क्षेत्र को,

अनादि-अनन्त काल को तथा अनन्त भावों को (परोक्ष) जानने की सामर्थ्य है अर्थात् कि ज्ञानसमय शब्दसमय तथा अर्थसमय दोनों को जानता है, इसलिए ज्ञानसमय की महिमा है।

(१) अर्थसमय में लोकालोक आया। अर्थसमय की चौड़ाई अथवा क्षेत्र लोकालोक जितना है और ज्ञानसमय की अथवा भावश्रुतज्ञान की चौड़ाई अपने आत्मा के असंख्य प्रदेश जितनी है। अर्थसमय का क्षेत्र ज्ञानसमय से बड़ा होने पर भी क्षेत्र की महिमा नहीं है।

(२) एक समय की ज्ञान की पर्याय में अर्थसमय को अर्थात् लोकालोक को जानने की सामर्थ्य रही हुई है, लोकालोक को जानने के लिये आत्मा के प्रदेश लोकालोक जितने करने पड़ें, ऐसा कुछ नहीं, आत्मा को लम्बा होना नहीं पड़ता, परन्तु अपने असंख्य प्रदेश में रहकर ज्ञान की पर्याय लोकालोक का ज्ञान कर लेती है, इसलिए ज्ञानसमय की अथवा भावश्रुतज्ञान की महत्ता है।

(३) उस ज्ञान की पर्याय में लोकालोक ज्ञात होता है। उसमें क्या-क्या ज्ञात होता है, वह निम्नानुसार है—

(a) द्रव्य = अनन्त द्रव्यों को वह जान लेता है, उसमें छहों द्रव्य आ जाते हैं। और जीवद्रव्य में अनन्त सिद्ध तथा केवली भगवन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु—ऐसे पंच परमेष्ठी जीव; साधक तथा बाधक जीव; चारों गति के तथा अनन्त निगोद इत्यादि के जीव, उन सबको वह जान लेता है। इसी प्रकार अनन्त पुद्गलों को तथा धर्म, अधर्म इत्यादि द्रव्य समझ लेना, ऐसे द्रव्य अनन्त को जानता है।

(b) क्षेत्र = क्षेत्र अनन्त प्रदेशी है, इसलिए ज्ञान क्षेत्र से अनन्त प्रदेश को जानता है।

(c) काल = सभी द्रव्य त्रिकाली—अनादि-अनन्त हैं, इस प्रकार काल अपेक्षा से भी ज्ञान अनन्त को जानता है।

(d) भाव = प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण अथवा भाव हैं, उन अनन्त गुणों को ज्ञान जानता है, इसलिए ज्ञान भाव अपेक्षा से अनन्त भावों को जानता है।

इस प्रकार ज्ञानसमय अनन्त द्रव्यों, क्षेत्र, काल, और भाव को जान लेता है, ऐसी सामर्थ्यवाला है। अनन्त सिद्धों को जान लेता है, पंच परमेष्ठी को जान लेता है। पंच परमेष्ठी से ज्ञान होता नहीं, परन्तु स्वयं पंच परमेष्ठी को जान लेता है।

(४) यह तो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए भावश्रुतज्ञान की एक समय की पर्याय की सामर्थ्य बतलायी। छद्मस्थ जीव को भले असंख्य समय में ख्याल में आता है और सभी पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को परोक्ष रीति से जानता है, तथापि उसके सम्यग्ज्ञान की एक समय की पर्याय में लोकालोक के अनन्त पदार्थों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जानने की सामर्थ्य रही है और वह अपने असंख्य प्रदेश में रहकर अनन्त द्रव्यों को, अनन्त प्रदेशी क्षेत्र को, अनादिकाल को तथा अनन्त भावों को (परोक्ष) जान लेता है। ऐसी ज्ञान की महिमा है।

(५) अहो! समयज्ञान की एक समय की पर्याय में इतनी सामर्थ्य है तो फिर केवलज्ञान की कितनी सामर्थ्य समझना? वह तो अनन्त को एक समय में प्रत्यक्ष जान लेता है। (परन्तु यहाँ छद्मस्थ के ज्ञानसमय की बात है)।

(६) एक ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है तो फिर वह पर्याय जिसके आश्रय से प्रगट होती है, ऐसे ज्ञान इत्यादि अनन्त गुण का भण्डार आत्मद्रव्य के माहात्म्य की क्या बात करना? अहो! मेरा ज्ञानस्वभाव इतनी महिमावाला है। इस प्रकार जिसे अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा की महिमा आती है, उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है और वह सब पदार्थ यथार्थ जान लेता है और क्रमशः वीतरागता प्रगट करके केवलज्ञान पाता है।

(७) द्रव्य आगम (शब्दसमय) का ज्ञान भावआगम (ज्ञानसमय) से होता है। भावआगम का उत्पाद मिथ्यात्व के नाश से होता है। मिथ्यात्व का नाश ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से होता है और वह भावआगम समस्त पदार्थों को (अर्थसमय को) यथार्थ जान लेता है। इस प्रकार ज्ञानसमय शब्दसमय तथा अर्थसमय दोनों को जानता है, इसलिए ज्ञानस्वभाव की महिमा है। अर्थात् कि भावश्रुतज्ञान से पंचास्तिकाय समझ में आयेगा, परन्तु पंचास्तिकाय से समझ में आयेगा नहीं अथवा शास्त्र से भावश्रुतज्ञान होगा नहीं, परन्तु अपने से ज्ञान होगा।

भावार्थ : - अर्थसमय लोक तथा अलोक ऐसे दो प्रकार से है। जहाँ पाँच अस्तिकाय—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश—ऐसे पाँच का समूह है, उसे लोक कहते हैं और जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि छह द्रव्य के समूह को लोक कहते हैं तो 'यहाँ पाँच अस्तिकाय को लोक संज्ञा कैसे कही ?'

समाधान :- इस ग्रन्थ में मुख्यता से पाँच अस्तिकाय का वर्णन है। कालद्रव्य का कथन गौण है, इस कारण से लोकसंज्ञा पंचास्तिकाय की कही, परन्तु इससे कालाणु का अभाव है और लोक में वह द्रव्य नहीं है—ऐसा इसका अर्थ नहीं समझना। काल का कथन किया नहीं, उसमें मुख्य-गौण के भेद की अपेक्षा है। छह द्रव्य के समूह को लोक कहना, वह कथन भी प्रमाण है, परन्तु यहाँ वह विवक्षा नहीं है।

अब पाँच अस्तिकाय के विशेष नाम अथवा सामान्य-विशेष-अस्तित्व अथवा काय को कहते हैं।

●●

मुनिराज की आहारवृत्ति भी शुभभाव

मुनि की आहार-ग्रहण की वृत्ति भी अशुभभाव नहीं है, तथापि वह है तो कर्मधारा या रागधारा। जब तीर्थङ्कर मुनिपने में छद्मस्थ होते हैं, तब उन्हें भी आहार-ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न होती है, परन्तु वह वृत्ति अशुभभाव नहीं है, शुभभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह बात आती है कि मुनि के अशुभभाव का त्याग ही है अर्थात् उन्हें अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् धर्म के लोभी, धर्म समझने के अभिलाषी कोई जीव आवें और मुनिराज को शुभराग हो तो उपदेश देते हैं। बस, यह उपदेश देने का विकल्प या समझाने का भाव शुभराग है, पुण्याश्रव है; लेकिन वह शुभराग भी स्वयं के कारण ही आता है। धर्म के लोभी जीव को समझाते हैं, इसलिए शुभराग आता है — ऐसा नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१८२

गाथा - ४

जीवा पोगलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तिहि य णियदा अणणमइया अणुमहन्ता॥४॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ तथैव आकाशम्।
अस्तित्वे च नियता अनन्यमया अणुमहान्तः॥४॥

अत्र पंचास्तिकायानां विशेषसंज्ञा सामान्यविशेषास्तित्वं कायत्वं चोक्तम्।

तत्र जीवाः पुद्गलाः धर्माधर्मौ आकाशमिति तेषां विशेषसंज्ञा अन्वर्थाः प्रत्येयाः। सामान्यविशेषास्तित्वंच तेषामुत्पादव्ययध्रौव्यमय्यां सामान्यविशेषसत्तायां नियतत्वाद्व्यवस्थितत्वादवसेयम्। अस्तित्वे नियतानामपि न तेषामन्यमयत्वम्, यतस्ते सर्वदैवानन्यमया आत्मनिर्वृत्ताः। अनन्यमयत्वेऽपि तेषामस्तित्वनियतत्वं नयप्रयोगात्। द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ — द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता। ततः पर्यायार्थादेशादस्तित्वे स्वतः कथंचिद्भिन्नेऽपि व्यवस्थिताः द्रव्यार्थादेशात्स्वयमेव सन्तः सतोऽनन्यमया भवन्तीति। कायत्वमपि तेषामणुमहत्त्वात्। अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्ताऽमूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम्। अणुभ्यां महान्त इति व्युत्पत्त्या द्व्यणुकपुद्गलस्कन्धानामपि तथाविधत्वम्। अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः। व्यक्त्यपेक्षया शक्त्यपेक्षया च प्रदेशप्रचयात्मकस्य महत्त्वस्याभावात्कालाणूनामस्तित्वनियतत्वेऽप्यकायत्वमनेनैव साधितम्। अत एव तेषामस्ति-कायप्रकरणे सतामप्यनुपादानमिति॥४॥

आकाश पुद्गल जीव धर्म अधर्म ये सब काय हैं।
ये हैं नियत अस्तित्वमय अरु अणुमहान अनन्य हैं॥४॥

अन्वयार्थ :- [जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय, [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म [तथा एव] तथा [आकाशम्] आकाश [अस्तित्वे नियताः] अस्तित्व में नियत, [अनन्यमयाः] (अस्तित्व से) अनन्यमय [च] और [अणुमहान्तः] *अणुमहान (प्रदेश से बड़े) हैं।

* अणुमहान = (१) प्रदेश में बड़े अर्थात् अनेकप्रदेशी; (२) एकप्रदेशी (व्यक्ति-अपेक्षा से) तथा अनेकप्रदेशी (शक्ति-अपेक्षा से)।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) पाँच अस्तिकायों की विशेष संज्ञा, सामान्य विशेष-अस्तित्व तथा कायत्व कहा है।

वहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—यह उनकी विशेष संज्ञाएँ
*अन्वर्थ जानना।

वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सामान्यविशेषसत्ता में नियत-व्यवस्थित (निश्चित विद्यमान) होने से उनके सामान्यविशेष-अस्तित्व भी है, ऐसा निश्चित करना चाहिए। वे अस्तित्व में नियत होने पर भी (जिस प्रकार बर्तन में रहनेवाला भी बर्तन से अन्यमय है उसी प्रकार) अस्तित्व से अन्यमय नहीं है; क्योंकि वे सदैव अपने से निष्पन्न (अर्थात् अपने से सत्) होने के कारण (अस्तित्व से) अनन्यमय है (जिस प्रकार अग्नि उष्णता से अनन्यमय है उसी प्रकार) 'अस्तित्व से अनन्यमय' होने पर भी उनका 'अस्तित्व में नियतपना' नयप्रयोग से है। भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ कथन एक नय के आधीन नहीं होता किन्तु उन दोनों के आधीन होता है। इसलिए वे पर्यायार्थिक कथन से जो अपने से कथंचित् भिन्न भी है ऐसे अस्तित्व में व्यवस्थित (निश्चित स्थित) हैं और द्रव्यार्थिक कथन से स्वयमेव सत् (विद्यमान) होने के कारण अस्तित्व से अनन्यमय हैं।

उनके कायपना भी है क्योंकि वे अणुमहान हैं। यहाँ अणु अर्थात् प्रदेश-मूर्त और अमूर्त निर्विभाग (छोटे से छोटे) अंश; 'उनके द्वारा (-बहु प्रदेशों द्वारा) महान हो' वह अणुमहान; अर्थात् प्रदेशप्रचयात्मक (-प्रदेशों के समूहमय) हो वह अणुमहान है। इस प्रकार उन्हें (उपर्युक्त पाँच द्रव्यों को) कायत्व सिद्ध हुआ। (ऊपर जो अणुमहान की व्युत्पत्ति की उसमें अणुओं के अर्थात् प्रदेशों के लिये बहुवचन का उपयोग किया है और संस्कृत भाषा के नियमानुसार बहुवचन में द्विचन का समावेश नहीं होता, इसलिए अब व्युत्पत्ति में किंचित् भाषा का परिवर्तन करके द्वि-अणुक स्कन्धों को भी अणुमहान बतलाकर उनका कायत्व सिद्ध किया जाता है) 'दो अणुओं (-दो प्रदेशों) द्वारा महान हो' वह अणुमहान—ऐसी व्युत्पत्ति से द्वि-अणुक पुद्गलस्कन्धों को भी (अणुमहानपना

* अन्वर्थ=अर्थ का अनुसरण करती हुई; अर्थानुसार। (पाँच अस्तिकायों के नाम उनके अर्थानुसार है।)

होने से) कायत्व है। (अब, परमाणुओं को अणुमहानपना किस प्रकार है, वह बतलाकर परमाणुओं को भी कायत्व सिद्ध किया जाता है) व्यक्ति और शक्तिरूप से 'अणु तथा महान' होने से (अर्थात् परमाणु व्यक्तिरूप से एक प्रदेशी तथा शक्तिरूप से अनेक प्रदेशी होने के कारण) परमाणुओं को भी, उसके एक प्रदेशात्मकपना होने पर भी (अणुमहानपना सिद्ध होने से) कायत्व सिद्ध होता है। कालाणुओं को व्यक्ति-अपेक्षा से तथा शक्ति-अपेक्षा से प्रदेशप्रचयात्मक महानपने का अभाव होने से, यद्यपि वे अस्तित्व में नियत है तथापि, उनके अकायत्व है — ऐसा इसी से (—इस कथन से ही) सिद्ध हुआ। इसलिए, यद्यपि वे सत् (विद्यमान) हैं तथापि, उन्हें अस्तिकाय के प्रकरण में नहीं लिया है।

भावार्थ :- पाँच अस्तिकायों के नाम जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश हैं। वे नाम उनके अर्थानुसार हैं।

ये पाँचों द्रव्य पर्यायार्थिकनय से अपने से कथंचित् भिन्न ऐसे अस्तित्व में विद्यमान हैं और द्रव्यार्थिकनय से अस्तित्व से अनन्य हैं।

पुनश्च, यह पाँचों द्रव्य कायत्ववाले हैं क्योंकि वे अणुमहान हैं। वे अणुमहान किस प्रकार हैं, सो बतलाते हैं: — 'अणुमहान्तः' की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से है :- (१) अणुभिः महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो बहु प्रदेशों द्वारा (—दो से अधिक प्रदेशों द्वारा) बड़े हों, वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीव, धर्म और अधर्म असंख्यप्रदेशी होने से अणुमहान हैं; आकाश अनन्तप्रदेशी होने से अणुमहान है; और त्रि-अणुक स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध तक के सर्व स्कन्ध बहुप्रदेशी होने से अणुमहान है। (२) अणुभ्याम् महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो दो प्रदेशों द्वारा बड़े हों, वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वि-अणुक स्कन्ध अणुमहान हैं। (३) अणवश्च महान्तश्च अणुमहान्तः अर्थात् जो अणुरूप (—एक प्रदेशी) भी हों और महान (अनेक प्रदेशी) भी हों, वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमाणु अणुमहान है, क्योंकि व्यक्ति-अपेक्षा से वे एकप्रदेशी हैं और शक्ति-अपेक्षा से अनेकप्रदेशी भी (उपचार से) हैं। इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों द्रव्य अणुमहान होने से कायत्ववाले हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

कालाणु को अस्तित्व है किन्तु किसी प्रकार भी कायत्व नहीं है, इसलिए वह द्रव्य है किन्तु अस्तिकाय नहीं है॥४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ७, गुरुवार

- सिद्धों तथा निगोद के जीवों का स्वभाव तेरे ज्ञान में जनवाने का है और
- तेरे ज्ञान का स्वभाव उन्हें जानने का है।

अर्थ :- अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है और एक आकाशद्रव्य, ऐसे पाँच के विशेष नाम हैं, उन्हें समूह में पंचास्तिकाय कहते हैं।

जीव अनन्त हैं। उसमें सिद्ध निगोद के जीवों की अपेक्षा अनन्तवें भाग होने पर भी सिद्ध अनन्त हैं। निगोद के जीव उनकी अपेक्षा अनन्तगुणे हैं। इसके अतिरिक्त के दूसरे जीव असंख्यात और संख्यात हैं। वे ज्ञान में ज्ञात होते हैं। अनन्त सिद्ध तेरे देव हैं और अनन्त निगोद के जीव तुझे दया पालनेयोग्य हैं, ऐसा कहा नहीं। कोई जीव कहे ; 'अहो! अपने जैनधर्म में अनन्त जीव कहे हैं, ऐसा कथन अपने अतिरिक्त दूसरे किसी मत में नहीं, इसलिए अपने को निगोद के जीवों की दया पालनी चाहिए'—ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे यहाँ जवाब देते हैं।

(१) सिद्ध के जीव तुझे नहीं कहते कि हमको देव मान अथवा पूज्य मान। उस जीव का ऐसा स्वभाव नहीं। उसका स्वभाव तो मात्र तेरे ज्ञान में जीवद्रव्यरूप से ज्ञात होने का है।

(२) तेरे ज्ञान का ऐसा स्वभाव नहीं कि वे सिद्ध हैं, इसलिए तू उन्हें देव अथवा पूज्य मान। तेरे ज्ञान का स्वभाव सिद्ध के जीव हैं, इतना मात्र जानने का है।

(३) निगोद के जीव तुझे नहीं कहते कि तू हमारी दया पाल। दया पलवाने योग्य स्वभाववाले वे जीव नहीं। मात्र वे तो तेरे ज्ञान में जीवद्रव्यरूप से ज्ञात होनेयोग्य हैं।

(४) तेरा—तेरे ज्ञान का ऐसा स्वभाव नहीं कि तू उनकी दया पाल। दया तो राग है और राग तेरा स्वरूप नहीं। उसे जानने का तेरा स्वभाव है।

(५) और वे निगोद तथा सिद्ध के जीव हैं, इसलिए तुझे ज्ञान होता है, ऐसा भी

नहीं, परन्तु तेरे आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव यथार्थ जानने से अनन्त परपदार्थों को तू जान सके, ऐसा है। उन पदार्थों द्वारा तू ज्ञात हो, ऐसा नहीं परन्तु तेरे द्वारा तू ज्ञात हो ऐसा है।

इस प्रकार सच्चा ज्ञान होने से पर के ऊपर की दृष्टि छूट जाने से और स्व में एकाग्र होने पर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

- स्व को जानना वह निश्चय जानना और राग को जानना वह व्यवहार,
- ऐसे निश्चय-व्यवहार को अविरोधरूप से साधक जीव जानता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि : तुम दया पालने का तो इनकार करते हो, परन्तु शुभराग को शुद्धता का साधन कहा है न ? (गाथा १७२)

समाधान : शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। १७२वीं गाथा में शुभराग को व्यवहार कहते हैं और व्यवहार को निश्चय का साधन कहते हैं। परन्तु वह शुभराग का ज्ञान कराने के लिये है। साधक जीव को भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, तब स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिलने से राग बाधकभावरूप से जितना बाकी है, उसे पररूप से जान लेता है। वह राग देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होता है। उस व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम को जान लेता है। वहाँ राग का ज्ञान कराते हैं परन्तु राग द्वारा तथा देव-गुरु-शास्त्र आदि परद्रव्य द्वारा निर्मलता अथवा शुद्धता होती है, ऐसा नहीं कहते।

(१) यदि साधकदशा में राग बिल्कुल ही नहीं है, ऐसा माने तो विरोध आता है। क्योंकि अभी सम्पूर्ण वीतरागता प्रगटी नहीं है।

(२) यदि राग से कल्याण माने तो भी विरोध आता है। क्योंकि राग से अरागपना प्रगटता नहीं।

(३) परन्तु साधक जीव को भावश्रुतज्ञान होने पर स्व-परप्रकाशक स्वभाव खिलता है, उसे आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है।

स्व को जानते हुए राग को जान लेता है। ऐसे स्व को जानना, वह निश्चय; राग को पररूप से जान लेना, वह व्यवहार है। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार को

अविरोधरूप से जान लेने का गाथा १७२ में बतलाया है। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है।

● भावरुतज्ञान पाँच अस्तिकाय के स्व-परप्रकाशक स्वभाव से जानता है, परन्तु वे पदार्थ हैं, इसलिए जानता है - ऐसा नहीं है।

पंचास्तिकाय का वर्णन करते हुए अनन्त जीव कहे, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकप्रमाण अरूपी पदार्थ है और आकाश सर्वव्यापी है और अरूपी है। वे पदार्थ आत्मा को ज्ञान करावे, ऐसा उन पदार्थों का स्वभाव नहीं। तथा आत्मा का स्वभाव भी उनके द्वारा ज्ञान करने का नहीं। परन्तु जीव स्वयं भावश्रुतज्ञान प्रगट करे तो धर्म आदि द्रव्यों को यथार्थ रीति से परोक्ष जानता है और केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं। ऐसे पाँच को समूह में पंचास्तिकाय कहते हैं। उसका कथन शब्दसमय में कहा जाता है और उस शब्दसमय का ज्ञान आत्मा द्वारा होता है। रागरहित होकर इतना जानने की सामर्थ्यवाला ज्ञान है, ऐसा जो स्वीकार न करे, तथा छह द्रव्य के कथन को स्वीकार न करे तो उसके शास्त्र खोटे, पदार्थ खोटे और ज्ञान भी खोटा है। उन पदार्थों द्वारा ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा रागरहित ज्ञान द्वारा पदार्थों को जानता है। ज्ञानसमय अथवा श्रुतज्ञान जीव के ज्ञानगुण की पर्याय है, परन्तु वह ज्ञानपर्याय पदार्थों के द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों को जानती है।

● प्रत्येक द्रव्य की सामान्य और विशेष सत्ता अपने में है,

● एक द्रव्य की सत्ता दूसरे द्रव्य के कारण से नहीं।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने सामान्य और विशेष अस्तित्व में निश्चित है। अस्तिकाय की अपेक्षा से सामान्यपना है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश— ऐसे भिन्न-भिन्न नाम की अपेक्षा से विशेषपना है। और उसमें भी प्रत्येक द्रव्य में अपने त्रिकाली अस्तित्व अर्थात् सामान्य अस्तित्व है और समय-समय का वर्तमान, वह विशेष अस्तित्व है। इस प्रकार प्रत्येक अस्तिकाय अपने त्रिकालीपने में (द्रव्य-गुण में) और वर्तमान (पर्याय) में अर्थात् कि सामान्य-विशेष में निश्चित है। कोई दूसरे द्रव्य के कारण से नहीं तथा अपनी सत्ता से भिन्न नहीं, परन्तु एकमेक है। जीव की पर्याय कर्म

के कारण से हो तो जीव का विशेष रहता नहीं। जीव के कारण से शरीर की पर्याय हो तो परमाणु का विशेष रहता नहीं। प्रत्येक की (वर्तमान) विशेष सत्ता अपने में अभिन्न रहती है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की सामान्य और विशेष सत्ता अपने में अपने कारण से रही हुई है, परन्तु पर के कारण से नहीं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जानता है।

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ९, शनिवार

जगत में पाँच अस्तिकाय हैं और जीव का उन सबको जानने का स्वभाव है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उन पाँच अस्तिकाय को जाने ऐसा है। वे पदार्थ हैं, इसलिए ज्ञान करता है, ऐसा नहीं परन्तु आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण पाँचों अस्तिकाय ज्ञात हो जाते हैं। पाँचों अस्तिकाय की अपेक्षा सामान्य हैं और प्रत्येक का अस्तिकाय भिन्न-भिन्न है, वह विशेष है। उसमें काय कितने हैं, उसका वर्णन करेंगे।

(१) अनन्त जीवद्रव्य हैं, वे आत्मा की भावश्रुतज्ञान पर्याय में ज्ञात हों, ऐसे हैं। अनन्त सिद्ध और केवली इत्यादि जीव, वे अर्थसमय हैं अर्थात् पदार्थ हैं, उन सबको जान लेने की सामर्थ्य भावश्रुतज्ञान की पर्याय में अर्थात् ज्ञानसमय में रही हुई है, उन सिद्धों से ज्ञान होता नहीं, परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा अनन्त सिद्ध तथा अनन्त निगोद के जीव रागरहितरूप से ज्ञात हो जाते हैं।

(२) जीवद्रव्य से अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। एक परमाणु से लेकर अनन्त पुद्गल के स्कन्ध है, उनके द्वारा ज्ञान होता है, ऐसा नहीं, परन्तु भावश्रुतज्ञान उन सबको जान लेता है।

(३-४) चौदह ब्रह्माण्ड में लोकप्रमाण धर्म और अधर्मद्रव्य है। वे पदार्थ हैं, इसलिए ज्ञान उन्हें जानता है, ऐसा नहीं है, परन्तु जीव अपनी सामर्थ्य से भावश्रुतज्ञान द्वारा उन्हें जानता है।

(५) लोकाकाश और अलोकाकाश मिलकर पूरा द्रव्य है, उसे भी आत्मा जान

लेता है। ऐसे पाँच अस्तिकाय को आत्मा जान लेता है। काल अस्ति है, परन्तु काय नहीं, ऐसा होकर छह द्रव्यों को जानने का स्वभाव ज्ञान का लेते हैं। इतना बड़ा स्वभाव स्वीकार नहीं करे अथवा कम जानने की सामर्थ्यवाला माने अथवा विपरीत जाने, तब तक सच्चा ज्ञान होता नहीं, और सच्चा ज्ञान नहीं होने से धर्म नहीं होता।

● प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप को सत्ता अथवा अस्तित्व कहते हैं। प्रत्येक की सत्ता अपने कारण से है, परद्रव्य के कारण से नहीं।

पाँच अस्तिकाय महासत्तारूप से है और 'है' कहने से पाँचों अस्तिकाय आ जाते हैं। परन्तु 'है' कहा, इससे सब होकर एक हो जाये, ऐसा नहीं है। किसी की सत्ता किसी में मिलती नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपनी सत्ता भिन्न बनाये रखता है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य और विशेष अस्तित्व में निश्चित है। अपनी सत्ता से भिन्न नहीं। सत्ता और सत्तावान अभेद है। भेद नहीं। प्रत्येक परमाणु एक समय में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्तामय है। उत्पाद अर्थात् नयी अवस्थारूप से उपजना और व्यय अर्थात् पूर्व अवस्था का नाश होना और ध्रुव अर्थात् कायम रहना। सदृशरूप से रहना, ऐसे तीन होकर वस्तु है। एक जीव में उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे जीव के अथवा परमाणु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव के कारण से नहीं हैं और परमाणु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे जीव के अथवा ध्रुव के कारण से नहीं हैं, कोई भी पदार्थ अपनी सत्ता छोड़कर दूसरे की सत्ता को स्पर्शता नहीं। आत्मा में अनन्त गुणों की अवस्था एक समय में उत्पाद हो और एक समय में व्यय हो और स्वयं ध्रुवरूप से कायम रहे, ऐसा होने से एक आत्मा दूसरे आत्मा का अथवा शरीर इत्यादि जड़ का कुछ कर दे, ऐसा होता नहीं, किसी का अस्तित्व किसी के कारण से नहीं है। ऐसा होने से, मैं हूँ तो दूसरे मनुष्य समझते हैं, मैं हूँ तो दूसरे भय पाते हैं, दूसरे के कारण मैं भय पाता हूँ, मैं हूँ तो लड़के मानते हैं, यह बात रहती नहीं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव से टिका हुआ है।

(१) सभी पदार्थ हैं, इस अपेक्षा से सबमें सामान्यपना है और प्रत्येक भिन्न-भिन्न भी हैं, वह विशेष है।

(२) और प्रत्येक द्रव्य में त्रिकाली अस्तित्व, वह सामान्य है और वर्तमान, वह

विशेष है अथवा ध्रुवपना, वह सामान्य है और उत्पाद-व्ययपना, वह विशेष है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपनी सत्ता—सामान्य और विशेष से भिन्न नहीं है।

जो उत्पाद-व्ययस्वरूप है, वह सत्ता है और जो सत्ता है, उसे अस्तित्व कहते हैं और जो अस्तित्व है, वह सामान्य और विशेषात्मक है। पाँच अस्तिकाय अपने-अपने अस्तित्व में हैं। अस्तित्व है, वह अपने द्रव्य से अभेदरूप है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व वस्तु से भिन्न नहीं, गुड़ के प्रदेश गुड़ से भिन्न नहीं, कर्म के परमाणु उसके द्रव्य से भिन्न नहीं—एकमेक है, परन्तु आत्मा से भिन्न है। कर्म और आत्मा क्षीर-नीर की भाँति इकट्ठे हैं, ऐसा कहा है न? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान ऐसा है कि दूध और पानी इकट्ठा कहने से दूध और पानी भिन्न वस्तु है; उसी प्रकार कर्म मूर्त और आत्मा अमूर्त एक क्षेत्र में है, ऐसा कहने से दोनों भिन्न हैं, कर्म का उत्पाद कर्म के परमाणु के सामान्य के कारण से है। वह आत्मा के कारण से नहीं। आत्मा में विकार का उत्पाद आत्मा के कारण से है, कर्म के उत्पाद के कारण से नहीं। ऐसी सच्ची समझण करे तो शान्ति हो।

● सत्तागुण अपने द्रव्य से भिन्न नहीं परन्तु सत्ता और सत्तावान अभिन्न है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की सत्ता स्वयं से अभेद है, परन्तु किसी बर्तन में कोई चीज़ रखो, उस प्रकार से नहीं है। थाली में लड्डू रहा हुआ है, डिब्बे में तेल है, वैसे द्रव्य में सत्तागुण रहा हुआ है, ऐसा नहीं, परन्तु तेल की चिकनाई और तेल जैसे रहे हुए हैं, वैसे द्रव्य और उसकी सत्ता रही हुई है अथवा घट, घटरूप है, उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, घड़े से भिन्न नहीं। जैसे अग्नि और उष्णता एक है—भिन्न नहीं, उसी प्रकार आत्मा और उसका सत्तागुण भिन्न नहीं, परन्तु एकमेक है। आत्मा एक ओर रहे और उसकी सत्ता अन्यत्र रह जाये, ऐसा होता नहीं, सत्ता तथा द्रव्य को संज्ञा, संख्या और लक्षणभेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भेद नहीं है, सत्ता और द्रव्य अभेद है।

● नय श्रुतज्ञान में पड़ते हैं, उनके दो प्रकार (१) द्रव्यार्थिकनय (२) पर्यायार्थिकनय

जिनेन्द्र भगवान ने दो नय कहे हैं। नय अर्थात् श्रुतज्ञान का पहलू। ज्ञानगुण त्रिकाल है, श्रुतज्ञान उसकी एक पर्याय है। उसके दो अंश पड़ते हैं, उसे नय कहते हैं।

मतिज्ञान वर्तमानकालिक ज्ञान है, वह त्रिकाल को जानता नहीं, श्रुतज्ञान त्रिकाल को जानता है। मतिज्ञान में वैसी सामर्थ्य नहीं, इसलिए मतिज्ञान में नय नहीं पड़ते, परन्तु श्रुतज्ञान में त्रिकाली विषय को जानने की सामर्थ्य है, इसलिए नय पड़ते हैं। और नय परोक्ष ज्ञान है तथा अवधि, मनःपर्ययज्ञान आंशिक प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान का भाग परोक्ष नहीं हो सकता, इसलिए इन तीन ज्ञानों में भी नय नहीं पड़ते। मात्र श्रुतज्ञान में नय पड़ते हैं।

आत्मा रागरहित है, ऐसा अन्तर निर्णय करने से जो भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, उसमें दो पहलू पड़ते हैं : एक द्रव्यार्थिकनय और एक पर्यायार्थिकनय, ऐसे दो नय हैं।

द्रव्यार्थिकनय : द्रव्य सामान्य, आर्थिक = प्रयोजन जिसका। अर्थात् जिस ज्ञान के अंश का प्रयोजन आत्मा अथवा परमाणु के सामान्य को अर्थात् कि त्रिकाली शक्ति को लक्ष्य में लेने का है, उस ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

पर्यायार्थिकनय : पर्याय = वर्तमान अवस्था, आर्थिक = प्रयोजन जिसका, अर्थात् जिस ज्ञान के अंश का प्रयोजन आत्मा अथवा परमाणु की वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में लेने का है, उस ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

● कोई जीव एक अंश को एकान्त माने तो उसका ज्ञान सच्चा नहीं।

अज्ञानी जीवों को नयों के स्वरूप की खबर नहीं, इसलिए गड़बड़ करते हैं कि मुझसे पर के काम होते हैं और पर से मुझमें काम होते हैं। शास्त्र में दो नयों का कथन आता है। उन दो में से एक नय न माना जाये तो तत्त्व का सच्चा जानना नहीं कहा जा सकता, जैसे कि कोई जीव सामान्य सदृश स्वभाव को एक को ही लक्ष्य में ले और आत्मा को एकान्त कूटस्थ माने और दूसरा पहलू परिणमन का अर्थात् पलटन का ख्याल में न ले तो उसका ज्ञान सच्चा नहीं और कोई जीव अनित्य—क्षणिक पहलू अर्थात् पर्याय को एक को ही ख्याल में ले परन्तु ध्रुव रहनेवाले पदार्थ को—सामान्य-स्वभाव को ख्याल में न ले तो भी उसका ज्ञान सच्चा नहीं परन्तु उत्पाद-व्यय, वह पर्याय; ध्रुव, वह सामान्य—ऐसा ख्याल में ले तो वस्तु पूरी ख्याल में आती है।

द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक द्रव्य अपने सत्तागुण से अभेद है और गुणभेद की

अपेक्षा से अनेक है, भेदस्वरूप है।

आत्मा और परमाणु में अस्तित्व का गुण है वह गुण, गुणी से अभेद है (यहाँ आत्मा और पुद्गलद्रव्य के दृष्टान्त दिये हैं, बाकी के चार द्रव्यों में भी ऐसा समझ लेना)। सत्तागुण और सत्तावान द्रव्य अभेद है, प्रदेश से भेद है, ऐसा द्रव्यार्थिकनय से जानने में आता है और पर्यायार्थिकनय से देखने में आवे तो गुण और गुणी का भेद है।

द्रव्यार्थिकनय से अपने साथ सम्बन्ध धरावे, वह पर्यायार्थिकनय से पर के साथ सम्बन्ध धराता है, ऐसा है ही नहीं, यहाँ तो दोनों नय अपने में घटित हुए हैं।

आत्मा और उसके सत्तागुण को अभेद से देखो तो एक है और गुण-गुणी के भेद से अथवा पर्याय से अनेक है। परमाणु और उसके सत्तागुण को अभेद से देखो तो एक है और भेददृष्टि से देखो तो गुण और पर्यायें अनेक हैं।

आत्मा और परमाणु तो तीनों काल भेदस्वरूप है, यह तो भेद-अभेद अपने में घटित किये हैं। इस प्रकार प्रत्येक अस्तिकाय अपनी सत्ता से अभिन्न है।

● जीव, धर्म, अधर्म, आकाश — चार अस्तिकाय अखण्ड कायवन्त है।

और पाँच अस्तिकाय अनेक प्रदेशी हैं। आत्मा, धर्म, अधर्म, आकाश अमूर्तिक अनेक प्रदेशी है और पुद्गल, वह मूर्तिक है। बहुत परमाणु इकट्ठे होकर स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए पुद्गल भी मूर्तिक अनेकप्रदेशी है। प्रदेश अर्थात् छोटे में छोटा क्षेत्र, एक परमाणु आकाश की जितनी जगह रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

भावार्थ : पहले पाँच द्रव्य अस्तिरूप साबित किये। अब कायवन्त भी है अर्थात् प्रदेशवाले हैं, ऐसा बताते हैं। जीव, धर्म, अधर्म असंख्यप्रदेशी हैं, प्रदेश समान हैं परन्तु क्षेत्र से समान नहीं। धर्म-अधर्म लोक के क्षेत्र प्रमाण है और जीव अपने शरीरप्रमाण क्षेत्र में है और केवलीसमुद्घात के समय लोकप्रमाण है। आकाश अनन्त प्रदेशी है। जैसे शरीर अंगी है—अवयवी है और हाथ, पैर, मुख इत्यादि उसके अवयव हैं, उसी प्रकार (प्रत्येक) आत्मा द्रव्य से एक और उसके प्रदेश असंख्य हैं। धर्मद्रव्य द्रव्य से एक और उसके प्रदेश असंख्य हैं और अधर्मद्रव्य द्रव्य से एक और उसके प्रदेश असंख्य हैं। आकाशद्रव्य द्रव्य से एक और उसके प्रदेश अनन्त हैं। जैसे शरीर को हाथ,

पैर, इत्यादि अवयव होने से शरीर को काया कहते हैं, उसी प्रकार आत्मा इत्यादि के प्रदेश अनेक होने से काय कहते हैं। चार द्रव्य अखण्ड कायवान हैं, उसमें जिनके जितने प्रदेश हैं, उसमें से कम-ज्यादा नहीं होते।

● परमाणु में स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए उसे भी अस्तिकाय कहते हैं।

यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है, तथापि उसमें मिलन शक्ति है अर्थात् स्कन्धरूप होने की योग्यता है। दो अणु के स्कन्ध से लेकर अनन्त परमाणु का स्कन्ध हो सकता है, इसलिए पुद्गलद्रव्य कायवन्त अर्थात् प्रदेशवाला कहलाता है, काल में स्पर्शगुण नहीं, इसलिए उसमें मिलनशक्ति नहीं, इस कारण से काल को अस्तिकाय नहीं कहा गया है।

एक परमाणु दूसरे के साथ मिलकर स्कन्धरूप हो, तब भी प्रत्येक अपनी सत्ता में रहा हुआ है, दूसरे में मिल नहीं जाता।

और वह परमाणु दूसरे के साथ मिलकर स्कन्धरूप हो, तब वह परमाणु कद में चौड़ा नहीं हो जाता। स्थूलरूप से अथवा सूक्ष्मरूप से परिणमने की उस-उस परमाणु की योग्यता है। दूसरे परमाणु के कारण से वह नहीं है। और वह परमाणु स्थूलस्कन्ध में मिले, तब कद में बड़ा नहीं होता, तथा अपनी सत्ता को छोड़ता नहीं।

गाथा ८१ में कहा है कि यद्यपि अपने रूक्ष और स्निग्ध गुणों के कारण अनेक परमाणुरूप स्कन्ध की अवस्था धारण करके व्यवहार से एक स्कन्ध कहा जाता है, तथापि प्रत्येक परमाणु अपने एकरूप स्वभाव को छोड़ता नहीं। सदा एक ही द्रव्य रहता है, व्यवहार से स्कन्धरूप होने की योग्यता भी अपने कारण से है, दूसरे परमाणु के कारण से नहीं और व्यवहार से स्कन्ध होने पर भी प्रत्येक परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखे हुए है। इस प्रकार परमाणु जड़ होने पर भी जड़ की शक्ति से ज्ञान बिना काम कर रहा है। इसी प्रकार कर्म के स्कन्ध में भी एक कर्म के परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ अभाव है और स्वयं स्वतन्त्र रहा हुआ है तो फिर कर्म का उदय आत्मा को हैरान करे, यह बात अत्यन्त भ्रम है। कर्म और आत्मा को अत्यन्त अभाव है, वह आत्मा को हैरान नहीं कर सकता। इस प्रकार पुद्गलसहित पाँच अस्तिकाय जानना।

पाँचों अस्तिकाय को रागरहित जानने का स्वभाव मेरा है, ऐसी स्व की महिमा आने पर और स्वसन्मुख ढलने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और क्रम-क्रम से वीतरागता होती है।

इस प्रकार पाँच अस्तिकाय का स्वरूप कहा, उसे अर्थसमय कहते हैं। अर्थसमय अर्थात् वे-वे पदार्थ भगवान, मूर्ति, भाषा इत्यादि की अवस्था अर्थात् विशेष उस-उस पदार्थ के कारण से है, पर के कारण से नहीं। इन सबको जैसा है, वैसा जान लेने का ज्ञान का काम है। और ज्ञान की विशेष अवस्था भी अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के कारण प्रगट होती है परन्तु परपदार्थों तथा राग के कारण से प्रगट नहीं होती, वे पदार्थ हैं अथवा शास्त्र जानने का राग है, इसलिए ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है।

इस प्रकार रागरहित अपने ज्ञानस्वभाव को जाने, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। और उन पदार्थों को जानना, वह भी व्यवहार है। निश्चय से अपने आत्मा को जानने से परपदार्थों को व्यवहार जान लेता है। वास्तव में स्वयं ही ज्ञान और ज्ञेय है, अहो! वस्तुस्वरूप ऐसा है। पाँच अस्तिकाय में जीव अस्तिकाय में स्वयं भी आत्मा अस्तित्ववाला असंख्यप्रदेशी है, ऐसा आ जाता है, सबको जानने का मेरा स्वभाव है, पर को मेरा मानने का या राग-द्वेष करने का स्वभाव नहीं, ऐसी अपने ज्ञान की महत्ता जिसे सूझी, उसे सत्य का माहात्म्य आने पर स्वभावसन्मुख ढलने से साधकदशा उत्पन्न होती है और वह मोक्षमार्ग है और परिपूर्ण ढल जाने से वीतरागता और केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यह पंचास्तिकाय जानने का फल है।

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण १०, रविवार

- यह शरीर पुद्गल की काया है, आत्मा की काया नहीं।
- असंख्य प्रदेश आत्मा की काया है, ऐसा जीव समझे तो भेदज्ञान हो और भ्रान्ति का नाश हो।

आत्मा देह से भिन्न है। देह तो अनेक रजकणों का पिण्ड है, मूल वस्तु नहीं। यह सब दिखता है, वह पुद्गल है। वह अनेक परमाणु का बना हुआ है। इसलिए उसे

अस्तिकाय कहते हैं। उससे आत्मा भिन्न है। एक परमाणु के माप से मापा जाये तो आत्मा असंख्य प्रदेश जितना चौड़ा है। अस्ति अर्थात् है; काय अर्थात् प्रदेशों का समूह। आत्मा के असंख्य प्रदेश, वे आत्मा की काया है। यह शरीर दिखता है, वह आत्मा की काया नहीं। वह तो पुद्गलास्तिकाय है और वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण को धरनेवाला है; और आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि का धारक है। आत्मा जड़ होता नहीं और जड़ चैतन्य होता नहीं। दोनों को अत्यन्त अभाव है।

कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उसमें स्पर्शगुण नहीं, इसलिए एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ मिलता नहीं। शक्ति तथा व्यक्ति अपेक्षा से कभी भी स्कन्धरूप की योग्यता नहीं है, इसलिए कालद्रव्य को कायवन्त नहीं कहा जाता और बाकी के पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। प्रत्येक स्वतन्त्र है और पर से अभावरूप है। ऐसा होने पर भी शरीर को 'मेरा' मानना, वही भ्रान्ति और अज्ञान है। शुद्ध चैतन्यस्वभावी जीवास्तिकाय हूँ, ऐसा भूलकर, पर जीव के साथ और पर पुद्गल के साथ एकत्वबुद्धि करता है, वही संसार है। पाँच अस्तिकाय स्वतन्त्र हैं, ऐसा जीव समझे तो भ्रान्ति नाश होती है।



जङ्गल में भी मुनिराज परम सुखी

किसी को ऐसा लगे कि जङ्गल में मुनिराज को अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? अरे भाई! जङ्गल के बीच निजानन्द में झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगत के राग-द्वेष का शोरगुल वहाँ नहीं है। किसी परवस्तु के साथ आत्मा का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध में आत्मा को सुख हो —ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और उसी को उपादेय मानते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनमृत, १७६, पृष्ठ १०९

गाथा - ५

जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
 ते होंति अत्थिकाया णिप्पणं जेहिं तेल्लोक्कं॥५॥
 येषामस्ति स्वभावः गुणैः सह पर्ययैर्विविधैः।
 ते भवन्त्यस्तिकायाः निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यम्॥५॥

अत्र पञ्चास्तिकायानामस्तित्वसंभवप्रकारः कायत्वसंभवप्रकारश्चोक्तः।

अस्ति ह्यस्तिकायानां गुणैः पर्यायैश्च विविधैः सह स्वभावो आत्मभावोऽनन्यत्वम्। वस्तुनो विशेषा हि व्यतिरेकिणः पर्याया गुणास्तु त एवान्वयिनः। तत एकेन पर्यायेण प्रलीयमानस्यान्येनोप-जायमानस्यान्वयिना गुणेन ध्रौव्यं बिभ्राणस्यैकस्याऽपि वस्तुनः समुच्छेदोत्पादध्रौव्यलक्षण-मस्तित्वमुपपद्यत एव। गुणपर्यायैः सह सर्वथान्यत्वे त्वन्यो विनश्यत्यन्यः प्रादुर्भवत्यन्यो ध्रुवत्वमालम्बत इति सर्वं विप्लवते। ततः साध्वस्तित्वसंभवप्रकारकथनम्। कायत्वसंभवप्रकार-स्त्वयमुपदिश्यते। अवयविनो हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशपदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्यायाः उच्यन्ते। तेषां तैः सहानन्यत्वे कायत्वसिद्धिरुपपत्तिमती। निरवयवस्यापि परमाणोः सावयवत्वशक्तिसद्भावात् कायत्वसिद्धिरनपवादा। न चैतदाशङ्क्यम् पुद्गलादन्येषाम-मूर्तत्वादविभाज्यानां सावयवत्वकल्पनमन्याय्यम्। दृश्यत एवाविभाज्येऽपि विहायसीदं घटाकाश-मिदमघटाकाशमिति विभागकल्पनम्। यदि तत्र विभागो न कल्पेत तदा यदेव घटाकाशं तदेवाघटाकाशं स्यात्। न च तदिष्टम्। ततः कालाणुभ्योऽन्यत्र सर्वेषां कायत्वाख्यं सावयवत्वमवसेयम्। त्रैलोक्यरूपेण निष्पन्नत्वमपि तेषामस्तिकायत्वसाधनपरमुपन्यस्तम्। तथाच — त्रयाणा-मूर्ध्वाऽधोमध्यलोकानामुत्पादव्ययध्रौव्यवन्तस्तद्विशेषात्मका भावा भवन्तस्तेषां मूलपदार्थानां गुणपर्याययोगपूर्वकमस्तित्वं साध्यन्ति। अनुमीयते च धर्माधर्माकाशानां प्रत्येकमूर्ध्वाऽधोमध्यलोक-विभागरूपेण परिणमनात्कायत्वाख्यं सावयवत्वम्। जीवानामपि प्रत्येकमूर्ध्वाऽधोमध्यलोक-विभागरूपेण परिणमनाल्लोकपूरणावस्थाव्यवस्थितव्यक्तेस्सदा सन्निहितशक्तेस्तदनुमीयत एव। पुद्गलानामप्यूर्ध्वाऽधोमध्यलोकविभागरूपपरिणतमहास्कन्धत्व-प्राप्तिव्यक्तिशक्तियोगित्वात्तथाविधा सावयवत्वसिद्धिरस्त्येवेति॥५॥

अनन्यपन धारण करें जो विविध गुण पर्याय से।

उन अस्तिकायों से अरे त्रैलोक यह निष्पन्न है॥५॥

अन्वयार्थ :- [येषाम्] जिन्हें [विविधैः] विविध [गुणैः] गुणों और [पर्ययैः] *पर्यायों के (—प्रवाहक्रम के तथा विस्तारक्रम के अंशों के) [सह] साथ [स्वभावः] अपनत्व [अस्ति] है [ते] वे [अस्तिकायाः भवन्ति] अस्तिकाय है [यैः] कि जिनसे [त्रैलोक्यम्] तीन लोक [निष्पन्नम्] निष्पन्न है।

टीका :- यहाँ, पाँच अस्तिकायों को अस्तित्व किस प्रकार है और कायत्व किस प्रकार है, वह कहा है।

वास्तव में अस्तिकायों को विविध गुणों और पर्यायों के साथ स्वपना—अपनापन—अनन्यपना है। वस्तु के व्यतिरेकी विशेष, वे पर्यायें हैं और अन्वयी विशेषों, वे गुण हैं। इसलिए एक पर्याय से प्रलय को प्राप्त होनेवाली, अन्य पर्याय से उत्पन्न होनेवाली और अन्वयी गुण से ध्रुव रहनेवाली एक ही वस्तु को व्यय—उत्पाद—ध्रौव्यलक्षण अस्तित्व घटित होता ही है। और यदि गुणों तथा पर्यायों के साथ (वस्तु को) सर्वथा अन्यत्व हो तब तो अन्य कोई विनाश को प्राप्त होगा, अन्य कोई प्रादुर्भाव को (उत्पाद को) प्राप्त होगा और अन्य कोई ध्रुव रहेगा—इस प्रकार सब विप्लव प्राप्त हो जायेगा। इसलिए (पाँच अस्तिकायों को) अस्तित्व किस प्रकार है तत्सम्बन्धी यह (उपर्युक्त) कथन सत्य—योग्य—न्याययुक्त हैं।

अब, (उन्हें) कायत्व किस प्रकार है, उसका उपदेश किया जाता है :- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश यह पदार्थ अवयवी हैं। प्रदेश नाम के उनके जो

- * पर्यायें = (प्रवाहक्रम के तथा विस्तारक्रम के) निर्विभाग अंश। (प्रवाहक्रम के अंश तो प्रत्येक द्रव्य के होते हैं, किन्तु विस्तारक्रम के अंश अस्तिकाय के ही होते हैं।)
- १. व्यतिरेक=भेद; एक का दूसरेरूप नहीं होना; 'यह वह नहीं है' ऐसे ज्ञान के निमित्तभूत भिन्नरूपता। (एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप न होने से पर्यायों में परस्पर व्यतिरेक है; इसलिए पर्यायें द्रव्य के व्यतिरेकी (व्यतिरेकवाले) विशेष हैं।)
- २. अन्वय=एकरूपता; सदृश्यता; 'यह वही है' ऐसे ज्ञान के कारणभूत एकरूपता। (गुणों में सदैव सदृश्यता रहती होने से उनमें सदैव अन्वय है, इसलिए गुण द्रव्य के अन्वयी विशेष (अन्वयवाले भेद) हैं।)
- ३. अस्तित्व का लक्षण अथवा स्वरूप व्यय—उत्पाद—ध्रौव्य है।
- ४. विप्लव=अन्धाधुन्धी; उथलपुथल; गड़बड़ी; विरोध।
- ५. अवयवी=अवयववाला; अंशवाला; अंशी; जिनके अवयव (अर्थात्) एक से अधिक प्रदेश हों ऐसे।

अवयव हैं, वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होने से ^१पर्यायें कहलाती हैं। उनके साथ उन (पाँच) पदार्थों को अनन्यपना होने से कायत्वसिद्धि घटित होती है। परमाणु (व्यक्ति-अपेक्षा से) ^२ निरवयव होने पर भी उनको सावयवपने की शक्ति का सद्भाव होने से कायत्वसिद्धि ^३ निरपवाद है। वहाँ ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है कि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ अमूर्तपने के कारण ^४ अविभाज्य होने से उनके सावयवपने की कल्पना न्याय विरुद्ध (अनुचित) है। आकाश अविभाज्य होने पर भी उसमें 'यह घटाकाश है, यह अघटाकाश (पटाकाश) है' ऐसी विभागकल्पना दृष्टिगोचर होती ही है। यदि वहाँ (कथंचित्) विभाग की कल्पना न की जाये तो जो घटाकाश है, वही (सर्वथा) अघटाकाश हो जायेगा; और वह तो इष्ट (मान्य) नहीं है। इसलिए कालाणुओं के अतिरिक्त अन्य सर्व में कायत्व नाम का सावयवपना निश्चित करना चाहिए।

उनकी जो तीन लोकरूप निष्पन्नता (-रचना) कही, वह भी उनका अस्तिकायपना (अस्तिपना तथा कायपना) सिद्ध करने के साधनरूप से कही है। वह इस प्रकार है :-

(१) ऊर्ध्व-अधो-मध्य तीन लोक के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले भाव कि जो तीन लोक के विशेषस्वरूप हैं वे भवते हुए (परिणमत होते हुए) अपने मूलपदार्थों का गुणपर्याययुक्त अस्तित्व सिद्ध करते हैं। (तीन लोक के भाव सदैव कथंचित् सदृश रहते हैं और कथंचित् बदलते रहते हैं, वे ऐसा सिद्ध करते हैं कि तीन लोक के मूल पदार्थ कथंचित् सदृश रहते हैं और कथंचित् परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् उन मूल पदार्थों का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला अथवा गुणपर्यायवाला अस्तित्व है।)

(२) पुनश्च, धर्म, अधर्म और आकाश यह प्रत्येक पदार्थ ऊर्ध्व-अधो-मध्य ऐसे लोक के (तीन) ^५ विभागरूप से परिणमित होने से उनके कायत्व नाम का सावयवपना

१. पर्याय का लक्षण परस्पर व्यतिरेक है। वह लक्षण प्रदेशों में भी व्याप्त है, क्योंकि एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप न होने से प्रदेशों में परस्पर व्यतिरेक हैं; इसलिए प्रदेश भी पर्याय कहलाती है।
२. निरवयव=अवयवरहित; अंशरहित; निरंश; एक से अधिक प्रदेशरहित।
३. निरपवाद=अपवाद रहित। (पाँच अस्तिकायों को कायपना होने में एक भी अपवाद नहीं है, क्योंकि (उपचार से) परमाणु को भी शक्ति-अपेक्षा से अवयव-प्रदेश हैं।)
४. अविभाज्य=जिनके विभाग न किये जा सकें ऐसे।
५. यदि लोक के ऊर्ध्व, अधः और मध्य ऐसे तीन भाग हैं तो फिर 'यह ऊर्ध्वलोक का आकाशभाग

है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। प्रत्येक जीव के भी ऊर्ध्व-अधो-मध्य ऐसे तीन लोक के (तीन) विभागरूप से परिणमित ^१ लोकपूरण अवस्थारूप व्यक्ति की शक्ति का सदैव सद्भाव होने से जीवों को भी कायत्व नाम का सावयवपना है, ऐसा अनुमान किया ही जा सकता है। पुद्गल भी ऊर्ध्व अधो-मध्य ऐसे लोक के (तीन) विभागरूप परिणत महास्कन्धपने की प्राप्ति की व्यक्तिवाले अथवा शक्तिवाले होने से उन्हें भी वैसी (कायत्व नाम की) सावयवपने की सिद्धि है ही॥५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण १०, रविवार

● प्रत्येक पदार्थ अपने अनेक गुण-पर्यायोंसहित अस्तित्ववाला है।

पाँच अस्तिकाय अनेक प्रकार के सहभूत गुण तथा व्यतिरेकरूप अनेक पर्यायोंसहित अस्तित्व स्वभाववाले हैं।

जीव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, प्रभुत्व इत्यादि त्रिकाली शक्तियाँ रही हुई हैं; जैसे परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है। गुण एक साथ सब हैं, इसलिए सहभूत कहे गये हैं और पर्यायें एक के बाद एक होती हैं, भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे आत्मा में शुभभाव के बाद अशुभभाव, घड़ीक में दया, दान का भाव, पश्चात् अशुभ; और थोड़ा जानना, अधिक जानना—ऐसे पर्यायें भिन्न-भिन्न होती हैं और परमाणु में भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण कायम रहते हैं, परन्तु उनकी एक के बाद एक पर्याय हुआ करती है। आत्मा

है, यह अधोलोक का आकाशभाग है और यह मध्यलोक का आकाशभाग है’—इस प्रकार आकाश के भी विभाग किये जा सकते हैं और इसलिए यह सावयव अर्थात् कायत्ववाला है, ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार धर्म और अधर्म भी सावयव अर्थात् कायत्ववाले हैं।

१. लोकपूरण=लोकव्यापी (केवलसमुद्घात के समय जीव की त्रिलोकव्यापी दशा होती है। उस समय ‘यह ऊर्ध्वलोक का जीवभाग है, यह अधोलोक का जीवभाग है और यह मध्यलोक का जीवभाग है’ ऐसे विभाग किये जा सकते हैं। ऐसी त्रिलोकव्यापी दशा (अवस्था) की शक्ति तो जीवों में सदैव है, इसलिए जीव सदैव सावयव अर्थात् कायत्ववाले हैं ऐसा सिद्ध होता है।)

की पर्याय शरीर अथवा कर्म के कारण से नहीं और शरीर अथवा कर्म की अवस्था आत्मा के कारण से नहीं। इस प्रकार प्रत्येक अस्तिकाय अपने गुण-पर्यायोंसहित (अपने) अस्तित्ववाले हैं।

● पदार्थ हैं, वे कभी भी सर्वथा नाश नहीं होते और जो नहीं है, वे कभी नये नहीं होते।

(१) इस जगत में पदार्थ हैं, उनका सर्वथा अभाव नहीं होता। परन्तु स्वयं कायम टिककर बदला करते हैं। उनके गुण कायम रहते हैं और व्यतिरेकरूप पर्यायें बदला करती हैं। स्वयं अपने कारण से ध्रुव रहते हैं और पलटन भी अपने कारण से पाते हैं, पर के कारण से नहीं।

(२) जो वस्तु जगत में नहीं अथवा अभावस्वरूप है, वह कभी भावस्वरूप होती नहीं।

(३) यदि आत्मा सदा ही एकरूप ही रहे और पलटन हो ही नहीं तो दुःख टालकर सुख प्रगट नहीं किया जा सकता।

(४) यदि आत्मा एकान्त पलटनशील ही हो और ध्रुव न हो तो दुःख टालकर सुख का अनुभव करनेवाला नहीं रहने से सुख का अनुभव होगा नहीं।

(५) इसलिए आत्मा तथा प्रत्येक वस्तु कायम रहकर पलटन (परिवर्तन) पाती है।

पैसा स्वयं ध्रुव परमाणुरूप से कायम रहकर अवस्था बदला करता है। क्षेत्रान्तर पाता है। परन्तु जो जीव ऐसा मानता है कि मेरी होशियारी के कारण पैसा आता है, वह पैसे की अस्ति को उड़ाता है। आत्मा में त्रिकाली शक्तियाँ हैं और उनमें एक के बाद एक पर्याय होती है। उसका कर्ता आत्मा स्वयं है। स्वतन्त्ररूप से करे तो कर्ता है। आत्मा की अवस्था में जड़ का अधिकार नहीं और जड़ की अवस्था में आत्मा का अधिकार नहीं। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। एक त्रिकाली शक्ति और एक वर्तमान अवस्थारूप शक्ति है। इस प्रकार प्रत्येक की पर्याय वह प्रत्येक का स्वभाव है, वह नाश नहीं होता और न हो वह नया नहीं होता। जड़ और आत्मा होकर पूरा जगत है। जगत

कोई दूसरी चीज़ नहीं और वे पदार्थ जगत में न हों, ऐसा नहीं होता। तथा **जगत का प्रलय हो, ऐसा नहीं बनता**। जगत पहले नहीं था और नया हुआ, ऐसा नहीं है।

आत्मा में ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं और उनकी समय-समय में अवस्था पलटती है। जड़ की अलग-अलग अवस्था होना, वह जड़ का काम है; वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं। आत्मा में शक्ति कायम रहकर अपने में पलटन होना, वह आत्मा का काम है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव होते हैं; तथा दया, दान के भाव भी होते हैं। वे परिवर्तन पाया करते हैं। शुभ-अशुभभाव हुआ करते हैं, वह उपाधि स्वभाव है। वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं। तथापि वीतरागदशा न हो, तब तक विकार होता है, परन्तु वह विकार पर के कारण से नहीं, तथा स्वभाव की शाश्वत् चीज़ नहीं। और वह विकार बिल्कुल अभावरूप भी नहीं। ऐसा यथार्थ समझे तो ज्ञान निर्मल होता है।

● **आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा से अभेद हैं और जड़ के गुण-पर्याय जड़ से अभेद हैं।**

तथा एक वस्तु है, वह अपनेरूप से है और पररूप से नहीं। दूसरी वस्तु उसकेरूप से है और स्वरूप से (आत्मारूप से) नहीं। यह अँगुली अपनेरूप से है और दूसरी अँगुलीरूप नहीं। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। ऐसी सच्ची समझण करे तो पर का अहंकार उड़ जाये।

पाँच अस्तिकाय कि जिनसे लोक बना है, उनका स्वरूप कैसा है, यह कहते हैं। पाँच अस्तिकाय अपने—अनेक प्रकार के गुण-पर्याय के क्षेत्र से भेदरूप नहीं परन्तु एकतारूप है। गुण-पर्याय और द्रव्य से संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनभेद से भेद है, परन्तु क्षेत्रभेद नहीं। वे तीनों काल भिन्न रहते हैं। आत्मा के कारण से शरीर चलता है, ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। शरीर का रूपान्तर, क्षेत्रान्तर, वह परमाणु के कारण से है, परन्तु आत्मा के कारण से नहीं। आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है। वह ज्ञान करे अथवा मैंने पर का किया, ऐसा अभिमान करे। परन्तु पर का कभी कर नहीं सकता। यदि आत्मा शरीर का कर सकता है, ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीर दोनों एक हो जायें।

भगवान भी प्रथम संसारदशा में थे। उन्होंने भी प्रथम भेदज्ञान किया। परपदार्थ

से रहित तथा रागरहित अपना ज्ञानस्वभाव है, ऐसी प्रथम श्रद्धा की, पश्चात् परिणति राग-द्वेष में अटकती थी, वह स्वभाव का परिपूर्ण आश्रय करने से, सर्वज्ञदशा व्यक्त हुई और रागरहित वाणी निकली। वहाँ ज्ञान में जैसा वस्तुस्वरूप देखा, वैसा वाणी में आ गया। वाणी जड़, रूपी है। आत्मा चेतन, अरूपी है। वाणी को आत्मा ने किया नहीं। परमाणु का वर्तमान भाषारूप होना, वह परमाणु के आधार से है। आत्मा ने वह वर्तमान किया, ऐसा माना जाये तो परमाणु का नाश हो जाता है। वे परमाणु कायम टिककर अवस्था बदलती है। आत्मा के कारण से बदलते नहीं। परमाणु का कार्य उस परमाणु के कारण और आत्मा का कार्य आत्मा के कारण है। और तभी वस्तु सिद्ध होती है।

कोई जीव आँखें बन्द करके चला जाये तो सूक्ष्म जीव दिखते नहीं, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञान के उघाड़ बिना मिथ्याज्ञान से काम करे तो सूक्ष्म तत्त्व के न्याय ख्याल में आते नहीं। इस प्रकार मिथ्याज्ञान अथवा असत्य, वह दुःख है। दुःख दूसरी कोई चीज़ नहीं। आत्मा के गुण और पर्याय आत्मा से अभेद है और जड़ के गुण और पर्याय जड़ से अभेद है। शरीर का रोग शरीर में होता है; आत्मा में होता नहीं। अज्ञानी जीव, 'रोग मुझे हुआ'—ऐसी कल्पना करता है, वही दुःख है। परवस्तु दुःख का कारण नहीं तथा आत्मा का स्वभाव दुःख का कारण नहीं; परन्तु दोनों वस्तुओं को एक मानना, वह दुःख है।

प्रत्येक आत्मा अपनी शाश्वत् शक्ति और अवस्था से एकमेक—अभेद है। परन्तु परवस्तु से भेद है। शरीर के परमाणु अपनी शक्ति और अवस्था से अभेद है, परन्तु आत्मा से भेद है। जैसे गुड़ और मिठास एक है, अग्नि और उष्णता एक है। प्रत्येक पर्याय है, वह उसकी शक्तियों और अवस्थाओं से अभेद है और दूसरे से भेद है। जीव की इच्छा होने पर भी कितनी ही बार बोला नहीं जाता। पक्षघात के समय इच्छा होने पर भी शरीर चलता नहीं, क्योंकि वस्तु भिन्न-भिन्न है। आटे की रोटी होती है, चूरा होता है, उसका थूंक, रक्त, विष्टा इत्यादि होते हैं। वह सब उसके कारण से हो रहा है। तू उसका जाननेवाला-देखनेवाला है। जीव से जड़ की अवस्था हो—ऐसा मानना, वह पाखण्ड है। तेरी प्रभुता तो जानने-देखने की है। तुझे सुख चाहिए है? सुख सत् से होगा या असत् से होगा? द्रव्य को पराधीन मानना, वह असत् है। वह मान्यता छोड़ और प्रत्येक

द्रव्य स्वतन्त्र है, ऐसी सत् मान्यता कर तो सुख मिले, ऐसा है। तू परवस्तु का कार्य करने का अभिमान करता है और राग घटाता है, वह मिथ्यात्वसहित का पुण्य है, परन्तु वह पवित्रता लावे, यह बात खोटी है। अज्ञानी जीव माने या न माने, वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा है। प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय से एक है और पर से भिन्न है।

गुण-पर्यायें जिसमें बसती हैं, उसे वस्तु कहते हैं। ऐसा ज्ञान करना, वह वस्तु का स्तवन है। वस्तु के स्तवन बिना भगवान का स्तवन यथार्थ नहीं है।

आत्मा और जड़ पदार्थों में क्षण-क्षण में जो अनेक अवस्था से परिणमन होता है, उसे पर्याय कहते हैं। अवस्थायी अर्थात् कायमी पदार्थ और अवस्था अर्थात् क्षणिक पर्याय। अव=निश्चय से; स्थायी=अपने में टिक रहा है वह। और परिणमन में परि=समस्त प्रकार से। नमन=ढलना। ऐसे परिणमन का अर्थ ही अपने में ढलना, ऐसा होता है। परन्तु पर में ढलना या पर के कारण से ढलना, ऐसा इसका अर्थ तथा भाव नहीं है। और पदार्थ में सदा अविनाशीरूप से साथ में रहे, उसे गुण कहते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि शक्ति है और वर्तमान अवस्था हीनाधिक हुआ करती है तथा परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शक्ति की हरी, सफेद, काली, सुगन्धी या दुर्गन्धरूप अवस्था हुआ करती है। ऐसे गुण कायम रहकर अवस्था का पलटना, वह द्रव्य का स्वरूप है। आत्मा और परमाणु नयी अवस्थारूप से उपजते हैं, पुरानी अवस्थारूप से व्यय होते हैं और शक्तिरूप से कायम रहते हैं। जैसे कुण्डल का व्यय होता है, कड़ा का उत्पाद होत है और सोना सदृश, चिकनाई, वजन इत्यादि शक्तिरूप से ध्रुव रहता है। गुण-पर्यायें जिसमें बसे, उसे वस्तु कहते हैं। ऐसा जानना वह वस्तु का स्तवन है। उस स्तवन बिना पर का स्तवन अर्थात् कि भगवान का स्तवन व्यर्थ है।

● अंधा फोड़ा बाहर के पट्टी से मिटता नहीं, उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी बिगाड़ बाहर के क्रियाकाण्ड से मिटता नहीं।

लोग समझे बिना क्रियाकाण्ड और सामायिक इत्यादि करते हैं, परन्तु भाई! वैसी अज्ञानरूपी क्रिया से कषायमन्दता हो तो पुण्य हो, परन्तु संसार नहीं मिटता। अंधा फोड़ा (नासूर) हो, उसके अन्दर बिगाड़ होता है, परन्तु बिगाड़ निकले बिना ऊपर पट्टी बाँधे तो थोड़े समय सुखाव आया हो, ऐसा लगता है, परन्तु अन्दर से फोड़ा मूल में से

गया नहीं। इसलिए फिर से पीव निकलता है। उसी प्रमार आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञानादि कायमी वस्तुएँ (गुण) हैं, और उसमें समय-समय में होती अवस्था स्वयं के कारण से है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र है, ऐसा माने बिना मिथ्यात्वरूपी अंधा फोड़ा मिटेगा नहीं। थोड़े समय कषाय मन्द करे तो शुभ बँधता है, परन्तु वास्तविक शान्ति नहीं मिलती और जन्म-मरण का अन्त नहीं आता।

अज्ञानी जीव आत्मा को समझे बिना ध्यान करना चाहते हैं, परन्तु समझण बिना ध्यान होता नहीं। आत्मा की सच्ची समझा करके अन्तर एकाग्र होना, वह ध्यान है। वस्तु का स्वरूप दिव्यध्वनि में आया है और वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। प्रत्येक वस्तु नयी अवस्थारूप से उपजती है, पूर्व अवस्थारूप से नाश पाती है और वस्तुरूप से ध्रुव रहती है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। ऐसी सच्ची समझण करे तो भ्रान्ति की पर्याय का नाश होता है और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है।

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण १० (द्वितीय), सोमवार

सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान द्वारा इस जगत में छह पदार्थ देखे हैं। वे छहों अस्तिरूप हैं और उनमें से पाँच अस्तिकायरूप हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त पाँच अस्तिकाय हैं।

यह सब द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायसहित टिक रहे हैं। किसी द्रव्य के गुण-पर्याय को दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं। पदार्थों का अस्तित्व स्वभाव है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है अर्थात् वह ध्रुवरूप से टिककर नयी पर्याय से उपजता है और पुरानी पर्याय से नाश पाता है (व्यय होता है)।

लोगों को ऐसा लगता है कि शरीर की क्रिया से धर्म होता है, परन्तु आत्मा के परिणाम में स्वयं क्या किया, वह तो देखते नहीं। शरीर दो घड़ी स्थिर हुआ, वह तो जड़ की पर्याय का उत्पाद है, उसके परिणाम में आत्मा का अधिकार है ही नहीं; इसलिए उसमें आत्मा की सामायिक नहीं। आत्मा का अस्तित्व तो आत्मा के उत्पाद, व्यय, ध्रुव में है। अपने परिणाम शरीर की क्रिया से होते नहीं, तथापि शरीर की क्रिया से अपने

उत्पाद-व्यय-ध्रुव मानना, वह मिथ्यात्व है। अपने में शुभ परिणाम हो, वह भी क्षणिक पर्याय है, उसके ही आधार से धर्म मान ले तो उसने द्रव्य-गुण को नहीं माना परन्तु पर्याय को ही पूरा द्रव्य माना है, इसलिए वह भी पर्यायमूढ़ है।

गुण कायम ध्रुव हैं और पर्याय क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु का अस्तित्व जानना। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से है। किसी के कारण से किसी की पर्याय का उत्पाद नहीं होता। वस्तु स्वयं अपने सामर्थ्य से नयी-नयी उपजती है।

भाषा निकले, वह पुद्गल का उत्पाद है। आत्मा उसका कर्ता नहीं। जिस प्रकार से वस्तुस्वरूप है, वैसा भाव आगम द्वारा अर्थात् कि भावश्रुतज्ञान द्वारा जानने की यह बात है। प्रत्येक आत्मा और जड़ पदार्थ अस्तित्व स्वभाववाले हैं। अस्तित्व उत्पाद-व्यय और ध्रुवसहित है। शरीर में रोग हो, वह पुद्गल की पर्याय का उत्पाद है। उसके अस्तित्व में आत्मा का अधिकार नहीं कि वह रोग को मिटा दे।

यदि प्रत्येक पदार्थ अपने गुण-पर्यायसहित न हो तो वस्तु का ही लोप हो जाये। द्रव्य-गुण-पर्याय को कथंचित् भेद है, परन्तु सर्वथा भेद नहीं। जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु से सर्वथा भिन्न है, परन्तु वह परमाणु अपने गुण-पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं; उसी प्रकार वस्तु को उसके गुण-पर्याय के साथ नामभेद, संख्याभेद, प्रयोजनभेद—ऐसे भेद होने पर भी सत्ताभेद और क्षेत्रभेद नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता तो एक ही है। यदि द्रव्य से गुण-पर्यायें भिन्न हों तो वस्तु का अभाव हो जाये।

वस्तु का अस्तित्व किस प्रकार से है, यह जाने बिना पर के अहंकार का मिथ्याभाव टलता नहीं, अर्थात् कि धर्म होता नहीं। पहले सच्ची समझण करना, वही अज्ञान का प्रतिक्रमण है, वह प्रतिक्रमण कैसे हो, उसकी यह बात चलती है। पहले अज्ञान और मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करने के पश्चात् ही अव्रत का प्रतिक्रमण हो सकता है। मिथ्यात्व के त्याग बिना अव्रत का त्याग होता ही नहीं। पहले मिथ्यात्व के शल्य को टालकर निःशल्य को (प्राप्त) हो, पश्चात् ही अव्रत का पाप टलता है। मिथ्यात्व, वह बड़ा पाप है, उसका प्रतिक्रमण सच्ची समझण से ही होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण की दूसरी क्रिया नहीं। यह क्रिया जीव ने अनादि से कभी की नहीं, इसलिए अपूर्व है।

प्रत्येक आत्मा और जड़ पदार्थ अपने गुण-पर्यायसहित अस्तित्ववाले हैं। यदि पदार्थ को उसके गुण-पर्यायों से सर्वथा भिन्न मानो तो जैसे आत्मा और परमाणु का एक-दूसरे में सर्वथा अभाव है, वैसे गुण-पर्यायरहित द्रव्य का सर्वथा अभाव हो जाये। भाई! वस्तु का अस्तित्व समझे बिना धर्म होता नहीं। जैसे नाक में विष्टा की गोली रखकर भँवरा गुलाब के ऊपर बैठे तो उसे गुलाब की सुगन्ध कहाँ से आवे? उसी प्रकार जिसे वस्तु के स्वरूप का सम्यक् भान नहीं, वह अन्दर मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान रखकर चाहे जितना करे, तो भी वह सब अधर्म है। उसे धर्म की सुगन्ध का अनुभव नहीं होता।

वस्तु को सिद्ध करने के लिये द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से कथन किया है, परन्तु वास्तव में द्रव्य से उसके गुण-पर्यायें भिन्न नहीं हैं। वस्तु के गुण-पर्यायों का क्षेत्र और सत्ता भिन्न नहीं है। सर्वथा अभेद भी नहीं। सर्वथा अभेद हो तो एक पर्याय जितना और एक गुण जितना ही द्रव्य हो जाये। तथा 'यह द्रव्य और यह गुण' ऐसे भेद पाड़कर कथन भी न हो सके। अर्थात् कि कथंचित् गुण-गुणी भेद भी है, परन्तु सर्वथा भेद नहीं। वस्तु को सिद्ध करने के लिये गुण-पर्याय के भेद पाड़कर कथन किया है, परन्तु वस्तु तो कथंचित् अभेद है, इसलिए इस प्रकार से वस्तु कथंचित् भेद-अभेदरूप है।

अहो! आचार्यदेव को जंगल में आत्मा का अनुभव करते-करते विकल्प उठा और इस शास्त्र की रचना हो गयी, परन्तु वे कहते हैं कि यह शब्दपर्याय होती है, वह पुद्गल के साथ अभेद है। हमारे से उसका अत्यन्त भेद है। हम उस पुद्गल की पर्याय के कर्ता नहीं। हमारा आत्मा हमारे गुण-पर्याय के साथ अभेद है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय से अभेद है और पर से भेदरूप है—पृथक् है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप (अस्तित्व) गुण-पर्यायसहित और उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है, ऐसा कहा।

अब पाँच द्रव्यों को जो अस्तिकायपना है, उसमें कायपना किस प्रकार से है, वह कहते हैं। काया अर्थात् यह स्थूल शरीर की बात नहीं। परन्तु वस्तु के अनेक प्रदेशों का जो पिण्ड है, वही काया है—वही उसकी काया है।

● आत्मा काया कौनसी ?

यह शरीर, वह आत्मा की काया नहीं। वह तो पुद्गल की काया है। आत्मा के

जो असंख्य चैतन्य प्रदेश हैं, वही आत्मा की काया है। जड़ काया आत्मा की कभी भी नहीं है। जड़ काया, वह पुद्गलास्तिकाय है। उसमें आत्मा का अस्तित्व नहीं है; इसलिए जड़ शरीर को आत्मा चलावे, ऐसा माने, उसने जीवास्तिकाय को और पुद्गलास्तिकाय को भिन्न जाना नहीं।

● काया किसे कहा जाता है ?

काल के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों को काया होती है। काया अर्थात् प्रदेशों का समूह। प्रदेश सूक्ष्म अविभागी अंश है, उसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता।

आत्मा को अवयव होते हैं ? तो कहते हैं कि हाँ। यह हाथ-पैर, वे जड़ के अवयव हैं। वे कहीं आत्मा के अवयव नहीं हैं। असंख्य चैतन्य अंश, वे आत्मा के अवयव हैं। आत्मा के अवयव कितने ? असंख्यात। जीव, अधर्म और अधर्म, इन तीनों की काया असंख्यातप्रदेशी है। पुद्गल की काया दो अंश से लेकर अनन्त अंशवाली होती है। आकाश की काया अनन्त प्रदेशी है। काल को एक ही प्रदेश है, इसलिए उसे काया नहीं है।

यहाँ जीव के असंख्यप्रदेश कहे, वे अंश कल्पना से हैं। कहीं वे प्रदेश कभी पृथक् नहीं पड़ते। इस प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश में भी अंश भिन्न नहीं पड़ते। पुद्गल में स्कन्ध हो और पृथक् भी पड़े, इसलिए पुद्गल को कायपना उपचार से है।

एक द्रव्य में अनेक प्रदेशों की जो अंशकल्पना है, उसे पर्याय कहते हैं। पूरे क्षेत्र का एक अंश पड़ा, इसलिए वह भी पर्याय है। एक प्रदेश, वह दूसररूप नहीं है। यदि ऐसा न हो और एक प्रदेश, वह दूसरे प्रदेशरूप हो तो वस्तु के अनेक प्रदेश ही साबित नहीं हो सकते। आत्मा के असंख्य प्रदेश अनादि-अनन्त हैं। उसका कोई प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप कभी नहीं होता। उस प्रदेश की कल्पना को पर्याय कहा जाता है। यह क्षेत्र-पर्याय है, अर्थात् क्षेत्र अपेक्षा से उसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा जाता है। वह किस प्रकार से ?—कि जो एक प्रदेश लक्ष्य में लो, वह प्रदेश अपनेरूप से उत्पादरूप, पूर्व प्रदेश की अपेक्षा से व्ययरूप और वस्तु के धारावाही क्षेत्र अपेक्षा से वह ध्रुवरूप से है। (अधिक के लिये देखो : वस्तुविज्ञान अंक) *

* इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण 'सम्यक्प्रभा' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए जो कि प्रवचनसारजी शास्त्र की गाथा 99, 100, 101 पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन हैं।

हाथी में या चींटी में आत्मा असंख्यप्रदेशी समान ही है। असंख्य प्रदेश कहने से कहीं वस्तु खण्डित नहीं हो जाती। अखण्ड एक वस्तु होने पर भी असंख्य अंश भी उसमें है। ऐसा उसका स्वभाव है। ४० वार कपड़े को वार से मापा, वहाँ उसके ४० टुकड़े नहीं हो जाते, तथापि वह '४० वार है' ऐसा माप भी खोटा नहीं है। उसी प्रकार आत्मा अखण्ड है, उसे सूक्ष्मप्रदेश के माप से मापने पर असंख्यप्रदेशी होता है, तथापि उसके असंख्य टुकड़े नहीं हो जाते।

जैसे श्रद्धा-ज्ञानादि भाव की पर्यायें हैं, उसी प्रकार क्षेत्र की भी पर्यायें (अंश) हैं। सब द्रव्यों की अपने स्वरूप से एकता है। जैसे गुण-पर्यायों का कथंचित् भेद होने पर भी उनसे वस्तु भिन्न नहीं है, उसी प्रकार क्षेत्र में अंशकल्पना से भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं पड़ जाता। वस्तुरूप से तो एक-अखण्ड ही है।

ऐसा वस्तु का स्वरूप—अस्तित्व समझे तो भूमिका की शुद्धि हो, पश्चात् रुचि को अन्तर में मोड़कर बीज बोवे तो धर्मरूपी वृक्ष उगे। वस्तु को जाने बिना और उसकी रुचि बिना धर्म होता नहीं।

मकान, वह आत्मा का क्षेत्र नहीं। मकान किसी का, पैसे किसी के, आहार किसी का, शरीर भी किसी का; वे सब पुद्गल के हैं। आत्मा का क्षेत्र तो अपने असंख्य प्रदेश हैं। पाँचों द्रव्यों को अपने-अपने अनेक प्रदेश हैं, इसलिए वे कायवन्त हैं। इस प्रकार पाँच अस्तिकाय का वर्णन किया।

यहाँ कोई प्रश्न करता है :— पुद्गल परमाणु तो निरंश—एकप्रदेशी है तो वह कायवन्त किस प्रकार से है ?

इसका उत्तर :— पुद्गल परमाणु रूपी हैं, स्पर्शादि गुणवाले हैं, इसलिए उनमें परस्पर मिलन शक्ति है, इसलिए स्कन्धरूप होते हैं, उस स्कन्ध अपेक्षा से वह सकाय है।

पुद्गल के अतिरिक्त पाँच द्रव्य तो अरूपी हैं। उस द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध स्कन्धरूप नहीं होता। एक पुद्गल में ही वैसी योग्यता है, इसलिए अनेक पुद्गलों का स्कन्ध होता है। परन्तु स्कन्ध में भी वह द्रव्यरूप से तो भिन्न ही है, तथापि स्कन्ध अपेक्षा से उसे भी कायवन्तपना है।

यहाँ कोई ऐसी आंशका न करो कि : 'जीव, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश तो अखण्ड अमूर्तिक द्रव्य हैं, इसलिए उनमें प्रदेशों की अंशकल्पना नहीं हो सकती।' पुद्गल मूर्तिक है, इसलिए उसमें ही अंशकल्पना बनती है और जीवादि अमूर्तिक अखण्ड द्रव्यों में अंशकल्पना बन ही नहीं सकती, ऐसा नहीं है। अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थों में भी अंशकल्पना बन सकती है। यह बात आकाश का दृष्टान्त देकर समझायेंगे।

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ११, मंगलवार

सर्वज्ञ भगवान ने इस जगत में पाँच अस्तिकाय देखे हैं। उन्हें जैसा है, वैसा जाने तो ज्ञान रागरहित होकर आत्मा की शान्ति का अनुभव कर सकता है। जगत के पदार्थ ज्ञान में ज्ञात हों, ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य है। जो जीव जगत के छह द्रव्यों को न मानता, छह द्रव्यों को जानने का ज्ञान का सामर्थ्य है, उसे भी नहीं मानता; इसलिए उसे ज्ञाता स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

पंचास्तिकाय में जीव, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश, ये चार अरूपी द्रव्य हैं, उनमें भी प्रदेश—अंशों की कल्पना हो सकती है; अरूपी पदार्थ है, इसलिए उनमें अंशकल्पना नहीं हो सकती, ऐसा नहीं है।

भगवान ने छह द्रव्य कहे हैं, उनमें संशय करे, विपरीत माने या उनका निर्णय न करे तो वह मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान हो, तब तक आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञान की कितनी सामर्थ्य है, उसे यदि जाने तो उसमें छह द्रव्यों की प्रतीति इकट्ठी आ ही जाती है। छह द्रव्यों को न माने तो ज्ञानसामर्थ्य की ही प्रतीति नहीं है।

जो पाँच अस्तिकाय पदार्थ हैं, उनमें पुद्गल स्कन्ध में तो अंश पड़ते हैं, परन्तु जीव और धर्मास्ति इत्यादि द्रव्य तो अनेक प्रदेशोंवाले अरूपी द्रव्य हैं, तो उनमें अंश किस प्रकार पड़ें? यह बात समझाते हैं। जैसे आकाश एक अखण्ड अमूर्त द्रव्य होने पर भी उसमें ऐसे भाग पड़ते हैं कि 'यह घटाकाश है और यह पटाकाश है' अथवा दो अँगुलियाँ हैं, उनमें उन दोनों का क्षेत्र भिन्न है, जो एक अँगुली का क्षेत्र है, वह दूसरी

अँगुली का नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। यदि आकाश में अंशकल्पना हो ही नहीं सकती हो तो दो अँगुलियों का क्षेत्र भिन्न कैसे कहा जा सकता है ?

देखो ! ऐसे पदार्थ को जानने का अपना ज्ञान का स्वभाव है, आकाश कहीं आकाश को नहीं जानता, परन्तु ज्ञान ही उसे जानता है, यह ज्ञानसामर्थ्य की महिमा है। आत्मा के असंख्य प्रदेश कहीं पृथक्-पृथक् बिखरकर नहीं रहते, असंख्य प्रदेश होने पर भी वस्तुरूप से उनकी अखण्डता है। आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, उनका जो एक भाग है, वह भाग दूसरे भाग में नहीं, इस प्रकार उसमें अंश पड़ सकते हैं, तथापि वस्तु अखण्ड है। आकाश में घड़े ने जो जगह रोकी है, वह जगह वस्त्र ने रोकी नहीं और वस्त्र ने जो जगह रोकी है, वह जगह घड़े ने रोकी नहीं। आकाश में घड़े ने रोका हुआ अंश पृथक् है और वस्त्र ने रोका हुआ अंश पृथक् है, इस प्रकार अखण्ड आकाश में भी प्रदेशकल्पना घटित हो सकती है।

इस प्रकार कालद्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों को अस्तिकायपना है, इन पाँच द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव से तीन लोक की रचना है। कालसहित इन पाँच द्रव्यों के अतिरिक्त जगत कुछ अलग नहीं है, इन छह द्रव्यों का समूह, वही जगत है, सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसे जगत को कोई जान नहीं सकता।

मुनिसुव्रत भगवन्त की स्तुति करते हुए श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि 'हे नाथ ! जगत के पदार्थ एक समय में ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है—ऐसा जो वस्तुस्वरूप का आपका कथन है, वह आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है; सर्वज्ञता के अतिरिक्त पदार्थ के ऐसे सूक्ष्म स्वरूप को कोई प्रत्यक्ष जान नहीं सकता। हे नाथ ! इस प्रकार हम आपकी सर्वज्ञता की परीक्षा करके मानते हैं'—ऐसी सर्वज्ञता को जो जाने, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

पाँच अस्तिकाय के परिणमन से जो तीन लोक की रचना है। हे नाथ ! आपने सर्वज्ञता से जो वस्तुस्वभाव जाना, वह सर्वज्ञता और वस्तुस्वभाव हमको हमारी प्रतीति में बैठा है। हमारे ज्ञान में निर्णय करके हम आपको सर्वज्ञदेवरूप से मानते हैं।

हे सर्वज्ञदेव ! आप लोक के नाथ हो, किस प्रकार ? हे नाथ ! तेरे आश्रय से मैंने

जो मेरी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति की, उसे हटने नहीं दूँगा, और नहीं प्राप्त—ऐसी परमात्मदशा को प्राप्त करूँ, उसमें आप निमित्त हो, इसलिए आप ही हमारे नाथ हो।

जगत के पदार्थों में उत्पाद-व्यय-ध्रुव सब सबके कारण से हो रहे हैं, उसमें किसका हर्ष और किसका शोक? अर्थात् कि ज्ञाता ही रहने का मेरा स्वभाव है। ऐसे रागरहित ज्ञाता रहना, वही यह जानने का फल है।

जो पाँच अस्तिकाय हैं, उनसे तीन लोक की रचना है। उसमें आकाश, धर्मास्ति और अधर्मास्तिकाय तो ऊर्ध्व, मध्य और अधो तीनों लोक में क्षण-क्षण में परिणमते हैं, अखण्डरूप से तीन लोक में वे व्याप्त हैं, ऐसा कहा, और ऊर्ध्व, मध्य और अधो—ऐसे तीन लोक कहकर उसमें भेद भी कहा, यद्यपि आकाश तो अलोक में भी व्यापक है, परन्तु यहाँ लोक का वर्णन करना है, इसलिए आकाश को लोकव्यापक कहा है।

जीव के असंख्य प्रदेश हैं, इसलिए उसे कायपना है और केवलीसमुद्घात के समय वह तीन लोक में व्यापक होते हैं, इसलिए उसमें भी खण्डकल्पना सिद्ध होती है।

परमाणु स्वयं एकप्रदेशी होने पर भी तीन लोक को व्यापे, ऐसा अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होता है, इस अपेक्षा से उसे भी कायत्व और प्रदेशपना सिद्ध होता है।

ऐसे ये पाँच अस्तिकाय स्वयंसिद्ध हैं। इनके उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप ही यह लोक है। लोक की रचना किसी ने की नहीं। किसी ईश्वर ने इस जगत को बनाया, ऐसा नहीं है। वस्तु नित्य है, तो उसे कौन बनावे? यदि वस्तु को बनायी, ऐसा कहो तो वह क्षणिक सिद्ध होती है। सर्वज्ञदेव ने जगत को अनादि-अनन्त पाँच अस्तिकाय के समूहरूप जाना है।

जगत में पाँच अस्तिकाय तथा काल, ऐसे छह द्रव्य हैं। काल, वह अस्तिकाय नहीं परन्तु द्रव्य है। अस्तिरूप है, शरीर वह पुद्गल काय है, जीव उसमें बसता नहीं, असंख्य चैतन्य प्रदेशों का पिण्ड, वह जीव की काया है। उसमें ही जीव बसा हुआ है। जीव का धाम कहाँ? कि अपने असंख्य प्रदेशों में, जीव की ऋद्धि, समृद्धि, धाम, सुख, दुःख, विचार, पलटना, वह सब ही उसके असंख्य प्रदेशोंरूप अस्तिकाय में ही है, इसके अतिरिक्त बाहर की कोई ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, शरीर इत्यादि उसके नहीं है।

अपने असंख्य प्रदेशों में ही चैतन्य का स्वराज्य है। बाहर में कहीं उसकी सत्ता नहीं है और उसमें कोई बाहर की सत्ता नहीं, ऐसा ज्ञान करे तो परपदार्थों का अहंकार टल जाये और 'मैं तो जीवास्तिकाय हूँ'—ऐसा जाने तो मिथ्यात्वपूर्वक के रागादि तो टल ही जायें। तेरा अस्तिकायपना तेरे असंख्य प्रदेशों में है। अनन्त गुण और तीन काल की पर्यायें सब ही तेरे असंख्यप्रदेशी अस्तित्व में समाहित हो जाता है। तेरे संसार का और मोक्ष का अस्तित्व तेरे अस्तिकाय में ही है। कर्म के कारण उनका अस्तित्व नहीं, कर्म का अस्तित्व तुझमें नहीं। जो ऐसा जाने, वह पर से विमुख होकर अपने स्वभाव की ओर ढले बिना रहेगा नहीं।

तेरा अस्तिकायपना अनादि-अनन्त है। अर्थात् सभी गुण-पर्यायें भी उसमें ही समाहित हो जाते हैं। 'अस्ति स्वभाव' कहा, उसमें क्या न आवे? सब गुण-पर्यायें आ जाती हैं। इसलिए विकारी पर्याय या अविकारी पर्याय, वे दोनों अपने अस्तित्व से ही हैं, पर से नहीं। पदार्थ अपने गुण-पर्याय में रहा हुआ अस्ति स्वभाववाला है, गुण-पर्यायरहित अस्तित्व हो नहीं सकता। यदि प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न-भिन्न स्वयं से स्वतन्त्र न हो तो पाँच अस्तिकाय ही सिद्ध नहीं होते। किसी भी द्रव्य का अस्तित्व अपने से एक प्रदेश भी बाहर नहीं रहता। आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र स्वाधीन अपने में ही पूरा है, ऐसा जाने उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी धर्म हुए बिना नहीं रहता।

जिन्हें असंख्य प्रदेश में अनन्त चैतन्य दीपक प्रगट हो गये हैं, ऐसे सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जगत में पाँचों अस्तिकाय अपने-अपने गुण-पर्यायसहित हैं और दूसरे से पृथक् हैं। तेरा अस्तित्व तुझमें है। दूसरे के कारण से तेरा अस्तित्व नहीं है।

जीव में असंख्य प्रदेश न हो तो चींटी और हाथी के शरीरप्रमाण उनका संकोच-विकास नहीं हो सकता, और अनन्त गुणों में समय-समय में परिणमन न हो तो ज्ञान इत्यादि में हीनाधिकता नहीं हो सकती। इसलिए असंख्य प्रदेशी और अनन्त गुणों के परिणमनवाला जीव का अस्तिकाय स्वभाव है।

संसारी को जो संकोच-विकास होता है, वह उसके असंख्य प्रदेशी अस्तिकाय के परिणमन की योग्यता है। नामकर्म का उसमें अभाव है। इसलिए नामकर्म के कारण

से आत्मा में संकोच-विस्तार होता है, ऐसा नहीं। सिद्ध में वैसी संकोच-विस्तार की योग्यता नहीं, इसलिए संकोच-विस्तार नहीं होता। संकोच-विस्तार, वह जीव के अस्तिकाय में होता है। जीव के अस्तित्व में कर्म को तो याद भी किया नहीं, कर्म को तो पुद्गल के अस्तिकाय में समाहित किया है, इसी प्रकार विकार होता है, वह भी अपने अस्तिकाय का परिणमन है, वह कर्म के कारण से नहीं। जीव के अस्तिकाय को समझे, उसमें यह सब आ जाता है।

अहो! तू तेरे अस्तित्व में तुझे देख। पर का प्रकाशक तो व्यवहार से है। स्व-प्रकाशक के साथ में पर-प्रकाशक सामर्थ्य भी आ जाती है। अहो! सर्वज्ञ का कथन ही ऐसा है कि कोई भी कथन लो तो सब ही साबित हो जाता है। 'वस्तु है'—ऐसा कहने से उसमें से सर्वज्ञता खड़ी होती है।

मेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणवाला अस्तिकाय है। ऐसे जहाँ पर से भिन्न अस्तित्व निश्चित किया, वहाँ परलक्ष्य छूटकर अपने अनन्त ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति हुई, वही प्रयोजन है।

जयसेनाचार्यदेव इस गाथा का भावार्थ बतलाते हुए कहते हैं कि 'तत्र शुद्धजीवास्तिकायस्य यानन्तज्ञानादिगुणसत्ता सिद्धपर्यायसत्ता च शुद्धासंख्यात-प्रदेशरूपं कायत्वमुपादेयमिति भावार्थः।'।

अर्थात् : जो पंचास्तिकाय है, उसमें अनन्त ज्ञानादिगुणसत्ता तथा सिद्धपर्यायसत्ता सहित शुद्ध जीवास्तिकाय का जो असंख्य प्रदेशरूप कायत्व है, वह उपादेय है—ऐसा भावार्थ है। अहो! सिद्ध भगवान जैसा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से अस्तित्ववाला मेरा आत्मा ही मुझे उपादेय है। इसके अतिरिक्त जगत में दूसरा कुछ मुझे उपादेय नहीं, ऐसा समझना वह इस गाथा का सार है।

सर्वज्ञ भगवान ने कहे हुए छह द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है; छह द्रव्य, वे 'अर्थसमय' हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान, वह 'ज्ञानसमय' है और उन्हें कहनेवाली वाणी, वह 'शब्दसमय' है। ऐसे तीन प्रकार प्रत्येक पदार्थ में पड़ते हैं। उनका वर्णन पहले आ गया है। भावज्ञानपूर्वक राग-द्वेष-मोहरहित पुरुष के जो वचन

निकले, उसे ही 'शब्दसमय' कहा जाता है। अज्ञानी के वचन राग-द्वेष-मोहसहित हैं, वे 'शब्दसमय' नहीं कहलाते। राग-द्वेष-मोहरहित जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह भावश्रुतज्ञान है। उसे 'ज्ञानसमय' कहते हैं। जैसे ज्ञानी के वचन हों, वैसे ही अज्ञानी के मुख से वचन निकले तो भी वह शब्दसमय नहीं कहलाते, क्योंकि वह जीव राग-द्वेष-मोहरहित नहीं है। कहनेवाले कैसे होते हैं, यह भी इसमें आ जाता है। कहनेवाला स्वयं राग-द्वेष-मोहरहित हो और उसके वचनों में भी राग-द्वेष-मोह का स्थापन न हो, परन्तु वीतरागता का ही स्थापन हो। अज्ञानी की वाणी देशनालब्धि का कारण नहीं होती, यह बात भी इसमें आ जाती है। व्यवहार से—राग से धर्म होता है—ऐसा स्थापन करे तो वह 'शब्दसमय' नहीं है। शक्कर शब्द कहनेवाले के ख्याल में शक्कर होनी चाहिए, उसी प्रकार जिसे पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो, वैसी ही वाणी को 'शब्दसमय' कहा जाता है। जिसे पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं, उसकी वाणी को 'शब्दसमय' नहीं कहा जाता। इसलिए ज्ञानसमयपूर्वक ही शब्दसमय होता है। पुरुषप्रमाण से वचनप्रमाण, यह बात सिद्ध की है। तीसरी गाथा में यह बावत विस्तार से आ गयी है।

पहली गाथा में मंगलाचरण किया है।

दूसरी गाथा में भगवान के श्रीमुख से निकले हुए पंचास्तिकाय कहने की प्रतिज्ञा की है।

तीसरी गाथा में 'जिनवर ने प्ररूपित' ऐसा कहा है, उसमें से यह बात निकाली कि राग-द्वेष-मोहरहित पुरुष कहनेवाला हो, उसकी वाणी को ही पंचास्तिकाय शब्दसमय कहा जाता है। पंचास्तिकाय में एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य का कुछ होता है—ऐसा कोई कहे तो वह वाणी वाच्य को बतलानेवाली नहीं है। पदार्थ का स्वरूप वैसा नहीं है, इसलिए वह वाणी 'शब्दसमय' नहीं है। छहों द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायसहित स्वतन्त्र वर्त रहे हैं, ऐसे वस्तुस्वभाव का स्थापन करे, उसे ही द्रव्यश्रुत कहा जाता है। द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दसमय और भावश्रुत अर्थात् ज्ञानसमय। पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होना, वह भावश्रुतज्ञान है, उसे भावआगम कहा जाता है। द्रव्यआगम, वह शब्द और भावआगम, वह ज्ञान। द्रव्यआगम, वह जड़ की पर्याय है और भावआगम, वह ज्ञान की निर्दोष पर्याय है।

सम्यग्ज्ञानरूप भावश्रुतज्ञान द्वारा पंचास्तिकाय का स्वरूप ज्ञात होता है और पदार्थों को अर्थसमय कहते हैं।

इस प्रकार तीन प्रकार के समय का वर्णन तीसरी गाथा में किया है।

देव-गुरु-शास्त्र सम्यग्ज्ञान द्वारा ज्ञात होते हैं, परन्तु देव-गुरु-शास्त्र द्वारा सम्यग्ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। अर्थसमय में तो आत्मा और पर समस्त पदार्थ आ जाते हैं, ज्ञान द्वारा वे सभी पदार्थ ज्ञात होते हैं। ज्ञान द्वारा राग ज्ञात हो, वह राग अर्थसमय में जाता है, और उसे जाननेवाला ज्ञान, वह 'ज्ञानसमय' है। राग के अवलम्बन बिना स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला जो ज्ञान का परिणमन है, वह भावआगम है और ऐसे ज्ञानी की राग-द्वेष-मोहरहित वाणी, वह द्रव्यआगम है।

चौथी गाथा में पाँच अस्तिकाय पदार्थों के नाम कहे और उनके अस्तित्व का वर्णन किया।

पाँचवी गाथा में अस्तिकाय किसे कहते हैं, यह बतलाया।

ये पाँच गाथायें तो पहले वाँचन हो गयी है।

अब छठवीं गाथा में, पाँच अस्तिकाय को तथा काल को 'द्रव्य' संज्ञा कहते हैं।



मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्दानुभव के झूले में झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर या पचास कोस दूर भीषण वज्रपात की घोर ध्वनि होने पर भी जिसे खबर नहीं पड़ती और आनन्द की गहराई में उतरकर क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर ले, उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य है वह दशा!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ११४१, पृष्ठ २४३

गाथा - ६

ते चेव अत्थिकाया तेक्कालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छन्ति दवियभावं परियट्ठणलिंगसंयुक्ता॥६॥

ते चैवास्तिकायाः त्रैकालिकभावपरिणता नित्याः।
गच्छन्ति द्रव्यभावं परिवर्तनलिंगसंयुक्ताः॥६॥

अत्र पञ्चास्तिकायानां कालस्य च द्रव्यत्वमुक्तम्।

द्रव्याणि हि सहक्रमभुवां गुणपर्यायाणामनन्यतयाधारभूतानि भवन्ति। ततो वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणानां भावानां पर्यायाणां स्वरूपेण परिणतत्वादस्तिकायानां परिवर्तनलिंगस्य कालस्य चास्ति द्रव्यत्वम्। न च तेषां भूतभवद्भविष्यद्भावात्मना परिणममानानामनित्यत्वम्, यतस्ते भूतभवद्भविष्यद्भाववस्थास्वपि प्रतिनियतस्वरूपापरित्यागान्नित्या एव। अत्र कालः पुद्गलादिपरिवर्तनहेतुत्वात्पुद्गलादिपरिवर्तनगम्यमानपर्यायत्वाच्चास्तिकायेष्वन्तर्भावार्थं स परिवर्तनलिंग इत्युक्त इति॥६॥

त्रिकालभावी परिणमित होते हुए भी नित्य जो।

वे पंच अस्तिकाय वर्तनलिंग सह षट् द्रव्य हैं॥६॥

अन्वयार्थ :- [त्रैकालिकभावपरिणताः] जो तीन काल के भावोंरूप परिणमित होते हैं तथा [नित्याः] नित्य हैं [ते च एव अस्तिकायाः] ऐसे वे ही अस्तिकाय, [परिवर्तनलिंगसंयुक्ताः] परिवर्तनलिंग [काल] सहित, [द्रव्यभावं गच्छन्ति] द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वे छहों द्रव्य हैं।)

टीका :- यहाँ पाँच अस्तिकायों को तथा काल को द्रव्यपना कहा है।

द्रव्य वास्तव में सहभावी गुणों को तथा क्रमभावी पर्यायों को ^१अनन्यरूप से आधारभूत है। इसलिए जो वर्त चुके हैं, वर्त रहे हैं और भविष्य में वर्तेंगे, उन भावों-पर्यायोंरूप परिणमित होने के कारण (पाँच) अस्तिकाय और ^२परिवर्तनलिंग काल (वे

१. अनन्यरूप=अभिन्नरूप (जिस प्रकार अग्नि आधार है और उष्णता आधेय है तथापि वे अभिन्न हैं, उसी प्रकार द्रव्य आधार है और गुण-पर्याय आधेय हैं, तथापि वे अभिन्न हैं।)

२. परिवर्तनलिंग=पुद्गलादि का परिवर्तन जिसका लिंग है; वह पुद्गलादि के परिणमन द्वारा

छहों) द्रव्य हैं। भूत, वर्तमान और भावी भावस्वरूप परिणमित होने से वे कहीं अनित्य नहीं हैं, क्योंकि भूत, वर्तमान और भावी भावरूप अवस्थाओं में भी प्रतिनियत (-अपने-अपने निश्चित) स्वरूप को नहीं छोड़ते, इसलिए वे नित्य ही हैं।

यहाँ काल पुद्गलादि के परिवर्तन का हेतु होने से तथा पुद्गलादि के परिवर्तन द्वारा उसकी पर्याय गम्य (ज्ञात) होती हैं, इसलिए उसका अस्तिकायों में समावेश करने के हेतु उसे 'परिवर्तनलिंग' कहा है। [पुद्गलादि अस्तिकायों का वर्णन करते हुए उनके परिवर्तन (परिणमन) का वर्णन करना चाहिए। और उनके परिवर्तन का वर्णन करते हुए उन परिवर्तन में निमित्तभूत पदार्थ का (काल का) अथवा उस परिवर्तन द्वारा जिनकी पर्यायें व्यक्त होती हैं, उस पदार्थ का (काल का) वर्णन करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पञ्चास्तिकाय के वर्णन में काल के वर्णन का समावेश करना अनुचित नहीं है, ऐसा दर्शाने के हेतु इस गाथासूत्र में काल के लिये 'परिवर्तनलिंग' शब्द का उपयोग किया है।] ॥६॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, श्रावण कृष्ण ११, मंगलवार

यहाँ अस्तिकाय का वर्णन मुख्य है और कालद्रव्य का वर्णन गौण है। 'काल' अस्तिकाय नहीं, परन्तु वह 'द्रव्य' है। पाँच अस्तिकाय भी द्रव्य हैं और काल भी द्रव्य है। ऐसे जगत् में छह द्रव्य हैं। पुद्गल इत्यादि के परिणमन से कालद्रव्य का अनुमान हो सकता है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने समय को एक समय कहते हैं। वह 'समय' कालद्रव्य की पर्याय है। छोटे में छोटे काल का माप कितना?—

जो ज्ञान होता है वह। (लिंग=चिह्न; सूचक; गमक; गम्य करानेवाला; बतलानेवाला; पहिचान करानेवाला।)

१. (१) यदि पुद्गलादि का परिवर्तन होता है तो उसका कोई निमित्त होना चाहिए—इस प्रकार परिवर्तनरूपी चिह्न द्वारा काल का अनुमान होता है (जिस प्रकार धुआँरूपी चिह्न द्वारा अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार), इसलिए काल 'परिवर्तनलिंग' है। (२) और पुद्गलादि के परिवर्तन द्वारा काल की पर्यायें (-'कर्म समय', 'अधिक समय' ऐसी काल की अवस्थाएँ) गम्य होती हैं, इसलिए भी काल 'परिवर्तनलिंग' है।

कि एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने समय में काल की पर्याय हो जाती है। काल की पर्याय का माप एक प्रदेश में आ जाता है, तो उस पर्याय का धारक द्रव्य भी एक प्रदेश में पूरा हो जाता है। पर्याय के ऊपर से पर्यायवान द्रव्य सिद्ध हो जाता है, इसलिए काल एकप्रदेशी ही है। पाँच द्रव्य कायवाले हैं और कालद्रव्य अकाय है।

यह छह द्रव्य अपने गुण-पर्याय से पूर्व में परिणमे हैं, वर्तमान में परिणमते हैं और भविष्य में परिणमेंगे। तीनों काल में अपने गुण-पर्यायों से जो परिणमनशील है, उसका नाम द्रव्य है। किसी भी द्रव्य की पर्याय पर के कारण से हुई नहीं, होती नहीं और होगी नहीं। आत्मा विकाररूप से परिणमा, वह अपने गुण-पर्याय से ही परिणमा है; पर के कारण से नहीं।—ऐसा समझे तो अर्थसमय को समझा कहलाता है और उसका ही 'भावज्ञान' सच्चा होता है। कोई भी द्रव्य दूसरे के गुण-पर्याय के कारण परिणमता नहीं, परन्तु तीनों काल अपने स्वभाव से ही परिणमता है—ऐसा अर्थसमय का स्वभाव है, वैसा ही ज्ञानसमय जानता है और वैसा ही वाणी में आता है।

इस प्रकार पंचास्तिकाय में से भी वीतरागभाव ही निकलता है। कोई भी सिद्धान्त लो, उसमें से वीतरागभाव का ही तात्पर्य निकलता है।

वीर संवत् २४७७, भाद्र शुक्ल ७, शनिवार

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छहों द्रव्य हैं। द्रव्य किसे कहते हैं? कि जो तीनों काल अपने गुण-पर्याय से परिणम रहा है, उसे द्रव्य कहते हैं। कोई द्रव्य किसी काल में दूसरे के कारण से परिणमता है—ऐसा नहीं है। यदि काल के कारण से परिणमता हो तो उस द्रव्य का द्रव्यपना ही कहाँ रहा? कर्म के कारण विकार होता है या काल के कारण सिद्ध भगवान को परिणमना पड़ता है—ऐसा नहीं है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अवस्थारूप से तीनों काल में परिणमता है। तीनों काल की पर्यायोंरूप द्रव्य अपने स्वभाव से ही परिणमता है। उसमें दूसरा क्या करे?

मिट्टी के परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य है। वे परमाणु आप, स्वयं घटरूप परिणमते हैं; कुम्हार के कारण से नहीं। द्रव्य स्वयं से परिणमता था, परिणमता है और परिणमेगा।

अर्थात् दूसरे से वह कभी परिणमा नहीं, परिणमता नहीं और परिणमेगा भी नहीं। निगोद के समय भी जीव स्वयं अपने गुण-पर्याय से ही परिणमता था और सिद्धदशा में भी स्वयं अपने गुण-पर्याय से ही परिणमता है। तीनों काल के भावरूप से द्रव्य स्वयं परिणम रहा है।

जगत में अनन्तानन्त आत्मायें हैं, निगोद के अनन्त जीव हैं। सर्वज्ञ भगवान को एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान है। ऐसी बात सर्वज्ञ की श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरे नहीं मान सकते। जगत के छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में रहे हुए हैं, वे परिणमनशील होने पर भी कायम टिकनेवाले हैं। परिणमते हुए उनका नाश नहीं होता, परन्तु स्वभाव से नित्य टिककर परिणमते हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में मिल नहीं जाता। एक क्षेत्र में रहे हुए होने पर भी जगत में जीव या अजीव कोई पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं। इसलिए जीव पुद्गल को परिणमावे—यह बात रहती नहीं। शरीररूप से पुद्गल परिणमते हैं; जीव उन्हें परिणमाता नहीं। जीव स्वयं अपने अपराध से रागादि करता है; पुद्गल उसे परिणमाते नहीं। मैं पर को परिणमाऊँ—ऐसा जो मानता है, उसे अनन्तानुबन्धी का लोभ है।

१. पहला उत्तम क्षमाधर्म है, उसमें क्रोध का अभाव है।

२. दूसरे मार्दवधर्म में मान का अभाव है।

३. तीसरे आर्जवधर्म में माया का अभाव है।

४. चौथे शौचधर्म में लोभ का अभाव है।

इस प्रकार पहले चार धर्म में क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव बतलाया है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो कहते हैं कि संसार के विवाह इत्यादि कार्यों में लक्ष्मी खर्च करने का लोभ करे तो वह माया नहीं परन्तु वहाँ तो छूट से (खुले हाथ से) खर्च करने का उल्लास आता हो और धर्म के प्रसंग में लक्ष्मी खर्च करने का लोभ करे तो उसे माया-कपट और लोभ है। उसे देव-गुरु-धर्म के प्रति उल्लास नहीं और संसार की रुचि है, इसलिए उसे अनन्तानुबन्धी लोभ है।

जड़ पदार्थ का रजकण मेरा नहीं, वह उसके स्वभाव से नित्य टिककर पलटनेवाला

है और मैं मेरे चैतन्यस्वभाव से नित्य टिक कर पलटनेवाला हूँ। ऐसी दृष्टि करे तो बहुत ममता टल जाती है। पहले यथार्थ वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा समझना चाहिए, तभी सम्यग्ज्ञान और धर्म होगा।

अब सातवीं गाथा में कहते हैं कि जगत में छह द्रव्य परस्पर मिले हुए—एक क्षेत्र में हैं, तो भी वे अपने-अपने स्वरूप को छोड़ते नहीं। ●●

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दुःखों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है; वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है, परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दुःख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशम रस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया।

- पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

गाथा - ७

अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स।

मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥७॥

अन्योऽन्यं प्रविशन्ति ददन्त्यवकाशमन्योऽन्यस्य।

मिलन्त्यपि च नित्यं स्वकं स्वभावं न विजहन्ति॥७॥

अत्र षण्णां द्रव्याणां परस्परमत्यन्तसंकरेऽपि प्रतिनियतस्वरूपादप्रच्यवनमुक्तम्।

अत एव तेषां परिणामवत्त्वेऽपि प्राप्नित्यत्वमुक्तम्। अत एव च न तेषामेकत्वापत्तिर्न च जीवकर्मणोर्व्यवहारनयादेशादेकत्वेऽपि परस्परस्वरूपोपादानमिति॥७॥

परस्पर मिलते रहें अरु परस्पर अवकाश दें।

जल-दूध वत् मिलते हुए छोड़ें न स्व-स्व भाव को॥७॥

अन्वयार्थ :- [अन्योन्यं प्रविशन्ति] वे एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, [अन्योन्यस्य] अन्योन्य [अवकाशम् ददन्ति] अवकाश देते हैं, [मिलन्ति] परस्पर [क्षीर-नीरवत्] मिल जाते हैं। [अपि च] तथापि [नित्यं] सदा [स्वकं स्वभावं] अपने-अपने स्वभाव को [न विजहन्ति] नहीं छोड़ते।

टीका :- यहाँ छह द्रव्यों को परस्पर अत्यन्त *संकर होने पर भी वे प्रतिनियत (-अपने-अपने निश्चित) स्वरूप से च्युत नहीं होते, ऐसा कहा है। इसीलिए (-अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते इसलिए), परिणामवाले होने पर भी वे नित्य हैं-ऐसा पहले (छठवीं गाथा में) कहा था; और इसीलिए वे एकत्व को प्राप्त नहीं होते; और यद्यपि जीव तथा कर्म को व्यवहारनय के कथन से एकत्व (कहा जाता) है, तथापि वे (जीव तथा कर्म) एक-दूसरे के स्वरूप को ग्रहण नहीं करते॥७॥

* संकर=मिलन; मिलाप (अन्योन्य-अवगाहरूप) मिश्रतपना।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, भाद्र शुक्ल ७, शनिवार

जहाँ एक जीव है, वहाँ दूसरे अनन्त आत्माओं के प्रदेश हैं। वहाँ दूसरे अनन्त पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल—यह छहों द्रव्य रहे हुए हैं। क्षेत्र अपेक्षा से परस्पर सम्बन्ध होने पर भी वे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं; कोई किसी में मिल नहीं जाता। एक क्षेत्र में रहने में कोई किसी को बाधा नहीं करते, एक ही क्षेत्र में छहों द्रव्यों को इकट्ठे रहने में कोई सकडाई नहीं पड़ती। सदा ही छहों द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तो भी प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी स्वभावशक्ति से तीनों काल भिन्न-भिन्न ही हैं। प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने स्वभाव से होते हैं। अपने परिणाम को छोड़कर कोई द्रव्य दूसरे के साथ मिल नहीं जाता। देखो तो सही, द्रव्यों की स्वतन्त्रता! बिच्छू काटे इससे आत्मद्रव्य को बाधा नहीं पहुँचती। आत्मद्रव्य के परिणाम आत्मा में, शरीर के शरीर में और बिच्छू के बिच्छू में : एक क्षेत्र में रहने पर भी प्रत्येक के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, कोई किसी के परिणाम में बाधा नहीं पहुँचाता। बिच्छू ने काटा, उसने आत्मा के परिणाम बिगाड़ दिये, ऐसा नहीं। आत्मा के परिणाम में आत्मा स्वयं से ही परिणमता है। उस समय में द्वेष हो तो वह परिणाम आत्मा से स्वयं ही हुए हैं, बिच्छू के कारण से हुए नहीं। कोई द्रव्य किसी को बाधा उपजाता नहीं तथा सहायता भी नहीं करता। सब अपनी-अपनी सत्ता में रहे हुए हैं, किसी ने किसी की सत्ता में प्रवेश नहीं किया, तो भी दूसरे में क्या करे? यदि पदार्थ अपनी सत्ता छोड़कर दूसरे की सत्ता में प्रवेश करे तो उस पदार्थ का ही अभाव हो जाये।

यद्यपि छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कोई भी द्रव्य छोड़ता नहीं, अर्थात् वे द्रव्य परस्पर मिलकर एकमेक नहीं हो जाते। सब अपने-अपने स्वभाव से भिन्न-भिन्न रहते हैं। सभी द्रव्यों का ऐसा स्वभाव है कि परस्पर एक-दूसरे को स्थानदान देते हैं। परमाणु इत्यादि को ज्ञान नहीं, परन्तु स्वयं जहाँ हों, वहाँ दूसरे अनन्त परमाणु आदि रहे तो भी उसे विघ्न नहीं करते अर्थात् परस्पर एक-दूसरे को अवकाश देते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। कोई किसी को अवरोधक नहीं और

एक-दूसरे को जगह दिये बिना रहते नहीं।

एक-एक शरीर के आश्रय से अनन्त निगोद जीव रहे हुए हैं, तथापि वहाँ सकड़ाई या परस्पर बाधा नहीं होती। निगोद को या परमाणु को कुछ खबर नहीं कि यहाँ दूसरे अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु रहे हुए हैं, परन्तु उसका स्वभाव ऐसा है कि परस्पर एक-दूसरे को रहने में विघ्न नहीं करते।

आत्मा और कर्म व्यवहारनय से बन्ध अपेक्षा से एक ज्ञात होते हैं, परन्तु निश्चय से दोनों अपने-अपने स्वरूप में पृथक्-पृथक् ही हैं। कोई अपने स्वरूप को छोड़कर पर के साथ एकमेक नहीं होते।

(अब चालू अधिकार में पंचास्तिकाय की ८वीं गाथा पढ़ी जाती है। उसमें पदार्थ की सत्ता का स्वरूप कहते हैं—)

●●

प्रतिकूलता में भी सन्तों को दुःख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है।

धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्र्यदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दुःखी थे — ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च-महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस

गाथा - ८

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥८॥

सत्ता सर्वपदार्था सविश्वरूपा अनंतपर्याया।

भंगोत्पादध्रौव्यात्मिका सप्रतिपक्षा भवत्येका॥८॥

अत्रास्तित्वस्वरूपमुक्तम्।

अस्तित्वं हि सत्ता नाम सतो भावः सत्त्वम्। न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु। सर्वथा नित्यस्य वस्तुनस्तत्त्वतः क्रमभुवां भावानामभावात्कुतो विकारवत्त्वम्। सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रत्यभिज्ञानाभावात् कुत एकसन्तानत्वम्। ततः प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केनचित्स्वरूपेण ध्रौव्यमालम्ब्यमानं काभ्यांचित्क्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रलीयमानमुपजायमानं चैककालमेव परमार्थतस्त्रितयीमवस्थां बिभ्राणं वस्तु सदवबोध्यम्। अत एव सत्ताप्युत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मिकाऽवबोद्धव्या, भावभाववतोः कथञ्चिदेकस्वरूपत्वात्। सा च त्रिलक्षणस्य समस्तस्यापि वस्तुविस्तारस्य सादृश्यसूचकत्वादेका। सर्वपदार्थस्थिता च त्रिलक्षणस्य सदित्यभिधानस्य सदिति प्रत्ययस्य च सर्वपदार्थेषु तन्मूलस्यैवोपलम्भात्। सविश्वरूपा च विश्वस्य समस्तवस्तुविस्तारस्यापि रूपैस्त्रिलक्षणैः स्वभावैः सह वर्तमानत्वात्। अनन्तपर्याया चानन्ताभिर्द्रव्यपर्यायव्यक्तिस्त्रिलक्षणाभिः परिगम्यमानत्वात्। एवंभूतापि सा न खलु निरंकुशा किन्तु सप्रतिपक्षा। प्रतिपक्षो ह्यसत्ता सत्तायाः, अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः, अनेकत्वमेकस्याः, एकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः, एकरूपत्व सविश्वरूपायाः, एकपर्यायत्वमनन्तपर्यायाया इति। द्विविधा हि सत्ता — महासत्तावान्तरसत्ता च। तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्व-सूचिका महासत्ता प्रोक्तैव। अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणाऽसत्ताऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणाऽसत्तेत्यसत्ता सत्तायाः। येन स्वरूपेणोत्पादस्तत्तथोत्पादैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेणोच्छेदस्तत्तथोच्छेदैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेण ध्रौव्यं तत्तथा ध्रौव्यैकलक्षणमेव, तत उत्पद्यमानोच्छिद्यमानावतिष्ठमानानां वस्तुनः स्वरूपाणां प्रत्येकं त्रैलक्षण्याभावादत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः। एकस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता नान्यस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता भवतीत्यनेकत्वमेकस्याः। प्रतिनियतपदार्थस्थिताभिरेव सत्ताभिः पदार्थानां प्रतिनियमो भवतीत्येकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः। प्रतिनियतैकरूपाभिरेव सत्ताभिः प्रतिनियतैकरूपत्वं वस्तूनां भवतीत्येकरूपत्वं सविश्वरूपायाः। प्रतिपर्यायनियताभिरेव

सत्ताभिः प्रतिनियतैकपर्यायाणामानन्त्यं भवतीत्येकपर्यायत्वमनन्तपर्यायायाः। इति सर्वमनवद्यं सामान्यविशेष-प्ररूपणप्रवणनयद्वयायत्तत्वात्तद्देशनायाः॥८॥

सत्ता जनम-लय-ध्रौव्यमय अर एक सप्रतिपक्ष है।

सर्वार्थ थित सविश्वरूप-रु अनन्त पर्ययवन्त है॥८॥

अन्वयार्थ :- [सत्ता] सत्ता [भंगोत्पादध्रौव्यात्मिका] उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, [एका] एक, [सर्वपदार्था] सर्वपदार्थस्थित, [सविश्वरूपा] सविश्वरूप, [अनन्तपर्याया] अनन्त पर्यायमय और [सप्रतिपक्षा] सप्रतिपक्ष [भवति] है।

टीका :- यहाँ अस्तित्व का स्वरूप कहा है।

अस्तित्व अर्थात् सत्ता नामक सत् का भाव अर्थात् ^१सत्त्व।

विद्यमानमात्र वस्तु न तो सर्वथा नित्यरूप होती है और न सर्वथा क्षणिकरूप होती है। सर्वथा नित्य वस्तु को वास्तव में क्रमभावी भावों का अभाव होने से विकार (-परिवर्तन, परिणाम) कहाँ से होगा? और सर्वथा क्षणिक वस्तु में वास्तव में ^२प्रत्यभिज्ञान का अभाव होने से एकप्रवाहपना कहाँ से रहेगा? इसलिए प्रत्यभिज्ञान के हेतुभूत किसी स्वरूप से ध्रुव रहती हुई और किन्हीं दो क्रमवर्ती स्वरूपों से नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न होती हुई-इस प्रकार परमार्थतः एक ही काल में तिगुनी (तीन अंशवाली) अवस्था को धारण करती हुई वस्तु सत् जानना। इसलिए 'सत्ता' भी 'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक' (त्रिलक्षणा) जानना; क्योंकि ^३भाव और भाववान का कथंचित् एक स्वरूप होता है।

और वह (सत्ता) 'एक' है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाले समस्त वस्तुविस्तार का सादृश्य सूचित करती है।

और वह (सत्ता) 'सर्वपदार्थस्थित' है; क्योंकि उसके कारण ही (-सत्ता के कारण ही) सर्व पदार्थों में त्रिलक्षण की (-उत्पादव्ययध्रौव्य की), 'सत्' ऐसे कथन की तथा 'सत्' ऐसी प्रतीति की उपलब्धि होती है।

१. सत्त्व=सत्पना; अस्तित्वपना; विद्यमानपना; अस्तित्व का भाव; 'है' ऐसा भाव।

२. वस्तु सर्वथा क्षणिक हो तो 'जो पहले देखने में (-जानने में) आई थी वही यह वस्तु है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता।

३. सत्ता भाव है और वस्तु भाववान है।

और वह (सत्ता) 'सविश्वरूप' है, क्योंकि वह विश्व के रूपोंसहित अर्थात् समस्त वस्तुविस्तार के त्रिलक्षणवाले स्वभावोंसहित वर्तती है।

और वह (सत्ता) 'अनन्तपर्यायमय' है। क्योंकि वह त्रिलक्षणवाली अनन्त द्रव्यपर्यायरूप व्यक्तियों से व्याप्त है। (इस प्रकार ^१ सामान्य-विशेषात्मक सत्ता का उसके सामान्य पक्ष की अपेक्षा से अर्थात् महासत्तारूप पक्ष की अपेक्षा से वर्णन हुआ।)

ऐसी होने पर भी वह वास्तव में ^२ निरंकुश नहीं है किन्तु ^३ सप्रतिपक्ष है। (१) सत्ता को असत्ता प्रतिपक्ष है; (२) त्रिलक्षणा को अत्रिलक्षणपना प्रतिपक्ष है; (३) एक को अनेकपना प्रतिपक्ष है; (३) सर्वपदार्थस्थित को एकपदार्थस्थितपना प्रतिपक्ष है; (५) सविश्वरूप को एकरूपपना प्रतिपक्ष है; (६) अनन्त पर्यायमय को एकपर्यायमयपना प्रतिपक्ष है।

(उपर्युक्त सप्रतिपक्षपना स्पष्ट समझाया जाता है:-)

सत्ता द्विविध है : महासत्ता और अवान्तरसत्ता। उनमें सर्व पदार्थसमूह में व्याप्त होनेवाली, सादृश्य अस्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता (सामान्यसत्ता) तो कही जा चुकी है। दूसरी, प्रतिनिश्चित (-एक-एक निश्चित) वस्तु में रहनेवाली, स्वरूप-अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता (विशेषसत्ता) है।

(१) वहाँ महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है, इसलिए सत्ता को असत्ता है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'सत्ता' है, वही अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'असत्ता' भी है)।

(२) जिस स्वरूप से उत्पाद है, उसका (-उस स्वरूप का) उस प्रकार से उत्पाद एक ही लक्षण है; जिस स्वरूप से व्यय है, उसका (-उस स्वरूप का) उस प्रकार से व्यय एक ही लक्षण है और जिस स्वरूप से ध्रौव्य है, उसका (-उस स्वरूप का) उस प्रकार से ध्रौव्य एक ही लक्षण है; इसलिए वस्तु के उत्पन्न होनेवाले, नष्ट होनेवाले और

१. यहाँ 'सामान्यात्मक' का अर्थ 'महा' समझना चाहिए और 'विशेषात्मक' का अर्थ 'अवान्तर' समझना चाहिए। सामान्य विशेष के दूसरे अर्थ यहाँ नहीं समझना।

२. निरंकुश=अंकुशरहित; विरुद्ध पक्षरहित; निःप्रतिपक्ष। (सामान्यविशेषात्मक सत्ता का ऊपर जो वर्णन किया है, वैसी होने पर भी सर्वथा वैसी नहीं है; कथंचित् (सामान्य-अपेक्षा से) वैसी है। और कथंचित् (विशेष-अपेक्षा से) विरुद्ध प्रकार की है।)

३. सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्षसहित; विपक्षसहित; विरुद्ध पक्षसहित।

ध्रुव रहनेवाले स्वरूपों में से प्रत्येक को त्रिलक्षण का अभाव होने से त्रिलक्षणा (सत्ता) को अत्रिलक्षणपना है। (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'त्रिलक्षणा' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'अत्रिलक्षणा' भी है।)

(३) एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है, इसलिए एक (सत्ता) को अनेकपना है। (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'एक' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'अनेक' भी है।)

(४) प्रतिनिश्चित (व्यक्तिगत निश्चित) पदार्थ में स्थित सत्ताओं द्वारा ही पदार्थों का प्रतिनिश्चितपना (-भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व) होता है, इसलिए सर्वपदार्थस्थित (सत्ता) को एकपदार्थस्थितपना है। (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'सर्वपदार्थस्थित' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकपदार्थस्थित' भी है।)

(५) प्रतिनिश्चित एक-एक रूपवाली सत्ताओं द्वारा ही वस्तुओं का प्रतिनिश्चित एक एकरूप होता है, इसलिए सविश्वरूप (सत्ता) को एकरूपपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'सविश्वरूप' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकरूप' भी है।)

(६) प्रत्येक पर्याय में स्थित (व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न) सत्ताओं द्वारा ही प्रतिनिश्चित एक-एक पर्यायों का अनन्तपना होता है, इसलिए अनन्त पर्यायमय (सत्ता) को एकपर्यायमयपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'अनन्त-पर्यायमय' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकपर्यायमय' भी है।)

इस प्रकार निरवद्य है (अर्थात् ऊपर कहा हुआ सर्व स्वरूप निर्दोष है, निर्बाध है, किंचित् विरोधवाला नहीं है) क्योंकि उसका (-सत्ता के स्वरूप का) कथन सामान्य और विशेष के प्ररूपण की ओर ढलते हुए दो नयों के आधीन है।

भावार्थ :- सामान्यविशेषात्मक सत्ता के दो पक्ष हैं :- एक पक्ष वह महासत्ता और दूसरा पक्ष वह अवान्तरसत्ता।

(१) महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है; इसलिए यदि महासत्ता को 'सत्ता' कहे तो अवान्तरसत्ता को 'असत्ता' कहा जायेगा।

(२) महासत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन लक्षणवाली है, इसलिए वह 'त्रिलक्षणा' है। वस्तु के उत्पन्न होनेवाले स्वरूप का उत्पाद ही एक लक्षण है, नष्ट होनेवाले स्वरूप का व्यय ही एक लक्षण है और ध्रुव रहनेवाले स्वरूप का ध्रौव्य ही एक लक्षण है; इसलिए उन तीन स्वरूपों में से प्रत्येक की अवान्तरसत्ता एक ही लक्षणवाली होने से 'अत्रिलक्षणा' है।

(३) महासत्ता समस्त पदार्थसमूह में 'सत्, सत्, सत्' ऐसा समानपना दर्शाती है, इसलिए एक है। एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य किसी वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है, इसलिए जितनी वस्तुएँ उतनी स्वरूपसत्ताएँ; इसलिए ऐसी स्वरूपसत्ताएँ अथवा अवान्तरसत्ताएँ 'अनेक' हैं।

(४) सर्व पदार्थ सत् है, इसलिए महासत्ता 'सर्व पदार्थों में स्थित' है। व्यक्तिगत पदार्थों में स्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत सत्ताओं द्वारा ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व रह सकता है, इसलिए उस-उस पदार्थ की अवान्तरसत्ता उस-उस 'एक पदार्थ में ही स्थित' है।

(५) महासत्ता समस्त वस्तुसमूह के रूपों (स्वभावों) सहित है, इसलिए वह 'सविश्वरूप' (सर्वरूपवाली) है। वस्तु की सत्ता का (कथंचित्) एक रूप हो तभी उस वस्तु का निश्चित एक रूप (-निश्चित एक स्वभाव) रह सकता है, इसलिए प्रत्येक वस्तु की अवान्तरसत्ता निश्चित 'एक रूपवाली' ही है।

(६) महासत्ता सर्व पर्यायों में स्थित है, इसलिए वह 'अनन्तपर्यायमय' है। भिन्न-भिन्न पर्यायों में (कथंचित्) भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हों, तभी प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न रहकर अनन्त पर्यायें सिद्ध होंगी, नहीं तो पर्यायों का अनन्तपना ही नहीं रहेगा-एकपना हो जायेगा; इसलिए प्रत्येक पर्याय की अवान्तरसत्ता उस-उस 'एक पर्यायमय' ही है।

इस प्रकार सामान्यविशेषात्मक सत्ता, महासत्तारूप तथा अवान्तरसत्तारूप होने से, (१) सत्ता भी है और असत्ता भी है, (२) त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है, (३) एक भी है और अनेक भी है, (४) सर्वपदार्थस्थित भी है और एकपदार्थस्थित भी है। (५) सविश्वरूप भी है और एकरूप भी है, (६) अनन्तपर्यायमय भी है और एक पर्यायमय भी है॥८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७७, भाद्र शुक्ल १०, सोमवार

सत्ता अस्तित्वस्वरूप है। पदार्थ का अस्तित्व, उसका नाम सत्ता है और सत्ता एक है, अर्थात् कि महासत्तारूप से सब पदार्थों का अस्तित्व है, सब होकर एक ही पदार्थ है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। महासत्ता अर्थात् सभी है। अहो! इसमें वीतरागता है। सब है—निगोद भी है और सिद्ध भी है, चेतन भी है और जड़ भी है।—इसमें अकेला ज्ञाता रह गया। 'है' पने में से किसे निकाल देगा? सब ही है, ऐसा जानने में वीतरागभाव आता है।

महासत्ता एक है और वह समस्त पदार्थों में रही हुई है, अर्थात् कि अस्तित्व तो सभी पदार्थों में है। महासत्ता एक होने पर भी अनेक प्रकार के स्वरूप से संयुक्त है। अस्तित्वरूप से सभी सत् होने पर भी उनमें कोई चेतन, कोई जड़, कोई सिद्ध, कोई निगोद—ऐसे अनेक प्रकार हैं। और सत्ता में अनन्त परिणाम हैं, सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है और सत्ता प्रतिपक्षसहित है। अर्थात् कि महासत्तारूप से महासत्ता सत् है, परन्तु उसके अन्तर्भेदरूप से महासत्ता नहीं। क्योंकि महासत्ता में भेद पड़ते नहीं। महासत्ता प्रतिपक्षसहित है। वह इस प्रकार :—

- ★ महासत्ता एक है, अवान्तरसत्ता अनेक है।
 - ★ महासत्ता समस्त पदार्थों में व्यापक है, अवान्तरसत्ता एक पदार्थ में व्यापक है।
 - ★ महासत्ता अनेक स्वरूपवाली है और अवान्तरसत्ता एकस्वरूपवाली है।
 - ★ द्रव्य की महासत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों समाहित हो जाते हैं और अवान्तरसत्ता में उत्पाद, वह उत्पाद है; व्यय, वह व्यय है; ध्रुव, वह ध्रुव है।
 - ★ लोकालोक को महासत्ता कहो, तब एक-एक द्रव्य, वह अवान्तरसत्ता है।
 - ★ एक द्रव्य को महासत्ता कहो, तब उसके अन्तर्भेद, वे अवान्तरसत्ता है।
- सभी पदार्थों के बीच महासत्ता का पृथक् डोरा पिरोया हुआ है, अथवा तो सभी पदार्थों का एक अधिष्ठान है, ऐसा महासत्ता का अर्थ नहीं है। महासत्ता का अर्थ तो इतना

है कि सभी पदार्थों में अस्तित्व है। अस्तित्व में से कोई पदार्थ बाहर निकल नहीं जाता। सभी पदार्थों के अस्तित्व को एकसाथ कहना, उसका नाम महासत्ता है। पहले 'सब ही है' ऐसा स्थापित करके, फिर उसमें भेद पड़ते हैं कि यह जीव, यह अजीव इत्यादि।

सत्तासहित पदार्थ, वही वस्तु है। पदार्थ का जो अस्तित्व है, वही सत्ता है। और सत्तासहित है, वही वस्तु है। सत्ता बिना की वस्तु नहीं हो सकती। सत्तावाली वस्तु कैसी है? नित्य-अनित्यस्वरूप है। वस्तु कायम टिकती भी है और क्षण-क्षण में अनित्यरूप से बदलती भी है।

यदि वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानो तो सत्ता का नाश हो जाये। क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु में क्षणवर्ती पर्याय के अभाव से परिणाम का अभाव हो जायेगा और परिणाम का अभाव होने से वस्तु के अस्तित्व का ही अभाव होगा।

वस्तु के कार्य से तो वस्तु का अस्तित्व निश्चित होता है, यदि वस्तु में कार्य ही न हो तो नित्य वस्तु भी रह ही नहीं सकती। परिणाम के पलटे बिना वस्तु ही निश्चित कहाँ से होगी? वर्तमान परिणाम के अस्तित्व बिना द्रव्य का पूरा भिन्न अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकेगा। अवस्था बिना 'यह चीज़ दूसरे पदार्थों से भिन्न परिणाम रही है' ऐसे पदार्थ का अस्तित्व किस प्रकार ज्ञात होगा? वस्तु को सिद्ध करनेवाली तो पर्याय है, यह पर्याय है, वह वस्तु का परिणाम है—ऐसे पर्याय से वस्तु की सिद्धि होती है। पर्याय का कारण द्रव्य है, यह बात अलग है, परन्तु द्रव्य का निर्णय करना हो तो वह पर्याय से निश्चित होता है। पर्याय बिना शाश्वत् वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। पर्याय व्यक्त है, प्रगट है, कार्य है और द्रव्य तो अव्यक्त-अप्रगट-कारणरूप है। उस व्यक्त पर्याय के आधार से अव्यक्त द्रव्य की सिद्धि होती है।

यह अर्थसमय का स्वरूप कहा जाता है। ऐसे अर्थसमय को जान ले, ऐसी जीव के ज्ञानसमय की सामर्थ्य है।

यदि पदार्थ परिणमता न हो तो 'यह पदार्थ है' ऐसा कैसे निर्णय करोगे? नित्यपदार्थ में यदि क्षण-क्षण में परिणमन न होता हो तो वर्तमान सत्ता न रहे, इसलिए वर्तमान सत्ता बिना त्रिकाली सत्ता का भी अभाव हो जाता है। वस्तु तो वर्तमान...

वर्तमानरूप से रहकर त्रिकाल है। यदि वर्तमान को न माने तो नित्यपना निश्चित ही नहीं होगा। वस्तु का वर्तमान-वर्तमानपना मान्य बिना 'यह तत्त्व नित्य है' ऐसा निश्चित हो सकता ही नहीं। जो (वस्तु को) सर्वथा कूटस्थ मानता है, उसने वस्तु के अस्तित्व को जाना ही नहीं।

(दृष्टान्त) जैसे मिट्टी पदार्थ में घड़ा, पिण्ड इत्यादि कोई भी पर्याय यदि न हो तो मिट्टी का अस्तित्व ही साबित नहीं होगा। मिट्टी है, परन्तु वर्तमान कोई अवस्था नहीं, तो 'मिट्टी है' ऐसा किसके आश्रय से कहा जायेगा? पदार्थ स्वयं अपनी पर्यायरूप से परिणमनेवाला है, ऐसा पदार्थ का स्वरूप ही है। इसलिए कोई दूसरा उसकी पर्याय को करे, ऐसा नहीं। 'वस्तु है' ऐसा कहे, परन्तु वर्तमान वर्तती उसकी कोई हालत यदि न माने तो उसने वस्तु का अस्तित्व ही जाना नहीं। वस्तु तो जैसे स्वरूप से है, वैसे स्वरूप से ही रहती है, परन्तु उल्टा माननेवाले को अपने ज्ञानसमय में भूल होती है। अर्थात् कि मिथ्याज्ञान होता है। पदार्थसमय का स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है।

मेरी पर्याय दूसरे के कारण से हुई, ऐसा माने तो उसने भी त्रिकाली द्रव्य की सत्ता को नहीं माना। इसलिए वस्तु एकान्त नित्य नहीं, परन्तु क्षण-क्षण में पलटती भी है, ऐसा सिद्ध किया। अब दूसरे कोई बौद्ध इत्यादि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं, उनके सामने वस्तु को नित्य सिद्ध करते हैं।

कल जिस मनुष्य को देखा था, वही मनुष्य यह है—ऐसा ज्ञान होता है, वह सामने की वस्तु का नित्यपना सिद्ध करता है। यदि वस्तु में नित्यता न हो तो 'जिसे कल पैसे दिये थे, वही मनुष्य आज वापस देता है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानने से नित्यता को जाननेवाला ज्ञान भी मिथ्या ठहरेगा, इसलिए 'जिसे कल देखा था, वही यह है' ऐसे ज्ञान के निमित्तरूप वस्तु में ध्रुवपना सिद्ध होता है।

जैसे बालक मिटकर युवा हुआ, परन्तु वहाँ पुरुष तो वह का वही रहा। पर्याय बदली, परन्तु पुरुष वही रहा अर्थात् कि बालक, युवक इत्यादि पर्याय में पुरुष की नित्यता रही। उसमें निगोद से सिद्ध तक की सभी पर्यायों में आत्मा वस्तुरूप से नित्य है और पर्यायरूप से पलटता है।

नित्य-अनित्य वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। गुण का नित्यपना रहता है, इस अपेक्षा से ध्रुवता है। वह पर्याय के अनित्यता की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है। नित्य-अनित्यपना माने बिना उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध नहीं हो सकते। वस्तु का ऐसा धर्म है, इसलिए वस्तु की पर्याय वस्तु से स्वयं से होती है। कोई किसी को पलटावे—ऐसा नहीं है।

सत्तारूप से वस्तु एक है, ऐसा कहा। फिर नित्य-अनित्यरूप से दो धर्म कहे। और फिर उत्पाद-व्यय-ध्रुव—ऐसे तीन प्रकार कहे।

अपनी सत्ता नित्य-अनित्यस्वरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है—ऐसे अपनी सत्ता को स्वतन्त्र न देखकर अज्ञानी संयोग को देखता है कि इससे ऐसा हुआ। परन्तु संयोगी चीज के उत्पाद-व्यय-ध्रुव उसमें है और अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने में है।

यद्यपि सत्ता में नित्य और अनित्य ऐसे दो भेद हैं, तथापि सामान्य सत्ता की अपेक्षा से तो एकता है। जो नित्य-अनित्यस्वरूप है और उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है, वही सत्ता है। समस्त पदार्थों का सामान्य कथन करते हुए सत्ता एक है, समस्त पदार्थों में रही हुई है। क्योंकि पदार्थ 'है' ऐसा जो कथन है और पदार्थ 'है' ऐसा जो ज्ञान है, वह पदार्थ की सत्ता बिना नहीं बन सकता। यदि 'सत्ता' न हो तो पदार्थ का ही अभाव होगा। जो कुछ विस्तार है, वह सब 'सत्ता' में गर्भित है। क्योंकि पहले 'सत्ता है', ऐसा निर्णय करके पश्चात् ही उसका विस्तार हो सकता है। पदार्थ ही न हो तो विस्तार किसका? उत्पाद-व्यय-ध्रुव, ये तीनों सत्ता के अंश हैं। सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली है। अनन्त पर्यायों के जितने भेद हैं, वे सब उत्पाद-व्यय-ध्रुव से जाने जा सकते हैं।

वीर संवत् २४७७, भाद्र शुक्ल ११, मंगलवार

प्रत्येक पदार्थ सत्तावाला है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् है। क्षण-क्षण में नयी अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी टलती है और वस्तुरूप से ध्रुवता रहे—ऐसा सत्ता का स्वरूप है। वस्तुस्वरूप ऐसा है। महासत्तारूप से सब ही सत् है। सर्वज्ञ उसके पूर्ण ज्ञायक हैं और मेरा स्वभाव भी उसे जानने का है। उसमें 'यह ऐसा कैसे' ऐसे विकल्प

का उत्थान करने का मेरा स्वभाव नहीं—ऐसी सम्यग्दृष्टि को ज्ञातापने की प्रतीति है। सम्यग्दृष्टि को प्रतीति है कि मैं ज्ञाता और समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय, उसमें किसी का फेरफार करनेवाला मैं नहीं।

पदार्थसमय को जाने, ऐसा ज्ञानसमय का स्वभाव है, परन्तु पदार्थ में कुछ फेरफार करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं। ऐसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति करके ज्ञाता-दृष्टारूप से रहना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

महासत्ता को अर्थात् कि जगत के सभी पदार्थों को एक समय में जान लेने की ज्ञान की सामर्थ्य है, ऐसे ज्ञान को माने, उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं रहती, पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रहती।

‘महासत्ता’ कहने से उसमें सब ही समाहित हो जाता है और उसके अन्तर्भेद करना, वह अवान्तरसत्ता है। महासत्ता की प्रतिपक्षी अवान्तरसत्ता है। महासत्ता सामान्य है, और अवान्तरसत्ता विशेष है। अर्थात् सत्ता के दो प्रकार हैं—(१) महासत्ता (२) अवान्तरसत्ता। जगत में सिद्ध भी है और निगोद भी है, सोना भी है और लोहा भी है। ऐसे सबके अस्तित्व को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु उसमें यह ठीक और यह ठीक नहीं, ऐसी बुद्धि करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञान की प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन—धर्म है।

(१) महासत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रुव, इन तीन लक्षणवाली है।

(२) महासत्ता एक है।

(३) महासत्ता समस्त पदार्थों में रहनेवाली है। किसी भी पदार्थ को महासत्ता में से निरस्त नहीं किया जा सकता। महासत्ता में निगोद भी आता है और सिद्ध भी आते हैं; परमाणु भी आता है और महास्कन्ध भी आता है।

(४) महासत्ता समस्तरूप है। और

(५) महासत्ता, वह अनन्त पर्यायात्मक है।

इस प्रकार पाँच विशेषण कहे। उनसे विरुद्ध अवान्तरसत्ता है। महासत्ता, वह कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, परन्तु छहों द्रव्यों के संग्रहरूप से कहना, उसका नाम महासत्ता है।

जैसे बहुत प्रकार के वृक्ष हों, उसे 'वन' कहना, वह महासत्ता कहलाती है और उसमें आम-नीम इत्यादि को अलग कहना, वह अवान्तरसत्ता है।

महासत्ता के अन्तर्भेदरूप अवान्तरसत्ता है; वह अवान्तरसत्ता महासत्ता की अपेक्षा से असत् है; सब है—ऐसा कहने से अन्तर्भेद असत् हो जाते हैं और अन्तर्भेद कहो, तब महासत्ता गौण हो जाती है।

महासत्ता से विरुद्ध अवान्तरसत्ता है, वह कैसी है ?

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली नहीं, परन्तु एक लक्षणवाली है। उत्पाद, वह उत्पाद है; व्यय, वह व्यय है और ध्रुव, वह ध्रुव है—ऐसे तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न है। सामान्य सत् कहना, वह महासत्ता है और उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव, ऐसे तीन भेद करके कहना, वह अवान्तरसत्ता है।

सिद्ध भी है और निगोद भी है, वे महासत्ता में आ गये, परन्तु उसमें जो सिद्ध है, वह निगोद नहीं; निगोद है, वह सिद्ध नहीं। ऐसी अवान्तरसत्ता अलग-अलग है। महासत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों आ जाते हैं। परन्तु उसमें जो उत्पाद है, वह व्यय नहीं; जो व्यय है, वह उत्पाद नहीं, ऐसे उत्पाद-व्यय और ध्रुव का लक्षण भिन्न-भिन्न है, वह अवान्तरसत्ता है। सामान्य सत्ता में ये तीनों इकट्ठे समाहित हो जाते हैं, परन्तु विशेषरूप से देखने पर, उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। जैसे कि सिद्धदशा हुई, वहाँ उस आत्मा को सिद्धपर्याय हुई, वह उत्पाद का लक्षण है, संसार पर्याय गयी, वह व्यय का लक्षण है और सदृशता रही, वह ध्रुव का लक्षण है। इस प्रकार अवान्तरसत्ता में भेद पड़ते हैं, महासत्ता में भेद नहीं पड़ते।

सामान्यरूप से सब एकसाथ सत् रूप से ज्ञान में आते हैं, तथापि उन पदार्थों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को ज्ञान जानता है।

मिथ्यात्व का व्यय, सम्यक्त्व का उत्पाद और श्रद्धा की ध्रुवता, ये तीनों प्रकार सत्ता में आ गये, तथापि इन तीनों प्रकारों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। चारित्रगुण शाश्वत् रहता है, वह ध्रुव में आता है; उसकी दशा में राग का नाश हुआ, वह व्यय में आता है; और वीतरागता प्रगट हुई, वह उत्पाद में आता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव के भेद

करके कहना, उसका नाम अवान्तरसत्ता है। सामान्य और विशेष है, इन दोनों प्रकार से पदार्थ को जानने का ज्ञान का स्वभाव है।

महासत्तारूप से पूरा विश्व सत् है और उसमें प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी अवान्तरसत्ता से भिन्न-भिन्न है। महासत्ता में भव्य और अभव्य सब आ जाते हैं, वहाँ 'यह अभव्य कैसे? और यह भव्य कैसे?' ऐसा प्रश्न नहीं रहता, सब सत् है। अनादिसिद्ध है, वह सत् है।—ऐसे महासत्ता में सब सत् है। तथापि उसमें भव्य, वह अभव्य नहीं, और अभव्य, वह भव्य नहीं। सिद्ध, वे संसारी नहीं। जीव, वह जीव है; अजीव, वह अजीव है। ऐसे सबकी अवान्तरसत्ता भिन्न है—ऐसा जानना, उसमें वीतरागता है।

जगत के दूसरे आत्मा हैं, उन्हें आत्मा जान सकता है परन्तु उनका कुछ बदल नहीं सकता। जगत में दुःखी जीव हैं, ऐसा ज्ञान जाने, परन्तु उनका दुःख मिटा सके, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं। अनन्त संसारी जीव भी हैं और एकभवतारी जीव भी हैं। ऐसे सबको जानना, उनमें एक के प्रति द्वेष और दूसरे के प्रति राग करना रहता नहीं, परन्तु ज्ञाता रहने का ही रहता है, इसलिए ज्ञान ज्ञान में स्थिर होते-होते वीतरागता ही होती है।

सब है, ऐसा कहने से उसमें से कोई पृथक् नहीं पड़ता। इसका नाम महासत्ता है और उसमें भाग पाड़कर भिन्न-भिन्न कहना, वह अवान्तरसत्ता है।

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और श्रद्धा—ये तीनों साथ नहीं होते, परन्तु मिथ्यात्व का व्यय, सम्यक्त्व का उत्पाद और श्रद्धा की ध्रुवता, ऐसे तीनों साथ में होते हैं। अहो! एक-एक गाथा में से चौदह पूर्व का सार निकले, ऐसी गजब रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने की है। राग को राग जाने और वीतरागता को वीतरागता जाने, ऐसा ज्ञानसमय का स्वभाव है। परन्तु उसमें राग को बदलने की बुद्धि करे तो उसे ज्ञानसमय की प्रतीति नहीं रही। ज्ञान की प्रतीति कहो, द्रव्यदृष्टि कहो, वीतरागभाव कहो, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, ज्ञातादृष्टाभाव कहो—यह सब ही इसमें आ जाता है।

महासत्ता एक है और अवान्तरसत्ता अनेक है। कोई सिद्ध और कोई अभव्य, कोई एकावतारी और कोई अनन्त संसारी, कोई चेतन और कोई जड़—ऐसा अनेकपना अवान्तरसत्ता में है। महासत्ता में ऐसे भेद नहीं पड़ते।

महासत्ता में अनन्त पर्यायें समाती थी और अवान्तरसत्ता में एक ही पर्याय है। उत्पाद, वह उत्पाद है; व्यय, वह व्यय है और ध्रुव, वह ध्रुव है।

पदार्थ का ऐसा स्वभाव है, ज्ञान का उसे जानने का स्वभाव है और वाणी का उसे कहने का स्वभाव है। परन्तु वह प्रत्येक स्वतन्त्र है। वाणी के कारण ज्ञान और पदार्थ नहीं है।

पदार्थ के स्वभाव को जानकर ज्ञान को सम्यक् करना, इसी में अनन्त पुरुषार्थ है।

इस प्रकार महासत्ता और उससे सब अवान्तरसत्ता—ऐसे सत्ता के दो प्रकारों का वर्णन किया। आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते वीतरागी सन्तों को ऐसा विकल्प उठने पर ऐसी अद्भुत रचना हो गयी है। अन्दर ज्ञान में वैसे भावों का भासन था और बाहर में यह पंचास्तिकाय इत्यादि के शब्दों की रचना जगत के भाग्य से हो गयी। मुनि को सहज नग्न दिगम्बरदशा हो जाती है और अन्तर में ठहरते-ठहरते स्थिर होकर वीतरागता और केवलज्ञान हो जाता है। उपयोग सूक्ष्म होते-होते स्वरूप में स्थिर हो, वही पुरुषार्थ है।

समय के तीन प्रकार हैं—शब्द, अर्थ और ज्ञान। उसमें ज्ञानसमय, वह आत्मा के ज्ञान की निर्दोष पर्याय है। पदार्थों का स्वरूप, वह अर्थसमय है, उसे जो ज्ञान जानता है, उस ज्ञान को ज्ञानसमय कहते हैं और उसका स्वरूप कहनेवाली वाणी, वह शब्दसमय है।

जगत में छह द्रव्य हैं। उन छहों द्रव्यों की सत्ता है, उनके सामान्य संग्रह का नाम महासत्ता है और उसमें जड़-चेतन, सिद्ध-संसारी ऐसे अन्तर्भेद है, वह अवान्तरसत्ता है। ऐसी सत्ता को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु उसमें कहीं फेरफार करे, वैसा ज्ञान का स्वभाव नहीं।

छहों पदार्थों के संग्रह का नाम महासत्ता है। छह द्रव्य से भिन्न कोई महासत्ता नाम की चीज़ नहीं है और छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न, उनमें अनन्त जीव भिन्न-भिन्न—ऐसी पृथक्-पृथक् सत्ता है, उसका नाम अवान्तरसत्ता है। ज्ञान का स्वभाव दोनों प्रकारों को जानने का है। पदार्थ की सत्ता को जैसा है, वैसा जाने, वह ज्ञान सम्यक् हुआ। सब

पदार्थ सत् हैं, ऐसा जाने, उसमें वीतरागता आती है। अनन्त पदार्थ सत् हैं, उसमें प्रत्येक पदार्थ की स्वरूपसत्ता भिन्न-भिन्न है, प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में ही निश्चित है, सब इकट्ठे होकर एक नहीं हो जाते। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के कारण से नहीं और जिस समय में जैसा है, वैसा ही है। उसमें आड़ा-टेढ़ा नहीं होता। ऐसा अवान्तरसत्ता का स्वरूप है।

- ★ सामान्य संग्रह की अपेक्षा से अन्तर्भेद असत् है और
- ★ अन्तर्भेद की अपेक्षा से सामान्य संग्रह असत् है।
- ★ अर्थात् कि महासत्ता की अपेक्षा से अवान्तरसत्ता असत्ता है और
- ★ अवान्तरसत्ता की अपेक्षा से महासत्ता असत्ता है।
- ★ सामान्य, वह विशेष नहीं और विशेष, वह सामान्य नहीं।

वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा है, परन्तु उसे जानने में मुख्य-गौणता की यह बात है। जब सामान्य संग्रहरूप से जाने, तब उसमें अन्तर्भेद लक्ष्य में नहीं आते और अन्तर्भेद के लक्ष्य के समय महासत्ता लक्ष्य में नहीं आती। महासत्ता की अपेक्षा से अवान्तरसत्ता, वह एक अंश है। यदि अवान्तरसत्ता स्वयं महासत्ता हो, तब तो एक अंश, वही पूरा सिद्ध हो। इसलिए जो सत्ता है, वही असत्ता भी है। महासत्ता की अपेक्षा से अवान्तरसत्ता असत्ता है और अवान्तरसत्ता की अपेक्षा से महासत्ता भी असत् है।

पूरी माला, वह महासत्ता। उसका एक-एक मोती, वह अवान्तरसत्ता। उसमें माला की महासत्तारूप से एक-एक मोती नहीं, क्योंकि यदि पूरी मालारूप से उसका एक-एक मोती हो तो माला एक मोती जितनी ही हो जाये। इस प्रकार महासत्ता और अवान्तरसत्ता—एक-दूसरे की अपेक्षा से—ऐसा सत्ता का अनेकान्त स्वभाव है।

और जो सत्ता महासत्ता अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रुव त्रिलक्षण संयुक्त है, वही सत्ता अवान्तरसत्ता अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रुव त्रिलक्षण संयुक्त नहीं है क्योंकि जिस स्वरूप से उत्पाद है, उस स्वरूप से उत्पाद है; जिस स्वरूप से व्यय है, उस स्वरूप से व्यय ही है और जिस स्वरूप से ध्रुवता है, उस स्वरूप से ध्रुवता है—ऐसे तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। जैसे कि सम्यग्दर्शनस्वरूप से उत्पाद है और मिथ्यादर्शनस्वरूप

से व्यय है तथा श्रद्धास्वरूप से ध्रुवता है—ऐसे अवान्तरसत्ता अपेक्षा से तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। महासत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश समाहित हो जाते हैं परन्तु अवान्तरसत्ता में तीनों अंश निरपेक्ष हैं। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रुव कोई एक-दूसरे के कारण से हो तो उन अंशों की हानि होती है। ध्रुव के कारण उत्पाद अंश नहीं, परन्तु उत्पाद अंश स्वयं अपने से है। (यह वर्णन प्रवचनसार की १०१वीं गाथा में विस्तार से आया है।)

प्रश्न : आत्मा है, ऐसा कहना वह अवान्तरसत्ता है या महासत्ता है ?

उत्तर : लोक से आत्मा को भिन्न पाड़कर कहना, इस अपेक्षा से अवान्तरसत्ता है और एक-एक आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुव अंशवाला है, इस अपेक्षा से एक-एक आत्मा महासत्ता है, और उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव ऐसे भेद पाड़ना, वह अवान्तरसत्ता है। एक-एक आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होते हैं, उन्हें महासत्ता भी कहा जाता है और अवान्तरसत्ता भी कहा जाता है। किस प्रकार से ? :—

(१) पूरा लोकालोक उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है, उसमें एक आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को पृथक् पाड़कर कहना, वह अवान्तरसत्ता हुई। लोकालोक की अपेक्षा से एक आत्मा, वह अवान्तरसत्ता हुई।

(२) एक आत्मा है—उसे महासत्ता कहो, तो उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश, वे अवान्तरसत्ता हैं।

देखो, जगत में इन सब पदार्थों की सत्ता है, किसी के कारण से उनकी सत्ता नहीं, परन्तु स्वयंसिद्ध सत्ता है, इसलिए आत्मा उनका ज्ञाता-दृष्टा ही है। ‘सत्ता है’, उसका अभाव माने तो वह मिथ्यात्व है और सत्ता पर के कारण से है, ऐसा माने तो वह भी मिथ्यात्व है। सत्ता अपने से सत् है, इसलिए ‘इसके कारण ऐसा हुआ’ यह बात रहती नहीं। गुरु के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा तो नहीं, क्योंकि ज्ञान की सत्ता स्वयं से है, परन्तु ध्रुव ज्ञान के कारण ज्ञान का उत्पाद अंश है—ऐसा भी नहीं। ध्रुव अंश सत् है और उत्पाद अंश भी सत् है। उत्पाद सत् है तो वह दूसरे से नहीं। सत् है, ऐसा साबित करना है, उसकी अस्ति माने तो आस्तिकता है, और ‘नहीं’ ऐसा माने तो नास्तिकता होती है।

पदार्थों का स्वरूप ऐसी सत्तावाला है। सत्ता का स्वीकार, वह सम्यग्ज्ञान है। सत्ता, वह अर्थसमय है और उस सत्ता को जाने, वह ज्ञानसमय है। ज्ञान ज्ञेय की सत्ता को 'है'—ऐसा जानता है। 'ऐसा क्यों?' ऐसा विकल्प ज्ञान में नहीं है। पर्याय सत् है, वह पर के कारण से तो नहीं, परन्तु पूर्व की पर्याय के कारण से भी नहीं, इसमें ज्ञायकभाव और वीतरागता ही खड़े होते हैं।

केवलज्ञानपर्यायवाले अनन्त जीव सत् हैं—ऐसी अनन्त केवलज्ञानी की सत्ता को श्रुतज्ञानी जान लेता है। वह केवलज्ञान सत् है, किसी पूर्व के कारण से उसकी सत्ता है—ऐसा नहीं। जैसे सत् है, वैसा जान ले, वैसा ही तेरा स्वभाव है। तू 'ज्ञ' स्वभावी ही है। राग को रागरूप से जान ले, ऐसा स्वभाव है। शुभ के समय शुभ और अशुभ के समय अशुभ—उसे जान ले, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु उसमें अशुभ को पलटकर शुभ करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं। ऐसे ज्ञान में राग नहीं रहा। ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है, ऐसा निर्णय किया, वहाँ मोक्षमार्ग शुरू हो गया।

जिस स्वरूप से उत्पाद है, उस स्वरूप से उत्पाद है। व्यय के कारण से उत्पाद नहीं तो फिर पर के कारण तो उत्पाद कहाँ रहा? सत् है, उसमें कारण-कार्य भी लागू नहीं पड़ते। क्योंकि सत् को और कारण क्या? निरपेक्ष सत् में कारण-कार्य कहना, वह तो व्यवहार है। अहो, सत्! बस, सत् जैसा है, वैसा उसे जान ले, ऐसा तेरा स्वभाव है, उसमें ही केवलज्ञान है।

'सत्' में लोकालोक समाहित हो जाता है। सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण में पूरा लोकालोक समाहित हो जाता है, कुछ भी बाकी नहीं रहता। ऐसे सत् के स्वीकार में सर्वज्ञता का स्वीकार है। एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव वह महासत्ता का लक्षण है। भविष्य में नयी पर्याय के समय भी वह उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली ही होगी। जब देखो तब एक समय में पूरा द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला सत् है। एक समय में द्रव्य का कोई अंश बाकी नहीं रह जाता। भविष्य की अनन्त पर्यायों का सामर्थ्य वर्तमान ध्रुव में एक समय में समाहित हो जाता है। एक समय में त्रिकाली द्रव्य की सत्ता पड़ी है, उसमें कुछ बाकी नहीं रहता। एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव है, तथापि उसमें उन तीनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं, वह अवान्तरसत्ता है।

अहो! श्रुतज्ञानसमय में अनन्त केवलज्ञान को अर्थसमयरूप से समाहित कर दिया है। महासत्ता और अवान्तरसत्ता को श्रुतज्ञान जानता है, उसमें महासत्ता में अनन्त केवली समाहित हो जाते हैं और अवान्तरसत्ता में अनन्त केवली भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा श्रुतज्ञान जान लेता है। जगत में पदार्थों का स्वरूप जैसे सत् है, उसे तू जान तो तेरा ज्ञान सम्यक् होगा, इसके अतिरिक्त कुछ भी फेरफार या विपरीत मानेगा तो, पदार्थों का स्वरूप तो नहीं बदलेगा परन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

अब पंचास्तिकाय का चालू अधिकार वाँचा जाता है। आठवीं गाथा में महासत्ता और अवान्तरसत्ता का वर्णन चलता है।

समय के तीन प्रकार पड़ते हैं—ज्ञानसमय, अर्थसमय और शब्दसमय। जिस श्रुतज्ञान में पदार्थ ज्ञात हो, उस ज्ञान को ज्ञानसमय कहते हैं; पदार्थों को अर्थसमय कहते हैं और उनका स्वरूप कहनेवाली वाणी, वह शब्दसमय है।

अर्थसमय में जगत के सभी पदार्थ आ जाते हैं। पदार्थ का लक्षण सत्ता है। सत्ता के दो प्रकार हैं :— (१) महासत्ता, (२) अवान्तरसत्ता। लोकालोक सत् है—उसका नाम महासत्ता और एक पदार्थ को पृथक् करना, वह अवान्तरसत्ता है। ऐसी सत्ता को राग बिना, विकल्प बिना जान ले, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है।

महासत्ता की अपेक्षा से सत्ता त्रि-लक्षणवाली है और अवान्तरसत्ता की अपेक्षा से सत्ता त्रि-लक्षणवाली नहीं, परन्तु एक लक्षणवाली है। जिस द्रव्य में जिस पर्याय का उत्पाद हुआ, वह उत्पाद सत् है। यह पर्याय ऐसे कैसे?—ऐसे विकल्प को अवकाश नहीं, क्योंकि वह सत् है और उसे जानने का ज्ञान का स्वभाव है। जो सत्ता त्रि-लक्षणवाली है, वह सत्ता प्रतिपक्षी की अपेक्षा से त्रि-लक्षणवाली नहीं, ऐसा सत्ता का अनेकान्त स्वभाव है। अनन्त सिद्ध, निगोद, जीव, अजीव, वह सब सत् है, उन्हें ज्ञातारूप से जान ले, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। ऐसा जिसने जाना, उसे आसक्ति टूटकर वीतरागता हुए बिना रहेगी नहीं। क्योंकि पदार्थ के कारण राग नहीं और ज्ञान के कारण से भी राग नहीं। इसलिए जिसने पदार्थ की सत्ता को निश्चित किया, उसे वह राग टूटे बिना रहेगा नहीं। अर्थसमय का स्वभाव राग कराने का नहीं परन्तु मेरे ज्ञान में ज्ञेय होने का उसका स्वभाव है। तथा मेरे ज्ञान का स्वभाव भी ज्ञेयों को जानने का है; राग करने

का मेरा स्वभाव नहीं।—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे राग टूटकर वीतरागता हुए बिना रहती नहीं।

महासत्तारूप से सब सत् होने पर भी, अवान्तरसत्तारूप से सबका स्वरूप भिन्न-भिन्न सिद्ध होता है। जो एक है, वही अनेक है, सर्वथा एकपना नहीं और सर्वथा अनेकपना नहीं। जो एक है, वही किसी अपेक्षा से अनेक भी है। ऐसा पदार्थ का स्वभाव है, उसे जानने का ही ज्ञान का स्वभाव है। ऐसा निर्णय करना, इसका नाम धर्म है।

ज्ञान का धर्म क्या? कि जानना। पदार्थों का स्वभाव क्या? कि ज्ञान में ज्ञात होना। ऐसे स्वभाव का निर्णय किया, वह ज्ञाता-दृष्टारूप से जानता है।

जो सत्ता महासत्तारूप से सकलस्वरूप है, वही अवान्तरसत्तारूप से एकरूप है। सत्ता अपने-अपने पदार्थ की सत्तास्वरूप से एकरूप है। सिद्ध, वे सिद्धस्वरूप ही हैं; निगोद, वह निगोदस्वरूप है; जड़, वह जड़स्वरूप है और चेतन वह चेतनस्वरूप है—ऐसे अवान्तरसत्ता प्रत्येक की भिन्न-भिन्न है। अचेतन महास्कन्ध को महासत्ता कहो, तब अवान्तरसत्तारूप से उसका प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न है।

ऐसा जो पदार्थों का स्वभाव है, वह तो अर्थसमय है। परन्तु उसे जानने का सामर्थ्य किसका? जानने का सामर्थ्य तो ज्ञानसमय का है। ज्ञानसमय ने जाना, तब 'यह अर्थसमय है' ऐसा निश्चित हुआ। पदार्थ हैं, परन्तु उनकी सत्ता निश्चित किसने की? आत्मा के ज्ञान ने निश्चित की। उस ज्ञान के सामर्थ्य की महिमा है।

अहो! यह तो निर्ग्रन्थ सन्तों की बात है। अन्तर में निखालस वीतराग है। विकल्प उठने पर शास्त्र की रचना हो गयी, और घड़ीक में विकल्प टूटकर अन्दर में स्थिर हो जाते हैं।

यहाँ अर्थसमयरूप से पदार्थ की सत्ता वर्णन की है और प्रवचनसार की १०१वीं गाथा में ज्ञेयरूप से पदार्थ का स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु दोनों में आशय तो एक ही है कि ऐसे पदार्थों को ज्ञेय करने का ज्ञान का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव के आश्रय से दसलक्षणधर्म है।

सत्ता का स्वरूप वर्णन करके तो एकदम ज्ञाता स्वभाव और वीतरागता ही

बतलायी है। पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कुछ सम्बन्ध नहीं और ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहना, वह भी व्यवहार से है।

एक समय में अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण, उनमें उत्पाद-व्यय और ध्रुव है। एक द्रव्य, वह महासत्ता, और उसके अनन्त गुणों के अनन्त उत्पाद-व्यय-ध्रुव भिन्न-भिन्न एक समय में है और वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों अपने-अपने स्वरूप से है। अनन्त पर्यायों और अनन्त द्रव्य हैं। वह प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। ऐसा सत्ता का स्वरूप है। ऐसा जो सत्ता का स्वरूप कहा, वह निर्दोष है, उसमें कुछ भी विरोध नहीं है।

महासत्ता है, वह अवान्तरसत्तासहित है। उसे पाँच विशेषण से वर्णन किया—

(१) महासत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुव त्रि-लक्षणवाली है। अवान्तरसत्ता एक लक्षणवाली है।

(२) महासत्ता एक है। अवान्तरसत्ता अनेक है।

(३) महासत्ता समस्त पदार्थों में रहती है। अवान्तरसत्ता एक-एक पदार्थ में रहती है।

(४) महासत्ता अनेकरूप है। अवान्तरसत्ता एकस्वरूप है।

(५) महासत्ता अनन्तपर्यायात्मक है। अवान्तरसत्ता एकपर्यायात्मक है।

यदि सत्ता के ऐसे अनेकान्तस्वरूप को न पहिचाने तो सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। परस्पर विरुद्धता होने पर भी सत्ता एक है। सत्ता का जो स्वरूप कहा, वह सर्वज्ञ से कहा हुआ अनवद्य है। दोषरहित है। ऐसे स्वरूप को जो नहीं मानता, उसे सावद्यभाव है। वह पदार्थों के स्वरूप को घातता है, और पदार्थों के ऐसे स्वरूप को जो जाने, उसके श्रद्धा-ज्ञान निरवद्य होते हैं और फिर अस्थिरता टलकर स्थिरता से भी वह निरवद्य होता है। इसका नाम सच्ची सामायिक है। आत्मा समस्त पर का जाननेवाला है, ऐसा न मानकर, पर से लाभ-नुकसान माने तो उसमें बड़ा सावद्यभाव है। सब सत् है, उसमें क्या बाकी रहा? महासत्ता और उसके सभी भेद, यह सब ही एक समय में ही सत् है। सत् को है वैसा जानने का ज्ञान का स्वभाव है। ऐसा सम्यग्ज्ञान करे तो वह ज्ञान सावद्यरहित है और मिथ्याज्ञान, वह सावद्यसहित है।

आत्मा तो सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ अर्थात् जिसने सर्व जाना है वह; सर्व को जाने, वैसी आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य है। उसका निर्णय करनेवाला श्रुतज्ञान में भी परोक्षरूप से पूरा ज्ञात हो गया है। श्रुतज्ञान में अनन्त केवलज्ञानी भी अर्थसमयरूप से ज्ञात हो गये हैं। ऐसे ज्ञानसामर्थ्य का जिसने निर्णय किया, उसने ही सर्वज्ञ को माना है, उसने से ही गुरु की आज्ञा मानी है, उसने ही शास्त्र को जाना है, उसने ही सावद्यतारूप मिथ्यात्व को छोड़ा है। ऐसा पदार्थ का स्वरूप है, वैसा शास्त्र ने कहा है और वैसा ज्ञान में जाने, तब पदार्थ, वाणी और ज्ञान तीनों समान होते हैं। रुपये (५००५) सिलक हों तो नाम में भी वैसा ही लिखे और ज्ञान में भी वैसा ही जाने, तो नामा का मेल मिले; उसी प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड की थैली में छह द्रव्यों की सत्ता जैसे स्वभाव से है, वैसा देव-गुरु की वाणी में आया है और वैसा ही अपने ज्ञान में जाने तो अपना ज्ञानसमय निर्दोष होता है। विपरीत माने तो पदार्थसमय और शब्दसमय तो वैसे ही रहेंगे, परन्तु उसके ज्ञान में मिथ्यापन आयेगा। पदार्थों के स्वभाव को जैसा है, वैसा जाने तो ज्ञान में समाधि होगी और खदबदाहट मिटेगी।

भगवान का उपदेश सामान्य और विशेष ऐसे दो नयों के आधीन है। महासत्ता है, और अवान्तरसत्ता भी है। जिस अपेक्षा से महासत्ता है, उसी अपेक्षा से अवान्तरसत्ता नहीं, परन्तु दूसरी अपेक्षा से अवान्तरसत्ता है। जैसी सत्ता है, वैसा ज्ञान करना, वह ज्ञान का स्वभाव है, ऐसा निर्णय करके जानते-जानते ज्ञान स्थिर हो जाये तो वीतरागता और सर्वज्ञता होती है। पहले पदार्थों की सत्ता को जानते हुए ज्ञान की यथार्थता होती है, वह वर्तमान फल है और क्रम से सर्वज्ञता होती है, वह पूर्ण फल है। इस प्रकार मांगलिक किया।

●●

मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर किन्हीं मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते थे और मुनिराज के पधारने पर परमभक्ति से आहारदान देते थे। अहा! मानों आँगन में कल्पवृक्ष फला हो, उससे भी विशेष आनन्द धर्मात्मा को मोक्षमार्गसाधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनमृत, २०, पृष्ठ १२

गाथा - ९

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सबभावपज्जयाइं जं।

दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥९॥

द्रवति गच्छति तांस्तान् सद्भावपर्यायान् यत्।

द्रव्यं तत् भणन्ति अनन्यभूतं तु सत्तातः॥९॥

अत्र सत्ताद्रव्ययोरर्थान्तरत्वं प्रत्याख्यातम्।

द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम्। द्रव्यं च लक्ष्यलक्षणभावादिभ्यः कथञ्चिद्भेदेऽपि वस्तुतः सत्ताया अपृथग्भूतमेवेति मन्तव्यम्। ततो यत्पूर्वं सत्त्वमसत्त्वं त्रिलक्षणत्वमत्रिलक्षणत्वमेकत्वमनेकत्वं सर्वपदार्थस्थितत्वमेकपदार्थस्थितत्वं विश्वरूपत्वमेकरूपत्वमनन्तपर्यायत्वमेकपर्यायत्वं च प्रतिपादितं सत्तायास्तत्सर्वं तदनर्थान्तरभूतस्य द्रव्यस्यैव द्रष्टव्यम्। ततो न कश्चिदपि तेषु सत्ताविशेषोऽवशिष्येत यः सत्तां वस्तुतो द्रव्यात्पृथक् व्यवस्थापयेदिति॥९॥

जो द्रवित हो अर प्राप्त हो सद्भाव पर्ययरूप में।

अनन्य सत्ता से सदा ही वस्तुतः वह द्रव्य है॥९॥

अन्वयार्थ :- [तान् तान् सद्भावपर्यायान्] उन-उन सद्भावपर्यायों को [यत्] जो [द्रवति] द्रवित होता है- [गच्छति] प्राप्त होता है, [तत्] उसे [द्रव्यं भणन्ति] (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं-[सत्तातः अनन्यभूतं तु] जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

टीका :- यहाँ सत्ता को और द्रव्य को अर्थान्तरपना (भिन्नपदार्थपना, अन्य पदार्थपना) होने का खण्डन किया है।

‘उन-उन क्रमभावी और सहभावी सद्भावपर्यायों को अर्थात् स्वभावविशेषों को जो ‘द्रवित होता है-प्राप्त होता है-सामान्यरूप स्वरूप से व्याप्त होता है, वह द्रव्य है’-

१. श्री जयसेनाचार्यदेव की टीका में भी यहाँ की भाँति ही ‘द्रवति गच्छति’ का एक अर्थ तो ‘द्रवित होता है अर्थात् प्राप्त होता है’ ऐसा किया गया है; तदुपरान्त ‘द्रवति’ अर्थात् स्वभावपर्यायों को द्रवित होता है और गच्छति अर्थात् विभावपर्यायों को प्राप्त होता है’ ऐसा दूसरा अर्थ भी यहाँ किया गया है।

इस प्रकार अनुगत अर्थवाली निरुक्ति से द्रव्य की व्याख्या की गयी। और यद्यपि लक्ष्यलक्षणभावादिक द्वारा द्रव्य को सत्ता से कथंचित् भेद है, तथापि वस्तुतः (परमार्थतः) द्रव्य सत्ता से अपृथक् ही है, ऐसा मानना। इसलिए पहले (८वीं गाथा में) सत्ता को जो सत्पना, असत्पना, त्रिलक्षणपना, अत्रिलक्षणपना, एकपना, अनेकपना, सर्वपदार्थ-स्थितपना, एकपदार्थस्थितपना, विश्वरूपपना, एकरूपपना, अनन्तपर्यायमयपना और एकपर्यायमयपना कहा गया, वह सर्व सत्ता से अनर्थान्तरभूत (अभिन्नपदार्थभूत, अनन्यपदार्थभूत) द्रव्य को ही देखना (अर्थात् सत्पना, असत्पना, त्रिलक्षणपना, अत्रिलक्षणपना आदि समस्त सत्ता के विशेष द्रव्य के ही है, ऐसा मानना)। इसलिए उनमें (-उन सत्ता के विशेषों में) कोई सत्ताविशेष शेष नहीं रहता जो कि सत्ता को वस्तुतः (परमार्थतः) द्रव्य से पृथक् स्थापित करे॥९॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ६, शुक्रवार

सत्ता और द्रव्य की एकता का इस गाथा में वर्णन है।

द्रव्य किसे कहा जाता है?—कि जो अपनी स्वभावपर्याय को द्रवता है—प्रवाहित होता है, वह द्रव्य है। किसी निमित्त के कारण से पर्याय नहीं होती, परन्तु द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्याय को द्रवता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय को कौन द्रवता है? द्रव्य स्वयं ही उन पर्यायों को द्रवता है, द्रव्य ही अपने स्वभाव से उस पर्यायरूप से परिणमता है; किसी राग के कारण, संयोग के कारण सम्यग्दर्शनादि पर्यायें नहीं होती। इसलिए सम्यग्दर्शनपर्याय प्रगट करनेवाले को कहाँ देखना?—द्रव्य के सामने ही देखना आया।

यहाँ कहते हैं कि : 'द्रवति' अर्थात् कि द्रव्य स्वभावपर्यायों को द्रवता है और 'गच्छति' अर्थात् द्रव्य विभावपर्यायों को प्राप्त होता है।

२. यहाँ द्रव्य की जो निरुक्ति की गयी है, वह 'द्रु' धातु का अनुसरण करते हुए (-मिलते हुए) अर्थवाली हैं।

३. सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है।

निगोद का जीवद्रव्य स्वयं अपनी विभावपर्यायों को पहुँचता है, कोई कर्म उसमें नहीं पहुँचता। सिद्ध की पर्यायरूप से उनका द्रव्य परिणमा है, किसी निमित्त ने उन पर्यायों को द्रवा नहीं है। स्वभावपर्याय से परिणमे या विभावपर्याय से परिणमे—उसरूप से द्रव्य ही परिणमता है। किसी पर के कारण से पर्याय नहीं होती।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ७, शनिवार

छह द्रव्यों में पाँच अस्तिकाय है, उनका इसमें मुख्य वर्णन है और कालद्रव्य का वर्णन गौण है।

छहों द्रव्य अस्तिरूप स्वयंसिद्ध है, उसमें काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसलिए वे अस्तिकाय हैं। काल को बहुप्रदेश नहीं, वह एकप्रदेशी ही है, इसलिए वह अस्ति है परन्तु 'अस्तिकाय' नहीं है।

द्रव्य स्वयं सत्तास्वरूप है, द्रव्य और सत्ता भिन्न नहीं। लक्ष्य-लक्षण भेद है परन्तु वस्तुरूप से भेद नहीं है।

ऐसा द्रव्य स्वयं ही अपनी उन-उन पर्यायों को प्राप्त करता है। किसी निमित्त के कारण या संयोग के कारण उसकी पर्यायें नहीं होती। संयोग के कारण जीव का अशुद्ध परिणमन होता है, ऐसा जो मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि-अनन्त संसारी है। (समयसार कलशटीका, पृष्ठ २५९)।

यदि निमित्त के कारण विकार होता हो तो 'विकार मैं नहीं, विकार करनेयोग्य नहीं'—ऐसा उसका निषेध करने का रहता नहीं; क्योंकि जो अपने हाथ की बात हो, उसमें निषेध करने का होता है। द्रव्य ही अपने गुण की पर्याय को पाता है, इसलिए पर्याय में अशुद्धता का निषेध करके शुद्धतारूप से परिणमना, उसमें जीव स्वतन्त्र है।

द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं तो फिर पर्याय में अशुद्धता आयी कहाँ से? क्या संयोग में से आयी?—नहीं, पर्याय की स्वतन्त्रता है और पर्याय में द्रव्य-गुण को शुद्ध जानकर उसका आश्रय किया, वहाँ उसमें शुद्धता प्रगट हुई; अस्थिरता का अल्प विकार हुआ,

वह भी अपना परिणमन है। द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपनी पर्याय को प्राप्त होता है। जो स्वयं तन्मयरूप से पर्यायपने परिणमता है, उसे ही द्रव्य कहा जाता है।

गुण-पर्यायमय सत्ता से द्रव्य वास्तव में भिन्न नहीं, परन्तु अभेद है। यह छहों द्रव्यों की बात है। छहों द्रव्य अपने-अपने गुणों-पर्यायों की सत्ता से एकमेक है।

द्रव्य का लक्षण क्या?—सत्ता, वह द्रव्य का लक्षण है। सत्ता अर्थात् अस्तित्व, उसके द्वारा द्रव्य प्रसिद्ध होता है। द्रव्य अपनी सत्ता से ही लक्षित होता है, पर द्वारा वह लक्षित नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतन्त्र है।

कर्म द्वारा पुद्गलद्रव्य का अस्तित्व प्रसिद्ध होता है। आत्मा अपनी सत्ता द्वारा प्रसिद्ध होता है। दूसरी चीज़ लक्षण और द्रव्य लक्ष्य, ऐसा नहीं, परन्तु द्रव्य की सत्ता, वह लक्षण और द्रव्य, वह लक्ष्य है;—इतना गुण-गुणीभेद पाड़कर पहिचान करायी, अभी यह भी व्यवहार है। निश्चय से सत्ता और द्रव्य का भेद नहीं। द्रव्य स्वयं ही सत्तास्वरूप है।

पुद्गल की पर्याय में पुद्गलद्रव्य प्राप्त होता है और जीव की पर्याय में जीवद्रव्य प्राप्त होता है; सीताजी के शुद्ध ब्रह्मचर्य के कारण अग्नि में से पानी हुआ—ऐसा वास्तव में नहीं है, सीताजी के ब्रह्मचर्य की महिमा बतलाकर वैसा उपदेश देने के लिये यह कथन है। वास्तव में ब्रह्मचर्यपर्याय तो आत्मा की है और अग्नि में से पानी हुआ, वह पर्याय पुद्गल की है। एक द्रव्य की पर्याय में दूसरा द्रव्य प्राप्त नहीं होता, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय में वह द्रव्य स्वयं ही प्राप्त होता है।

णमोकार मन्त्र के कारण से अथवा भक्तामरस्तोत्र के कारण से रोगादि टल जाते हैं—ऐसी अज्ञानी को भ्रमणा होती है। अरे भाई! तेरा राग नहीं टले तो तू णमोकार मन्त्र इत्यादि को नहीं माने न? णमोकार मन्त्र गिनने से या भक्तामरस्तोत्र बोलने से रोगादि टलें, ऐसी जो तेरी मान्यता होगी, तो रागादि नहीं टलेंगे, तब तुझे पंच परमेष्ठी इत्यादि की श्रद्धा कहाँ से रहेगी? इसलिए एक द्रव्य के कारण पर में कुछ फेरफार होता है, यह मान्यता छोड़।

एक मनुष्य से ५० मण का भार नहीं उठता और दस मनुष्य इकट्ठे होकर उसे

उठा सकते हैं; वहाँ दसों मनुष्यों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, दस मनुष्यों की शक्ति इकट्ठी हुई ही नहीं। प्रत्येक मनुष्य की सत्ता भिन्न है और मनुष्य की शक्ति के कारण से वजन उठा, ऐसा भी नहीं, उस चीज़ की सत्ता भी भिन्न है। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक परमाणु की सत्ता भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक परमाणु अपनी सत्ता में भिन्न-भिन्न ही परिणमते हैं।

‘एक परमाणु के ऊपर मनुष्य नहीं बैठ सकता, परन्तु अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होकर पाट हुआ, उसके ऊपर मनुष्य बैठ सकता है—ऐसा संयोगदृष्टि से ही लगता है, वास्तव में अनन्त परमाणुओं की सत्ता एक हुई ही नहीं, प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न ही है। ऐसी पृथक्ता को अज्ञानी नहीं देखता।

परमाणु का स्कन्ध होने पर उसे अस्तिकाय कहा जाता है, वह उपचार से है, इसलिए वास्तव में प्रत्येक परमाणु की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

लक्षण उसे कहा जाता है कि जिसके द्वारा वस्तु ज्ञात हो, और लक्षण द्वारा जो वस्तु ज्ञात हो, वह लक्ष्य है। प्रत्येक द्रव्य का लक्षण भिन्न-भिन्न है, जैसे उष्णता लक्षण द्वारा अग्नि लक्षित होती है। राग है, उस राग द्वारा आत्मद्रव्य की सत्ता सिद्ध होती है, राग द्वारा पुद्गलद्रव्य की सत्ता लक्षित नहीं होती तथा कर्म द्वारा पुद्गलद्रव्य की सत्ता लक्षित होती है, परन्तु कर्म द्वारा आत्मा की सत्ता लक्षित नहीं होती। अपनी पर्याय से अपना द्रव्य लक्षित होता है, एक द्रव्य की पर्याय से दूसरे द्रव्य की सत्ता लक्षित नहीं होती। इस प्रकार सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्षित है। द्रव्य को और सत्ता को ऐसा लक्ष्य-लक्षणभेद है, परन्तु वस्तुभेद या प्रदेशभेद नहीं।

राग द्वारा आत्मा लक्षित होता है परन्तु वहाँ उन दोनों को जाननेवाला तो ज्ञान है, कहीं राग द्वारा ज्ञात नहीं होता।

निमित्तरूप से कर्म का अस्तित्व निश्चित करना हो, तब ऐसी युक्ति दी जाती है कि:—

देख भाई! क्रोध नहीं करना, ऐसा निर्णय किया तो भी दूसरे क्षण में क्रोध हो जाता है, तो सामने आत्मा का प्रतिपक्षी ऐसा जड़कर्म निमित्तरूप से है।—यह तो निमित्त को साबित करने के लिये बात है, परन्तु कर्म की सत्ता भिन्न है और आत्मा की सत्ता भिन्न है।

पानी गर्म हुआ—तो वहाँ अग्नि थी, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु पानी की सत्ता भिन्न है और अग्नि की सत्ता भिन्न है। पानी की पर्याय द्वारा पानी के परमाणुओं की प्रसिद्धि होती है, और अग्नि द्वारा अग्नि के परमाणुओं की प्रसिद्धि होती है। दोनों की सत्ता भिन्न है। इसमें वीतरागी भेदज्ञान आ जाता है। ऐसे भेदज्ञान बिना वीतरागता कभी नहीं होती।

द्रव्य के जितने गुण-पर्याय हैं, उन सब द्वारा उस द्रव्य की सत्ता ज्ञात होती है।—इससे गुण-पर्यायरूप सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। परन्तु सत्ता और द्रव्य भिन्न नहीं; इसलिए पहले अस्तित्व-नास्तित्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुव इत्यादि जिन लक्षणों से सत्ता को बतलाया था, वे लक्षण भी द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। ‘द्रव्य’ कहने पर उसमें वह सब समाहित हो जाता है।

द्रव्य की सत्ता स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप है; सामान्यरूप से सब ‘सत्’ होने पर भी प्रत्येक की विशेष सत्ता भिन्न-भिन्न है। बहुत जीव एक ही प्रकार के विचार करे तो उनका बल इकट्ठा होकर दूसरे के ऊपर उस विचार के आन्दोलन का असर होता है, ऐसा माननेवाले को स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न सत्ता का भान नहीं है।

सभी द्रव्य सत् होने पर भी कोई परमानन्दमय है, कोई दुःखी है, कोई जड़ है। ऐसे प्रत्येक की सत्ता भिन्न-भिन्न है। एक अल्पज्ञ, दूसरा सर्वज्ञ, वे सब ‘महासत्ता’ में समाहित हो जाते हैं। कोई अल्पज्ञ मिटकर सर्वज्ञ हो जाये, वहाँ सभी जीव सर्वज्ञ नहीं हो जाते क्योंकि अवान्तरसत्ता भिन्न-भिन्न है और महासत्तारूप से तो ऐसा का ऐसा ही है।

जो सत्ता का ऐसा स्वरूप जाने, उसे सम्यग्ज्ञान होकर केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ८, रविवार

द्रव्य का लक्षण सत्ता है; ‘सत्’ कहने पर उसमें सब ही समाहित हो जाता है। द्रव्य है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रुव है, गुण है, पर्याय है—सब ही सत् है, उसमें अकेली वीतरागता आती है। सब सत् है—ऐसा जाननेवाले जीव के ज्ञान में ‘यह ऐसा कैसे?’—

ऐसा प्रश्न ही नहीं। ज्ञाता में 'यह ऐसा कैसे?' ऐसा विकल्प नहीं। एक जीव सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति करता है, दूसरा जीव सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करता। वहाँ उन दोनों की वैसी पर्याय सत् है; अर्थात् सत् को बदलने के विकल्प का ज्ञान में अवकाश नहीं। एक जीव को स्वभाव की श्रद्धा से प्रथम सम्यक्त्व प्रगट हुआ, और दूसरा जीव उस समय सर्वज्ञ को मानता भी नहीं था; और फिर सम्यग्दर्शन प्रगट करके पहले जीव की अपेक्षा पहले सर्वज्ञ हो जाये, वहाँ ज्ञानी को ऐसा आश्चर्य नहीं होता कि 'ऐसा कैसे?' महासत्ता में तो सब सत् है, और उसके अन्तर्भेद भी सत् है। चैतन्य का स्वभाव तो ज्ञान है। 'मैं ज्ञान हूँ' और जगत में ज्ञानी-अज्ञानी इत्यादि सब जैसे हैं, वैसा उनका मैं तो जाननेवाला हूँ—ऐसी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी है। स्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ एक क्षण में केवलज्ञान हो जाता है, वहाँ 'ऐसा कैसे'—ऐसा आश्चर्य नहीं परन्तु वीतरागता है। कल धर्म का विरोधी हो और आज सुल्टा पड़कर ज्ञान पा जाये और सर्वज्ञ हो जाये—वहाँ वह भी सत् है। सामान्य भी सत् है और विशेष भी सत् है।

मिथ्यात्व है, वह मिथ्यात्व ही रहे—ऐसा नहीं; मिथ्यात्व पलटकर सम्यक्त्व हो जाये—वहाँ मिथ्यात्व का व्यय और सम्यक्त्व का उत्पाद तथा वस्तु की ध्रुवता—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी सत् में समा जाते हैं।

आत्मा सत् है, ऐसा कहने से उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों समा जाते हैं।

तथापि जो उत्पादस्वरूप सत्ता है, वह नाशस्वरूप नहीं, जो उत्पाद-व्ययस्वरूप सत्ता है, वह ध्रुवस्वरूप नहीं। सम्यक्त्व का उत्पाद है और मिथ्यात्व का व्यय है और द्रव्यरूप से ध्रुवता है; इसलिए एक-एक में तीन लक्षण नहीं आते। इस प्रकार महासत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों लक्षण समाहित हो जाते हैं और अवान्तरसत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश भिन्न-भिन्न हैं।

त्रिकालवर्ती तत्त्व सत् है, द्रव्य सत् है और उसकी एक-एक समय की तीनों काल की पर्यायें भी सत् हैं।—पर्याय में पहले उत्पाद न हो और फिर नया उत्पाद हो तो भी सत् है,—ऐसा ज्ञान किसे होता है? जिसने ज्ञानस्वभाव को जाना कि मैं तो ज्ञान हूँ,

सत् का जाननेवाला हूँ। ऐसी जिसने प्रतीति की उसे 'यह ऐसा कैसे?' ऐसा विकल्प नहीं रहता। अपनी सामान्य सत्ता में से विशेष पर्याय प्रगट होती है, वह भी सत् है; इसलिए पुस्तक आवे तो ज्ञान होता है—ऐसा नहीं रहता।

सामान्य सत्ता एकरूप है, विशेष सत्ता अनेकरूप है। विशेष पर्यायों का नाश होने से सामान्य सत्ता का नाश नहीं हो जाता। जो सामान्य सत्ता है, वह विशेष सत्तारूप से नहीं। विशेष सत्ता स्वयं यदि सामान्यरूप से हो तो वह विशेष कभी पलट नहीं सकता। इसलिए सत्ता में सामान्य और विशेष, ऐसे दो प्रकार हैं। सामान्य सत्ता एकरूप है और विशेष सत्ता अनेकरूप है। जीव-अजीव, ज्ञानी-अज्ञानी, वे सब सामान्य सत्ता में समाहित हो जाते हैं; उसमें कोई जीव है, कोई अजीव है, कोई ज्ञानी है, कोई अज्ञानी है। इन सबकी अवान्तर सत्ता भिन्न-भिन्न है।

द्रव्य महासत्तारूप से सत् है, और पर्याय, वह विशेषसत्ता है। मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्वपर्याय उपजती है, वहाँ मिथ्यात्व का नाश होने से द्रव्य की सत्ता का नाश नहीं हो जाता तथा जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने से द्रव्य की सत्ता की उत्पत्ति नहीं होती। सामान्य-विशेष सत्ता, वह द्रव्य का ही स्वभाव है। उसे जो नहीं देखता, वही संयोग से पर्याय होती है, ऐसा मानता है।

कल का लकड़हारा था, वह आज केवलज्ञान को प्राप्त हुआ। वहाँ 'अहो, धन्य तेरा अवतार!'—ऐसा प्रमोदभाव आवे, वह प्रमोदभाव यदि सामने के पदार्थ की नवीनता के कारण होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को प्रमोद आवे तो वह पर के कारण से नहीं मानते; जगत के पदार्थों में विशेष-विशेष भाव तो अनादि-अनन्त हुआ ही करेंगे, उसके कारण यदि राग होना माने, तब तो अनादि-अनन्त राग हुआ ही करेगा, इसलिए यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

● शब्दसमय सत्, अर्थसमय सत्, ज्ञानसमय सत्।

तीनों सत् हैं, उनमें शब्दसमय के कारण से ज्ञानसमय नहीं; यदि शब्द के कारण ज्ञान हो तो ज्ञानसमय क्या सत् नहीं है? ज्ञानसमय भी सत् है, वह शब्द से या सामने के पदार्थ से नहीं। देखो, ऐसी सत्ता के ज्ञान में भेदज्ञान और वीतरागता है।

अस्ति-नास्ति, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, गुण-पर्याय, वह सब ही एक 'सत्ता' में समाहित हो जाते हैं, वह कहीं सत्ता से भिन्न नहीं। तू सबका जाननेवाला रह !

पहले एक पुस्तक देखने पर ऐसा आदरभाव हो कि 'अहो, अपूर्व वस्तु है !' पश्चात् वह की वह पुस्तक देखने पर एकदम अनादर का भाव हो—वहाँ ऐसा कैसे ? तो कहते हैं कि वह भी सत् है। आदरभाव की पर्याय भी सत् और अनादरभाव की पर्याय भी सत्; पुस्तक के कारण से आदर का रागभाव या अनादर का द्वेषभाव हुआ नहीं। सब सत् है—ऐसा जिसने निर्णय किया, वहाँ अपना ज्ञाताभाव निश्चित हो गया। उसे अब राग कितना होगा ? अनन्तानुबन्धी के रागादिभाव तो उसे होंगे ही नहीं। अस्थिरता के अति अल्प रागादि होंगे। सब सत् है और मैं ज्ञान हूँ—ऐसा निर्णय करनेवाले को राग का जोर टूट जाता है, अब अनन्त संसार की उत्पत्ति करनेवाला राग तो उसे होता ही नहीं।

सत्ता का अस्ति-नास्तिरूप कहो, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप कहो या गुण-पर्यायस्वरूप कहो—यह सब भिन्न नहीं परन्तु एकस्वरूप है, एक ही सत्ता में यह सब समाहित हो जाता है। ऐसी सत्ता, वह द्रव्य का लक्षण है—जैसे उष्णता अग्नि का लक्षण है उसी प्रकार। पर की भाँति अग्नि और उष्णता भिन्न-भिन्न चीज़ नहीं, उसी प्रकार द्रव्य और सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं। द्रव्य और सत्ता एकस्वरूप है।

पहले सत्पना निश्चित होने के पश्चात् उसके स्वरूप का ज्ञान होता है। वस्तु है ?—कि हाँ, वस्तु है; ऐसा सत्पना निश्चित किया, पश्चात् वह जीव है या अजीव है, यह निश्चित होता है। पश्चात् उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव निश्चित होते हैं। तेरी सत्ता तुझमें है, तेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव तेरी सत्ता में है। तू ज्ञानस्वभाव से सत् है और जगत के पदार्थ उनके सामान्य-विशेषरूप से सत् है, तेरे कारण से पर का विशेष नहीं और पर के कारण से तेरा विशेष नहीं—ऐसा जो समझे, उसे प्रथम तो श्रद्धा में वीतरागता हो जाये, पश्चात् क्रम-क्रम से वीतराग होकर केवलज्ञान पाता है—इसके अतिरिक्त दूसरा कोई शान्ति का उपाय नहीं।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ९, सोमवार

गाथा १०वीं शुरू करने से पहले गाथा ८वीं और गाथा ९वीं में भेदज्ञान का कारण कहा था, उसे संक्षेप में कहते हैं। सत्ता सामान्यरूप से है, वह विशेषरूप नहीं, तथापि उस सत्ता से सामान्य और विशेषपने के प्रकार भिन्न नहीं हैं। अस्तित्वस्वरूप, नास्तित्वस्वरूप, त्रिलक्षणस्वरूप, त्रिलक्षणस्वरूप से रहित, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, सकलपदार्थव्यापी, एकपदार्थव्यापी, सकलरूप, एकरूप, अनन्तपर्यायरूप, एकपर्यायरूप—यह सब प्रकार सत्ता से पृथक् नहीं। यह सब प्रकार पृथक्-पृथक् होने पर भी सत्ता से कोई अलग नहीं। सभी पदार्थ हैं और पर्यायें भी हैं। ‘है’ यह स्वतन्त्रता बतलाता है।

‘है’ वह किसके कारण से है ? और कैसे है ? ऐसे प्रश्न को अवकाश ही नहीं। ‘है’, वह किसी के कारण से हो तो ‘है’ नहीं रहता। द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, जीव है, अजीव है, अंश है, और अंशी भी है। वह है... है और है, वह किसी के कारण से हो, ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता। ‘है’ उसमें गुरु के कारण से ज्ञान होता है और धर्मास्तिकाय के कारण से गति होती है, ऐसा है ही नहीं। अस्तित्व स्वतन्त्रता और वीतरागता—ऐसी दो बात को बतलाता है।

सामान्य-विशेष के भेद करो तो सामान्य अंश में विशेष नहीं और विशेष अंश में सामान्य नहीं। परन्तु उनमें भेद न करो तो ‘है’ में कोई बाकी नहीं रहता। अस्ति-नास्ति आदि भेद कहे, वे सब सत्ता से भिन्न नहीं। एक समय में सत्ता देखो तो लोकालोक ऐसा का ऐसा है। सब है, वह किसी के कारण से नहीं। ‘है’ विशेषरूप हो या नास्तिरूप हो परन्तु वह किसी के कारण से नहीं है। उसमें आगे-पीछे करने का रहता नहीं। ‘है’ वह जाननेवाला है, वह जाननेवाला रहता है, ऐसा स्वतन्त्ररूप से तू जान। किसी के कारण से कुछ मानने से ज्ञायकता नहीं रहती। यहाँ पंचास्तिकाय में ज्ञानप्रधानता से बात की है।

अब द्रव्य को तीन प्रकार के लक्षण से बतलाते हैं।



गाथा - १०

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंयुत्तं।
 गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥१०॥
 द्रव्य सल्लक्षणकं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तम्।
 गुणपर्यायाश्रयं वा यत्तद्भणन्ति सर्वज्ञः॥१०॥

अत्र त्रेधा द्रव्यलक्षणमुक्तम्।

सद्रव्यलक्षणम्। उक्तलक्षणायाः सत्ताया अविशेषाद्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम्। न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वं रूपं यतो लक्ष्यलक्षणविभागाभाव इति। उत्पादव्यय-ध्रौव्याणि वा द्रव्यलक्षणम्। एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां संताने पूर्वभावविनाशः समुच्छेदः, उत्तरभावप्रादुर्भावश्च समुत्पादः, पूर्वोत्तरभावोच्छेदोत्पादयोरपि स्वजातेरपरित्यागो ध्रौव्यम्। तानि सामान्यादेशादभिन्नानि विशेषादेशाद्विन्नानि युगपद्भावीनि स्वभावभूतानि द्रव्यस्य लक्षणं भवन्तीति। गुणपर्याया वा द्रव्यलक्षणम्। अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनोऽन्वयिनो विशेषा गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायास्ते द्रव्ये यौगपद्येन क्रमेण च प्रवर्तमानाः कथञ्चिद्विन्नाः कथञ्चिदभिन्नाः स्वभावभूताः द्रव्यलक्षणतामापद्यन्ते। त्रयाणामप्यमीषां द्रव्यलक्षणानामेकस्मिन्-भिहितेऽन्य-द्भयमर्थादेवापद्यते। सच्चेदुत्पादव्ययध्रौव्यवच्च गुणपर्यायवच्च। उत्पादव्ययध्रौव्यव-च्चेत्सच्च गुणपर्यायवच्च। गुणपर्यायवच्चेत्सच्चोत्पादव्ययतध्रौव्यवच्चेति। सद्भि नित्यानित्य-स्वभावत्वाद्भ्रुवत्व-मुत्पादव्ययात्मकतां च प्रथयति, ध्रुवत्वात्मकैर्गुणैरुत्पादव्ययात्मकैः पर्यायैश्च सहैकत्वञ्चाख्याति। उत्पादव्ययध्रौव्याणि तु नित्यानित्यस्वरूपं परमार्थं सदावेदयन्ति, गुणपर्यायांश्चात्मलाभनिबन्धनभूतान् प्रथयन्ति। गुणपर्यायास्त्वन्वयव्यतिरेकित्वाद्भ्रौव्योत्पत्ति-विनाशान् सूचयन्ति, नित्यानित्यस्वभावं परमार्थं सच्चोपलक्षयन्तीति॥१०॥

सद् द्रव्य का लक्षण कहा उत्पाद व्यय ध्रुव रूप वह।

आश्रय कहा है वही जिन ने गुणों अर पर्याय का॥१०॥

अन्वयार्थ :- [यत्] जो [सल्लक्षणकम्] 'सत्' लक्षणवाला है, [उत्पादव्यय-ध्रुवत्वसंयुक्तम्] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है [वा] अथवा [गुणपर्यायाश्रयम्] जो गुण-पर्यायों का आश्रय है, [तद्] उसे [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ [द्रव्यं] द्रव्य [भणन्ति] कहते हैं।

टीका :- यहाँ तीन प्रकार से द्रव्य का लक्षण कहा है।

‘सत्’ द्रव्य का लक्षण है। पूर्वोक्त लक्षणवाली सत्ता से द्रव्य अभिन्न होने के कारण ‘सत्’ स्वरूप ही द्रव्य का लक्षण है। और अनेकान्तात्मक द्रव्य का सत्मात्र ही स्वरूप नहीं है कि जिससे लक्ष्यलक्षण के विभाग का अभाव हो। (सत्ता से द्रव्य अभिन्न है इसलिए द्रव्य का जो सत्तारूप स्वरूप वही द्रव्य का लक्षण है। प्रश्न :- यदि सत्ता और द्रव्य अभिन्न है-सत्ता द्रव्य का स्वरूप ही है, तो ‘सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है’-ऐसा विभाग किस प्रकार घटित होता है? उत्तर :- अनेकान्तात्मक द्रव्य के अनन्त स्वरूप हैं, उनमें से सत्ता भी उसका एक स्वरूप है; इसलिए अनन्त स्वरूपवाला द्रव्य लक्ष्य है और उसका सत्ता नाम का स्वरूप लक्षण है-ऐसा लक्ष्यलक्षणविभाग अवश्य घटित होता है। इस प्रकार अबाधितरूप से सत् द्रव्य का लक्षण है।)

अथवा, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है। ‘एक जाति का अविरोधक ऐसा जो क्रमभावी भावों का प्रवाह, उसमें पूर्व भाव का विनाश, सो व्यय है; उत्तर भाव का प्रादुर्भाव (-बाद के भाव की अर्थात् वर्तमान भाव की उत्पत्ति) सो उत्पाद है और पूर्व-उत्तर भावों के व्यय-उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग, सो ध्रौव्य है। वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-जो कि सामान्य आदेश से अभिन्न हैं (अर्थात् सामान्य कथन से द्रव्य से अभिन्न हैं), विशेष आदेश से (द्रव्य से) भिन्न हैं, युगपद् वर्तते हैं और स्वभावभूत हैं, वे-द्रव्य का लक्षण हैं।

अथवा, गुणपर्यायें द्रव्य का लक्षण हैं। अनेकान्तात्मक वस्तु के ‘अन्वयी विशेष, वे गुण हैं और व्यतिरेकी विशेष, वे पर्यायें हैं। वे गुणपर्यायें (गुण और पर्यायें)-जो कि द्रव्य में एक ही साथ तथा क्रमशः प्रवर्तते हैं, (द्रव्य से) कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं तथा स्वभावभूत हैं, वे-द्रव्य का लक्षण हैं।

द्रव्य के इन तीनों लक्षणों में से (-सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और गुण-पर्यायें इन तीन लक्षणों में से) एक का कथन करने पर शेष दोनों (बिना कथन किये) अर्थ से

१. द्रव्य में क्रमभावी भावों का प्रवाह एक जाति को खण्डित नहीं करता-तोड़ता नहीं है अर्थात् जाति-अपेक्षा से सदैव एकत्व ही रखता है।

२. अन्वय और व्यतिरेक के लिये पृष्ठ १४ पर टिप्पणी देखिये।

ही आ जाते हैं। यदि द्रव्य सत् हो, तो वह (१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला और (२) गुण-पर्यायवाला होगा; यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला हो, तो वह (१) सत् और (२) गुण-पर्यायवाला होगा; गुण-पर्यायवाला हो, तो वह (१) सत् और (२) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला होगा। वह इस प्रकार :- सत् नित्यानित्यस्वभाववाला होने से (१) ध्रौव्य को और उत्पाद-व्ययात्मकता को प्रकट करता है तथा (२) ध्रौव्यात्मक गुणों और उत्पाद-व्ययात्मक पर्यायों के साथ एकत्व दर्शाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य (१) नित्यानित्यस्वरूप ^१पारमार्थिक सत् को बतलाते हैं तथा (२) ^२अपने स्वरूप की प्राप्ति के कारणभूत गुण-पर्यायों को प्रकट करते हैं, ^३गुण-पर्यायें अन्वय और व्यतिरेकवाली होने से (१) ध्रौव्य को और उत्पाद-व्यय को सूचित करते हैं तथा (२) नित्यानित्यस्वभाववाले पारमार्थिक सत् को बतलाते हैं।

भावार्थ :- द्रव्य के तीन लक्षण हैं; सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और गुण-पर्यायें। ये तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं; जहाँ एक हो, वहाँ शेष दोनों नियम से होते ही हैं॥१०॥

-
१. पारमार्थिक=वास्तविक; यथार्थ; सच्चा। (वास्तविक सत् नित्यानित्यस्वरूप होता है। उत्पाद-व्यय अनित्यता को और ध्रौव्य नित्यता को बतलाता है, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नित्यानित्यस्वरूप वास्तविक सत् को बतलाते हैं। इस प्रकार 'द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है'-ऐसा कहने से 'वह सत् है' ऐसा भी बिना कहे ही आ जाता है।
 २. अपने=उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के। (यदि गुण हो तभी ध्रौव्य होता है और यदि पर्यायें हों तभी उत्पाद-व्यय होता है; इसलिए यदि गुण-पर्यायें न हों तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अपने स्वरूप को प्राप्त हो ही नहीं सकते। इस प्रकार 'द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है'-ऐसा कहने से वह गुण-पर्यायवाला भी सिद्ध हो जाता है।)
 ३. प्रथम तो, गुण-पर्यायें अन्वय द्वारा ध्रौव्य को सूचित करते हैं और व्यतिरेक द्वारा उत्पाद-व्यय को सूचित करते हैं; इस प्रकार वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को सूचित करते हैं। दूसरे, गुण-पर्यायें अन्वय द्वारा नित्यता को बतलाते हैं और व्यतिरेक द्वारा अनित्यता को बतलाते हैं;—इस प्रकार वे नित्यानित्यस्वरूप सत् को बतलाते हैं।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ९, सोमवार

अर्थ : सत्ता जिसका लक्षण है, उसे सर्वज्ञ वीतरागदेव द्रव्य कहते हैं अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है अथवा गुण-पर्याय का आधार है, वह द्रव्य का लक्षण है।

प्रत्येक वस्तु में सत्ता लक्षण है। सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। कोई भी द्रव्य पर के लक्षण से ज्ञात नहीं होता। आत्मा और परमाणु इत्यादि छह द्रव्य हैं, जिनका लक्षण सत्ता है। वे कोई पर के कारण से नहीं हैं। पच्चीस मण का लकड़ा एक मनुष्य से ऊँचा नहीं होता, परन्तु पन्द्रह-बीस मनुष्यों से ऊँचा होता दिखता है, यह बात खोटी है। एक मनुष्य से ऊँचा नहीं होता तो बीस मनुष्यों से भी नहीं होता, क्योंकि बीस मनुष्य एक हुए नहीं। सबकी सत्ता भिन्न-भिन्न है, सत्ता इकट्ठी हो नहीं गयी। यदि इकट्ठी हो जाये तो बीस, बीस रूप से नहीं रहे। लकड़ा बीस मनुष्यों ने ऊँचा किया ही नहीं। अज्ञानी संयोग से देखता है, लकड़ा उसके कारण से ऊँचा होता है, तब संयोगदृष्टिवाला, बीस मनुष्यों ने इकट्ठे होकर लकड़ा ऊँचा किया—ऐसा अज्ञान से मानता है।

एक परमाणु आत्मा के विकार में निमित्त नहीं होता तो अनन्त परमाणु इकट्ठे होकर आत्मा को विकार करावे, ऐसा नहीं होता। अनन्त परमाणु इकट्ठे हुए ही नहीं। एक परमाणु कारण नहीं होता तो अनन्त परमाणु भी कारण नहीं होते। जीव स्वयं विकार करे तो कर्म में उपचार किया जाता है। परन्तु अनादि से अज्ञानी को भ्रम हुआ है कि कर्म के कारण से आत्मा में विकार होता है। परन्तु वह मूढ़ता है।

सत्ता है, वह उसके द्रव्य को बतलाती है, दूसरे के द्रव्य को बतलाती नहीं। अपना ज्ञान, राग और निमित्त से पृथक् है, ऐसा सत्ता बतलाती है। सत्ता शुद्ध द्रव्य को बतलाती है। द्रव्यदृष्टि होने पर संयोगीदृष्टि नहीं रहती। स्वभावदृष्टि होने पर अनन्तानुबन्धी का राग भी नहीं रहता। लकड़ी अँगुली से ऊँची हुई नहीं क्योंकि लकड़ी वह वास्तव में द्रव्य नहीं, वह उपचार से द्रव्य है। ज्ञान को द्रव्यदृष्टि होने से पर के कारण से अपनी पर्याय होती है, ऐसा वह मानता नहीं। उसे अपने अस्तित्व में पर का अस्तित्व भासित नहीं होता। इस बात में अज्ञानी को धर्म दिखाई नहीं देता। वह कहता है कि दया, दान,

भक्ति, पूजा, व्रतादि की तो कुछ बात आयी नहीं। यह वह किस प्रकार का धर्म है ? तो उसे कहते हैं कि अपनी अपने में अस्ति और पर की अपने में नास्ति है। सत्तालक्षण में सब आ जाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव उसके द्रव्य को बतलाते हैं, दूसरे द्रव्य को बतलाते नहीं। इसी प्रकार दूसरे द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव इस द्रव्य को बतलाते नहीं। अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल परमाणु और दूसरे द्रव्य हैं, उनका सत् लक्षण है। उस द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है। शब्द के कारण से ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। पहले की ज्ञानपर्याय का व्यय, नयी पर्याय का उत्पाद और ज्ञान का सदृशपना, वह जीवद्रव्य को बतलाता है, शब्द को बतलाता नहीं। शब्द के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पुद्गल को बतलाते हैं, ज्ञान को बतलाते नहीं। इस पंचास्तिकाय में पाँच अस्तिकाय का वर्णन है। कालद्रव्य काय नहीं, इसलिए उसका गौणरूप से वर्णन किया है और काय की व्याख्या मुख्य है। सत्, वह द्रव्य है; उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य है और गुण-पर्याय का आधार, वह द्रव्य है—ऐसे तीन प्रकार के लक्षणवाला द्रव्य है।

भावार्थ : द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से है (१) द्रव्य का लक्षण सत्ता है, (२) द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है (३) द्रव्य का लक्षण गुण-पर्यायाश्रित है। इन तीनों लक्षणों में पहला-पहला लक्षण सामान्य है और दूसरा-दूसरा लक्षण विशेष है, इसलिए सत्तालक्षण, वह सामान्य है और उत्पाद-व्यय-ध्रुवलक्षण तथा गुण-पर्यायाश्रितलक्षण विशेष है, वह बताते हैं।

द्रव्य का लक्षण सत्ता है। कोई हुकम करे, उस सत्ता की यहाँ बात नहीं परन्तु सत्ता अर्थात् अस्तित्व की बात है। अस्तित्व नाम का गुण है, वह अस्तिवाले पदार्थ को बतलाता है और दूसरा लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक समय में है, यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरा कोई बतला नहीं सकता, ऐसा समन्तभद्र आचार्य ने कहा है। सर्वज्ञ ने बतलाया है, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रुव है, ऐसा नहीं। दूसरे द्रव्य निमित्त हैं, इसलिए उत्पाद हुआ है, ऐसा नहीं है। छोटे में छोटे काल में उत्पाद-व्यय न हो तो असंख्य समय में भी यह उत्पाद-व्यय दिखता है, वह न हो। यदि असंख्य समय में उत्पाद-व्यय है तो छोटे में छोटे काल में भी उत्पाद-व्यय होना चाहिए।

पलटनपना होना, ऐसा स्वभाव वस्तु का न हो तो पलटनपने का अभाव हो; ऐसा होने पर जगत में कोई कार्य बने नहीं। प्रत्येक द्रव्य में पलटना है और वह एक समय में है, ऐसा सिद्ध होता है। वह उत्पाद-व्यय अपने से है, पर से नहीं, ऐसा माने तो पर से भिन्नता हुए बिना रहे नहीं और पर से भिन्नता हुई तो सर्वज्ञता हुए बिना रहे नहीं। अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव अद्भुतता से वर्णन करके कहते हैं कि भाई! असंख्य समय का उपयोग है, इसलिए परिणमन असंख्य समय का है, ऐसा नहीं परन्तु एक समय का परिणमन है, वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है, ऐसा जान।

समयसार में दर्शनप्रधान से बात है, प्रवचनसार में चारित्रप्रधान से और यहाँ पंचास्तिकाय में ज्ञानप्रधान से बात की है। आत्मा राग का ज्ञाता रहता है, ऐसी यहाँ दूसरी शैली से बात की है। इन तीनों शास्त्रों में एक-एक श्लोक देखो तो उसमें केवलज्ञान प्रवाहित कर दिया है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव का आधार द्रव्य है। किसी पर के आधार से हे, ऐसा नहीं। इस कारण कुम्हार था, इसलिए घड़ा हुआ, यह प्रश्न ही नहीं रहता। कुम्हार भी है और घड़ा भी है। 'है'पने में स्वतन्त्रता है।

यह तीन लक्षण कहे, उनमें सत्ता लक्षण है, वह सामान्य लक्षण है। द्रव्य अनेकान्तस्वरूप है। द्रव्य का सर्व प्रकार से सत्ता ही लक्षण है, ऐसा माना जाये तो लक्ष्य-लक्षण में भेद रहता नहीं। सत्ता अकेला लक्षण द्रव्य का कहा जाये तो सत्ता और द्रव्य, ऐसा भेद पड़ता नहीं। द्रव्य अनेकान्तस्वरूप होने से उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी लक्षण है, सत्ता द्रव्य का लक्षण है, ऐसा एक ही रूप हो तो एकान्त होता है और एकान्त तो वस्तु का स्वरूप नहीं। द्रव्य में सत्ता का एक ही प्रकार का धर्म है। उसमें तो एकान्त होता है। परन्तु सत्ता के साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुव का लक्षण भी द्रव्य में है, सत्ता को सिद्ध करने जाने पर उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी सिद्ध होते हैं। क्योंकि पहले सत्ता को मानता नहीं था और फिर मानने लगा, इससे सत्ता सिद्ध करने जाने पर उसके साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना भी सिद्ध होता है।

जैसे द्रव्य का अनेकान्तपना है, वैसे सत्ता का भी अनेकान्तपना है, यह बात पहले आ गयी है। सत्ता में भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। सत्ता के ये तीन अंश हैं। इसलिए वे सत्ता के कारण से हैं, पर के कारण से नहीं। यह भेदज्ञान की व्याख्या है। पर

से भिन्न करने की बात है। स्वभाव ऐसा है, ऐसा निश्चित होने से पर से भेद हो जाता है। जैसे सत्ता द्रव्य का लक्षण है, उसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी द्रव्य का लक्षण है। एक वस्तु में अविरोधी क्रमवर्ती पर्याय है। उसमें पूर्वभावों का विनाश होता है और नये भावों का उत्पाद होता है। इस प्रकार से उत्पाद-व्यय होता है, तथापि द्रव्य अपने निजस्वरूप को छोड़ता नहीं, वह ध्रुवपना है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य का लक्षण है।

चैतन्य की अविरुद्ध पर्याय, वह चैतन्य ही होती है और पुद्गल से अविरुद्ध पर्याय, वह पुद्गल ही होती है। जीव की जड़ में और जड़ की जीव में पर्याय हो तो विरुद्ध कार्य कहलाता है, परन्तु ऐसा होता नहीं। पंचमहाभूत जो जड़ हैं, उनमें से चैतन्य उत्पन्न हो, ऐसा नहीं हो सकता, अपने योग्य अपनी पर्याय है। पहले ज्ञान की पर्याय कम थी और फिर बढ़ी कैसे? तो वह अविरुद्ध पर्याय हुई, ऐसा आत्मा का धर्म है। उसके कारण से आत्मा में से वह पर्याय आयी है, निमित्त में से वह आयी नहीं। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य का लक्षण है, वह लक्षण लक्ष्य को बतलाता है परन्तु पर को बतलाता नहीं।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १०, मंगलवार

द्रव्य के तीन लक्षण हैं : सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रुव और गुण-पर्यायाश्रितपना। यह सामान्य कथन की अपेक्षा से द्रव्य से भिन्न नहीं—अभेद है। प्रत्येक द्रव्य की परिणति का आधार द्रव्य स्वयं है, पर के कारण से वह परिणति नहीं। आत्मा की परिणति आत्मा से भी हो और निमित्त से भी हो, यह तो एकान्त है। आत्मा के गुण-पर्याय का आधार आत्मा स्वयं है, परन्तु पर नहीं, यह अनेकान्त है। और परमाणु की पर्याय का आधार परमाणु स्वयं है। आत्मा, पुद्गल आदि सर्व द्रव्यों की सत्ता इत्यादि लक्षण सामान्य अपेक्षा से अभेद है और विशेष अपेक्षा से इन तीनों लक्षणों को भेद से समझाया है, परन्तु वास्तव में भेद नहीं है।

लक्षण-लक्षण के भेद बताये हैं। यह सत् द्रव्य का लक्षण है, ऐसा विशेषरूप से भेद दिखलाया है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव को विशेषरूप से बतलाया है और गुण-पर्याय का

आधार द्रव्य है, इस लक्षण से भी द्रव्य को बतलाया है। एक समय में ये तीनों लक्षण द्रव्य में है। पहले समय में सत् है, दूसरे समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव है और तीसरे समय में गुण-पर्याय का आधार है—ऐसा नहीं। शुद्ध जीवद्रव्य को बतलाने के लिये यह लक्षण कहे हैं। यह सब द्रव्य के स्वाभाविक लक्षण हैं। सामान्यरूप से द्रव्य अभेद होने पर भी सत्तादि लक्षणवाला द्रव्य है, ऐसा विशेषरूप से बताया है।

जैनशास्त्र वाँचकर कोई ऐसा कहे कि शास्त्रों का सार ऐसा है—एक द्रव्य के ऊपर दूसरे द्रव्य का प्रभाव पड़ता है, ऐसा छायावाद शास्त्र में जगह-जगह है—तो इस बात का यहाँ निषेध करते हैं क्योंकि ऐसा कहनेवाला शास्त्र के अर्थ को समझता नहीं। ये तीनों भाव द्रव्य के अपने स्वाभाविक भाव हैं। कोई मारने आवे, तब अपने पास बन्दूक इत्यादि साधन हो तो भय नहीं लगता, यह बात भी खोटी है। क्योंकि साधन है इसलिए भय कम लगता है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की पृथक्-पृथक् परिणति है, इसलिए साधन का असर या प्रभाव पड़ता नहीं। उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। उसे न देखकर अज्ञानी संयोग को देखता है, इसलिए उसकी संयोगीदृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य का विशेष लक्षण है, परन्तु वह लक्षण अकेला ही, ऐसा भी नहीं। गुण-पर्याय भी द्रव्य का लक्षण है। यह तीसरा लक्षण है। त्रिकाल शक्ति वह गुण है और समय-समय में परिणमन होता है, वह पर्याय है। वह प्रत्येक द्रव्य का लक्षण है। द्रव्य अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्त तो तब होता है कि द्रव्य में अनन्त गुण-पर्याय हों।

देखो, यहाँ कोई शंका करे कि अस्ति-नास्तिप धर्म की अपेक्षा से अनेकान्त है ? अथवा तो परस्पर विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है ?

तो उसका समाधान ऐसा है कि—द्रव्य एक है और गुण-पर्याय अनेक हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध शक्ति का प्रकाशन हुआ, इसलिए इसमें अनेकान्तपना आ जाता है।

● द्रव्य में अनन्त गुण-पर्याय हो तो ही अनेकान्तपना होता है।

वस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन, वह

अनेकान्त है। द्रव्य को वस्तु कहते हैं, गुण को भी वस्तु कहा जाता है और पर्याय को भी वस्तु कहा जाता है। चिद्विलास में द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों वस्तु हैं, ऐसा कहा गया है। एक द्रव्य अपनेरूप से है और पररूप से नहीं, एक गुण अपनेरूप से है और दूसरे गुणरूप से नहीं और एक पर्याय अपनेरूप से है और दूसरी पर्यायरूप से नहीं; और एक पर्याय में भी अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, उनमें भी अनेकान्तपना है। एक-एक पर्याय में भी अनन्त सप्तभंगी उतरती है। अभी स्याद्वाद के बदले फुदड़ीवाद चला है। वे कहते हैं कि 'अपनी पर्याय अपने से होती है और पर से भी होती है' परन्तु यह अनेकान्त नहीं। अपने से होती है और पर से नहीं होती, यह अनेकान्त है। पर से होती है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है परन्तु पर से होती नहीं, ऐसा मानना, वह अनेकान्त है।

प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता है, इस बात को स्वीकार नहीं करे और कर्म से विकार होता है, निमित्त से उपादान में कार्य होता है—ऐसे दो द्रव्य का खिचड़ा करता है, वह मूढ़ है। कर्म के कारण से आत्मा परिणमता नहीं और एक गुण दूसरे गुणरूप होता नहीं, इसलिए दूसरे गुण के कारण से परिणमता नहीं। द्रव्य सामान्य है और गुण-पर्याय, वह विशेष है। द्रव्य का विशेषपना पर से है, ऐसा नहीं। निमित्त के कारण से जीव का विशेषपना नहीं। परमाणु है, उसकी पर्याय बदलती है, वह परमाणु का विशेषपना बतलाती है। सोना के कड़ा-कुण्डलादि पर्यायें और उसकी चिकनाहट, पीलापन आदि गुण, वह सोना का विशेषपना बतलाते हैं। सोनी था, इसलिए वह विशेषपना है, ऐसा नहीं। कोई भी चीज़ पलटती है, उस समय वह सामान्यरूप से रहकर विशेषरूप होती है, ऐसा बतलाती है। मोरपिच्छी की अवस्था ऊँची-नीची होती है, वह विशेषता पिच्छी की सामान्यता रखकर होती है और वह विशेषपना सामान्य को बतलाता है, परन्तु हाथ था, उसे बतलाता नहीं। इसलिए हाथ के कारण से पिच्छी ऊँची हुई नहीं, परन्तु सामान्य था, इस कारण से विशेषपना है।

द्रव्य के साथ रहनेवाली त्रिकाली अविनाशी शक्ति है, वह तो गुण है और क्रम-क्रम से बदलकर जो विशेषरूप होता है, वह पर्याय है। उससे द्रव्य के विशेषपने की सिद्धि होती है, पर से वह पर्याय होती नहीं। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अनेक चीज़ों में एकपने का ज्ञान करानेवाले सम्बन्धविशेष को बन्ध कहते हैं। तो वहाँ निमित्त का और राग का ज्ञान कराने की बात है। राग की

पर्याय, वह आत्मद्रव्य की विशेषता है, ऐसा बतलाते हैं। वह जीवद्रव्य की अनेकान्त को बतलाती है। ज्ञान-दर्शनादि गुणों के भेद भी जीवद्रव्य के विशेषपने को साबित करते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता की एक चाबी लगावे तो पूरे चौदह ब्रह्माण्ड के ताले खुल जायें, ऐसा है। ऐसी यह 'मास्टर की' है।

द्रव्य में गुण और पर्याय कथंचित् प्रकार से अभेदरूप भी हैं और कथंचित् प्रकार से भेदरूप भी हैं। संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन से भेदरूप हैं परन्तु प्रदेशभेद से भेद नहीं, एकरूप हैं। द्रव्य का नाम आत्मा है और गुण का नाम ज्ञानादि है। द्रव्य एक है और गुण-पर्याय अनेक हैं, ऐसे दोनों के लक्षण तथा प्रयोजन भी भिन्न हैं, इसलिए इस अपेक्षा से द्रव्य और गुण-पर्याय में भेद है, परन्तु वस्तु तो वस्तुरूप से है, उसमें भेद नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय में सर्वथा भेद नहीं और सर्वथा अभेद भी नहीं। सर्वथा भेद हो तो गुण और पर्याय दूसरे के हो जायें और सर्वथा अभेद हो तो गुण ही द्रव्य हो जाये अथवा पर्याय ही द्रव्य हो जाये, परन्तु ऐसा नहीं है।

कोई कहे कि वस्तु तो त्रिकाली है और वह तो स्वतन्त्र है, वस्तु पराधीन नहीं परन्तु उसकी पर्याय पराधीन है और वह पर के कारण से होती है। तो इसका यहाँ निषेध करते हैं, क्योंकि शास्त्र में कहा है, उस बात को वह समझा नहीं। एक सत् लक्षण में उत्पाद-व्यय-ध्रुव और गुण-पर्याय दोनों लक्षण गर्भित हैं। एक में तीनों समा जाते हैं। क्योंकि जो 'सत्' है, वह नित्य और अनित्यस्वरूप है। नित्यस्वभाव में ध्रुवता आती है और अनित्य स्वभाव में उत्पाद-व्यय आ जाते हैं और इस प्रकार उत्पाद-व्यय और ध्रुव को सत् का लक्षण कहा जाये तो गुण-पर्याय लक्षण भी उसमें आ जाते हैं। गुण कहने से ध्रुवता आती है और पर्याय कहने से उत्पाद-व्यय आ जाते हैं। और इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण कहने से सत् लक्षण आता है और गुण-पर्याय लक्षण भी आता है; और गुण-पर्याय लक्षण कहने से सत् लक्षण आता है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण भी आता है। क्योंकि द्रव्य नित्यानित्य है। लक्षण भी नित्य-अनित्य स्वरूप का सूचन करता है। इस कारण से इन तीनों लक्षणों में सामान्य-विशेषता से भेद है, परन्तु वास्तव में वस्तु में भेद नहीं है।

अब द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों के भेद से द्रव्य और लक्षण में भेद बतलाते हैं। देखने की दृष्टि से बात करते हैं। वाच्य को देखनेवाला ज्ञान है, उसे समझाते हैं। ●●

गाथा - ११

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सव्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेन्ति तस्सेव पज्जाया॥११॥

उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च नास्त्यस्ति सद्भावः।
विगमोत्पादध्रुवत्वं कुर्वन्ति तस्यैव पर्यायाः॥११॥

अत्रोभयनयाभ्यां द्रव्यलक्षणं प्रविभक्तम्।

द्रव्यस्य हि सहक्रमप्रवृत्तगुणपर्यायसद्भावरूपस्य त्रिकालावस्थायिनोऽनादिनिधनस्य न समुच्छेदसमुदयौ युक्तौ। अथ तस्यैव पर्यायाणां सहप्रवृत्तिभाजां केषांचित् ध्रौव्यसंभवेऽप्यपरेषां क्रमप्रवृत्तिभाजां विनाशसंभवसंभावनमुपपन्नम्। ततो द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यं, तदेव पर्यायार्थार्पणायां सोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम्। सर्वमिदमनवद्यञ्च द्रव्यपर्यायाणामभेदात्॥११॥

उत्पाद-व्यय से रहित केवल सत् स्वभावी द्रव्य है।

द्रव्य की पर्याय ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवता धरे॥११॥

अन्वयार्थ :- [द्रव्यस्य च] द्रव्य का [उत्पत्तिः] उत्पाद [वा] या [विनाशः] विनाश [न अस्ति] नहीं है, [सद्भावः अस्ति] सद्भाव है। [तस्य एव पर्यायाः] उसी की पर्यायें [विगमोत्पादध्रुवत्वं] विनाश, उत्पाद और ध्रुवता [कुर्वन्ति] करती हैं।

टीका :- यहाँ दोनों नयों द्वारा द्रव्य का लक्षण विभक्त किया है (अर्थात् दो नयों की अपेक्षा से द्रव्य के लक्षण के दो विभाग किये गये हैं।)

सहवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों के सद्भावरूप, त्रिकाल-अवस्थायी (त्रिकाल स्थित रहनेवाले), अनादि-अनन्त द्रव्य के विनाश और उत्पाद उचित नहीं है। परन्तु उसी की पर्यायों के-सहवर्ती कतिपय (पर्यायों) का ध्रौव्य होने पर भी अन्य क्रमवर्ती (पर्यायों) के-विनाश और उत्पाद होना घटित होते हैं। इसलिए द्रव्य द्रव्यार्थिक आदेश से (-कथन से) उत्पाद रहित, विनाश रहित, सत्स्वभाववाला ही जानना चाहिए और वही (द्रव्य) पर्यायार्थिक आदेश से उत्पादवाला और विनाशवाला जानना चाहिए।

- यह सब निरवद्य (-निर्दोष, निर्बाध, अविरोद्ध) है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायों का अभेद (-अभिन्नपना) है॥११॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १०, मंगलवार

अर्थ : अनादिनिधन, त्रिकाल अविनाशी गुण-पर्यायस्वरूप द्रव्य का उपजना या नाश होना होता नहीं और सत्तामात्र स्वरूप द्रव्य का है, वह नित्य-अनित्य परिमाण उत्पाद-व्यय-ध्रुव को करता है, कोई द्रव्य—आत्मा या परमाणु का नाश नहीं होता। द्रव्य आदि और अन्तरहित है और वह अविनाशी है। उस द्रव्य का अस्तित्वमात्र स्वरूप है। नित्य, वह ध्रुव और अनित्य, वह उत्पाद-व्यय है। वह उत्पाद-व्यय पर के कारण से नहीं है।

भावार्थ : अनादि-अनन्त, अविनाशी, टंकोत्कीर्ण गुण-पर्यायस्वरूप जो द्रव्य है, उस द्रव्य का उपजना या विनशना होता नहीं, परन्तु वह द्रव्य किसी परिणाम से अविनाशी है और किसी परिणाम से विनाशीक है। इस कारण से यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्यार्थिकनय से तो द्रव्य ध्रुवस्वरूप है और पर्यायार्थिकनय से उपजता-विनशता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक—दो नयों के भेद से द्रव्य का स्वरूप बाधारहित सिद्ध होता है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप द्रव्य को मानना, वह योग्य है।

आत्मा और पुद्गलादि छहों द्रव्य भगवान ने देखे हैं। उन द्रव्यों में गुण और पर्यायें हैं। त्रिकाल सहवर्ती परिणाम को यहाँ गुण कहा गया है और समय-समय में उत्पाद-व्यय होता है, वह पर्याय है। इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्येक द्रव्य कायम रहने की अपेक्षा से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य और नाशवान है। अब द्रव्यदृष्टि से आत्मा ध्रुव है, इसलिए उसकी पर्याय कोई अलग रह जाती है, ऐसा नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से वही द्रव्य ध्रुवरूप से रहकर बदलता है। चक्की का निचला पड स्थिर रहता है और ऊपर का पड घूमता है, इस प्रकार गुण त्रिकाल रहते हैं और पर्यायें बदलती हैं, ऐसा नहीं है। नित्यता का सम्बन्ध रखे बिना अनित्यता भिन्न ही रहती है, ऐसा नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी, पर्यायार्थिकनय से वही द्रव्य अनित्यरूप होता है। पुरानी पर्याय का व्यय और नयी पर्याय का उत्पाद—इस अपेक्षा से विसदृशपना

है और ध्रुवपने की अपेक्षा से सदृशपना है। कुण्डल-कड़ा आदि अवस्था सोना से अत्यन्त भिन्न होती है, ऐसा नहीं है। पीलापन, चिकनापन आदि ध्रुवरूप से रहकर सोना कुण्डल-कड़ा आदि पर्यायरूप होता है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य सदृशरूप से रहकर मिथ्यात्व—सम्यक्त्वरूप से होता है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि एक समय में पूरा द्रव्य आ जाता है। ऐसा समझे तो पर से लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख मुड़े तो स्वभावदृष्टि होती है।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ११, बुधवार

जिसे धर्म करना हो, उसे प्रथम आत्मा को समझना चाहिए, इसलिए यहाँ आत्मा के तीन लक्षणों का वर्णन किया है। वस्तु सत् है। अर्थात् सत् गुण है और वस्तु गुणी है। दूसरा उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण कहा था, सत्ता सामान्य लक्षण है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव विशेष लक्षण है। तीसरा गुण-पर्याय लक्षण द्रव्य का है। नित्य दृष्टि की अपेक्षा से द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिकनय से पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। इन दो नयों के पहलुओं से वस्तु को निर्बाध साधा जा सकता है।

शरीर निरोगी हो और उसमें से रोग कैसे होता है? तो कहते हैं कि पुद्गल कायम रहकर उनकी अवस्था बदलती है, यह उसका स्वभाव है, असाताकर्म का निमित्त है, इसलिए रोग होता है, यह बात नहीं ली है। आत्मा और पुद्गलादि सभी द्रव्य दो दृष्टि से निर्णीत होते हैं। एक कायम रहनेवाले स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि और दूसरी पलटने के स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि है। ऐसे दो दृष्टि से वस्तु को न माने तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप सिद्ध नहीं होता।

ध्यान न रखें तो शरीर की अवस्था बराबर नहीं रहती और ध्यान रखें तो पैसे का ब्याज बराबर उपजा सकते हैं—ऐसा माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वस्तु के स्वभाव को वह समझता नहीं। शरीर का समय-समय में पलटा होना, यह एक पहलू और शरीर का (पुद्गल का) कायम रहना, यह दूसरा पहलू, ऐसे दो पहलू हैं। वह शरीर पुद्गल के परमाणु से है। आत्मा के कारण से वह नहीं। कायम रहनेवाला पहलू

स्वयं से हो और बदलने का पहलू दूसरे से हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि एक मनुष्य पथ्य आहार लेता है और रोग होता है तथा दूसरा मनुष्य अपथ्य आहार लेता है और निरोगी होता है, इसलिए निश्चित हुआ कि शरीर की अवस्था स्वतन्त्र होती है। जिसे सच्चा ज्ञान करना हो, उसे वस्तु को अनेकान्त मानना, वह यथार्थ है।

शरीर जगत की चीज़ है, उसका सामान्य अंश कायम रहता है और विशेष अंश पलटता रहता है, वह त्रिकाली और वर्तमान दोनों अंश होकर वस्तु है, ऐसा न माने तो वस्तु सिद्ध नहीं होती और ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। शब्दसमय से आत्मा का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। भाषा जड़ है, वह परमाणु है, उनमें त्रिकाल सामान्य अंश और वर्तमान पर्याय अंश है, आत्मा में भी सामान्य अंश और विशेष अंश है। अब आत्मा का विशेष अंश परमाणु के विशेष अंश से हुआ, ऐसा माना जाये तो वस्तु का सामान्य-विशेष स्वरूप है, यह बात नहीं रहती।

मिट्टी में से घड़ा होता है। उसे दो दृष्टि से देखना चाहिए। घड़ा हुआ, उसे पर्यायदृष्टि से देख और मिट्टी कायम रही है, उसे द्रव्यदृष्टि से देख। ऐसा देखने से द्रव्य और पर्याय मिट्टी से सिद्ध होती है। कुम्हार से घड़ा हुआ, ऐसा सिद्ध नहीं होता। आत्मा त्रिकाल रहनेवाला—कायम रहनेवाला पदार्थ है, वह द्रव्यदृष्टि से है और समय-समय में पलटता है, वह पर्यायदृष्टि से है। ऐसे अनेकान्त स्वरूप से वस्तु को जानकर त्रिकाल ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य करे तो पर्याय की गौणता हो जाये और तो अन्तरदृष्टि हो। वस्तु का ऐसा स्वरूप निर्दोष है, दूसरे किसी प्रकार से माने तो सदोष है। सामान्य अपने कारण से और विशेष पर के कारण से माना जाये तो निर्दोषता नहीं रहती।

द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से वस्तु में भेद होने पर भी वस्तु अभेद है, यह बतलाता है कि क्षण-क्षण में पर्याय बदलती है और वस्तु कायम भी रहती है, ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र स्वरूप है। ऐसे दो भेदवाला वस्तु का स्वरूप होने पर भी वस्तु अभेद है, यह अब बारहवीं गाथा में कहते हैं।

गाथा - १२

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।

दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति॥१२॥

पर्ययवियुतं द्रव्यं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति।

द्वयोरनन्यभूतं भावं श्रमणाः प्ररूपयन्ति॥१२॥

अत्र द्रव्यपर्यायाणामभेदो निर्दिष्टः।

दुग्धदधिनवनीतघृतादिवियुतगोरसवत्पर्यायवियुतं द्रव्यं नास्ति। गोरसवियुक्तदुग्धदधि-
नवनीतघृतादिवद्द्रव्यवियुक्ताः पर्याया न सन्ति। ततो द्रव्यस्य पर्यायाणां चादेशवशात्कथंचिद्-
भेदेऽप्येकास्तित्वनियतत्वादन्योन्याजहदृत्तीनां वस्तुत्वेनाभेद इति॥१२॥

पर्याय विरहित द्रव्य नहीं नहि द्रव्य बिन पर्याय है।

श्रमणजन यह कहें कि दोनों अनन्य-अभिन्न हैं॥१२॥

अन्वयार्थ :- [पर्ययवियुतं] पर्यायों से रहित [द्रव्यं] द्रव्य [च] और
[द्रव्यवियुक्ताः] द्रव्य रहित [पर्यायाः] पर्यायें [न सन्ति] नहीं होती; [द्वयोः] दोनों
का [अनन्यभूतं भावं] अनन्यभाव (-अनन्यपना) [श्रमणाः] श्रमण [प्ररूपयन्ति]
प्ररूपित करते हैं।

टीका :- यहाँ द्रव्य और पर्यायों का अभेद दर्शाया है।

जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि से रहित गोरस नहीं होता, उसी प्रकार
पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता; जिस प्रकार गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि
नहीं होते, उसी प्रकार द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होती। इसलिए यद्यपि द्रव्य और पर्यायों
का आदेशवशात् (-कथन के वश) कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अस्तित्व में नियत
(-दृढरूप से स्थित) होने के कारण *अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते, इसलिए वस्तुरूप से
उनका अभेद है॥१२॥

* अन्योन्यवृत्ति=एक-दूसरे के आश्रय से निर्वाह करना; एक-दूसरे के आधार से स्थित रहना;
एक-दूसरे के बना रहना।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ११, बुधवार

शब्दार्थ : पर्यायरहित द्रव्य नहीं और द्रव्यरहित पर्याय नहीं—ऐसा महामुनि द्रव्य और पर्याय का अभेदस्वरूप कहते हैं।

● पर्यायरहित द्रव्य होता नहीं

कोई भी आत्मा या परमाणु सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में पलटे बिना रहता नहीं। एक-एक समय में पर्याय बदला करती है। अवस्था बिना पदार्थ होता नहीं। कुम्हार ने घड़ा किया, ऐसा माना जाये तो अवस्था बिना क्या द्रव्य होता है? क्योंकि घड़ा जो कि मिट्टी की अवस्था है, वह कुम्हार ने की कहलाये, परन्तु ऐसा नहीं है। और राग चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण से माने तो पर्यायरहित द्रव्य हो जाता है, अंश बिना का अंशी हो जाता है। स्त्री-पुत्रादि के कारण से राग होता है, तो राग की अवस्था आत्मा की है, उसे पर के कारण से मानने पर अवस्थारहित आत्मा हो जाता है। कोई ऐसा कहे कि गोरस है, परन्तु उसकी दूध, दही ऐसी कोई अवस्था ही नहीं। परन्तु अवस्था बिना का पदार्थ होता नहीं। सोना है, परन्तु उसकी हालत नहीं तो यह बात खोटी है। पर्यायरहित कोई चीज़ होती नहीं। ज्ञान होता है, वह वाणी सुनने से होता है तो अवस्था बिना का द्रव्य हो जाता है और पर्याय बिना द्रव्य होता नहीं, इसलिए पर्याय नहीं मानने से द्रव्य का नाश होता है।

कोई भी पदार्थ वर्तमान अवस्था बिना होता नहीं, इंजैक्शन या दवा के कारण से शरीर की निरोग अवस्था होती है, ऐसा नहीं है। क्योंकि अवस्था बिना द्रव्य होता नहीं। दूसरे द्रव्य ने इस द्रव्य की अवस्था की तो अवस्था बिना का द्रव्य होता है, इसलिए दवा के कारण से रोग मिटता नहीं। कोई कहे कि मनुष्य है परन्तु उसकी बाल, युवा या वृद्ध कोई अवस्था नहीं तो अवस्था बिना की वस्तु ही नहीं रहती। इसलिए आत्मा और पुद्गलादि छहों द्रव्य अवस्था बिना होते नहीं। द्रव्य की अवस्था होती है, परन्तु वह निमित्त के कारण से होती है तो द्रव्य की अवस्था स्वतन्त्र नहीं रहती। अवस्था बिना का द्रव्य मानने से द्रव्य का नाश होता है अर्थात् द्रव्य प्रतीति में नहीं आता।

● द्रव्यरहित पर्याय नहीं होती ।

बालक, युवा, वृद्ध की अवस्था है, परन्तु मनुष्य नहीं, तो ऐसा नहीं होता। दूध, दही की अवस्था है परन्तु गोरस नहीं तो गोरस बिना दूधादि की अवस्था नहीं होती। वस्तु बिना की पर्याय अध्वर से ले जाये, ऐसा नहीं होता। सर्वज्ञ परमात्मा जिन्हें एक समय में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान वर्तता है, ऐसे तीर्थंकर परमात्मा महामुनि कहते हैं कि : अवस्था बिना की वस्तु नहीं होती और वस्तु बिना की अवस्था नहीं होती। तरंग बिना पानी नहीं होता और पानी बिना तरंग नहीं होती, ऐसा वे कहते हैं। शान्त हो, प्रभु! तेरी क्षण-क्षण की पर्याय तुझसे होती है और पर्याय बिना तेरा द्रव्य होता नहीं, ऐसा तू जान !

भावार्थ : यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि जैसे गोरस अपनी दही-दूधादि पर्यायों से भिन्न नहीं है; उसी प्रकार कोई भी द्रव्य अपनी पर्यायों से भिन्न नहीं और पर्यायें द्रव्य से भिन्न नहीं। गोरस है, परन्तु दही, दूध, घी आदि उसकी अवस्था नहीं तो ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा अपनी पर्याय से भिन्न नहीं। पर्याय, वह द्रव्य का अंश है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव वस्तु का स्वभाव है, वह पर के कारण से नहीं होता। दूध में से दही होता है, वह छाछ आयी, इसलिए होता है—ऐसा माने तो पर्याय बिना की वस्तु मानी, परन्तु पर्याय बिना वस्तु होती नहीं। आत्मा नहीं और ज्ञान की पर्याय होती है, तो आत्मा बिना ज्ञान की पर्याय होती नहीं। इसलिए किसी के कारण किसी की पर्याय होती है, यह बात नहीं रहती। गुरु के कारण से ज्ञान नहीं होता। आत्मा है तो ज्ञान होता है, उस समय गुरु निमित्तरूप से होते हैं, परन्तु निमित्त के कारण से (ज्ञान होना) माना जाये तो पर्याय बिना का द्रव्य हो जाता है।

आत्मा में राग-द्वेषादि विकार होता है, वह अपने कारण से होता है, परन्तु निमित्त और कर्म के कारण से नहीं होता। राग है, वह तो चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है, उस पर्याय को नहीं मानने से गुण को नहीं माना, इसलिए अनन्त गुण का पिण्ड ऐसे आत्मा को भी नहीं माना, इसलिए पर्याय से द्रव्य भिन्न नहीं और द्रव्य से पर्याय भिन्न नहीं है। इन दो अंश बिना वस्तु नहीं। दो अंश हैं, इसलिए वस्तु दो है—ऐसा नहीं। पर्याय बिना द्रव्य नहीं, ऐसा कहा है परन्तु निमित्त बिना द्रव्य नहीं, ऐसा नहीं कहा। समय-समय में द्रव्य में अवस्था होती है, वह द्रव्य बिना नहीं होती, ऐसा भगवान

प्ररूपित करते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है। पदार्थ का स्वरूप भी ऐसा है और ज्ञान भी ऐसा ही हो तो यथार्थ है।

देखो, पंचास्तिकाय का अधिकार है तो इसमें पाँच अस्तिकाय हैं। यदि पदार्थ पर के कारण से हो तो पाँच का अस्तित्व नहीं रहता। अब यदि पदार्थ का अस्तित्व है तो उसके दो अंश हैं। एक त्रिकाल अंश और दूसरा वर्तमान अंश है, वह द्रव्य से स्वयं से है। ऐसे द्रव्य और पर्याय की एकता है। ऐसा होने पर भी किसी भी प्रकार के कथन की अपेक्षा समझने के लिये भेद किया जाता है, परन्तु वस्तु का स्वरूप विचारने पर भेद नहीं है। संज्ञा, संख्या, लक्षणादि भेद से भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है। कोई ऐसा कहे कि संसार में अवस्था बदलती है परन्तु सिद्ध में अवस्था बदलती नहीं, वहाँ पर्याय नहीं होती। ऐसा माने तो पर्याय बिना का द्रव्य हो जाता है। वहाँ भी पर्याय बिना का द्रव्य नहीं रहता। क्योंकि द्रव्य और पर्याय का परस्पर एक अस्तित्व है।

आत्मा और परमाणु आदि प्रत्येक द्रव्य की बात करते हैं कि एक आत्मा दूसरे आत्मा के कारण से नहीं, एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के कारण से नहीं, पुद्गल आत्मा के कारण से नहीं और आत्मा पुद्गल के कारण से नहीं, प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न है। एक-एक अस्तित्व में दो अंश हैं, एक द्रव्य और दूसरा पर्याय का अंश है, वे दोनों अंश अभिन्न हैं। होशियार मनुष्य हो तो व्यापार, धन्धा, मिल इत्यादि के काम बराबर व्यवस्थित चलते हैं, यह मान्यता भ्रमवाली है। व्यापार इत्यादि की अवस्था का अंश उसके द्रव्य से अभिन्न है। मनुष्य के द्रव्य से उसका भिन्न अस्तित्व है, इसलिए मनुष्य के कारण से वह अवस्था नहीं परन्तु उसके (स्वयं के) कारण से होती है।

द्रव्य न हो तो पर्याय का अभाव होगा और पर्याय न हो तो द्रव्य का अभाव होगा। जैसे कि दूध-दही आदि के अभाव में गोरस का अभाव और गोरस के अभाव में दूध-दही आदि का अभाव होता है। इस प्रकार से उन दोनों—द्रव्य-पर्यायों में एक का अभाव होने से दोनों का अभाव होता है। इस कारण से उन दोनों की एकता मानना योग्य है। आत्मा और पुद्गल में प्रत्येक को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है और परद्रव्य के साथ भेदता है। इसलिए ज्ञान-दर्शनादि की पर्याय आत्मा से होती है और शरीर की अवस्था परमाणु से होती है। परन्तु कोई ऐसा कहे कि आत्मा और परमाणु के संयोग से

शरीर की अवस्था हुई है। तो वह निमित्त का कथन है। परन्तु वास्तव में वह पुद्गल से अवस्था हुई है। ज्ञानी, आत्मा के कारण से शरीर की अवस्था होती है—ऐसा मानता नहीं और अज्ञानी को संयोगीदृष्टि हटती नहीं, इसलिए आत्मा के कारण से मानता है, परन्तु ऐसा मानने से शरीर का अभाव होता है और शरीर के कारण से आत्मा की अवस्था होती है, ऐसा माने तो आत्मा का अभाव होता है। इस कारण से द्रव्य-पर्याय की अभेदता मानना योग्य है। इस आधार से आत्मा को स्त्री, कुटुम्ब या कर्म के साथ एकता नहीं, परन्तु स्वयं राग करता है तो उसके साथ एकता है, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं—ऐसी स्वभावदृष्टि करे तो राग का अभाव होता है।

बहियों में हिसाब मिलावे तब बचे हुए बाकी रुपये ५५५५ हों तो तिजोरी में उतने ही रुपये हों और ज्ञान भी वैसा ही करे तो बहियों का हिसाब और ज्ञान यथार्थ कहलाता है। परन्तु थैली में रुपये प्रमाण बहियों में न हो और ज्ञान भी रुपये प्रमाण न करे तो बहियाँ और ज्ञान बराबर नहीं कहलाता और हिसाब नहीं मिलता और गड़बड़ उठती है। उसी प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड की थैली में छह द्रव्य हैं। वह प्रत्येक द्रव्य और उसकी पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा पदार्थ का स्वरूप है। भगवान की वाणी में भी ऐसा ही आया है, और ज्ञान भी ऐसा ही करना चाहिए। उसमें अन्तर पड़े तो गड़बड़ उठे बिना नहीं रहती, हिसाब नहीं मिलता। ज्ञान में जैसा है, वैसा भासित हो तो ज्ञान सच्चा कहलाये।

अज्ञानी मूढ़ जीव कि जिसे स्वतन्त्र पर्याय होती है, उसका भान नहीं। वह ऐसा कहता है कि सिद्ध को बेचारों को भी काल बिना परिणमन नहीं होता, ऐसी पराधीनता ठहराता है, परन्तु ऐसा नहीं है। आटे में से रोटी होती है, वह स्त्री के कारण से हुई नहीं, आटे के कारण से हुई है। ऐसी आटे की पर्याय की स्वतन्त्रता है। अग्नि बिना रोटी नहीं होती, यह प्रश्न ही यहाँ नहीं रहता। परन्तु आटे बिना रोटी होती नहीं, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। आत्मा त्रिकाल है और उसका वर्तमान होता है, वह उससे अभेद है—ऐसा समझे तो चौदह ब्रह्माण्ड के भेद को बराबर समझ जाता है। पैसे की व्यवस्था बराबर रखी, इसलिए पैसे रहे हैं—ऐसा नहीं है। वे तो जगत के स्वतन्त्र अस्तिरूप पदार्थ हैं, उनका पलटन हुए बिना रहता नहीं। इस प्रकार आत्मा के साथ पर्याय की अभेदता इस गाथा में बतायी है।

आगे की गाथा में द्रव्य और गुण की अभेदता कहेंगे।



गाथा - १३

द्रव्येण विना ण गुणा गुणेहिं द्रव्यं विना ण संभवदि।
 अव्यतिरिक्तो भावो द्रव्यगुणाणं हवदि तम्हा॥१३॥
 द्रव्येण विना न गुणा गुणैर्द्रव्यं विना न सम्भवति।
 अव्यतिरिक्तो भावो द्रव्यगुणानां भवति तस्मात्॥१३॥

अत्र द्रव्यगुणानामभेदो निर्दिष्टः।

पुद्गलपृथग्भूतस्पर्शरसगन्धवर्णवद्द्रव्येण विना न गुणाः सम्भवन्ति।
 स्पर्शरसगन्धवर्णपृथग्भूतपुद्गलवद्गुणैर्विना द्रव्यं न सम्भवति। ततो द्रव्यगुणानामप्यादेशवशात्
 कथंचिद्भेदेऽप्येकास्तित्वनियतत्वादन्योन्याजहद्वृत्तीनां वस्तुत्वेनाभेद इति॥१३॥

द्रव्य बिन गुण नहीं एवं द्रव्य भी गुण बिन नहीं।
 वे सदा अव्यतिरिक्त हैं यह बात जिनवर ने कही॥१३॥

अन्वयार्थ :- [द्रव्येण विना] द्रव्य बिना [गुणः न] गुण नहीं होते, [गुणैः विना]
 गुणों बिना [द्रव्यं न सम्भवति] द्रव्य नहीं होता; [तस्मात्] इसलिए [द्रव्यगुणानाम्]
 द्रव्य और गुणों का [अव्यतिरिक्तः भावः] अव्यतिरिक्तभाव (-अभिन्नपना) [भवति] है।

टीका :- यहाँ द्रव्य और गुणों का अभेद दर्शाया है।

जिस प्रकार पुद्गल से पृथक् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण नहीं होते, उसी प्रकार द्रव्य
 के बिना गुण नहीं होते; जिस प्रकार स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण से पृथक् पुद्गल नहीं होता
 उसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिए द्रव्य और गुणों का आदेशवशात्
 कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अस्तित्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते
 इसलिए वस्तुरूप से उनका भी अभेद है (अर्थात् द्रव्य और पर्यायों की भाँति द्रव्य और
 गुणों का भी वस्तुरूप से अभेद है)॥१३॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १२, गुरुवार

पाँच द्रव्यों में प्रदेश होते हैं, इसलिए अस्तिकाय कहलाते हैं। कालद्रव्य को प्रदेश नहीं, इसलिए वे अस्तिकाय नहीं हैं। द्रव्य अस्तिरूप हैं। वे कैसे हैं ? यह बतलाते हैं। अवस्था बिना पदार्थ होता नहीं और पदार्थ बिना अवस्था होती नहीं। इस प्रकार पदार्थ और अवस्था का स्वतन्त्रपना बताते हैं। अब इस गाथा में गुण और द्रव्य का अभेदपना कहकर स्वतन्त्रपना बताते हैं। कोई कहे कि आत्मा में अवस्था बढ़ती है, वह बाहर से आती होगी ? तो कहते हैं कि आत्मा में गुण हैं, उसमें से वह अवस्था आती है।

अर्थ : सत्तामात्र वस्तु बिना सहभूत लक्षणरूप गुण होते नहीं और गुण बिना द्रव्य नहीं होता। इस कारण से द्रव्य और गुण भिन्न नहीं हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। अफीम बिना कड़वाहट नहीं होती और कड़वाहट बिना अफीम नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना आत्मा नहीं होता, ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप है। इसलिए वस्तु से वस्तु के गुण भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ : द्रव्य और गुणों की एकता है। पुद्गलद्रव्य से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण भिन्न नहीं हैं। दृष्टान्त देते हैं कि—जैसे आम है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुण हैं। यदि आम न हो तो हरा, पीला आदि रंग, खट्टा-मीठा आदि रस, सुगन्ध आदि गुण नहीं होते। आम के बिना उनका अभाव होता है, क्योंकि आश्रय बिना गुण कहाँ से होंगे ? और यदि स्पर्श, रस, गन्धादि गुण न हो तो आम का अभाव होता है क्योंकि गुण बिना आम का अस्तित्व क्या ? अपने गुणों से ही आम का अस्तित्व है। इस प्रकार गुण और द्रव्य की एकता है। पहले आम खट्टा था और बाद में मीठा हुआ, पहले हरा था और बाद में पीला हुआ तो वह कहाँ से आया ? तो कहते हैं कि रस, वर्णादि गुणों में से वह अवस्था हुई है, उन गुणों के बिना आम नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि 'द्रव्य से गुण भिन्न है, ऐसा कोई मानता नहीं' तो उससे कहते हैं कि बौद्धादि अन्यमतवाले कहते हैं कि पदार्थ आया, उसमें से ज्ञान आता है। क्योंकि जैसा ज्ञेय पदार्थ है, वैसा ज्ञान होता है। तो वह पदार्थ और गुण की एकता मानता नहीं।

और जैन नाम धराकर कोई ऐसा कहे कि ज्ञान की अवस्था पहले अल्प थी और शास्त्र वाँचन से या वाणी सुनने से वह अवस्था बढ़ी तो वह भी आत्मा को और ज्ञानगुण को अभिन्न नहीं मानता। उसे कहते हैं कि अरे भाई! तू भगवान है! तेरे गुण तुझसे भिन्न नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की पर्याय होती है, उसका कारण वे-वे गुण हैं, वे गुण आत्मा से भिन्न नहीं हैं। इसलिए तुझे वह पर्याय प्रगट करनी हो तो अन्तर में देखने से प्रगट होगी, बाहर से वह पर्याय आती नहीं।

परमाणु से उसके स्पर्शादि गुण भिन्न नहीं। वे गुण त्रिकाल हैं, इस अपेक्षा से सामान्य हैं। सामान्य अंश बिना द्रव्य नहीं होता। प्रत्येक आत्मा और परमाणु उनके गुणों से अभेद है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुण न हों तो आत्मा नहीं होता और आत्मा न हो तो ज्ञान-दर्शनादि गुण नहीं होते। ऐसी एक-एक गाथा में स्वतन्त्रता की बात स्पष्ट होने पर भी अज्ञानी सच्ची समझण बिना गड़बड़ करता है कि निमित्त हो तो होता है, निमित्त न हो तो नहीं होता, परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। आत्मा है, उसकी सत्ता, सत्तावान से भिन्न नहीं। यह 'है' ऐसा कहन और गुण बिना का द्रव्य कहना, वह मिथ्या है। यह गुण है, ऐसा कहना और द्रव्य बिना का यह गुण है—ऐसा होता नहीं।

कोई भी वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुव बिना नहीं होती। अर्थात् अपने गुण-पर्याय से द्रव्य अभिन्न है। परचीज से परचीज सर्वथा भिन्न है, परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं। संज्ञा, संख्यादि से भिन्न कहा जाता है। वर्ण-गन्ध-रसादि नहीं और आम है? ज्ञान-दर्शनादि नहीं और आत्मा है? ऐसा कभी नहीं होता। गुण बिना वस्तु नहीं होती। जिसे आत्मा में शान्ति करनी हो, उसे आत्मा के गुण आत्मा से अभेद मानने से शान्ति होती है। गुड़ से अफीम भिन्न है परन्तु कड़वाहट से अफीम भिन्न नहीं और मिठास से गुड़ भिन्न नहीं। कड़वाहट और अफीम एक है, मिठास और गुड़ एक है। अफीम और गुड़ एक नहीं।

भगवान की भक्ति करते हैं, तब ज्ञानी भी ऐसा कहते हैं कि 'तुम्हारे खजाने में कमी नहीं, थोड़े गुण हमको दो। शिवपद दो' परन्तु आत्मा के गुण भगवान के पास नहीं हैं। जो गुण प्रगट करना है, वे आत्मा में हैं, उसमें से प्रगट होते हैं—ऐसा ज्ञानी समझता है तो भी अभी पूर्ण दशा हुई नहीं, इसलिए विकल्प है, इस कारण पर के ऊपर लक्ष्य

जाता है, इसलिए निमित्त से कथन किया है। इस प्रकार द्रव्य और गुण की एकता है।

अभी एक मत ऐसा भी है कि परमाणु की हरी पर्याय है, उसकी पीली पर्याय होती ही नहीं, और दूसरा मत ऐसा है कि अमुक गुणवाली हरी पर्याय हो, उतनी ही रहे, अनन्त गुणी हरी होती ही नहीं। तो वे दोनों मत खोटे हैं। यहाँ तो कहते हैं कि हरी पर्याय हो, उसकी अनन्त गुणी पीली पर्याय होती है, वह पुद्गल में वर्ण नाम का गुण है, उसमें से होती है और वह गुण पुद्गलद्रव्य से अभेद है।

इस प्रकार द्रव्य और गुण की एकता जानना चाहिए। ऐसा होने पर भी कोई एक प्रकार से कथन की अपेक्षा से द्रव्य और गुण में भेद भी है, तथापि वस्तुस्वरूप तो अभेद है। संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनादि से गुण और द्रव्य में भेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं। ऐसा पंचास्तिकाय का स्वरूप है। तो अब तुझे धर्म करना हो तो स्वभावी वस्तु आत्मा है, उसका श्रद्धा-ज्ञान कर तो धर्म हो, ऐसा है। शब्दसमय कहता है कि तेरे बिना गुण नहीं और गुण बिना तू नहीं। और मेरे बिना गुण नहीं और गुण बिना मैं नहीं। शब्द बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना शब्द नहीं, ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

अब चौदहवीं गाथा में सप्तभंगी का स्वरूप कहते हैं। वस्तुदर्शन वह सार है। प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप विघ्न बिना और कुयुक्ति बिना सुयुक्ति से साबित करते हैं। ऐसी सप्तभंगी वाणी का स्वरूप कहते हैं। सप्तभंगी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय में उतरती है। यहाँ तो प्रमाण सप्तभंगी है। प्रवचनसार में नयसप्तभंगी की बात की है। ●●

मानो परमात्मा का ही वन-विहार

अहो! मोक्षमार्गी निर्गन्ध मुनिराज, काया के प्रति उदासीन वर्तते हुए स्वरूप में लीन होकर आनन्द में झूलते हैं। जैसे वन में वनराज सिंह विचरण करता है, वैसे मुनिराज विचरण करते हैं; मानो परमात्मा ही वन-विहार कर रहे हों – ऐसे मुनि भगवन्त, भव का अन्त करके सिद्धदशा प्राप्त कर लें – इसमें क्या आश्चर्य है?

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ५, पृष्ठ ५५

गाथा - १४

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥१४॥

स्यादस्ति नास्त्युभयमवक्तव्यं पुनश्च तत्त्रितयम्।
द्रव्यं खलु सप्तभंगमादेशवशेन सम्भवति॥१४॥

अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभंगी।

स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्यादवक्तव्यं द्रव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति। अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च क्रमेणादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकाल-भावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युग-पत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति। न चैतदनुपपन्नम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्, पररूपादिना शून्यत्वात्, उभाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भंगसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वात्, शून्यावाच्यत्वात्, अशून्यशून्यावाच्यत्वाच्चेति॥१४॥

स्यात् अस्ति-नास्ति-उभय अर अवक्तव्य वस्तु धर्म हैं।

अस्ति-अवक्तव्यादि त्रय सापेक्ष सातों भंग हैं॥१४॥

अन्वयार्थ :- [द्रव्यं] द्रव्य [आदेशवशेन] आदेशवशात् (-कथन के वश)
[खुल] वास्तव में [स्यात् अस्ति] स्यात् अस्ति, [नास्ति] स्यात् नास्ति, [उभयम्]
स्यात् अस्ति-नास्ति, [अवक्तव्यम्] स्यात् अवक्तव्य [पुनः च] और फिर [तत्त्रितयम्]
अवक्तव्यतायुक्त तीन भंगवाला (-स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य और
स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य) (-सप्तधङ्गम्) इस प्रकार सात भंगवाला [सम्भवति]
है।

टीका :- यहाँ द्रव्य के आदेश के वश सप्तभंगी कही है।

(१) द्रव्य 'स्यात् अस्ति' है; (२) द्रव्य 'स्यात् नास्ति' है; (३) द्रव्य 'स्यात् अस्ति और नास्ति' है; (४) द्रव्य 'स्यात् अवक्तव्य' है; (५) द्रव्य 'स्यात् अस्ति और अवक्तव्य' है; (६) द्रव्य 'स्यात् नास्ति और अवक्तव्य' है; (७) द्रव्य 'स्यात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' है।

यहाँ (सप्तभंगी में) सर्वथापने का निषेधक, अनेकान्त का द्योतक 'स्यात्' शब्द 'कथंचित्' ऐसे अर्थ में अव्ययरूप से प्रयुक्त हुआ है। वहाँ (१) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर 'अस्ति' है; (२) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर 'नास्ति' है; (३) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से क्रमशः कथन किया जाने पर 'अस्ति और नास्ति' है; (४) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से युगपद् कथन किया जाने पर 'अवक्तव्य' है; (५) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर 'अस्ति और अवक्तव्य' है; (६) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर 'नास्ति और अवक्तव्य' है; (७) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर 'अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' है।—यह (उपर्युक्त बात) अयोग्य नहीं है, क्योंकि सर्व वस्तु (१) स्वरूपादि से 'अशून्य' है, (२) पररूपादि से 'शून्य' है, (३) दोनों से (स्वरूपादि से और पररूपादि से) 'अशून्य और शून्य' है (४) दोनों से (स्वरूपादि से और पररूपादि से) एक ही साथ 'अवाच्य' है, भंगों के संयोग से कथन करने पर (५) 'अशून्य और अवक्तव्य' है, (६) 'शून्य और अवक्तव्य' है, (७) 'अशून्य, शून्य और अवक्तव्य' है।

१. स्यात्=कथंचित्; किसी प्रकार; किसी अपेक्षा से। ('स्यात्' शब्द सर्वथापने का निषेध करता है और अनेकान्त को प्रकाशित करता है—दर्शाता है।)

२. अवक्तव्य=जो कहा न जा सके; अवाच्य। (एक ही साथ स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य कथन में नहीं आ सकता इसलिए 'अवक्तव्य' है।)

३. अशून्य=जो शून्य नहीं है ऐसा; अस्तित्ववाला; सत्।

४. शून्य=जिसका अस्तित्व नहीं है ऐसा; असत्।

भावार्थ :- (१) द्रव्य *स्वचतुष्टय की अपेक्षा से 'है'। (२) द्रव्य परचतुष्टय की अपेक्षा से 'नहीं है'। (३) द्रव्य क्रमशः स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से 'है और नहीं है'। (४) द्रव्य युगपद् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से 'अवक्तव्य है'। (५) द्रव्य स्वचतुष्टय की और युगपद् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से 'है और अवक्तव्य है'। (६) द्रव्य परचतुष्टय की, और युगपद् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से 'नहीं और अवक्तव्य है'। (७) द्रव्य स्वचतुष्टय की, परचतुष्टय की और युगपद् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से 'है, नहीं है और अवक्तव्य है'।-इस प्रकार यहाँ सप्तभंगी कही गयी है॥१४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १२, गुरुवार

अर्थ : निश्चय से अनेकान्तस्वरूप पदार्थ विवक्षावश से सात प्रकार से हैं। वे सात प्रकार कौन-कौन से हैं ? वह कहते हैं : (१) किसी एक प्रकार से अस्तिरूप है, (२) किसी एक प्रकार से नास्तिरूप है। (३) किसी एक प्रकार से अस्ति-नास्तिरूप है, (४) किसी एक प्रकार से वचनगोचर नहीं, ऐसा अवक्तव्य है, (५) किसी एक प्रकार से अस्तिरूप अवक्तव्य है, (६) किसी एक प्रकार से नास्तिरूप अवक्तव्य है, (७) किसी एक प्रकार से अस्ति-नास्तिरूप अवक्तव्य है। इस सप्तभंगी का स्वरूप द्रव्य को बतलाने के लिये श्री वीतरागदेव ने कहा है। प्रत्येक पदार्थ में बहुत धर्म होते हैं, एक ही धर्म हो तो पदार्थ होता नहीं, वे धर्म बतलाने के लिये विशेष प्रकार के कथन से कहते हैं।

● स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, इस स्वचतुष्टय से आत्मा अपनेरूप है:

यहाँ प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिरूप

* स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव को स्वचतुष्टय कहा जाता है। स्वद्रव्य अर्थात् निज गुणपर्यायों के आधारभूत वस्तु स्वयं; स्वक्षेत्र अर्थात् वस्तु का निज विस्तार अर्थात् स्वप्रदेशसमूह; स्वकाल अर्थात् वस्तु की अपनी वर्तमान पर्याय; स्वभाव अर्थात् निजगुण-स्वशक्ति।

है। अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड, वह द्रव्य। अपने प्रदेश, वह स्वक्षेत्र है। समय-समय में अवस्था होती है, वह स्वकाल है और त्रिकाल शक्ति, वह स्व-भाव है। इन चार प्रकार से प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, किसी के कारण से कोई नहीं। आत्मा स्वतन्त्र है, परमाणु स्वतन्त्र है, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—छहों द्रव्य हैं, वे सब अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि से स्वतन्त्र हैं।

कर्म के परमाणु अपने द्रव्य-क्षेत्रादि से हैं, वे राग के कारण से नहीं और आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्रादि से है, वह कर्म के परमाणु से नहीं। यह सिद्धान्त निश्चित करे तो सब गड़बड़ निकल जाये। ऐसा मानने से निमित्त उड़ता नहीं, परन्तु निमित्त जैसा है, वैसी उसकी स्वतन्त्रता ज्ञात होती है।

कितनी वीतरागता ! एक-एक परमाणु और एक-एक आत्मा अपने से है। परचीज हो तो इसका भाव होता है, ऐसा नहीं। (इसमें) सामनेवाला जीव समझे तो ठीक, ऐसा न हो तो ठीक—यह बात नहीं रहती। क्योंकि उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उससे है, किसी पर के कारण से नहीं। किसी को ऐसी शंका हो कि ऐसे सब द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्रादि से स्वतन्त्र हैं तो यह जिनमन्दिर, श्राविकाश्रम आदि किसलिए बनाते हो ? तो उसे कहते हैं कि अरे भाई ! प्रत्येक परमाणु ने अपने द्रव्य-क्षेत्र-भाव को अपने पास रखा हुआ है और उसका स्वकाल वह समय-समय की पर्याय है, वह भी उससे होती है, दूसरा कोई उसे नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र और भाव से त्रिकाल पड़ा है और उसकी समय-समय की अवस्था उसे स्वतन्त्ररूप से होती है, वह उसका स्वकाल है।

● (२) परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव, इस परचतुष्टय से आत्मा नास्तिरूप है :

आत्मा निगोद में हो या सिद्ध में हो तो वहाँ सर्वत्र कर्म के परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तिरूप है। इसलिए कर्म के कारण से जीव निगोद में रहा नहीं और केवली भगवान को चार कर्म बाकी हैं, इसलिए वे संसार में रहे हैं—ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा में तीनों काल परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव का अत्यन्त अभाव है। काल पदार्थ के कारण से आत्मा की सिद्धि होती है, ऐसा नहीं। लाखों रुपये खर्च

करके महा महोत्सव, प्रतिष्ठा आदि हुए, इसलिए सब लोग इकट्ठे हुए हैं, यह बात खोटी है क्योंकि प्रत्येक-प्रत्येक आत्मा और परमाणु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नास्तिरूप है। इसलिए पर के कारण से कोई आता नहीं, पर के कारण से माने तो उन प्रत्येक पदार्थ के अस्ति-नास्ति के स्वरूप को समझता नहीं। आत्मा की अपेक्षा से परवस्तु शून्य है, अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल और अभावरूप है। यह अस्ति-नास्ति दो भंग कहे, वे छहों द्रव्यों में हैं। छहों द्रव्य अपने-अपने स्वकाल से हैं और परकाल से नहीं, इसलिए छहों द्रव्यों में अपने में अपना कार्य होना, वह उसकी काललब्धि है, वह कालद्रव्य के कारण से नहीं है।

● (३) आत्मा स्वचतुष्टय से है और परचतुष्टय से नहीं। यह स्यात् अस्ति-नास्तिरूप है :

आत्मा तीनों काल अस्ति-नास्तिरूप एकसाथ होने पर भी वह क्रम से कहा जा सकता है, एकसाथ नहीं कहा जा सकता। एक द्रव्य में एक धर्म है, ऐसा नहीं। सभी धर्म साथ में हैं। क्रम से कहा जाता है, इसलिए धर्म क्रम से है, ऐसा नहीं। कहने जाये वहाँ क्रम पड़े बिना रहता नहीं, ऐसा भी आत्मा में एक धर्म है। क्रम से बोला जाता है, ऐसा स्यात् अस्ति-नास्तिस्वरूप आत्मा का धर्म है। उस धर्म द्वारा पूरा आत्मद्रव्य ज्ञात होता है।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १३, शुक्रवार

आत्मा और परमाणु आदि पदार्थ उनकी पर्याय से भिन्न नहीं और पर्यायें पदार्थ से भिन्न नहीं और तत्पश्चात् गुण बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य बिना गुण नहीं होते, ऐसा बारहवीं और तेरहवीं गाथा में कहा। अब इस गाथा में सप्तभंगी उतारते हैं। किसी भी अपेक्षा से देखो तो द्रव्य ख्याल में आवे, उसे प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं। यहाँ द्रव्य का लक्ष्य कराते हैं, इसलिए प्रमाणसप्तभंगी है।

आत्मा स्यात् अर्थात् किसी प्रकार से स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है। वह उसकी स्वतन्त्रता बताता है और स्यात् परचतुष्टय से आत्मा नहीं—ऐसे दो धर्मों द्वारा पूरा द्रव्य

ख्याल में आता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का द्रव्य-गुण-पर्याय में समावेश हो जाता है। वस्तु स्वयं ऐसी है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और स्यात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। आत्मा स्वयं परद्रव्य-क्षेत्रादि से नहीं, ऐसा कहने से पर की अपेक्षा आती है परन्तु यह नास्तिरूप धर्म पर का नहीं, परन्तु आत्मा का है।

एक धर्म द्वारा एक धर्म देखो तो वह नयसप्तभंगी है और एक धर्म द्वारा पूरे द्रव्य को देखो तो वह प्रमाणसप्तभंगी है। (१) आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्रादि से अस्तिरूप है। (२) परद्रव्य-क्षेत्रादि से नास्तिरूप है। (३) स्यात् अस्ति-नास्तिरूप है। अस्ति-नास्तिरूप दोनों धर्म एकसाथ हैं परन्तु वे दोनों (धर्म) एकसाथ कहे नहीं जा सकते। क्रम से कहे जा सकते हैं। ज्ञान दोनों धर्मों को साथ में जानता है, वह भी प्रमाण का वाक्य है। अस्ति-नास्तिरूप धर्म तीनों काल में एकसाथ है। संसार में से मुक्ति जब होगी, तब वह स्वचतुष्टय से होती है और परचतुष्टय से नहीं होती, ऐसा एक भंग देखने पर भी पूरा द्रव्य ख्याल में आता है।

(४) आत्मा स्वचतुष्टय से है और परचतुष्टय से नहीं, ऐसा वाणी से एकसाथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए स्यात् अवक्तव्य है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप है और परद्रव्य-क्षेत्रादि से नास्तिरूप है, ऐसे शब्दों द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं, परन्तु ज्ञान द्वारा जाना जा सके, ऐसा है। अस्ति-नास्तिरूप धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में सब धर्मों का स्वरूप एकसाथ आता है, परन्तु छद्मस्थ क्रम से कह सकता है, इसलिए एक धर्म की मुख्यता और दूसरे धर्म की गौणता होती है। ऐसा भगवान की वाणी में एकसाथ आता है। नयसप्तभंगी या प्रमाणसप्तभंगी छद्मस्थ के लिये है। (दिव्य) ध्वनि में ज्ञान की अपेक्षा से तो अनन्तवें भाग आता है और दर्शन की अपेक्षा से पूरे स्वरूप को समझ जाता है, इसलिए ध्वनि में पूर्णरूप से आता है। आत्मपदार्थ ऐसा है कि अस्ति-नास्तिरूप होने पर भी नहीं कहा जा सकता, इसका अर्थ ऐसा है कि ऐसा कहकर भी कुछ कहूँ तो सही। ज्ञान द्वारा पदार्थ एक साथ जाना जा सकता है और वाणी में क्रमपूर्वक कहा जा सकता है।

(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य : आत्मा स्वचतुष्टय अपेक्षा से अस्तिरूप तथा उसी काल में स्व-परचतुष्टय अपेक्षा से अस्ति-नास्तिरूप होने पर भी दोनों धर्मों को एकसाथ

नहीं कहा जा सकता, इसलिए स्यात् अस्ति अवक्तव्य उसका धर्म है। उस भंग द्वारा पूरा आत्मा जाना जा सकता है।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य : आत्मा परचतुष्टय अपेक्षा से नास्ति तथा स्व-परचतुष्टय अपेक्षा से दोनों धर्म एकसाथ होने पर भी एकसाथ दोनों धर्मों को नहीं कहा जा सकता, इसलिए स्यात् नास्ति अवक्तव्य है।

(७) स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य : और वही आत्मा स्वचतुष्टय की अपेक्षा से और परचतुष्टय की अपेक्षा से और एक ही काल में स्व-परचतुष्टय दोनों की अपेक्षा से अस्ति-नास्तिस्वरूप है, तथापि दोनों साथ में नहीं कहे जा सकते इसलिए स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यधर्म है, उसके द्वारा भी पूरा आत्मा जाना जा सकता है।

यह सप्तभंगी का विशेष स्वरूप जिनागम से (अन्य जैनशास्त्रों में से) जान लेना। मैं अल्पज्ञ विशेष कुछ स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। जो कुछ कहा है, वह संक्षेपमात्र से कहा है। जैसे कि एक ही पुरुष पुत्र की अपेक्षा से पिता कहलाता है और वही पुरुष पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है; और वही पुरुष मामा की अपेक्षा से भानेज कहलाता है और वही पुरुष भानेज की अपेक्षा से मामा कहलाता है; और स्त्री की अपेक्षा से वह पति कहलाता है, बहिन की अपेक्षा से भाई कहलाता है और वही पुरुष वैरी की अपेक्षा से शत्रु कहलाता है तथा इष्ट की अपेक्षा से मित्र कहलाता है। इत्यादि अनेक प्रकार से एक ही पुरुष को कहा जा सकता है। इस प्रकार एक आत्मा और परमाणु इत्यादि द्रव्य को सप्तभंगी द्वारा जाना जा सकता है।

कोई कहे कि आत्मा को एक ही प्रकार से कहो। तो उससे कहते हैं कि वस्तु का स्वरूप ही अनेक प्रकारवाला है। तो जिस प्रकार से है, उस प्रकार से जानना चाहिए। धर्म सब एकसाथ होने पर भी एकसाथ नहीं कहे जा सकते। पिता कहो तो उस समय उसके पिता का वह पुत्र है, यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सप्तभंगी का स्वरूप यथार्थ समझ लेना।

अब गाथा १५ में कहते हैं कि जो पदार्थ नहीं, वह नया होता नहीं और जो होवे, वह जाता नहीं; पदार्थ टिककर बदलता है, वह पर के कारण से नहीं—यह सिद्धान्त कहते हैं।

गाथा - १५

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।

गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वन्ति॥१५॥

भावस्य नास्ति नाशो नास्ति अभावस्य चैव उत्पादः।

गुणपर्यायेषु भावा उत्पादव्ययान् प्रकुर्वन्ति॥१५॥

अत्रासत्प्रादुर्भावत्वमुत्पादस्य सदुच्छेदत्वं विगमस्य निषिद्धम्।

भावस्य सतो हि द्रव्यस्य न द्रव्यत्वेन विनाशः, अभावस्यासतोऽन्यद्रव्यस्य न द्रव्यत्वेनोत्पादः। किन्तु भावाः सन्ति द्रव्याणि सदुच्छेदमसदुत्पादं चान्तरेणैव गुणपर्यायेषु विनाशमुत्पादं चारभन्ते। यथा हि घृतोत्पत्तौ गोरसमय सतो न विनाशः न चापि गोरसव्यक्तिरिक्तस्यार्थान्तरस्यासतः उत्पादः किन्तु गोरसस्यैव सदुच्छेदमसदुत्पादं चानुपलभमानस्य स्पर्शरसगन्धवर्णादिषु परिणामिषु गुणेषु पूर्वावस्थया विनश्यत्सूत्रावस्थया प्रादुर्भवत्सु नश्यति च नवनीतपर्यायो घृतपर्याय उत्पद्यते, तथा सर्वभावानामपीति॥१५॥

सत्द्रव्य का नहिं नाश हो अरु असत् का उत्पाद ना।

उत्पाद-व्यय होते सतत सब द्रव्य-गुणपर्याय में॥१५॥

अन्वयार्थ :- [भावस्य] भाव का (सत् का) [नाशः] नाश [न अस्ति] नहीं है [च एव] तथा [अभावस्य] अभाव का (असत् का) [उत्पादः] उत्पाद [न अस्ति] नहीं है; [भावाः] भाव (सत् द्रव्यों) [गुणपर्यायेषु] गुणपर्यायों में [उत्पादव्ययान्] उत्पाद-व्यय [प्रकुर्वन्ति] करते हैं।

टीका :- यहाँ उत्पाद में असत् के प्रादुर्भाव का और व्यय में सत् के विनाश का निषेध किया है (अर्थात् उत्पाद होने से कहीं असत् की उत्पत्ति नहीं होती और व्यय होने से कहीं सत् का विनाश नहीं होता-ऐसा इस गाथा में कहा है)।

भाव का-सत् द्रव्य का-द्रव्यरूप से विनाश नहीं है; अभाव का-असत् अन्य द्रव्य का-द्रव्यरूप से उत्पाद नहीं है; परन्तु भाव-सत् द्रव्यों, सत् के विनाश और असत् के उत्पाद बिना ही, गुणपर्यायों में विनाश और उत्पाद करते हैं। जिस प्रकार घी की उत्पत्ति में गोरस का-सत् का-विनाश नहीं है तथा गोरस से भिन्न पदार्थान्तर का-असत् का-

उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरस को ही, सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही, पूर्व अवस्था से विनाश प्राप्त होनेवाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होनेवाले स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिक परिणामी गुणों में मक्खनपर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा घी पर्याय उत्पन्न होती है; उसी प्रकार सर्व भावों का वैसा ही है (अर्थात् समस्त द्रव्यों को नवीन पर्याय की उत्पत्ति में सत् का विनाश नहीं है तथा असत् का उत्पाद नहीं है, किन्तु सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही, पहले की (पुरानी) अवस्था से विनाश को प्राप्त होनेवाले और बाद की (नवीन) अवस्था से उत्पन्न होनेवाले *परिणामी गुणों में पहले की पर्याय विनाश और बाद की पर्याय की उत्पत्ति होती है)॥१५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १३, शुक्रवार

अर्थ : वस्तु है, उसका कभी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं, वह नयी नहीं होती, इस कारण द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य का नाश तथा उत्पाद नहीं होता। सिद्ध हुए, इसलिए नाश हुआ है—ऐसा नहीं है। जगत में जितने जीवद्रव्य हैं, उसमें से सिद्ध हुए, उतने जीवों का नाश हो जाता है—ऐसा नहीं। लकड़ी जल जाये और राख हो जाती है, उस परमाणु का नाश नहीं होता। परमाणु का रूपान्तर होता है। मनुष्य मर गया तो शरीर का संयोग छोड़कर अन्यत्र गया है। जीव की अवस्था बदली है, परन्तु जीव का नाश नहीं हुआ।

निश्चय से जगत में जो वस्तु नहीं, वह नयी नहीं होती। खरगोश को सींग नहीं होते। खेत में नया पाक होता है, वह जगत के परमाणु सूक्ष्मरूप से थे, उनका स्थूलरूप परिणमन हुआ है, परन्तु परमाणु नये हुए नहीं। जैसे कछुए को बाल नहीं उगते, उसी प्रकार वस्तु नयी नहीं होती। ब्रह्मा ने जगत बनाया, विष्णु रक्षण करता है, महेश उसका नाश करता है—ऐसा नहीं, परन्तु वास्तव में प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना है, वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। इससे अलग कोई करनेवाला, रखनेवाला और नाश करनेवाला नहीं। अपने गुण-पर्याय से द्रव्य स्वयं उपजना-विनशना करता है। पदार्थ

* परिणामी=परिणमित होनेवाले; परिणामवाले। (पर्यायार्थिकनय से गुण परिणामी हैं अर्थात् परिणमित होते हैं।)

स्वयं अस्तिरूप रहकर गुण-पर्याय में उत्पाद-व्यय होता है, वस्तु का नाश या वस्तु का उत्पाद नहीं होता। त्रिकाल अविनाशी वस्तु में उत्पाद-व्यय होता है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से जानना।

यहाँ गुण-पर्याय में पलटना होता है, इसका अर्थ गुण अर्थात् त्रिकाली गुण की बात नहीं, परन्तु **गुण की पर्याय में पलटना होता है**, ऐसा समझना। निमित्त के कारण से पलटना होता है, ऐसा नहीं कहा है। इससे पहले पर्याय बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य बिना पर्याय नहीं होती, ऐसा कहा था। यहाँ कहते हैं कि पर्याय में जो फेरफार दिखता है, वह गुण के कारण से होता है, पर के कारण से होता नहीं। अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि पदार्थ का उत्पाद-व्यय पर के कारण से होता है। दूध में से दही और मक्खन हो तो भी गोरस तो गोरस ही रहता है। गोरस परिणमकर छाण नहीं हो जाता और दूध में से दही होता है, वह गोरस में स्पर्श-रसादि गुण हैं, उस कारण से होता है। छाछ आयी, इसलिए हुआ है—ऐसा नहीं। वज्रकाय के कारण से केवलज्ञान होता नहीं, वाणी आयी इसलिए ज्ञान नहीं होता परन्तु आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, इस कारण से होता है। निमित्त हो तो उपादान में काम होता है, यह मात्र व्यवहार का कथन है। परन्तु जो पर्यायें होती हैं, वे द्रव्य में गुण हैं, उनकी पर्यायें होती हैं। कोई कहे कि द्रव्य और पर्याय दो ही हैं। तो उससे कहते हैं कि द्रव्य में गुण हैं, उनकी पर्यायें होती हैं, इस प्रकार अस्तिकाय को स्वतन्त्र सिद्ध किया है।

इस प्रकार आत्मा दूसरे द्रव्यरूप होता नहीं और परमाणु भी दूसरे परमाणुरूप होता नहीं। तीनों काल अपनेरूप रहकर बदलता है। इस प्रकार उपादान अपने में शत-प्रतिशत स्वतन्त्र है और निमित्त, निमित्त में शत-प्रतिशत स्वतन्त्र है। दोनों के पचास-पचास प्रतिशत से कार्य होता है—ऐसा नहीं है। अपना कार्य अपने से और पर का कार्य पर से होता है। वस्तु कायम रहकर उसके गुण के परिणमन से पुरानी अवस्था के नाशरूप और नयी अवस्था के उत्पादरूप होती है।

पंचास्तिकाय हो या कोई भी शास्त्र हो, परन्तु सिद्धान्त एक ही होता है। सिद्धान्त दो नहीं होते। कथन की शैली में अन्तर होता है।

अब छहों द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन करते हैं।

गाथा - १६

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
 सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा॥१६॥
 भावा जीवाद्या जीवगुणाश्चेतना चोपयोगः।
 सुरनरनारकतिर्यञ्चो जीवस्य च पर्यायाः बहवः॥१६॥

अत्र भावगुणपर्यायाः प्रज्ञापिताः।

भावा हि जीवादयः षट् पदार्थाः। तेषां गुणाः पर्यायाश्च प्रसिद्धाः। तथापि जीवस्य वक्ष्यमाणोदाहरणप्रसिद्ध्यर्थमभिधीयन्ते। गुणा हि जीवस्य ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा चाशुद्धचेतना, चैतन्यानुविधायिपरिणामलक्षणः सविकल्पनिर्विकल्परूपः शुद्धाशुद्धतया सकलविकलतां दधानो द्वेधोपयोगश्च। पर्यायास्त्व-गुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्ताः शुद्धाः, सूत्रोपात्तास्तु सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणाः परद्रव्यसम्बन्ध-निर्वृत्तत्वादशुद्धाश्चेति॥१६॥

जीवादि ये सब भाव हैं जिय चेतना उपयोगमय।

देव-नारक-मनुज-तिर्यक् जीव की पर्याय हैं॥१६॥

अन्वयार्थ :- [जीवाद्याः] जीवादि (द्रव्य) वे [भावाः] 'भाव' हैं। [जीवगुणाः] जीव के गुण [चेतना च उपयोगः] चेतना तथा उपयोग हैं [च] और [जीवस्य पर्यायाः] जीव की पर्यायें [सुरनरनारकतिर्यचः] देव-मनुष्य-नारक-तिर्यचरूप [बहवः] अनेक हैं।

टीका :- यहाँ भावों (द्रव्यों), गुणों और पर्यायें बतलाते हैं।

जीवादि छह पदार्थ वे 'भाव' हैं। उनके गुण और पर्यायें प्रसिद्ध हैं, तथापि 'आगे (अगली गाथा में) जो उदाहरण देना है, उसकी प्रसिद्धि के हेतु जीव के गुणों और पर्यायों का कथन किया जाता है :-

१. अगली गाथा में जीव की बात उदाहरण के रूप में लेना है, इसलिए उस उदाहरण को प्रसिद्ध करने के लिये यहाँ जीव के गुणों और पर्यायों का कथन किया गया है।

जीव के गुणों 'ज्ञानानुभूतिस्वरूप शुद्धचेतना तथा कार्यानुभूतिस्वरूप और कर्मफलानुभूतिस्वरूप अशुद्धचेतना है और 'चैतन्यानुविधायी-परिणामस्वरूप, सविकल्प-निर्विकल्परूप, शुद्धता-अशुद्धता के कारण सकलता-विकलता धारण करनेवाला, दो प्रकार का उपयोग है (अर्थात् जीव के *गुणों शुद्ध-अशुद्ध चेतना तथा दो प्रकार के उपयोग हैं)।

जीव की पर्यायें इस प्रकार हैं :- अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धि से उत्पन्न पर्यायें शुद्ध पर्यायें हैं और सूत्र में (-इस गाथा में) कही हुई, देव-नारक-तिर्यच-मनुष्यस्वरूप पर्यायें परद्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है, इसलिए अशुद्ध पर्यायें हैं।१६॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १४, शनिवार

अर्थ : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छह पदार्थ हैं, इन सब द्रव्यों को गुण-पर्यायें प्रसिद्ध हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को भाव कहते हैं, परन्तु यहाँ तो द्रव्य को भाव शब्द से सम्बोधन किया है। इन पदार्थों में जीव नाम का पदार्थ प्रधान है अर्थात् कि उत्तम पदार्थ आत्मा है। उसका स्वरूप जानने के लिये यहाँ जीव का असाधारण लक्षण कहते हैं।

जीवद्रव्य का निज लक्षण एक तो शुद्धाशुद्ध अनुभूतिरूप चेतना है। लक्षण अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु एक लक्षण को बराबर समझे तो अनेक लक्षण उसमें आ

१. शुद्धचेतना ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप है और अशुद्धचेतना कर्म की तथा कर्मफल की अनुभूतिस्वरूप है।
 २. चैतन्य-अनुविधायी परिणाम अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करनेवाला परिणाम वह उपयोग है। सविकल्प उपयोग को ज्ञान और निर्विकल्प उपयोग को दर्शन कहा जाता है। ज्ञानोपयोग के भेदों में से मात्र केवलज्ञान ही शुद्ध होने से सकल (अखण्ड, परिपूर्ण) है और अन्य सब अशुद्ध होने से विकल (खण्डित, अपूर्ण) है; दर्शनोपयोग के भेदों में से मात्र केवलदर्शन ही शुद्ध होने से सकल है और अन्य सब अशुद्ध होने से विकल हैं।
- * पर्यायार्थिकनय से गुण भी परिणामी हैं। (देखिये, १५ वीं गाथा की टीका।)

जाते हैं। और शुद्धाशुद्धचैतन्य—परिणामरूप उपयोग, वह जीव का दूसरा लक्षण है। ये दोनों लक्षण जीवद्रव्य का गुण है। अब जीव की भिन्न-भिन्न प्रकार की देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यचादि अशुद्ध व्यंजनपर्याय जानना। यह भी जीव का लक्षण है।

भावार्थ : आत्मा के दो लक्षण कहे हैं। एक तो चेतना और दूसरा उपयोग। यह सामान्य जीव का लक्षण ज्ञानप्रधानता से कहा है। अनुभूति का नाम चेतना है। वह अनुभूति ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना—ऐसे तीन प्रकार से है। जो ज्ञानभाव से स्वरूप का वेदन, वह ज्ञानचेतना है। यह लक्षण कहकर द्रव्य में पर्याय का अस्तिपना है, यह साथ में बतलाते हैं। ज्ञानचेतना से आत्मा जाना जा सकता है। ज्ञान की पर्याय होती है, वह आत्मा है, ऐसा लक्षण कहकर आत्मा को बतलाते हैं। शुद्ध-अशुद्ध के भेद किये बिना सामान्य द्रव्य को समझाते हैं।

कर्म का वेदना, वह कर्मचेतना है। राग-द्वेष, वह कर्म है। वह अपना कार्य है, ऐसा वेदने से आत्मा जाना जा सकता है। विकार का वेदना, वह भी आत्मा का लक्षण है, क्योंकि उस राग से जीव है, ऐसा निश्चित होता है। क्योंकि राग-द्वेष में एकाग्र जीव होता है, जड़ नहीं होता। राग-द्वेष जीव को बतलाते हैं, वे कर्म को बतलाते नहीं। क्योंकि राग-द्वेष, वह जीव में चारित्र नाम का गुण है, उसकी पर्याय है। जीव स्वयं अटका है, इसलिए राग हुआ है, ऐसी पहिचान कराते हैं। शुद्धता और अशुद्धता दोनों मिलकर पूरा द्रव्य होता है। राग-द्वेष को अनात्मभूत लक्षण अन्यत्र कहा है। क्योंकि वे टल जाते हैं, परन्तु यहाँ तो आत्मभूत लक्षण हैं, ऐसा कहा है क्योंकि उस पर्याय से जीव ज्ञात होता है।

जिस द्वारा लक्षित हो, उसे लक्षण कहते हैं। यहाँ राग द्वारा चैतन्य आत्मा लक्षित होता है, इसलिए राग जीव का लक्षण है, ऐसा कहा है। द्रव्यदृष्टि से राग का स्वामी पुद्गल है, ऐसा कहा है। वह राग को टालने की अपेक्षा से कहा गया है। परन्तु यहाँ तो राग-द्वेष की पर्याय तू करता है तो होती है, वह जीव को बतलाती है, इसलिए लक्षण है।

जीव पदार्थ किसे कहना ? और उसके गुण-पर्याय कैसे होते हैं ? उनका स्वरूप बतलाते हैं। यहाँ चेतना और उपयोग को गुण कहा गया है, वह पर्याय होने पर भी उन

सब गुणों की पर्याय एकसाथ होती है, इस अपेक्षा से उसे गुण कहा गया है। और नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यच की व्यंजनपर्याय को यहाँ पर्यायरूप से वर्णन करते हैं। यहाँ कथन में अन्तर है। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

चेतना तीन प्रकार की है। एक तो ज्ञानभाव से रहना, वह ज्ञानचेतना है, उसे यहाँ आत्मा का गुण कहा है। शरीर, मन, वाणीरूप होना, वह आत्मा का कार्य नहीं परन्तु जानता है, वह आत्मा है। इसके प्रकार आगे कहेंगे। दूसरी कर्मचेतना है। कर्म का वेदना, वह कर्मचेतना है। दया, दान, काम-क्रोधादि भाव होते हैं, वे आत्मा में होते हैं। उन्हें जीव अनुभव करता है, जड़ अनुभव नहीं करता। कितने ही कहते हैं कि सुख-दुःख का वेदना, वह शरीर का धर्म है, परन्तु ऐसा नहीं। सुख-दुःख का वेदन, वह जीव का लक्षण है, ऐसा यहाँ कहते हैं। जगत के कोई पदार्थ आत्मा को राग कराते नहीं, राग करने की जीव की स्वयं की योग्यता है, क्योंकि उस लक्षण द्वारा जीव ज्ञात होता है।

कर्मफल का वेदना, वह कर्मफलचेतना है। हर्ष-शोक होता है, वह आत्मा के गुण द्वारा होता है, वह चैतन्य की सत्ता को बतलाता है। हर्ष-शोक आत्मा का गुण है और वह आत्मा का लक्षण है, क्योंकि उसे आत्मा स्वयं करता है। उसे कर्म नहीं कराता क्योंकि वह कर्म का गुण नहीं। वह आत्मा की क्षणिक पर्याय में होता है, परन्तु वह अपने त्रिकाली स्वभाव में नहीं। आत्मा में हर्ष-शोक होता है, उसमें कर्म का कारण नहीं, परन्तु जीव परिणमता है तो होता है। इसलिए हर्ष-शोक आत्मा को बतलाते हैं। इस प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना—ऐसे तीन प्रकार चेतना के कहे हैं।

प्रवचनसार में राग-द्वेषादि के परिणाम जीव के कहे थे, वह स्वज्ञेय कैसा है, यह बतलाने को कहा था। यहाँ पंचास्तिकाय में जीव स्वयं कैसा है, यह बतलाते हैं। चैतन्य की अस्ति में राग-द्वेष, हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, इसलिए वे जीवास्तिकाय को बतलाते हैं। कर्म रागादि कराता है या निमित्त के कारण से वे होते हैं, ऐसा माने, उसे पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि करने का अवकाश नहीं रहता। ऐसे जीवास्तिकाय को समझे बिना संसार में पूरी जिन्दगी निकाले, परन्तु सत्य वस्तु को समझे नहीं तो वृथा है।

वृद्ध हो, तब पुत्र के पुत्र का झूला खींचे परन्तु आत्मा की बात सुनने के लिये निवृत्त नहीं होता, यह मोह के परिणाम, इनको आत्मा करे तो होते हैं, इसलिए ये जीवास्तिकाय को बतलाते हैं।

यह शुद्ध-अशुद्ध जीव का सामान्य लक्ष्य हुआ। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अशुद्ध जीव का लक्षण है और ज्ञानचेतना शुद्ध जीव का लक्षण है। यहाँ अस्तिकाय का वर्णन है। उसमें यदि पुद्गलास्तिकाय के कारण से जीवास्तिकाय में शुद्ध या अशुद्ध परिणाम होते हैं, ऐसा माना जाये तो जीवास्तिकाय रहता नहीं। इसलिए ऐसा माननेवाला जीवास्तिकाय को पहिचानता नहीं। ज्ञान में एकाग्र होना, राग में एकाग्र होना या हर्ष-शोक में एकाग्र होना, वह जीवास्तिकाय में होता है। वह चारित्रमोह के कारण से होता है, ऐसा माननेवाले को जीवास्तिकाय की श्रद्धा नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से जीव में ज्ञान हीन होता है, ऐसा है ही नहीं। अपने कारण से होता है, ऐसा जाने तो पर से भिन्न है, ऐसा निर्णय हो और पर्याय में रागादि होते हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं, ऐसी द्रव्यदृष्टि होती है।

अब आत्मा का लक्षण उपयोग है, यह कहते हैं। चैतन्यभाव की परिणतिरूप प्रवृत्ते, वह उपयोग है। यह उपयोग, वह आत्मा का गुण है, क्योंकि वह आत्मा की सामर्थ्य से होता है, कर्म के कारण से नहीं। कर्म से वह माना जाये तो पुद्गलास्तिकाय से जीवास्तिकाय है, ऐसा होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। उपयोगरूप आत्मा स्वयं प्रवर्तता है। पाँच इन्द्रिय और मन है तो उपयोग है, ऐसा नहीं, परन्तु चैतन्यभाव की परिणति, वह उपयोग है। उस उपयोग द्वारा जीव ज्ञात होता है।

यह उपयोग दो प्रकार के हैं : एक सविकल्प उपयोग और दूसरा निर्विकल्प उपयोग। सविकल्प उपयोग, वह ज्ञान का लक्षण है। विशेष जानना, वह उसका कार्य है। और निर्विकल्प उपयोग, वह दर्शन का लक्षण है। उसमें ज्ञान उपयोग के आठ प्रकार हैं।

(१) कुमतिज्ञान-उपयोग : पाँच इन्द्रिय और मन हैं, इसलिए यह उपयोग है, ऐसा नहीं अथवा मोहनीयकर्म के उदय के कारण से कुमतिज्ञान है, ऐसा भी नहीं है। स्वज्ञेय को नहीं जानते हुए परज्ञेय को जानने में रुके, वह कुमतिज्ञान की प्रवृत्ति जीव के

कारण से होती है, वह कर्म के कारण से नहीं है। आत्मा स्वयं जीवास्तिकाय है तो कुमतिज्ञान की प्रवृत्ति भी स्वयं करे तो होती है। संसार की कला, वह कुमतिज्ञान है। वह जीव का लक्षण है, ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि वह प्रवृत्ति पुद्गलास्तिकाय में नहीं होती। आत्मा का उपयोगरूपी गुण, वह उसका लक्षण है। कुमतिज्ञान होता है, तब निमित्त कौन होता है, यह बतलाने के लिये व्यवहार के शास्त्रों में मन और इन्द्रिय द्वारा वह होता है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वास्तव में वह कुमतिज्ञानरूप दोष जीवास्तिकाय का है।

(२) कुश्रुतज्ञान-उपयोग : जीवास्तिकाय का लक्षण है क्योंकि कुश्रुतज्ञान पर के कारण से होता नहीं। कुश्रुतज्ञान-उपयोग की प्रवृत्ति जीव की योग्यता से होती है, इसलिए वह चैतन्य की प्रवृत्ति है, जड़ की प्रवृत्ति नहीं। ऐसे अपनी पर्याय का दोष है, यह निर्णय करे तो वह मेरा स्वभाव नहीं, ऐसा समझे, परन्तु पर्याय का दोष पर से माने तो उसे दोष निकालने का रहता नहीं। पर के लक्ष्य से शास्त्र का पठन पढ़े, वह कुश्रुतज्ञान है, वह जीव स्वयं करता है। शास्त्र के कारण से हुआ नहीं।

(३) कुअवधिज्ञान-उपयोग : वह जीवास्तिकाय का लक्षण है। वह आत्मा की अस्तिकाय में होता है। विभंगज्ञान आत्मा के ज्ञानगुण की विपरीत पर्याय है, वह पर के कारण से नहीं और पर का कार्य नहीं। यह तीन कुज्ञान के प्रकार हुए। अब सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं।

(४) सम्यक्मतिज्ञान-उपयोग : वह जीव का लक्षण है। उसके द्वारा जीव ज्ञात होता है। आत्मा जाने कि मैं चिदानन्द हूँ, पर से मुझे लाभ-नुकसान नहीं—ऐसा ज्ञान आत्मा का है, जड़ का नहीं और वह दूसरे आत्मा का नहीं। गुरु के कारण से वह सम्यक्मतिज्ञान हुआ नहीं, गुरु के कारण से मानने में आवे तो दो जीवास्तिकाय एक हो जायें, भिन्न रहे नहीं। और सम्यक्मतिज्ञान मन और इन्द्रिय के कारण से होता है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण से वह होता है, ऐसा भी नहीं और दर्शनमोहनीय कर्म का अभाव होने से सम्यक्मतिज्ञान होता नहीं। वे सब पुद्गलास्तिकाय हैं। उनके कारण से होवे तो जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय दो भिन्न रहते नहीं। मतिज्ञान, वह जीव का लक्षण है।

(५) **सम्यक्श्रुतज्ञान-उपयोग** : जीवास्तिकाय का लक्षण है। शब्द सुनने से वह होता नहीं, क्योंकि वह आत्मा की प्रवृत्तिरूप उपयोग है। उसे यहाँ गुण कहा गया है और वह गुण जीव का लक्षण है। वह श्रुतज्ञान की परिणति आत्मा से होती है परन्तु देव-गुरु-शास्त्र से होती नहीं, ऐसा निर्णय करने के पश्चात् सच्चा ज्ञान होता है, तब निमित्त कौन था, यह बतलाने के लिये सम्यग्ज्ञान में देव-गुरु निमित्त होते हैं, ऐसा कथन किया जाता है परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि सम्यक् श्रुतज्ञान आत्मा की सामर्थ्य से होता है, इसलिए वह आत्मा का लक्षण है, वह आत्मा को बतलाता है।

एक समय की पर्याय पर से होती है, ऐसा माना जाये तो जीवास्तिकाय का अस्तित्व रहता नहीं। असंख्यप्रदेश जीव के हैं, उसमें त्रिकाल गुण और पर्याय साथ में हैं। वे सब होकर जीवास्तिकाय है। उसमें से किसी भी अंश को पर के कारण से माना जाये तो जीवास्तिकाय सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान और कुन्दकुन्दाचार्यदेव एक-एक जीव का वर्णन करते रहते हैं कि मति-श्रुतज्ञानादि की पर्याय जो होती है, वह तेरे कारण से होती है। बहुत शास्त्र पढ़ा, इसलिए हुई है, ऐसा नहीं। अथवा देव-गुरु का संग किया, इसलिए हुई है, ऐसा भी नहीं। ऐसा माने तो पर के ऊपर से दृष्टि हटकर स्वसन्मुख झुके। उसे धर्म होता है। धर्म कोई बाहर की प्रवृत्ति से नहीं होता।

(६) **अवधिज्ञान-उपयोग** : वह भी आत्मा का गुण है। आत्मा में होता है, इसलिए वह लक्षण आत्मा को बतलाता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्म का पर्दा हट गया, इसलिए वह उपयोग है, ऐसा नहीं है।

(७) **मनःपर्ययज्ञान-उपयोग** : आत्मा की परिणति है। मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्म टले तो वह ज्ञान उपयोग होता है, ऐसा नहीं क्योंकि वह उपयोग पर से नहीं परन्तु आत्मा की सामर्थ्य से है, वह जीवास्तिकाय को बतलाता है।

(८) **केवलज्ञान-उपयोग** : यह उपयोग आत्मा का है; इसलिए यह कर्म की शक्ति के कारण रुका हुआ है, ऐसा नहीं। परन्तु अपने कारण से रुका हुआ था, वह अपने कारण से केवलज्ञानरूप होता है, वह आत्मा की सामर्थ्य है। पुद्गल की शक्ति

का वर्णन करते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ में कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य की भी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति देखने में आती है कि जीव का केवलज्ञान स्वभाव है, यह भी उसकी शक्ति से विनश जाता है। यह कथन निमित्त का है। पुद्गल में निमित्त होने की उत्कृष्ट सामर्थ्य कितनी है, यह बतलाया है। परन्तु यहाँ तो जीव की सामर्थ्य ऐसी है कि वह स्वयं केवलज्ञानरूप होता है।—इस प्रकार से ज्ञान के शुद्धाशुद्ध उपयोग के आठ प्रकार कहे।

अब दर्शन उपयोग की बात करते हैं।

(१) **चक्षुदर्शन-उपयोग** : यह आत्मा का गुण है। आँख से देखना, वह दर्शन उपयोग नहीं, परन्तु दर्शनगुण की चेतनापरिणति, वह चक्षुदर्शन-उपयोग है। वह पुद्गल के कारण से नहीं। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण से रुका हुआ नहीं क्योंकि चक्षुदर्शन चैतन्य की प्रवृत्ति है। पुद्गलास्तिकाय है तो जीवास्तिकाय है, ऐसा नहीं, परन्तु जीव है तो जीवास्तिकाय है। ऐसे पर से भेदज्ञान किये बिना स्वसन्मुख का झुकाव होता नहीं।

(२) **अचक्षुदर्शन-उपयोग** : आँख के अतिरिक्त चार इन्द्रिय के झुकाववाला दर्शनगुण का उपयोग, वह जीव है तो है। कान, नाक आदि है तो है—ऐसा नहीं। ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि न हो तो जीव की सच्ची श्रद्धा नहीं होती। इस प्रकार भेदज्ञान करना, वह धर्म है। वीतराग का कोई भी शास्त्र स्वतन्त्रता की ही बात करता है।

(३) **अवधिदर्शन-उपयोग** : यह भी आत्मा का गुण है, इसके द्वारा आत्मा ज्ञात होता है।

(४) **केवलदर्शन-उपयोग** : आत्मा में होता है, यह आत्मा की सामर्थ्य है। कर्म का अभाव हुआ, इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं।—इस प्रकार से ज्ञान उपयोग के आठ भेद तथा दर्शन उपयोग के चार भेद, इस प्रकार उपयोग के कुल बारह प्रकार कहे।

केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दोनों उपयोग जीव का अखण्ड शुद्ध लक्षण है। और बाकी के दस प्रकार के उपयोग अशुद्ध जीव के लक्षण हैं। यह सब जीव के गुण जानना। यह सब लक्षण जीव को बतलाते हैं।

अब आगे पर्याय का लक्षण बतायेंगे।

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १५, रविवार

जीव का लक्षण चेतना और उपयोग है। उसे यहाँ गुण गिना है क्योंकि अपनी शक्ति के कारण से वह चेतना और उपयोग है। अब पर्याय की बात करते हैं। मूल श्लोक में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अशुद्ध उपयोग की बात की है। अमृतचन्द्राचार्य शुद्धपर्याय की बात भी साथ में करते हैं।

आत्मा में चेतना और उपयोग गुण शुद्ध और अशुद्ध है। इस प्रकार पर्याय भी शुद्ध-अशुद्ध प्रकार से है। जो अगुरुलघुषट्गुणहानिवृद्धिरूप पर्याय आगमप्रमाण से जानने में आती है, वह तो शुद्ध पर्याय कहलाती है। और परद्रव्य के सम्बन्ध से जो चारगतिरूप नर-नारकादि की व्यंजनपर्याय है, वह तो आत्मा की अशुद्ध पर्याय है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यच की पर्याय आत्मा में होती है, वह आत्मा का स्वभाव है। वह कर्म का भाव नहीं, इसलिए कर्म के कारण से होती नहीं। नर, नारकी के शरीर के कारण से वह पर्याय नहीं। आत्मा की अशुद्ध व्यंजनपर्याय है, वह जीवास्तिकाय को बतलाती है। चींटी, हाथी, सिंह इत्यादि के शरीर में जीव अपनी योग्यता से है, उस आकार जीव स्वयं होता है। नारकी में जाता है, वहाँ देह प्रमाण आकार होता है, वह जीव का आकार है।

यहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से नारकी आदि पर्याय लम्बे काल रहती है, उसे पर्याय कही है। नारकी में से मनुष्य हो, मनुष्य में से देव हो, मनुष्य में से तिर्यच हो, ऐसे पर्याय बदलती है, उसे यहाँ पर्याय गिना है। वह पर्याय जीव की है, क्योंकि उसके आकाररूप जीव होता है। कर्म या शरीर होता नहीं।

अब गाथा १७ में वस्तु का नाश या वस्तु की उत्पत्ति होती नहीं, यह बात कहते हैं।



गाथा - १७

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो॥१७॥

मनुष्यत्वेन नष्टो देही देवो भवतीतरो वा।
उभयत्र जीवभावो न नश्यति न जायतेऽन्यः॥१७॥

इदं भावनाशाभावोत्पादनिषेधोदाहरणम्।

प्रतिसमयसम्भवदगुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्तस्वभावपर्यायसन्तत्यविच्छेदकेनैकेन सोपाधिना मनुष्यत्वलक्षणेन पर्यायेण विनश्यति जीवः, तथाविधेन देवत्वलक्षणेन नारकतिर्यक्त्वलक्षणेन वान्येन पर्यायेणोत्पद्यते। न च मनुष्यत्वेन नाशे जीवत्वेनापि नश्यति, देवत्वादिनोत्पादे जीवत्वेनाप्युत्पद्यते; किन्तु सदुच्छेदमसदुत्पादमन्तरेणैव तथा विवर्तत इति॥१७॥

मनुज मर सुरलोक में देवादि पद धारण करें।
पर जीव दोनों दशा में ना नशे ना उत्पन्न हो॥१७॥

अन्वयार्थ :- [मनुष्यत्वेन] मनुष्यत्व से [नष्टः] नष्ट हुआ [देही] देही (जीव) [देवः वा इतरः] देव अथवा अन्य [भवति] होता है; [उभयत्र] उन दोनों में [जीवभावः] जीवभाव [न नश्यति] नष्ट नहीं होता और [अन्यः] दूसरा जीवभाव [न जायते] उत्पन्न नहीं होता।

टीका :- 'भाव का नाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नहीं होता' उसका यह उदाहरण है।

प्रतिसमय होनेवाली अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धि से उत्पन्न होनेवाली स्वभावपर्यायों की सन्तति का विच्छेद न करनेवाली एक सोपाधिक मनुष्यत्वस्वरूप पर्याय से जीव विनाश को प्राप्त होता है और तथाविध (-स्वभावपर्यायों के प्रवाह को न तोड़नेवाली सोपाधिक) देवत्वस्वरूप, नारकत्वस्वरूप या तिर्यचत्वस्वरूप अन्य पर्याय से उत्पन्न होता है। वहाँ ऐसा नहीं है कि मनुष्यत्व से विनष्ट होने पर जीवत्व से भी नष्ट होता है और देवत्व से आदि से उत्पाद होने पर जीवत्व भी उत्पन्न होता है, किन्तु सत् के उच्छेद और असत् के उत्पाद बिना ही तदनुसार विवर्तन (-परिवर्तन, परिणमन) करता है॥१७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल १५, रविवार

अर्थ : मनुष्यपर्याय का व्यय होकर देवपर्याय होती है। अथवा तो नारकी, तिर्यच और मनुष्य भी होता है। देखो, यहाँ मनुष्यपर्याय में आचार्य भगवान थे, उसका नाश करके देवपर्यायरूप से होते हैं, उसकी सन्धि करते हैं। इस बात को मुख्य लिया है। देवपर्याय हुई, वह देवनामकर्म के उदय से हुई है—ऐसा नहीं है। परन्तु वास्तव में जीव की योग्यता के कारण से हुई है। जीवास्तिकाय की सामर्थ्य से हुई है। देव का आयुष्य बाँधा, इसलिए देव में जाना पड़ता है, ऐसा नहीं है। और मनुष्य का आयुष्य पूरा हुआ, इसलिए यहाँ से जाना पड़ा—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि मनुष्य रहा या देव में जाता है, वह अपनी अस्तिकाय के सामर्थ्य के कारण से है। नामकर्म तो पुद्गलास्तिकाय है। पुद्गलास्तिकाय तो निमित्तमात्र है। उसके कारण से जीव की पर्याय हो तो जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय एक हो जाते हैं, दोनों भिन्न रहते नहीं। परन्तु ऐसा होता नहीं।

जीवास्तिकाय असंख्यप्रदेशी है। वह अपनी योग्यता से मनुष्यपर्याय को छोड़ता है। आयुष्य पूरा हुआ और छूटना पड़ा, यह तो निमित्त का कथन है। लोकों में कहावत है कि 'जिसकी टूटी उसकी बूटी नहीं,' अर्थात् कि जिसका आयुष्य पूरा हो गया, वह कोई दवा-बूटी से बचता नहीं, तो वह निमित्त की बात है। वास्तव में तो जीव अपनी योग्यता से मनुष्यपर्याय को छोड़कर देवादि पर्यायरूप होता है। उसमें समयमात्र आगे-पीछे हो, ऐसा नहीं है। जीव मनुष्यपर्याय में रहता है, वह उसके स्वकाल के सामर्थ्य के कारण से रहता है और कदाचित् नरकपर्याय में जाता है, तो वहाँ भी अपने कारण से उस आकार होता है। मनुष्य मरकर पशु हो तो भी अपनी योग्यता के कारण से है। मनुष्यपर्याय बदलकर निगोद की पर्याय की योग्यता अपने कारण से है। कर्म के कारण से तो नहीं परन्तु जैसे देह का संयोग हो, वैसे आकार जीव स्वयं होने पर भी वह देह के कारण से होता नहीं। मनुष्य मरकर मनुष्य भी होता है तो वहाँ भी अपने कारण से है। वह पर्याय जीवास्तिकाय है, ऐसा बतलाती है।

भावार्थ : अनादिकाल से संसारी जीव मोह के वशीभूत होकर अज्ञानभावरूप

परिणमता है। जीव अपने मोहभाव से भटकता है, कर्म से नहीं। कर्म तो निमित्तमात्र है। आत्मा स्वयं अपने को भूलकर कर्म के आधीन होता है। यह जीवास्तिकाय का वर्णन चलता है। इसमें जीव स्वयं अपने अपराध से कर्म के आधीन होकर संसार में भटकता है, परन्तु उसे कर्म आधीन करता नहीं। कर्म तो पुद्गलास्तिकाय है, उसके जीवास्तिकाय आधीन हो, ऐसा जीव का स्वभाव ही नहीं, परन्तु अज्ञानदशारूप से होने की योग्यता जीव की अपनी है। पर के कारण से माने, वह जीवास्तिकाय को समझता नहीं। निगोद में भी कर्म के जोर के कारण से जीव रहा है—ऐसा नहीं। अपने स्वरूप को भूले अथवा तो स्वरूप का आराधन करे तो वह जीव स्वयं करता है, क्योंकि दोष का होना या न होना, वह अपने असंख्यप्रदेश में होता है, पर में नहीं होता।

दोष करना, वह जीवास्तिकाय का स्वभाव है; जड़ का स्वभाव नहीं। जड़ के कारण से दोष माने तो दो द्रव्य एक हो जाते हैं, ऐसा होने से वीतरागदेव के कथन का विरोध होता है। दोष स्वयं अपने कारण से करे और पर से होता है, ऐसा माने, यह बड़ा विरोध है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। जीव-अजीव के भिन्नपने की भी उसे श्रद्धा नहीं। कर्म का रहना या कर्म का जाना, वह आत्मा में है ही नहीं। गोम्मटसार में निमित्त के कथन बहुत आते हैं। वह तो जीव स्वयं अपनी योग्यता से दोषरूप परिणमते हैं, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है, इस अपेक्षा से कथन है। इस प्रकार जीव स्वयं मोहरूप होता है।

यह आत्मा की वैभाविक अशुद्धपर्याय अनादि से है, उसकी बात की। उस अशुद्धपर्याय द्वारा जीवास्तिकाय ज्ञात होता है। अब आत्मा में अनादि-अनन्त शुद्धपर्याय है, उसकी बात करते हैं। स्वाभाविक षड्गुणी हानिवृद्धिरूप जो अगुरुलघुपर्याय धारावाही अखण्डित त्रिकाल समयवर्ती है, वह शुद्धपर्याय है। वह पर्याय जीव में होती है। इतनी बात यहाँ करनी है। उस शुद्धपर्यायरूप नहीं परिणमकर अशुद्धरूप जीव परिणमता है। वह बात यहाँ करनी नहीं है। परन्तु यहाँ तो जीवास्तिकाय में शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की पर्याय है, ऐसा कहना है।

आत्मा विभावभाव से परिणमता हुआ मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्यायरूप होता है अथवा नरकपर्याय और तिर्यचपर्याय को धारण करता है। ऐसे पर्याय से पर्यायान्तररूप

होकर उपजता-विनशता है परन्तु कर्म के कारण से उपजना या विनशना नहीं होता। श्रेणिकराजा ने नारकी का आयुष्य बाँधा, इसलिए नरक में जाना पड़ा है, ऐसा नहीं है। श्रेणिकराजा अपनी योग्यता के कारण से गये हैं। वह अपनी अशुद्ध व्यंजनपर्याय, क्रियावती आदि की योग्यता के कारण से है।

यह बात सुनकर बहुतों को ऐसा लगता है कि तुम निमित्त को उड़ाते हो; परन्तु यहाँ निमित्त की पर्याय निमित्त में उसकी योग्यता के कारण से है, यह कहा जाता है। वह पुद्गल की पर्याय है, उसकी बात पुद्गलास्तिकाय में आयेगी। यहाँ तो जीवास्तिकाय की बात चलती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो या क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, परन्तु अपनी योग्यता के कारण से वह पर्याय को धारण करता है। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव जीवास्तिकाय को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जीव अपने कारण से गमनागमन करे तो ही जीवास्तिकाय सिद्ध होता है। पर के कारण से मानने से सिद्ध नहीं होता। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी संसारी जीव अपनी योग्यता से रहते हैं। जिस समय रहने की योग्यता बदली, उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। मनुष्यपर्याय में रहने की योग्यता नहीं रही तो दूसरा कोई उसे रख नहीं सकता। यहाँ अजीव से जीव की भिन्नता का ज्ञान कराते हैं, वह सम्यग्ज्ञान है।

संसारी पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय होने पर भी जीवभाव कहा जाता है। जीव के अतिरिक्त दूसरा कोई नाश पाता नहीं तथा उत्पन्न भी नहीं होता। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव सदा टंकोत्कीर्ण अविनाशी है, सदा निष्कलंक शुद्धस्वरूपी है। मनुष्यपर्याय का व्यय और नारकपर्याय का उत्पाद होने पर भी जीव तो ऐसा का ऐसा रहता है, अर्थात् जीवभाव पलटकर जड़भाव से नहीं होता। नारकपर्याय का व्यय और मनुष्यपर्याय का उत्पाद, उन सबमें जीव तो ऐसा का ऐसा रहता है, क्योंकि जीव का उत्पाद-व्यय और ध्रुवपना स्वयं से है, पर से नहीं। पर्याय बदलने पर भी जीव बदलता नहीं। उत्पाद-व्यय और ध्रुव इन तीन अंशों में से एक भी अंश पर से माने तो जीवास्तिकाय साबित नहीं होता। संसार अवस्था की अपेक्षा से बात है। वह अवस्था आत्मा की है, जड़ की नहीं। मनुष्यादि का देह छूटे और नया देह पावे, वह तो जड़ की बात है; उसकी बात यहाँ नहीं। यहाँ तो आत्मा की पर्याय बदलने से आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा

स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप से रहता है, दूसरा कोई बदलता नहीं और वस्तुदृष्टि से देखो तो सदा टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा रहता है। जीव का स्वभाव तो निष्कलंक त्रिकाल शुद्ध है और पर्याय देखो तो संसारअवस्था में कलंकित है। वह निष्कलंक और कलंक दोनों जीवास्तिकाय से स्वयं से है।

अब आगे की गाथा में कहते हैं कि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से जीव उपजता है तथा विनशता है, तथापि वास्तव में जीव उपजता नहीं और नाश भी पाता नहीं।

●●



मुनिराज की क्रीड़ा और उनका क्रीड़ास्थल

जैसे कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं। चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र हुआ है, आनन्दादि अनन्त गुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई है। अहा! मुनिपना बड़ी अद्भुत वस्तु है!

भाई! बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान् आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित् दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं। वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता, उसे 'नाश करते हैं' — ऐसा कहा जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २०९

गाथा - १८

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो या विणट्ठो देवो मणुसो त्ति पज्जाओ॥१८॥

स च एव याति मरणं याति न नष्टो न चैवोत्पन्नः।
उत्पन्नश्च विनष्टो देवो मनुष्य इति पर्यायः॥१८॥

अत्र कथंचिद्व्ययोत्पादवत्त्वेऽपि द्रव्यस्य सदाविनष्टानुत्पन्नत्वं ख्यापितम्।

यदेव पूर्वोत्तरपर्यायविवेकसंपर्कापादितामुभयीमवस्थामात्मसात्कुर्वाणमुच्छिद्यमानमुत्पद्य-
-मानं च द्रव्यमालक्ष्यते, तदेव तथाविधोभयावस्थाव्यापिना प्रतिनियतैकवस्तुत्वनिबन्धनभूतेन
स्वभावेनाविनष्टमनुत्पन्नं वा वेद्यते। पर्यायास्तु तस्य पूर्वपूर्वपरिणामोपमर्दोत्तरोत्तरपरिणामो-
त्पादरूपाः प्रणाशसम्भवधर्माणोऽभिधीयन्ते। ते च वस्तुत्वेन द्रव्यादपृथग्भूता एवोक्ताः। ततः
पर्यायैः सहैकवस्तुत्वाज्जायमानं प्रियमाणमपि जीवद्रव्यं सर्वदानुत्पन्नाविनष्टं द्रष्टव्यम्।
देवमनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति॥१८॥

जन्मे-मरे नित द्रव्य ही पर नाश-उद्भव न लहे।

सुर-मनुज पर्यय की अपेक्षा नाश-उद्भव हैं कहे॥१८॥

अन्वयार्थ :- [सः च एव] वही [याति] जन्म लेता है और [मरणंयाति] मृत्यु
प्राप्त करता है तथापि [न एव उत्पन्नः] वह उत्पन्न नहीं होता [च] और [न नष्टः] नष्ट
नहीं होता; [देवः मनुष्यः] देव, मनुष्य [इति पर्यायः] ऐसी पर्याय [उत्पन्नः] उत्पन्न
होती है [च] और [विनष्टः] विनष्ट होती है।

टीका :- यहाँ, द्रव्य कथंचित् व्यय और उत्पादवाला होने पर भी उसका सदा
अविनष्टपना और अनुत्पन्नपना कहा है।

जो द्रव्य पूर्व पर्याय के वियोग से और उत्तर पर्याय के संयोग से होनेवाली उभय
अवस्था को आत्मसात् (अपनेरूप) करता हुआ विनष्ट होता और उपजता दिखाई देता
है, वही (द्रव्य) वैसी उभय अवस्था में व्याप्त होनेवाला जो प्रतिनियत एक वस्तुत्व के

कारणभूत स्वभाव उसके द्वारा (–उस स्वभाव की अपेक्षा से) अविनष्ट एवं अनुत्पन्न ज्ञात होता है; उसकी पर्यायें पूर्व–पूर्व परिणाम के नाशरूप और उत्तर–उत्तर परिणाम के उत्पादरूप होने से विनश–उत्पादधर्मवाली (–विनाश एवं उत्पादरूप धर्मवाली) कही जाती है, और वे (पर्यायें) वस्तुरूप से द्रव्य से अपृथग्भूत ही कही गयी है। इसलिए, पर्यायों के साथ एकवस्तुपने के कारण जन्मता और मरता होने पर भी, जीवद्रव्य सर्वदा अनुत्पन्न एवं अविनष्ट ही देखना (–श्रद्धा करना); देव मनुष्यादि पर्यायें उपजती है और विनष्ट होती हैं क्योंकि वे क्रमवर्ती होने से उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है॥१८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण १, सोमवार

अर्थ : यह जीव उपजता है कि जो मरणभाव को प्राप्त हुआ हो, परन्तु स्वभाव से उस जीव का नाश होता नहीं और वास्तव में वह जीव नया उपजता नहीं, सदा एकरूप है। पर्यायस्वभाव से उपजना–विनशना है, परन्तु स्वभाव जो चैतन्य एकरूप है, वह विनशता नहीं और उपजता नहीं। यह जीवास्तिकाय का वर्णन है। एकरूप रहता है तो भी जीव और उपजे–विनशे तो भी जीव है। पर्याय का उपजना–विनशना यदि पर के कारण से हो तो पर्यायनय का विषय रहता नहीं। जीव अपनी अस्ति में हो तो पर्यायनय का विषय रहता है। द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद–व्यय नहीं और पर्यायार्थिकनय से उत्पाद–व्यय है। यह दोनों अपने में अपने से हो, तब ही दोनों नयों का अस्तित्व रहता है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय—इन तीनों ग्रन्थों को प्राभूत कहा जाता है। तीनों में शुद्ध द्रव्य का वर्णन है। इसलिए वे पर से भिन्न तत्त्व को यथार्थ बताते हैं। यह द्रव्य की स्वतन्त्रता का कथन है। धर्मास्तिकाय के कारण से गति, अधर्मास्तिकाय के कारण से स्थिति, काल के कारण से परिणमन, आकाश के कारण से अवगाहन और पुद्गल के कारण से विकार होता है, ऐसा जीव का पराधीनपना इन प्राभूतों में नहीं कहा गया है परन्तु स्वाधीन स्वतन्त्र शुद्ध द्रव्य का वर्णन है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वस्तु तो ऐसी की ऐसी रहती है, तो फिर उपजता-विनशता कौन है ? तो कहते हैं कि पर्याय उपजती-विनशती है। जैसे कि देवपर्याय का उत्पाद हुआ और मनुष्यपर्याय का व्यय हुआ और जीव का ध्रुवपना रहा। पुरानी पर्याय का व्यय और नयी पर्याय का उत्पाद और जीवद्रव्य का ध्रुवपना है।

भावार्थ : जीव पर्यायनय की अपेक्षा से पहली पर्याय से विनाश पाता हुआ और नयी पर्याय से उत्पन्न होता दिखता है, वही जीव उत्पाद-व्यय अवस्थारूप से होने पर भी अपने अविनाशी स्वाभाविक एक स्वभाव द्वारा न तो उपजता है और न तो विनाश होता है। जो पूर्वपर्याय है, वह नाश होती है और उत्तरपर्याय का उत्पाद होता है। पहली पर्याय का नाश होता है, नयी पर्याय का उत्पाद होता है और द्रव्य तो कायम रहता है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि उदयभावादि स्वतत्त्व है। आत्मा की पर्याय का वह भाव है; इसलिए शुद्ध और अशुद्धपर्याय का कारण आत्मा है, पर नहीं। इसलिए पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय दिखता है, परन्तु त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा से जीव उपजता नहीं और नाश पाता नहीं।

देखो, यहाँ ऐसा कहते हैं कि आत्मा अपनी पर्याय के कारण से उपजते-विनशते स्वभाव को धारण करता है, कर्म के कारण से उपजता-विनशता है, ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है।

पहली पर्याय का नाश होता है और नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। जो द्रव्य पहली पर्याय में था, वही द्रव्य नवीन पर्याय में रहता है। पर्यायों के भेद से द्रव्य में भेद कहा जाता है। मनुष्यपर्याय का नाश और देवपर्याय का उत्पाद होता है, उसमें जीव तो वह का वह रहता है। परन्तु पर्याय बदली, इस अपेक्षा से द्रव्य बदला, ऐसा कहा जाता है। आत्मा मनुष्य हुआ, मनुष्यपने का नाश होकर आत्मा देव हुआ, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वस्तुदृष्टि से भेद नहीं है। वह का वह आत्मा स्वभाव से वैसा का वैसा रहता है।

प्रत्येक पदार्थ अपनी पुरानी पर्याय से नाश होता है, नयी पर्याय से उत्पन्न होता है और द्रव्यरूप से ध्रुव रहता है। तथा पुद्गलद्रव्य अपने कारण से उपजता, विनशता

है और ध्रुवरूप रहता है। पूर्व की तैजस-कार्मणपर्याय का व्यय हुआ और नवीन पर्याय का उत्पाद हुआ और पुद्गलद्रव्य ऐसा का ऐसा है।

द्रव्य जिस समय में जिन पर्यायों से परिणमता है, उस समय में उन परिणामों से तन्मय है। द्रव्य का ऐसा ही स्वभाव है कि परिणामों में एकता धरता है, क्योंकि कथंचित् प्रकार से परिणाम—परिणामी की एकता है।

आत्मा जिस समय में नारकपर्यायरूप से परिणमता है, तब उस पर्यायरूप से तन्मय है और जड़ की पर्याय में जड़ तन्मय है; कोई किसी से नहीं है। नरकायु छूट गयी, वह पर्याय जड़ की थी, वह उसके कारण से उसमें तन्मय है। और जीव की पर्याय जीव के कारण से हुई, वह जीव में तन्मय है। जड़ और चेतन के बीच अत्यन्त अभाव है। चैतन्य की पर्याय चैतन्य में होती है, और जड़ की पर्याय जड़ में होती है। दोनों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। अज्ञानी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ता-कर्म में खतौनी करता है, यह उसकी भ्रमणा है।

जीव स्वयं जब अपनी पर्यायरूप से परिणमता है, तब उस पर्यायमय वह हो जाता है। पर्याय भिन्न रहे और द्रव्य भिन्न रहे, ऐसा नहीं होता। जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि जिन परिणामों को करता है, उन परिणामों में वह एकता धरता है।

यहाँ तो कहते हैं कि राग करे या नरक में या स्वर्ग में जाये तो प्रत्येक पर्याय में जीव स्वयं एकता को धारण करता है। ऐसा जीवद्रव्य का स्वभाव है। जैसे गोरस से दही-दूधादि की पर्याय भिन्न नहीं, परन्तु तन्मय है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय को आत्मा धारण करता है। जड़ की पर्याय को जड़ धारण करता है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को धरता नहीं। शरीर की पर्याय को पुद्गल परमाणुओं ने धारण किया है; क्योंकि किसी अपेक्षा से द्रव्य को पर्याय के साथ अनित्यतादात्म्यसम्बन्ध है। इस प्रकार से परिणाम और परिणामी की एकता है। राग की पर्याय के साथ जीव को अनित्यतादात्म्यसम्बन्ध है और शुद्धपर्याय हो तो भी उसके साथ जीव को अनित्यतादात्म्यसम्बन्ध है, क्योंकि वह पर्याय भी समय-समय में बदलती होने पर भी कथंचित् द्रव्य से अभिन्न है। सर्वथा अभिन्न हो तो द्रव्य पर्याय जितना हो जाये।

परन्तु पूरा द्रव्य पर्याय में आ नहीं जाता, इसलिए कथंचित् पर्याय के साथ द्रव्य तन्मय है। इस प्रकार द्रव्य में उत्पाद-व्यय होने पर भी द्रव्य अपेक्षा से ध्रुवपना है, ऐसा जानना चाहिए।

अब द्रव्य का स्वाभाविक ध्रुवभाव है, इसलिए वह सत्भाव है। उस सत्भाव का नाश नहीं होता और असत्भाव जो जगत में नहीं, उसका उत्पाद नहीं होता। यह गाथा में कहते हैं।



गणधरों के द्वारा नमस्कार योग्य मुनिदशा

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, तब 'ण्मो लोए सव्व साहूणं' – इस पद के द्वारा, गणधर भगवान का नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है, तो यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है - ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है - ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों तो भी वे कहते हैं— 'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।' इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो - ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, उन सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, वे सन्त दुःखी नहीं हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महा-महोत्सव प्रवचन

गाथा - १९

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसो त्ति गदिणामो॥१९॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य नास्त्युत्पादः।
तावज्जीवानां देवो मनुष्य इति गतिनाम॥१९॥

अत्र सदसतोरविनाशानुत्पादौ स्थितिपक्षत्वेनोपन्यस्तौ।

यदि हि जीवो य एव म्रियते स एव जायते, य एव जायते स एव म्रियते, तदैवं सतो विनाशोऽसत उत्पादश्च नास्तीति व्यवतिष्ठते। यत्तु देवो जायते मनुष्यो म्रियते इति व्यपदिश्यते तदवधृतकालदेवमनुष्यत्वपर्यायनिर्वर्तकस्य देवमनुष्यगतिनाम्नस्तन्मात्रत्वादविरुद्धम्। यथा हि महतो वेणुदण्डस्यैकस्य क्रमवृत्तीन्यनेकानि पर्वाण्यात्मीयात्मीयप्रमाणावच्छिन्नत्वात् पर्वान्तरमगच्छन्ति स्वस्थानेषु भावभाज्जि परस्थानेष्वभावभाज्जि भवन्ति, वेणुदण्डस्तु सर्वेष्वपि पर्वस्थानेषु भावभागपि पर्वान्तरसम्बन्धेन पर्वान्तरसम्बन्धाभावादभावभागभवति; तथा निरवधिन्नि-कालावस्थायिनो जीवद्रव्यस्यैकस्य क्रमवृत्तयोऽनेके मनुष्यत्वादिपर्याया आत्मीयात्मीयप्रमाणा-वच्छिन्नत्वात् पर्यायान्तरमगच्छन्तः स्वस्थानेषु भावभाजः परस्थानेष्वभावभाजो भवन्ति, जीवद्रव्यं तु सर्वपर्यायस्थानेषु भावभागपि पर्यायान्तरसम्बन्धेन पर्यायान्तरसम्बन्धाभावाद-भावभागभवति॥१९॥

इस भाँति सत् का व्यय नहिं अर असत् का उत्पाद नहिं ।

गति नाम नामक कर्म से सुर-नर-नरक-ये नाम हैं॥१९॥

अन्वयार्थ :- [एवं] इस प्रकार [जीवस्य] जीव को [सतः विनाशः] सत् का विनाश और [असतः उत्पादः] असत् का उत्पाद [न अस्ति] नहीं है; ('देव जन्मता है और मनुष्य मरता है' -ऐसा कहा जाता है, उसका यह कारण है कि) [जीवानाम्] जीवों की [देवः मनुष्यः] देव, मनुष्य [इति गतिनाम] ऐसा गति नामकर्म [तावत्] उतने ही काल का होता है।

टीका :- यहाँ सत् का अविनाश और असत् का अनुत्पाद ध्रुवता के पक्ष से कहा है (अर्थात् ध्रुवता की अपेक्षा से सत् का विनाश या असत् का उत्पाद नहीं होता-ऐसा इस गाथा में कहा है)।

यदि वास्तव में जो जीव मरता है, वही जन्मता है, जो जीव जन्मता है, वही मरता है तो इस प्रकार सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं है, ऐसा निश्चित होता है। और 'देव जन्मता है और मनुष्य मरता है' ऐसा जो कहा जाता है, वह (भी) अविरुद्ध है क्योंकि मर्यादित काल की देवत्वपर्याय और मनुष्यत्वपर्याय को रचनेवाले देवगतिनामकर्म और मनुष्यगतिनामकर्म मात्र उतने काल जितने ही होते हैं। जिस प्रकार एक बड़े बाँस के क्रमवर्ती अनेक 'पर्व' अपने-अपने माप में मर्यादित होने से अन्य पर्व में न जाते हुए अपने-अपने स्थानों में भाववाले (-विद्यमान) हैं और पर स्थानों में अभाववाले (-अविद्यमान) हैं तथा बाँस तो समस्त पर्वस्थानों में भाववाला होने पर भी अन्य पर्व के सम्बन्ध द्वारा अन्य पर्व के सम्बन्ध का अभाव होने से अभाववाला (भी) है; उसी प्रकार निरवधि त्रिकाल स्थित रहनेवाले एक जीवद्रव्य की क्रमवर्ती अनेक मनुष्यत्वादिपर्याय अपने-अपने माप में मर्यादित होने से अन्य पर्याय में न जाती हुई अपने-अपने स्थानों में भाववाली हैं और पर स्थानों में अभाववाली हैं तथा जीवद्रव्य तो सर्वपर्यायस्थानों में भाववाला होने पर भी अन्य पर्याय के सम्बन्ध द्वारा अन्य पर्याय के सम्बन्ध का अभाव होने से अभाववाला (भी) है।

भावार्थ :- जीव को ध्रौव्य अपेक्षा से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं है। 'मनुष्य मरता है और देव जन्मता है'—ऐसा जो कहा जाता है, वह बात भी उपर्युक्त विवरण के साथ विरोध को प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार एक बड़े बाँस की अनेक पोरें अपने-अपने स्थानों में विद्यमान हैं और दूसरी पोरों के स्थानों में अविद्यमान हैं तथा बाँस तो सर्व पोरों के स्थानों में अन्वयरूप से विद्यमान होने पर भी प्रथमादि पोर के रूप में द्वितीयादि पोर में न होने से अविद्यमान भी कहा जाता है; उसी प्रकार त्रिकाल-अवस्थायी एक जीव की नरनारकादि अनेक पर्यायें अपने-अपने काल में विद्यमान हैं और दूसरी पर्यायों के काल में अविद्यमान हैं तथा जीव तो सर्व पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान होने पर भी मनुष्यादिपर्यायरूप से देवादिपर्याय में न होने से अविद्यमान भी कहा जाता है॥१९॥

१. पर्व=एक गाँठ से दूसरी गाँठ तक का भाग; पोर।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण १, सोमवार

अर्थ : ऊपर कहे अनुसार स्वाभाविक अविनाशी स्वभाव का नाश नहीं होता और जो स्वाभाविक जीवभाव नहीं, उसका उपजना नहीं होता। ऐसा जीव का स्वरूप है, वह प्रथम जानना। आत्मा स्वर्ग-नरक में जाये तो भी जीवस्वभाव का नाश नहीं होता, वह तो वैसा का वैसा शुद्ध रहता है। और जीव को मनुष्य-देवादि नाम से कहा जाता है, वह गतिनामकर्म की विपाक अवस्था से उत्पन्न हुई कर्म की अपेक्षा से कहा जाता है। अर्थात् कि जीव की पर्याय में विकारभाव है, उसमें कर्म का निमित्त है, परन्तु कर्म से विकार होता है—ऐसा नहीं है।

भावार्थ : जीवद्रव्य का कथन दो प्रकार से किया जाता है। एक तो उत्पाद-व्यय की मुख्यता से और दूसरा ध्रुवभाव की मुख्यता से। इन दोनों कथनों में से ध्रुवभाव की मुख्यता से कथन किया जाये तो ऐसा कहा जाता है कि जो जीवद्रव्य मरता है, वही जीवद्रव्य उपजता है और जो उपजता है, वही मरता है। दूसरा कोई मरता है या दूसरा कोई उपजता है, ऐसा नहीं। यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। ध्रुव की अपेक्षा से उपजता है और विनशता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता परन्तु पर्यायनय की अपेक्षा से बात करके वह का वह जीव मरता है और वह का वह जीव उपजता है, ऐसा व्यवहारनय से कथन करके ध्रुवपना बतलाया है।

यदि उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से जीवद्रव्य का कथन किया जाये तो दूसरा उपजता है और दूसरा विनशता है। यह कथन गतिनामकर्म के निमित्त का है। जैसे कि मनुष्यपर्याय का व्यय होता है और देवपर्याय उत्पन्न होती है। यह कथन कर्म के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विभावपर्याय की अपेक्षा से बराबर है। इसमें विरोध नहीं आता। इसके आधार से ऐसा सिद्ध हुआ कि ध्रुवपने की अपेक्षा से जो जीव मरता है, वही जीव उत्पन्न होता है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से दूसरा जीव मरता है और दूसरा जीव उपजता है। पर्यायदृष्टि से भव बदलने से सब बदल जाता है, इसलिए नया जीव उपजता है, ऐसा कहा जाता है। इस बात को दृष्टान्त से समझाते हैं।

एक बड़ा बाँस है। उसमें क्रम से बहुत पौरी (गाँठें) हैं। अब उस बाँस का दो प्रकार से विचार किया जाये तो उस बाँस की सिद्धि होती है। (१) एक तो सामान्य प्रकार से बाँस का कथन है। (२) दूसरा विशेषरूप पौरी का कथन है। जब पौरी का कथन किया जाये, तब जितनी गाँठें हैं, वे सभी अपने-अपने स्वरूप से हैं। एक गाँठ से दूसरी गाँठ भिन्न है, दूसरी गाँठ से मिलती नहीं—सभी न्यारी-न्यारी हैं, परन्तु बाँस तो उन सबमें एक है।

उन पौरियों से भिन्न बाँस का विचार किया जाये तो एक पौरी में पूरा बाँस आता नहीं। जिस-जिस पौरी का बाँस कहा जाता है, उस पौरी का बाँस कहा जाता है। पर्यायदृष्टि से बाँस का विचार करने पर बाँस अनेक है और सामान्य की अपेक्षा से बाँस एक है, इसलिए बाँस पौरी की अपेक्षा से अनेक है और बाँस सामान्य अपेक्षा से एक है। यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार जीवद्रव्य त्रिकाली अविनाशी एक है, उसमें क्रमवर्ती गाँठ की भाँति देव, मनुष्यादि अनेक पर्यायें हैं। सब भव एकसाथ होते नहीं, परन्तु क्रमवर्ती हैं। वे भव अपने-अपने काल में होते हैं। कोई पर्याय किसी पर्याय के साथ मिलती नहीं। कोई भव त्रिकाल रह नहीं सकता। कोई कहे कि पहाड़ की गुफा में योगी समाधि चढ़ाकर अमर हुए हैं, लाखों वर्ष से मनुष्यदेह में है तो यह बात खोटी है, क्योंकि पर्यायदृष्टि से आत्मा भिन्न-भिन्न है, एकरूप नहीं। पर्यायदृष्टि से कथन किया जाये तो एकरूप जीवभाव का कथन नहीं होता, पर्यायदृष्टि से आत्मा उपजा—विनशा कहलाता है और द्रव्यदृष्टि से वह का वह आत्मा है। पर्याय की अपेक्षा न ली जाये तो जीवद्रव्य त्रिकाल अभेदस्वरूप एक है, ऐसा कहा जाता है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वयं अपने निज भाव से सदा टंकोत्कीर्ण एकस्वरूप नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से नित्य नहीं। भव पलट जाता है। इस प्रकार अनेक भव की अपेक्षा से आत्मा को अनेक भी कहा जाता है और अन्य पर्याय की अपेक्षा से भी अन्य कहा जाता है। द्रव्य की अपेक्षा से सत् का नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं हुआ।

आत्मा एक वस्तु है। वस्तुदृष्टि से आत्मा का कभी नाश नहीं होता तो नया उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि जो नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता। पर्याय अपेक्षा से आत्मा

पुराने-पुराने भव से नाश होता है और नये-नये भव से उत्पन्न होता है। त्रिकाली एकरूप रहना और भवों में अनेकरूप होना, यह दोनों स्वयं से है, पर से नहीं। भव में अनेकरूप से होता है, उसमें नामकर्म का निमित्त है। इसलिए उसकी बात की है परन्तु उस नामकर्म के कारण से भव में अनेकरूपता को धारण करता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार जड़ से भेदज्ञान करे और द्रव्यदृष्टि करके पर्यायदृष्टि छोड़े तो उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और वही धर्म है।

ऐसा द्रव्य-पर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ, उसके भव का क्रम नहीं रहता। भव की पर्याय मुझसे है, कर्म से नहीं—ऐसा अनेकान्त का यथार्थ ज्ञान करनेवाला आत्मा एकरूप है। उसका निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, उसे भव का भ्रमण रहता नहीं। उसे अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है, यह बात अब गाथा २०वीं में कहेंगे। ●●

ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि महाराज!

मुनिराज को वीतरागता फली-फूली है; जिस प्रकार फूल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार वीतरागता खिल उठी है। श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया था; करोड़ों चीटियाँ शरीर पर चढ़ गयीं और जगह-जगह काटा — ऐसे उपसर्ग के समय भी मुनि खेद-खिन्न नहीं हुए थे, परन्तु अन्तर में वीतरागी आनन्द में क्रीड़ा करते थे। चेलना रानी कहने लगी — देखो! ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि! अन्तर आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य नहीं जाता। अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं जाता। अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में लीन हो गये हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मुनिराज को प्रतिकूलता में खेद नहीं है और अनुकूलता में हर्ष नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनमृत प्रवचन, पृष्ठ २५२

गाथा - २०

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हविद सिद्धो॥२०॥

ज्ञानावरणाद्या भावा जीवेन सुष्ठु अनुबद्धाः।
तेषामभावं कृत्वाऽभूतपूर्वो भवति सिद्धः॥२०॥

अत्रात्यन्तासदुत्पादत्वं सिद्धस्य निषिद्धम्।

यथा स्तोककालान्वयिषु नामकर्मविशेषोदयनिर्वृत्तेषु जीवस्य देवादिपर्यायेष्वेकस्मिन् स्वकारणनिवृत्तौ निवृत्तेऽभूतपूर्व एव चान्यस्मिन्नुत्पन्ने नासदुत्पत्तिः, तथा दीर्घकालान्वयिनि ज्ञानावरणादि-कर्मसामान्योदयनिर्वृत्तसंसारित्वपर्याये भव्यस्य स्वकारणनिवृत्तौ निवृत्ते समुत्पन्ने चाभूतपूर्वे सिद्धत्वपर्याये नासदुत्पत्तिरिति। किञ्च-यथा द्राघीयसि वेणुदण्डे व्यवहिताव्यवहित-विचित्रचित्रकिर्मीरताखचिताधस्त-नार्धभागे एकान्तव्यवहितसुविशुद्धोर्ध्वार्धभागेऽवतारिता दृष्टिः समन्ततो विचित्रचित्रकिर्मीरताव्याप्तिं पश्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वं, तथा क्वचिदपि जीवद्रव्ये व्यवहिताव्यवहितज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरताखचितबहुतराधस्तनभागे एकान्तव्यवहितसुविशुद्धबहुतरोर्ध्वभागेऽवतारिता बुद्धिः समन्ततो ज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरताव्याप्तिं व्यवस्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वम्। यथाच तत्र वेणुदण्डे व्याप्तिज्ञानाभासनिबन्धन-विचित्रचित्रकिर्मीरतान्वयः, तथाच क्वचिज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरतान्वयः। यथैव च तत्र वेणुदण्डे विचित्रचित्रकिर्मीरतान्वयाभावात्सुविशुद्धत्वं, तथैव च क्वचिज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादि-कर्मकिर्मीरतान्वयाभावादाप्तागमसम्यगनुमानातीन्द्रियज्ञान-परिच्छिन्नात्सिद्धत्वमिति॥२०॥

जीव से अनुबद्ध ज्ञानावरण आदिक भाव जो।

उनका अशेष अभाव करके जीव होते सिद्ध हैं॥२०॥

अन्वयार्थ :- [ज्ञानावरणाद्याः भावाः] ज्ञानावरणादि भाव [जीवेन] जीव के साथ [सुष्ठु] भली भाँति [अनुबद्धाः] अनुबद्ध है; [तेषाम् अभावं कृत्वा] उनका अभाव करके वह [अभूतपूर्वः सिद्धः] अभूतपूर्व सिद्ध [भवति] होता है।

टीका :- यहाँ सिद्ध को अत्यन्त असत्-उत्पाद का निषेध किया है। (अर्थात् सिद्धत्व होने से सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता, ऐसा कहा है)।

जिस प्रकार कुछ समय तक अन्वयरूप से (-साथ-साथ) रहनेवाली,

नामकर्मविशेष के उदय से उत्पन्न होनेवाली जो देवादिपर्यायें, उनमें से जीव को एक पर्याय स्वकारण की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो तथा अन्य कोई अभूतपूर्व पर्याय ही उत्पन्न हो, वहाँ असत् की उत्पत्ति नहीं है; उसी प्रकार दीर्घ काल तक अन्वयरूप से रहनेवाली, ज्ञानावरणादिकर्म सामान्य के उदय से उत्पन्न होनेवाली संसारित्वपर्याय भव्य को स्वकारण की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो और अभूतपूर्व (-पूर्व काल में नहीं हुई ऐसी) सिद्धत्वपर्याय उत्पन्न हो, वहाँ असत् की उत्पत्ति नहीं है।

पुनश्च (विशेष समझाया जाता है) :-

जिस प्रकार जिसका विचित्र चित्रों से चित्रविचित्र नीचे का अर्ध भाग कुछ ढँका हुआ और कुछ बिन ढँका हो तथा सुविशुद्ध (-अचित्रित) ऊपर का अर्ध भाग मात्र ढँका हुआ ही हो ऐसे बहुत लम्बे बाँस पर दृष्टि डालने से वह दृष्टि सर्वत्र विचित्र चित्रों से हुए चित्रविचित्रपने की व्याप्ति का निर्णय करती हुई 'वह बाँस सर्वत्र अविशुद्ध है (अर्थात् सम्पूर्ण रंग-बिरंगा है)' -ऐसा अनुमान करती है; उसी प्रकार जिसका ज्ञानावरणादि कर्मों से हुआ चित्रविचित्रतायुक्त (-विविध विभावपर्यायवाला) बहुत बड़ा नीचे का भाग कुछ ढँका हुआ और कुछ बिन ढँका है तथा सुविशुद्ध (सिद्धपर्यायवाला) बहुत बड़ा ऊपर का भाग मात्र ढँका हुआ ही है, ऐसे किसी जीवद्रव्य में बुद्धि लगाने से वह बुद्धि सर्वत्र ज्ञानावरणादि कर्म से हुए चित्रविचित्रपने की व्याप्ति का निर्णय करती हुई 'वह जीव सर्वत्र अविशुद्ध है (अर्थात् सम्पूर्ण संसारपर्यायवाला है)' ऐसा अनुमान करती है। पुनश्च जिस प्रकार उस बाँस में व्याप्तिज्ञानाभास का कारण (नीचे के खुले भाग में) विचित्र चित्रों से हुए चित्रविचित्रपने का अन्वय (-सन्तति, प्रवाह) है, उसी प्रकार उस जीवद्रव्य में व्याप्तिज्ञानाभास का कारण (नीचे के खुले भाग में) ज्ञानावरणादि कर्म से हुए चित्रविचित्रपने का अन्वय है। और जिस प्रकार बाँस में (ऊपर के भाग में) सुविशुद्धपना है, क्योंकि (वहाँ) विचित्र चित्रों से हुए चित्रविचित्रपने के अन्वय का अभाव है, उसी प्रकार उस जीवद्रव्य में (ऊपर के भाग में) सिद्धपना है क्योंकि (वहाँ) ज्ञानावरणादि कर्म से हुए चित्रविचित्रपने के अन्वय का अभाव है-कि जो अभाव आप्त-आगम के ज्ञान से सम्यक् अनुमानज्ञान से और अतीन्द्रिय ज्ञान से ज्ञात होता है।

भावार्थ :- संसारी जीव की प्रगट संसारी दशा देखकर अज्ञानी जीव को भ्रम उत्पन्न होता है कि- 'जीव सदा संसारी ही रहता है, सिद्ध हो ही नहीं सकता; यदि सिद्ध

हो तो सर्वथा असत्-उत्पाद का प्रसंग उपस्थित हो।' किन्तु अज्ञानी की यह बात योग्य नहीं है।

जिस प्रकार जीव को देवादिरूप एक पर्याय के कारण का नाश होने पर उस पर्याय का नाश होकर अन्य पर्याय की उत्पन्न होती है, जीवद्रव्य तो जो है वही रहता है; उसी प्रकार जीव को संसारपर्याय के कारणभूत मोहरागद्वेषादि का नाश होने पर संसारपर्याय का नाश होकर सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, जीवद्रव्य तो जो है वही रहता है। संसारपर्याय और सिद्धपर्याय दोनों एक ही जीवद्रव्य की पर्यायें हैं।

पुनश्च, अन्य प्रकार से समझाते हैं :- मान लो कि एक लम्बा बाँस खड़ा रखा गया है; उसका नीचे का कुछ भाग रंगबिरंगा किया गया है और शेष ऊपर का भाग अरंगी (-स्वाभाविक शुद्ध) है। उस बाँस के रंगबिरंगे भाग में से कुछ भाग खुला रखा गया है और शेष सारा रंगबिरंगा भाग और पूरा अरंगी भाग ढंक दिया गया है। उस बाँस का खुला भाग रंगबिरंगा देखकर अविचारी जीव 'जहाँ-जहाँ बाँस हो वहाँ-वहाँ रंगबिरंगीपना होता है' ऐसी व्याप्ति (-नियम, अविनाभावसम्बन्ध) की कल्पना कर लेता है और ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान खींच लेता है कि 'नीचे से ऊपर तक सारा बाँस रंगबिरंगा है।' यह अनुमान मिथ्या है; क्योंकि वास्तव में तो उस बाँस के ऊपर का भाग रंगबिरंगेपने के अभाववाला है, अरंगी है। बाँस के दृष्टान्त की भाँति-कोई एक भव्य जीव है; उसका नीचे का कुछ भाग (अर्थात् अनादि काल से वर्तमान काल तक का और अमुक भविष्य काल तक का भाग) संसारी है और ऊपर का अनन्त भाग सिद्धरूप (-स्वाभाविक शुद्ध) है। उस जीव के संसारी भाग में से कुछ भाग खुला (प्रगट) है और शेष सारा संसारी भाग और पूरा सिद्धरूप भाग ढँका हुआ (अप्रगट) है। उस जीव का खुला (प्रगट) भाग संसारी देखकर अज्ञानी जीव 'जहाँ-जहाँ जीव हो वहाँ-वहाँ संसारीपना है' ऐसी व्याप्ति की कल्पना कर लेता है और ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान करता है कि 'अनादि-अनन्त सारा जीव संसारी है।' यह अनुमान मिथ्या है; क्योंकि उस जीव का ऊपर का भाग (-अमुक भविष्य काल के बाद का अनन्त भाग) संसारीपने के अभाववाला है, सिद्धरूप है-ऐसा सर्वज्ञ प्रणीत आगम के ज्ञान से, सम्यक् अनुमानज्ञान से तथा अतीन्द्रिय ज्ञान से स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस तरह अनेक प्रकार से निश्चित होता है कि जीव संसारपर्याय नष्ट करके सिद्धरूपपर्यायरूप परिणमित हो, वहाँ सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।१०॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण २, मंगलवार

अब सर्वथा प्रकार से संसारपर्याय के अभावस्वरूप सिद्धपर्याय को बतलाते हैं। सिद्धपद का वर्णन करते हैं।

अर्थ : ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार की कर्मपर्याय जो हैं, उसने संसारीजीव को अनादि काल से राग-द्वेष-मोह के वश से भलीभाँति अतिशय गाढ़ बन्ध को बाँधा हुआ है। आत्मा वस्तु है, वह अनादि से द्रव्यदृष्टि से शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय में अशुद्धता है। अनादि से ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म के निमित्त से स्वयं राग-द्वेष-मोह के वश हुआ है, इसलिए व्यवहार से जड़कर्म से बाँधा हुआ है, ऐसा कहा जाता है और अपनी पर्याय से बाँधा हुआ है, यह अशुद्ध निश्चयनय का कथन है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये जड़कर्म से गाढ़ बन्ध से बाँधा हुआ है, ऐसा कहा है। वास्तव में जड़ की पर्याय आत्मा को बाँधती नहीं। स्वयं अज्ञानभाव करता है, इसलिए व्यवहार से जड़कर्म से बाँधा है, ऐसा कहा गया है।

इन आठों कर्मों का मूल सत्ता से नाश किया जाये तो अनादिकाल से किसी भी काल में प्राप्त नहीं हुए ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति होती है। जड़कर्मों का नाश करना, वह आत्मा के हाथ की बात नहीं है, परन्तु आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करे तो राग-द्वेष-मोह का नाश होता है। इसलिए कर्मों का नाश किया, ऐसा कहा जाता है। कर्मों का नाश होने में राग-द्वेष का अभाव, वह निमित्त है। राग-द्वेष, वे निमित्त हैं और कर्म नैमित्तिक है। आत्मा राग करे तो जड़कर्म को निमित्त कहा जाता है, अर्थात् विकारीपर्याय, वे नैमित्तिक है और जड़कर्म, वह निमित्त है। निमित्त ही नहीं, ऐसा कोई मानता हो तो वह बात खोटी है। और निमित्त है, इसलिए राग-द्वेष होते हैं—ऐसा भी नहीं और राग-द्वेष होते हैं, इसलिए नये कर्म को बाँधना पड़ता है—ऐसा भी नहीं। कर्म की पर्याय कर्म के कारण से होती है। राग की पर्याय राग के कारण से होती है।

आत्मा त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द है। निमित्त पर है और राग होता है, उतना मैं

नहीं; मैं तो अनादि से शुद्ध हूँ, ऐसी दृष्टि हुई और उसमें लीनता होने से मिथ्यात्व-रागादि का अभाव होता है। और राग का नाश होने से कर्म का भी नाश होता है। नया कर्म उसके कारण से बँधता नहीं। राग-द्वेष का अभाव होने से अनादि से जो नहीं था, ऐसा सिद्धपद प्राप्त होता है। पर्यायदृष्टि से सिद्धपद नया होता है। इस गाथा में चार बोल कहते हैं :—

- (१) द्रव्यदृष्टि से आत्मा में सिद्धपद अनादि-अनन्त है।
- (२) पर्यायदृष्टि से आत्मा में कभी नहीं हुई ऐसी नयी सिद्धपर्याय होती है।
- (३) द्रव्यदृष्टि से आत्मा में संसार है ही नहीं।
- (४) पर्यायदृष्टि से आत्मा में संसार अनादि का है, नया नहीं।

भावार्थ : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद से नय दो प्रकार के हैं। उन दो नय से वस्तु का स्वरूप बतलाते हैं।

द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा की जाये तो जीवद्रव्य सदा अविनाशी, टंकोत्कीर्ण, संसारपर्याय होने पर भी उत्पाद-नाश से रहित सिद्धसमान है। वस्तुदृष्टि से आत्मा संसार के नाश और सिद्धपर्याय के उत्पादरहित एकरूप सिद्धसमान है। आत्मा ज्ञायक, त्रिकाल जाननेवाला-देखनेवाला है। उसमें संसार का नाश और सिद्ध का उत्पाद—ऐसे भेद पर्यायदृष्टि से हैं। द्रव्यदृष्टि से वे भेद नहीं हैं। समयसार नाटक में कहा है कि :—

चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो।

सिद्धपद अनादि से आत्मा में है। ऐसी श्रद्धा करे, तब निमित्त होता है। परन्तु अपनी पर्याय अपने से होती है। वस्तु तो जैसी की तैसी है—ऐसी दृष्टि करे और उसमें लीनता करे तो सिद्धपर्याय प्रगट होती है। क्रियाकाण्ड से वह प्रगट नहीं होती।

पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से जीवद्रव्य जब देव-मनुष्यादि पर्याय को धारण करता है, तब जीवद्रव्य उस अवस्थारूप परिणमता हुआ उत्पाद-व्यय अवस्था को धारण करता है। उस अवस्थारूप से आत्मा स्वयं होता है, पर के कारण से या पर से नहीं होता। जैसे सोना में कड़ा-कुण्डलादि की अवस्था होती है, उसरूप सोना होता है, सोनी से वह अवस्था हुई नहीं। सोनी से हुई, ऐसा माने तो वह अवस्थादृष्टि को नहीं

मानता। तथा आत्मा की अवस्था निमित्त से या कर्म से हुई, ऐसा माना जाये तो पर्यायदृष्टि से आत्मा उस पर्यायरूप होता है, यह बात नहीं रहती। परन्तु कर्म तो निमित्तमात्र है, आत्मा स्वयं उस पर्यायरूप होता है, ऐसा माने तो पर्यायदृष्टि से जीवास्तिकाय का बराबर ज्ञान किया कहलाये। ऐसा द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि का विलास है।

देखो, यहाँ ऐसा सिद्ध करते हैं कि संसारी पर्याय नयी नहीं। पर्यायदृष्टि से संसार अनादि का है। वस्तुदृष्टि से आत्मा में संसार त्रिकाल नहीं। आत्मा स्वयं अपने ज्ञातास्वभाव को चूककर, दया, दान, काम, क्रोधादि के परिणाम, वह मैं हूँ—ऐसी पर्यायबुद्धि करके ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का सम्बन्ध करता है, तब व्यवहार से ज्ञानावरणीयादि कर्मों के सम्बन्ध से संसार है, ऐसा कहा जाता है। निश्चय से स्वयं जिस प्रकार की पर्याय करता है, वह नैमित्तिक है और उसमें जड़कर्म निमित्त है। नये कर्मों का बन्ध पड़े, वह नैमित्तिक है और आत्मा के रागादि के परिणाम, वे उसमें निमित्त हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव अनादि का है, परन्तु कर्म के कारण से संसार है, ऐसा इसका अर्थ नहीं। विकार में कर्म निमित्त है, वह नया नहीं। वह सम्बन्ध एक बार टूटा तो फिर होता नहीं—यह यहाँ सिद्ध करते हैं। पर्यायदृष्टि से विकारी भाव अनादि का है। द्रव्यस्वभाव में विकार त्रिकाल नहीं है।

भव्य जीव काललब्धि को पाकर, सम्यग्दर्शनादि मोक्ष की सामग्री प्राप्त करके यद्यपि सिद्धपर्याय नयी पाता है, तथापि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सिद्धपद नया नहीं, अनादि-अनन्त आत्मा का सिद्ध स्वभाव ही है। अपनी पर्याय की योग्यता या काललब्धि है। आत्मा में अन्तरदृष्टि हुई और पर्याय में जो कार्य हुआ, वह सम्यग्दर्शनादि की अन्तर सामग्री मोक्षमार्ग है। उसके द्वारा मोक्ष होता है। भव्यजीव को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अभव्य को होती नहीं। अन्तर्दृष्टि से ज्ञान और रमणता करने से सिद्धदशा प्रगट होती है। पर्यायदृष्टि से सिद्धदशा नयी होती है परन्तु द्रव्यदृष्टि से सिद्धपद नया नहीं, क्योंकि आत्मा द्रव्यदृष्टि से सदा सिद्ध समान है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा है। जैसे नमक खारापन से भरपूर है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान से भरपूर है। पर की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकता परन्तु पर्याय में रागादि करना, वह कार्य भी आत्मा का नहीं। आत्मा का कर्तव्य तो ज्ञान करना है।

सोना की पर्याय कुण्डल मिटकर कड़ारूप होती है, वह पर्यायदृष्टि से कड़ा की

पर्याय नवीन है, परन्तु सोना की अपेक्षा से वह नया नहीं है। आत्मा में अनादिकाल से कर्म के निमित्त से विकारी भाव है, वह नया नहीं है। इस प्रकार पर्यायदृष्टि से अनादि से अनन्त भव किये हैं। कोई भव नये नहीं हैं। अहो! इस जीव को शान्ति कहाँ से हो? कौन शरणभूत है? अहो! शान्ति तो चिदानन्द में है, उसकी तो खबर नहीं। शरीर और पर में एकत्वबुद्धि वर्तती है, उसे संसार पर्यायदृष्टि से अनादि का है। देवगति में जाये तो वहाँ भी एकत्वबुद्धि करता है। मनुष्य हो, ज्ञान का उघाड़ भी हो, तथापि संसार की रुचि में यह सत्य तत्त्व की बात सुनने को भी निवृत्त नहीं होता तो वह चौरासी में भटकने की सजा का पात्र बनता है। पराधीनदृष्टि होने से पर्याय की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता। शरीर में व्याधि होती है, तब बाहर की सामग्री होने पर भी वह सामग्री शान्ति नहीं दे सकती, क्योंकि शान्ति पर में नहीं परन्तु आत्मा में है, ऐसा स्वीकार नहीं करता। उसे पर्यायदृष्टि से संसार अनादि का है, द्रव्यदृष्टि से संसार है ही नहीं।

थोड़ी स्थितिवाली देवादि की पर्याय नामकर्म के उदय से प्राप्त होती है। उसमें कोई एक पर्याय जीव की अशुद्धता के कारण से उत्पन्न होने पर भी वह नयी पर्याय नहीं कहलाती, क्योंकि संसारी जीव को अशुद्धपर्यायों की परम्परा चली आती है। जो पहले न हो और नयी हो तो नवीन कहलाये, परन्तु ऐसा तो नहीं। मनुष्य में से देवपर्याय अशुद्धता के कारण से नयी होती है, परन्तु अनादि संसारी जीव की पर्याय की अपेक्षा से वह नयी नहीं है। यहाँ समय-समय में पुरानी पर्याय का व्यय और नयी पर्याय का उत्पाद होता है, यह बात नहीं है। यहाँ तो नया विकार करने पर भी अनादि की अपेक्षा से वह नया नहीं है, ऐसा कहना है।

देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यचादि के भव विकारीभाव के कारण से नये-नये होने पर भी अनादि प्रवाह में वह विकारीभाव पर्यायदृष्टि से पहले नहीं था और नया हुआ है, ऐसा नहीं है। इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यबुद्धि कर। द्रव्यदृष्टि से आत्मा त्रिकाल एकरूप है और पर्याय में विकार होता है, वह पर्यायदृष्टि से नया नहीं और आत्मा में जो सिद्धदशा प्रगट होती है, वह द्रव्यदृष्टि से नयी नहीं। आत्मा चिदानन्द एकरूप है, पुण्य-पापरहित टंकोत्कीर्ण, ज्ञानानन्दमूर्ति है। उसकी अन्तर्दृष्टि करके ज्ञान में लीनता करे तो सिद्धपद नया प्रगट होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से वह पद त्रिकाल है, नया नहीं।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ३, बुधवार

अनादि-अनन्त पंचास्तिकाय पदार्थ हैं। जिसे कल्याण करना हो, उसे जीव पदार्थ को जानना चाहिए। जीव का ज्ञानस्वभाव त्रिकाल नित्य है और विकार अनित्य है। वह विकार टल जाये तो मोक्षमार्ग होता है और आत्मा में शान्ति और सुख होता है। इसलिए यह वर्णन किया गया है।

जीव वस्तु है। उसे अवस्थादृष्टि से अशुद्धता के कारण से नयी देह मिलती है। अवस्थादृष्टि न करे और त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि करे तो सिद्धस्वरूपी आत्मा त्रिकाल है, और पर्यायदृष्टि से सिद्धदशा नयी है। यह आत्मा के सुख की बात रुचिपूर्वक सुने नहीं, इसलिए याद रहे नहीं। परन्तु संसार की बात हो तो सब याद रहती है। इसका कारण यह है कि इसकी संसार की रुचि है और आत्मा की रुचि नहीं।

आत्मा को दो दृष्टि से देखना चाहिए। शरीर, वाणी, मन आदि परपदार्थ तो आत्मा में हैं ही नहीं, इसलिए उनकी बात क्या करना? और जड़कर्म के कारण से भी चार गति में परिभ्रमण नहीं, इसलिए उसकी भी बात नहीं। परन्तु पर्याय अपेक्षा से आत्मा की अशुद्धता के कारण से नया-नया भव होने पर भी प्रवाहरूप से वह अनादि का है, नया नहीं। सांकल में एक के बाद एक मकोड़ा कड़ीबद्ध चलता आता है, उसमें कोई मकोड़ा नया नहीं। उस कड़ीबद्ध मकोड़े में से एक मकोड़ा टूटे तो धारावाही सांकल रहती नहीं। इसी प्रकार आत्मा में अनादि से प्रवाहरूप से धारावाही अशुद्धता चली आती है, वह अशुद्धता नयी नहीं है। देव के पश्चात् मनुष्य और तिर्यच आदि भव धारावाही प्रवाहरूप से चले ही आते हैं। वह अशुद्धभाव प्रवाहरूप से है, उसमें से प्रवाह टूटे तो संसार रहता नहीं। जैसे एक रुई की पुणी में दूसरी पुणी साँधा करे, उसी प्रकार संसार की पुणी नयी-नयी अनादि से साँधा करता है, इसलिए अशुद्धता अनादि की है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सिद्धपर्याय नयी हुई है, ऐसा नहीं है, परन्तु शाश्वत जीवद्रव्य में आत्मिकभावरूप सिद्धपर्याय सदा स्थित है। संसार जैसे

पर्यायार्थिकनय से अनादि का है, नया नहीं; उसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय से सिद्धपर्याय भी नयी नहीं, शाश्वत् है। संसार का नाश करके सिद्धपर्याय नयी उत्पन्न होती है— यह कथन तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से है। इस बात को गर्म पानी के दृष्टान्त से समझाते हैं। कोई बोरिंग में से जो गर्म पानी निकलता है अथवा तो पहाड़ में से कोई गर्म पानी का झरना बहता है, उसकी बात है।

- (१) पर्यायदृष्टि से वह पानी नया गर्म हुआ नहीं, परन्तु अनादि का है।
- (२) द्रव्यदृष्टि से वह पानी स्वभाव से त्रिकाल गर्म हुआ नहीं।
- (३) पर्यायदृष्टि से उस गर्म अवस्था का अभाव होकर ठण्डी अवस्था होती है।
- (४) द्रव्यदृष्टि से पानी का स्वभाव त्रिकाल ठण्डा है।

इस प्रकार आत्मा में पर्यायदृष्टि से अशुद्धता अनादि की है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा अशुद्ध हुआ ही नहीं। और पर्यायदृष्टि से सिद्धपद नया होता है; द्रव्यदृष्टि से सिद्धपद नया नहीं, ऐसा समझना।

और यहाँ बाँस का दृष्टान्त देते हैं :—

एक बड़ा बाँस है, उसके अर्धभाग में चित्राम किया हुआ है और आधा भाग चित्रामरहित साफ है। उस अर्धभाग में चित्राम नहीं, उस भाग को ढँककर रखा है और जो चित्रित भाग है, उसे खुल्ला रखा हुआ है। अब जिसे इस बाँस के भेद की खबर नहीं, वह अर्ध चित्रित बाँस को देखकर पूरा चित्रित है, ऐसा मानता है। क्योंकि अर्ध चित्रामरहित बाँस है, इसकी उसे खबर नहीं। उसी प्रकार यह जीवपदार्थ एक भाग में तो अनेक संसारपर्यायों से चित्रित बहुरूप है और एक भाग में शुद्ध सिद्धपर्याय है। जो शुद्धपर्याय है, वह तो प्रत्यक्ष नहीं, ऐसे जीवद्रव्य को अज्ञानी जीव जानता नहीं। वह संसारी अशुद्धपर्याय को देखकर जीवद्रव्य को सर्वथा अशुद्ध मानता है। यहाँ बाँस का दृष्टान्त दिया है। उसमें आधा बाँस चित्रामवाला और आधा चित्रामरहित लिया है। सिद्धान्त में ऐसा नहीं है। संसारीपर्याय का भाग तो सिद्धपर्याय से अनन्तर्वेन भाग है। दृष्टान्त में तो मात्र दो भाग ही बतलाने का प्रयोजन है। कोई भाँड (बहुरूपिया) कुत्ते का वेश लेकर आवे तो भाँड को नहीं जाननेवाला, 'यह कुत्ता ही है' ऐसा मानता है। उसी

प्रकार जीव चार गतिरूप संसार में कुत्ता, कौआ, मनुष्य इत्यादि के भव धारण करता है। वे मात्र एक भाग में ही हैं, त्रिकाली स्वरूप नहीं। अज्ञानी संसारपर्याय जितना अपने को मान बैठता है, परन्तु अवस्था दृष्टि से मुक्त होता है, उसे वह जानता नहीं।

संसारपर्याय क्षणिक है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध ज्ञाता है—ऐसी दृष्टि होने के बाद उसमें रमणता करने से सिद्धपर्याय प्रगट होती है। उसका जिसे भान नहीं, वह जिस-जिस भव में जन्मता है, वहाँ उसरूप पूरे आत्मा को मान बैठता है। गरीब अवस्थावाले को भविष्य में तवंगर (धनवान) अवस्था बहुत काल रहनेवाली है, इसकी खबर नहीं, इसलिए वह अपने को गरीब ही मान बैठता है। इसी प्रकार अज्ञानी अनादि से अपने को गरीब—पराधीन मान बैठा है। सिद्धपर्याय प्रगट नहीं, परन्तु वह पर्याय सम्यग्दृष्टि को आचरण करने से प्रगट होती है। इसकी उसे खबर नहीं, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा का पद तो सदा सिद्धस्वरूप ही है; उसके एक भाग में अर्थात् पर्याय में संसार है। उसे अज्ञानी देखता है, परन्तु अप्रगट सिद्धपर्याय को नहीं देखता। सिद्धपर्याय प्रगट करे, ऐसे सामर्थ्यवाला आत्मा है, संसारपर्याय प्रगट करने के स्वभाववाला आत्मा नहीं। आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति त्रिकाल है, उसकी दृष्टि करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। उसे अज्ञानी देखता नहीं, परन्तु चार गति में भटकनेवाला आत्मा है, ऐसा वह मानता है; इसलिए उसका अज्ञान टलता नहीं। जीवद्रव्य का पूरा स्वरूप जानता नहीं, वह अशुद्धपर्याय को देखकर 'मैं सर्वथा अशुद्ध हूँ'—ऐसा मान बैठता है, वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु विकार जितना मैं नहीं, मेरा त्रिकाली स्वरूप तो शुद्ध ही है—ऐसा भेदज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है।

जैसे कोई नाटक का मैनेजर स्वयं स्त्री का वेश धारण करे, उसे देखकर उसको नहीं पहिचाननेवाले कोई मनुष्य उसे स्त्री ही मान बैठता है, उसी प्रकार मैं आत्मा हूँ, मेरा स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, मैंने मेरी पर्याय में विकार किया था, और उसका नाश करके सिद्धदशा को मैं प्रगट करता हूँ, ऐसा न मानकर वर्तमान मलिनपर्याय जितना आत्मा को मान बैठता है, वह मिथ्यादृष्टि है। राजमहल में रहनेवाला और उत्कृष्ट भोजन खानेवाला राजा किसी समय जंगल में जाये और वहाँ उसे भूख लगी हो, उस समय

कोई रबारी उसे ज्वार की ठूमरी और दही खाने को दे तो उसे मीठा लगता है और वह प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है, परन्तु वास्तव में उसका वह भोजन नहीं है; उसी प्रकार आत्मा त्रिकाल शुद्ध राजा है। वह अनादि से विकारी पर्याय में प्रसन्न हो गया है, परन्तु यदि सम्यग्ज्ञान करे तो आत्मा संसार के वेश जितना नहीं, अपितु टंकोत्कीर्ण प्रतिमा जैसा एकरूप शुद्ध है, उसका भान होता है, यह बात अब कहते हैं।

जब सम्यग्ज्ञान होता है, तब सर्वज्ञप्रणीत यथार्थ आगमज्ञान, अनुमान, स्वसंवेदनज्ञान के बल से यथार्थ शुद्ध आत्मिकस्वरूप को जानकर, देखकर, आचरण करके समस्त कर्मपर्यायों का नाश करके, सिद्धपद की प्राप्ति होती है। जैसे चित्रित बाँस पानी से धो डाले तो साफ हो जाता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान से मिथ्यात्वादि भावों का नाश करने से आत्मा शुद्ध होता है।

प्रथम, सर्वज्ञ ने कहे हुए यथार्थ आगम का ज्ञान करना। जैसे संसार में मेल बराबर मिलाता है, उसी प्रकार जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा सर्वज्ञ भगवान के आगम से मिलावे कि पर्याय में वर्तमान अपराध है, वह त्रिकाल में नहीं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध है। पर के कारण से दोष नहीं। स्वभावदृष्टि करने से मिथ्यात्व का नाश होता है, ऐसा प्रथम आगम से निर्णय करे। सर्वज्ञ भगवान कौन हैं ? उनका आगम क्या कहता है ? इसका प्रथम निर्णय करे।

पश्चात् अनुमान करे कि ज्ञान, वह आत्मा है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है। राग, वह आत्मा नहीं। परपदार्थ तो प्रत्यक्ष भिन्न है। ऐसा अनुमान करके स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञान का वेदना होता है। राग से या पुण्य से ज्ञान का वेदन होता नहीं। जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः। बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वदा।' इत्यादि आत्मा के स्वरूप को जानकर, उसका श्रद्धान करे, उसमें ही रमणता करने से विकार का सर्वथा नाश होकर सिद्धपद की प्राप्ति होती है। कोई स्तम्भ के ऊपर कोयले से चित्र बनाया हो तो पानी द्वारा धोने से वह साफ हो जाता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जल से अनादि भ्रान्ति का नाश होता है। इस प्रकार सिद्धपद प्राप्त करने का उपाय बताया। इसके अतिरिक्त कोई क्रियाकाण्ड वह उसका उपाय नहीं है।

अब, २१वीं गाथा में जीव की उत्पाद-व्यय अवस्था से सत् के उच्छेद का और असत् के उत्पाद को संक्षेप से सिद्ध करते हैं। आत्मा की विकारी पर्याय को चार प्रकार से अद्भुत रीति से सिद्ध करते हैं। जीवद्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध एकरूप है परन्तु उसकी पर्याय में चार प्रकार से कर्तापना है।

आत्मा में नयी-नयी पर्याय होती है। सत् का नाश और असत् का उत्पाद संक्षेप में कहकर जीवद्रव्य का कर्तापना पूरा करेंगे। जीव द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध है। उस अशुद्ध पर्याय में (१) भाव, (२) अभाव, (३) भावाभाव और (४) अभावभाव। ये चार भाव क्षण-क्षण में पर्याय में हैं, ऐसा सिद्ध करके अनादि से संसारपर्याय कैसे है? वह क्रमबद्ध है। यह अब २१वीं गाथा में सिद्ध करेंगे।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ४, गुरुवार

गाथा २०वीं में कहा कि जैसे बाँस का आधा भाग चित्रित देखकर दूसरा भाग कि जो चित्राम रहित है, उसकी जिसको खबर नहीं, वह पूरे बाँस को चित्रित मानता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव आत्मा की पर्याय में विकार है, वह प्रगट है, उसे देखकर और त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि करने से सिद्धपर्याय प्रगट होती है। वह अप्रगट है, इसकी उसे खबर नहीं होने से, पूरे आत्मा को अशुद्ध मानता है।

यहाँ दृष्टान्त में बाँस का आधा भाग चित्रामवाला है परन्तु आत्मा में वैसा नहीं है। आत्मा की अशुद्धपर्याय की अपेक्षा शुद्धपर्याय का काल अनन्तगुना है, इतना अन्तर है। परन्तु यहाँ तो दो भाग को बतलाने का प्रयोजन है। एक भाग अशुद्ध है और एक भाग शुद्ध है, इतना बतलाना है। संसार का सुख तो कल्पना मात्र है। उसकी अपेक्षा सिद्ध के सुख की पर्याय अनन्तगुणी है। संसारपर्याय का काल अल्प है, सिद्ध की पर्याय का काल अनन्त है और आत्मा के शुद्धस्वभाव का काल अनादि-अनन्त है। संसार की आदि नहीं, परन्तु अन्त है और सिद्ध की आदि है, परन्तु अन्त नहीं। अनादि से संसार-पर्याय प्रगट है और सिद्धपर्याय प्रगट नहीं। आत्मा ज्ञायक शुद्धस्वभावी त्रिकाल है और विकार अल्प है।

कल बात आयी थी कि प्रथम सर्वज्ञप्रणीत आगमज्ञान करना चाहिए। तो कोई ऐसा कहे कि 'आगम पहले और ज्ञान बाद में होता है, इसलिए निमित्त बिना ज्ञान नहीं होता', परन्तु इसका ऐसा अर्थ नहीं है। आगम तो कहता है कि आत्मा ज्ञायकमूर्ति स्वतन्त्र है। जगत में छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वतन्त्र अपने से होता है और नौ तत्त्व इत्यादि हैं—ऐसा आगम कहता है, परन्तु उसका ज्ञान करने की योग्यता तो जीव की स्वयं की है। वह कहीं आगम के कारण से हुई नहीं। और आगम है, इसलिए वह योग्यता है, ऐसा भी नहीं और वाणी है, इसलिए ज्ञान की योग्यता है, ऐसा भी नहीं। आत्मा की योग्यता तो स्वयं से है। उस समय ज्ञान का भाव हो या ज्ञान का अभाव हो, परन्तु वह आत्मा से है। आगम को श्रवण करने का और समझने का इच्छुक है, वह क्षयोपशमभाव तो आत्मा का है।

जैसे कोई सातवीं कक्षा पढ़ता हो तो वह पढ़ने की योग्यता आत्मा की है, वह सातवीं कक्षा के कारण से नहीं। समझनेवाले के विकास प्रमाण ज्ञान परिणमता है। ध्रुव सामान्यज्ञान है, उसमें से ज्ञान के विशेषरूप आत्मा परिणमता है। स्वयं समझे तो आगम इत्यादि को निमित्त कहा जाता है। आगमज्ञान के पश्चात् अनुमानज्ञान भी आत्मा की योग्यता से है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण ज्ञानघन है और पर्याय में अपूर्णता है। परन्तु उतना आत्मा नहीं। वह क्षणिकभाव है। ऐसा अनुमान ज्ञान करे और स्वसंवेदन अर्थात् ज्ञान ज्ञान से जाने। इस प्रकार जो श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करके मिथ्यात्वादि का नाश करता है, उसे सिद्धपद की प्राप्ति होती है। संसार की अपेक्षा सिद्ध का काल अनन्तगुना है और आगमज्ञान की योग्यता भी आत्मा की है, ऐसी दो बातों का स्पष्टीकरण किया। अब २१वीं गाथा की बात करते हैं।

आत्मा के उत्पाद-व्यय द्वारा सत् का नाश और असत् का उत्पाद होता है, अर्थात् विद्यमान भाव है, उसका नाश होता है और जो भाव नहीं है, उसका उत्पाद होता है। ध्रुवभाव कायम टिका रहता है।



गाथा - २१

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।

गुणपज्जएहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो॥२१॥

एवं भावमभावं भावाभावमभावभावं च।

गुणपर्ययैः सहितः संसरन् करोति जीवः॥२१॥

जीवस्योत्पादव्ययसदुच्छेदासदुत्पादकर्तृत्वोपपत्त्युपसंहारोऽयम्।

द्रव्यं हि सर्वदाऽविनष्टानुत्पन्नमाप्नातम्। ततो जीवद्रव्यस्य द्रव्यरूपेण नित्यत्वमुपन्यस्तम्। तस्यैव देवादिपर्यायरूपेण प्रादुर्भवतो भावकर्तृत्वमुक्तं; तस्यैव च मनुष्यादिपर्यायरूपेण व्ययतोऽभाव-कर्तृत्वमाख्यातं; तस्यैव च सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुदितं; तस्यैव चासतः पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्याभावभावकर्तृत्वमभिहितम्। सर्वमिदमनवद्यं द्रव्यपर्यायाणामन्यतरगुणमुख्यत्वेन व्याख्यानात्। तथाहि-यदा जीवः पर्यायगुणत्वेन द्रव्यमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा नोत्पद्यते, न विनश्यति, न च क्रमवृत्त्यावर्तमानत्वात् सत्पर्यायजातमुच्छिनत्ति, नासदुत्पादयति। यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति, विनश्यति, सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति। स खल्वयं प्रसादोऽनेकान्तवादस्य यदीदृशोऽपि विरोधो न विरोधः॥२१॥

इति षड्द्रव्यसामान्यप्ररूपणा।

भाव और अभाव भावाभाव अभावभाव में।

यह जीव गुणपर्यय सहित संसरण करता इसतरह ॥२१॥

अन्वयार्थ :- [एवम्] इस प्रकार [गुणपर्ययैः सहित] गुण-पर्यायसहित [जीवः] जीव [संसरन्] संसरण करता हुआ [भावम्] भाव, [अभावम्] अभाव, [भावाभावम्] भावाभाव [च] और [अभावभावम्] अभावभाव को [करोति] करता है।

टीका :- यह, जीव उत्पाद, व्यय, सत्-विनाश और असत्-उत्पाद का कर्तृत्व होने की सिद्धिरूप उपसंहार है।

द्रव्य वास्तव में सर्वदा अविनष्ट और अनुत्पन्न आगम में कहा है; इसलिए जीवद्रव्य को द्रव्यरूप से नित्यपना कहा गया। (१) देवादिपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, इसलिए

उसी को (-जीवद्रव्य को ही) भाव का (-उत्पाद का) कर्तृत्व कहा गया है; (२) मनुष्यादिपर्यायरूप से नाश को प्राप्त होता है, इसलिए उसी को अभाव का (-व्यय का) कर्तृत्व कहा गया है; (३) सत् (विद्यमान) देवादिपर्याय का नाश करता है, इसलिए उसी को भावाभाव का (-सत् के विनाश का) कर्तृत्व कहा गया है; और (४) फिर से असत् (-अविद्यमान) मनुष्यादिपर्याय का उत्पाद करता है, इसलिए उसी को अभावभाव का (-असत् के उत्पाद का) कर्तृत्व कहा गया है।

-यह सब निरवद्य (निर्दोष, निर्बाध, अविरोद्ध) है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायों में से एक की गौणता से और अन्य की मुख्यता से कथन किया जाता है। वह इस प्रकार है:-

जब जीव, पर्याय की गौणता से और द्रव्य की मुख्यता से विवक्षित होता है, तब वह (१) उत्पन्न नहीं होता, (२) विनष्ट नहीं होता, (३) क्रमवृत्ति से वर्तन नहीं करता इसलिए सत् (-विद्यमान) पर्यायसमूह को विनष्ट नहीं करता और (४) असत् को (-अविद्यमान पर्यायसमूह को) उत्पन्न नहीं करता; और जब जीव द्रव्य की गौणता से और पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है, तब वह (१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (-विद्यमान) पर्यायसमूह को विनष्ट करता है और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (-आ पहुँचा है) ऐसे असत् को (-अविद्यमान पर्यायसमूह को) उत्पन्न करता है।

वह प्रसाद वास्तव में अनेकान्तवाद का है कि ऐसा विरोध भी (वास्तव में) विरोध नहीं है॥२१॥

इस प्रकार षड्द्रव्य की सामान्य प्ररूपणा समाप्त हुई।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ४, शुक्रवार

अर्थ : पूर्व में कहे अनुसार पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से पंचपरावर्तनरूप अवस्थाओं से संसार में भ्रमण करता जीव, देवादि पर्यायों को करता है। पूर्व में कहा था कि आत्मा अनादि से पर्यायदृष्टि से संसार में परिभ्रमण करता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव

और भाव, इन पाँच में पलटन पाना, वह पंच परावर्तन है। वह पर्यायदृष्टि से है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा में भव नहीं। सोना तो जो है, वह है। उसकी अवस्था में कड़ा-कुण्डलादि के प्रकार हैं। उसी प्रकार आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो एकरूप है, परन्तु उसकी पर्याय में अनन्त भव का परिवर्तन है। वह भव में देवादि की पर्याय को करता है। यहाँ मुनि की बात है। वे मनुष्य में से देव होते हैं, इसलिए मनुष्यपर्याय का नाश करके देवपर्याय का उत्पाद करते हैं, ऐसा दृष्टान्त द्वारा कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य में से देव होता है। कोई सम्यग्दृष्टि नरक में जाता है। वह सम्यग्दर्शन होने से पहले नरक आयुष्य बाँधा था, इसलिए जाता है ऐसा नहीं, परन्तु मनुष्यपर्याय का नाश और नरकभाव का उत्पाद, वह जीव स्वयं करता है। वह आत्मा नरकभाव से परिणमता है।

इस गाथा में चार बोल हैं—

- (१) देवपर्याय को करता है, वह भाव है।
- (२) मनुष्यपर्याय का नाश करता है, वह अभाव है।
- (३) विद्यमान देवादिपर्याय के नाश का आरम्भ करता है, वह भावाभाव है, तथा
- (४) विद्यमान नहीं ऐसी मनुष्यादि पर्याय के उत्पाद का आरम्भ करता है, वह अभावभाव है।

आत्मा देवपर्याय का भाव करता है, मनुष्यपर्याय का अभाव करता है, परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता। देव में से मनुष्य की सन्मुखता करता है, उस समय देव का भाव है, उसका अभाव करता है, वह भावाभाव है; और देव में मनुष्यभाव नहीं, मनुष्यभाव का अभाव है, उसकी सन्मुखता करता है, इसलिए जो भाव नहीं, उसका भाव करता है, वह अभावभाव है।

यह चार प्रकार पर्यायदृष्टि से है, द्रव्यदृष्टि से ये चार भाव नहीं।

यह जीव जिस अवस्थारूप परिणमता है, वहाँ अपने शुद्ध-अशुद्ध गुणपर्यायों से संयुक्त है। यहाँ जिसे संसार का क्रम है, वह स्वयं अशुद्ध गुणपर्यायों सहित परिणमता

है। परन्तु संसार का क्रम जानकर, द्रव्यस्वभाव में वह नहीं है, ऐसा जो निर्णय करे, उसका संसार का क्रम टूट जाता है और शुद्धता का क्रम शुरू होता है। पर्यायदृष्टिवाले को संसार का क्रम टूटता नहीं। आत्मा की विकारी पर्याय के चार प्रकार हैं, उनकी बात यहाँ करते हैं। वे प्रकार पर के कारण से नहीं हैं, ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए और इससे जीवद्रव्य की स्वतन्त्रता साबित होती है। देवभाव उत्पन्न करता है, वह भी कर्म के कारण से नहीं और मनुष्यभाव का अभाव करता है, वह आयुष्यकर्म पूरा हुआ, इसलिए है—ऐसा नहीं और देवभाव है, उसके अभाव के आरम्भ का भाव, वह मनुष्य की सन्मुखता का भाव है, वह भी स्वयं से है।

भावार्थ : द्रव्यस्वभाव से देखने पर जगत के द्रव्य उपजते नहीं और विनशते भी नहीं, परन्तु नित्य हैं। इसी प्रकार जीवद्रव्य भी अपने द्रव्यस्वभाव से नित्य है। परन्तु जीवद्रव्य में अशुद्धपर्याय की अपेक्षा से भाव, अभाव, भावाभाव, अभावभाव—इन चार प्रकार की पर्यायों का अस्तित्व है। पर्यायदृष्टि से इन चार प्रकार का अस्तित्व आत्मा का है, वह पर के कारण से नहीं है।

अब जब देवपर्याय की उत्पत्तिरूप आत्मा परिणमता है, तब उस भाव का कर्तृत्व कहा जाता है और जब मनुष्यादि पर्याय के नाशरूप परिणमता है, तब अभाव का कर्तृत्व कहा जाता है। जिस-जिस भाव में नयी-नयी पर्याय का उत्पाद करता है, उस-उस भाव का कर्ता कहलाता है। नामकर्म के कारण से वह पर्याय नहीं, नामकर्म तो निमित्तमात्र है, परन्तु आत्मा स्वयं उसका उत्पाद करता है। और मनुष्यपर्याय का नाश भी आत्मा करता है। ये दोनों भाव आत्मा के हैं। अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं होता है, इतनी बात यहाँ सिद्ध करते हैं।

आत्मवस्तु तो त्रिकाल है। पर्याय में देवपर्याय का भाव होने पर मनुष्यपर्याय का नाश हुए बिना नहीं रहता। एकदम बदल जाता है। मनुष्य मरकर निगोद में जाता है। और यहाँ राजपाट हो, ज्ञान का उधाड़ हो, लोग 'खम्मखम्मा' करते हों, परन्तु एक समय में उस पर्याय का अभाव होकर नयी नारकी की पर्याय का उत्पाद होता है, वह आत्मा से स्वतन्त्ररूप से होता है; कर्म के कारण से नहीं। मनुष्यभाव का अभाव होकर तुरन्त नारकी आदिरूप भाव होता है। मनुष्य हो और तत्त्व का बहुत विरोध किया हो तो

मनुष्यपर्याय का अभाव होकर निगोदपर्याय को धारण करता है, तुरन्त ही बदल जाता है। वर्तमान उघाड़ का तथा संयोग का अभाव हो जाता है।

वर्तमान देवादि पर्याय है, उसके नाश के प्रारम्भरूप परिणमता है, वह भावअभावकर्तृत्व है। जिस गति में जाना है, उस गति के भाव का कर्तृत्व है। जिस भाव का नाश होता है, उसके अभाव का कर्तृत्व है। एक वकील थे। उन्हें एक बार मोटर का अकस्मात् हुआ, इसलिए मस्तिष्क में एकदम ऐसा फेरफार हो गया कि जितना पढ़े थे, उस सब उघाड़ का अभाव हो गया। जो भाव था, उसका अभाव हुआ। वह अभाव की प्रारम्भदशा थी। उसे भावाभावकर्तृत्व कहते हैं। अब यह भावाभावपना कोई पर के कारण से नहीं है। मोटर का अकस्मात् हुआ, इसलिए ज्ञान का अभाव हुआ, ऐसा नहीं परन्तु अपनी योग्यता से परिवर्तन होता है।

और वर्तमान मनुष्यपर्याय नहीं, उसकी प्रारम्भदशारूप परिणमता है, वहाँ अभावभाव का कर्तृत्व कहा गया है। देवपर्याय का नाश होकर एकदम ढोर की पर्याय में जाता है। उस देवपर्याय के समय ढोर की पर्याय नहीं, उसके सन्मुख होता है। आत्मा का भान न हो, वह देव में से बकरा में भी जाता है। देवभाव का अभाव करके तिर्यचभाव का भाव करता है। राजपाट हो, मदिरा-माँसादि खाये (-पीये) हों, अन्तिम घड़ी में डॉक्टर नाड़ी पकड़कर बैठे हों, उस समय मनुष्यभाव का अभाव करके नारकभाव के सन्मुख होता है। उसे वर्तमान नारकभाव का अभाव है, उसका भाव करता है; इसलिए अभावभाव का कर्तृत्व है। इस प्रकार यहाँ पर्याय की बात है।

इस प्रकार चार प्रकार का कथन किया। नवीन पर्याय का उत्पन्न होना, वह भावकर्तृत्व है, पुरानी पर्याय का नाश, वह अभावकर्तृत्व है; जो भाव है, उसका अभाव करने की प्रारम्भता, वह भावाभावकर्तृत्व है और जो भाव नहीं, उस भाव की प्रारम्भता, वह अभावभावकर्तृत्व है।

इस गाथा में चार प्रकार के कर्तृत्व की बात करते हैं। वह संसारपर्याय में किस प्रकार से है, यह कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसे संसार का क्रम लागू नहीं पड़ता। परन्तु जिसे द्रव्यस्वभाव और पर्याय के क्रम की खबर नहीं, उसे अनादि का क्रम चला

आता है। संसारपर्याय का कर्तृत्व आत्मा का है। देवपर्याय का उत्पाद होता है, वह भाव का कर्तृत्व है और मनुष्यपर्याय का नाश करता है, वह अभाव का कर्तृत्व है। यह दोनों पर्याय आत्मा के अपने कारण से हैं। भाव और अभाव ऐसे दो बोल हुए। अब तीसरे बोल की बात करते हैं।

वर्तमान देवपर्याय जो कि भावरूप है, उसका अभाव करके मनुष्यपर्याय में जाना है, वह भावाभाव। देवपर्याय भावरूप है, उसके अभाव के सन्मुख होता है। जो भाव है, वह पर्याय है; इसलिए कायम नहीं रहती। इस तीसरे बोल में वर्तमान भाव के अभाव का कर्तृत्व वर्णन किया है। और चौथा बोल अभावभाव है। वर्तमान में जिसका अभाव है, उसके भावरूप परिणम रहा है।

पहले तो समय-समय की पर्याय है, यह बात की, और पश्चात् (१) नयी पर्याय का उत्पाद, (२) पुरानी पर्याय का नाश, (३) जो समय-समय का भाव है, उसका अभाव और (४) जो भाव नहीं, उसके सन्मुख होता जाता है। सम्यग्दृष्टि सिद्धपर्याय के सन्मुख होता जाता है और अज्ञानी नये भव के सन्मुख होता जाता है। अज्ञानी को संसार का क्रम होता है और ज्ञानी का क्रम सिद्ध सन्मुखता का होता है।

श्रेणिक राजा वर्तमान में नरक में है, परन्तु उन्हें सम्यग्दर्शन होने के कारण से वहाँ से वे मनुष्य होकर सिद्धदशा प्राप्त करेंगे, इसलिए अब भव नहीं करेंगे और मिथ्यादृष्टि हो तो वह मनुष्यभाव का अभाव करता हुआ देव अथवा नरकभव में जहाँ जाने का हो, उस गति का प्रारम्भ करता है। देव में मनुष्यभव नहीं, उस मनुष्यपर्याय का भाव करता है और देवपर्याय का अभाव करता है, इसलिए अभावभाव का कर्तृत्व है। इस प्रकार अज्ञानी को पूर्व गति का अभाव होता है, परन्तु नयी गति का भाव होता है। भावअभाव का क्रम चला ही करता है। अब यह अपनी पर्याय का क्रमपना है, ऐसा निर्णय करके स्वभाव में वह क्रम नहीं, ऐसे स्वभाव का आश्रय करे तो संसार का क्रम टूटे बिना नहीं रहता।

जिसे भव के क्रम की खबर नहीं, वह पर से अपनी पर्याय का क्रम मानता है। इस प्रकार पर्यायबुद्धि में अटके हैं, उन्हें अपनी पर्याय का क्रम कैसा है, इसकी खबर नहीं। यहाँ आत्मा की अपनी पर्याय का क्रम है, यह बात करते हैं। परनिमित्त की तो

बात ही नहीं। पर के क्रम की बात तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना हो तो कहा जाता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली वस्तु में यह क्रम नहीं और पर्याय में क्रम है, वह पर के कारण से नहीं, ऐसा निर्णय करे तो संसार का क्रम रहे नहीं। यह चार भावों का सार है।

सोना वस्तुदृष्टि से त्रिकाल एकरूप है, परन्तु पर्याय में कुण्डल, कड़ा, बाजुबन्ध आदि होते हैं, वहाँ कड़ा का उत्पाद, वह भाव है; कुण्डल का नाश, वह अभाव है; कड़ा की अवस्था है, उसका अभाव करते हुए बाजुबन्ध की सन्मुखता करता है, वह भावाभाव है और कड़ा में बाजुबन्ध की अवस्था नहीं, उसके भाव की आरम्भता करना, वह अभावभाव कर्तृत्व है। इस प्रकार सोना नया नहीं होता और सोना में क्रम भी नहीं, पर्याय में क्रम है। उसी प्रकार भगवान् आत्मा तो त्रिकाल है, स्वभाव में पलटना सम्भवता नहीं। आत्मा नहीं था और नया भाव होता है, है, उसका अभाव होता है—ऐसा त्रिकाली में बनता नहीं। नहीं था भाव, उसमें से भाव होता नहीं, और भाव है, उसे अभाव होता नहीं। ऐसा हो तो आत्मा जड़ हो जाये परन्तु ऐसा नहीं होता। एक समय की पर्याय में यह चार भाव के प्रकार पड़ते हैं। एक, अनेक, नित्य, अनित्य पदार्थ है, उसका ज्ञान कराते हैं।

पानी का पूर चलता जाता है। वह प्रवाह चलता जाता है। परन्तु पानी तो पानी ही रहता है। उसमें नया लोढ़ उठा, वह भाव है, पुराने लोढ़ का नाश हुआ, वह अभाव है, जो लोढ़ है, उसका अभाव करता हुआ नया लोढ़ का प्रारम्भ करता है और नया लोढ़ नहीं, उसका भाव करता हुआ पुराने लोढ़ का अभाव करता जाता है। ऐसे चार भाव हैं। मनुष्य की बालक, युवा, वृद्ध तीन अवस्थाएँ हैं। उसमें युवा अवस्था हुई, वह भाव है; बालक अवस्था का नाश, वह अभावकर्तृत्व है। और युवा अवस्था का अभाव करता हुआ वृद्ध अवस्था के सन्मुख होता है, वह भावाभाव तथा युवा अवस्था में वृद्ध अवस्था नहीं, उसका भाव करता है, वह अभावभाव—ऐसे चार प्रकार हैं। यह चार भंग त्रिकाली आत्मा में नहीं हैं।

जैसे कोई मनुष्य दो महीने के लिये नौकरी पर आया हो तो वह पर्याय एकरूप रहती नहीं। पहले नौकरी पर नहीं था और फिर नौकरी पर आया, वह भाव; और नहीं

था, उसका नाश, वह अभाव; और नौकरी दो महीने की है, वह पूरी होने की सन्मुखता, वह भाव का अभाव करता जाता है; जो नौकरी में से उतर जाने का भाव नहीं, उसकी सन्मुखता करता जाता है, वह अभावभाव। ऐसे पर्याय का क्रम चला करता है। अनादि से चार गति में भटकते जीव को अशुद्धता का क्रम चार प्रकार के भावों से है। अब उस संसार का प्रवाह त्रिकाली स्वभाव में नहीं, ऐसा निर्णय करे तो प्रवाह का ज्ञान करता हुआ वर्तमान अशुद्धपर्याय का अभाव करता हुआ सिद्धपर्याय के सन्मुख होता है। वर्तमान पर्याय और त्रिकाली स्वभाव दोनों आत्मा में हैं। पर के साथ सम्बन्ध नहीं।

जिसे स्वर्ग में जाना है, उसे वर्तमान मनुष्यपने में स्वर्ग का भाव नहीं, उसके सन्मुख होता है, वह अभावभावकर्तृत्व है। ऐसे चार प्रकार के भावों का ज्ञान करके स्वभाव का आश्रय करे तो सम्यग्दर्शन होता है परन्तु गति का क्रम तो जो है, वही है, क्रम बदलता नहीं। इसलिए जिस गति में जाने का है, वहाँ जायेगा। गति पलटेली नहीं, परन्तु भव अल्प हो जायेगा। श्रेणिक राजा सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें नरक का क्रम बदलता नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन है, इसलिए वे सिद्धपर्याय-सन्मुख होते जाते हैं। यह चार प्रकार पर्याय की अपेक्षा से अखण्डित जानना, अर्थात् कि निर्दोष जानना।

चार भाव में बहुत रहस्य है। आचार्यदेव ने अद्भुतता से वर्णन किया है। पर्याय का क्रम ही ऐसा है। आत्मद्रव्य तो त्रिकाल है, ऐसा जानने से पर्याय का क्रम बदलता नहीं, परन्तु ऐसा निर्णय होने पर उसके क्रम में संसार का अभाव होकर सिद्धदशा का क्रम शुरू होगा। वर्तमान राजा हो और मदिरा, माँस आदि (पीता)-खाता हो, शिकार करता हो तो वह वर्तमान ही नारकी है। पाँच-पच्चीस वर्ष मनुष्य का आयुष्य है, उसकी मुख्यता न करके वह नारकी-सन्मुख हो रहा है; इसलिए वर्तमान नारकी है। जो प्राणी माया, कुटिलता, कपट करता है, वह मरकर तिर्यच में गधा या बकरा इत्यादि होता है। वर्तमान मनुष्यपना है, उसकी मुख्यता न करे तो वर्तमान ही गधा है। वर्तमान पाप के कार्य करता हो तो वह दुर्गति की तैयारी कर रहा है, ऐसा कहा जाता है। यह कथन निर्दोष है। अर्थात् इसमें कोई ईश्वर की आवश्यकता नहीं। इसलिए जिसे कल्याण करना हो, उसे दूसरे भाव छोड़कर स्वभावदृष्टि करना चाहिए और ऐसा करता है, उसके भव का क्रम नहीं रहता।

द्रव्य-पर्याय की मुख्यता और गौणता से द्रव्य में भेद पड़ते हैं, वे किस प्रकार से हैं, यह कहते हैं। जीव का कथन पर्याय की गौणता और द्रव्य की मुख्यता से किया जाये तो उपरोक्त भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव इस प्रकार का कर्तृत्व सम्भवित नहीं। आत्मा त्रिकाल नित्य पदार्थ है, उसमें यह पर्याय की अनित्यता के चार भंग सम्भवित नहीं, क्योंकि कर्तृत्व अनित्य है, आत्मा नित्य है। और जब द्रव्य की गौणता और पर्याय की मुख्यता से जीव का कथन किया जाता है, तब ऊपर कहे हुए चार प्रकार की पर्याय का कर्तृत्व अविरुद्ध सम्भवित है। पर्याय की अपेक्षा से चार भंग पड़ते हैं और द्रव्य अपेक्षा से वे भंग नहीं पड़ते—इस बात में विरोध नहीं आता।

इस प्रकार मुख्य-गौण के विरोध नहीं। व्याख्यान करने पर भगवान सर्वज्ञप्रणीत अनेकान्तवाद में विरोधभाव नहीं आता। स्यात्पद से अविरुद्धता साधता है। आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है और पर्यायरूप से अनित्य है। एक पदार्थ में नित्य-अनित्यरूप दोनों भाव में विरोध नहीं आता परन्तु अकेला नित्य माने अथवा अकेला अनित्य ही माने तो विरोध आता है।

जिस प्रकार से द्रव्य की अशुद्ध पर्याय की सिद्धि की, तत्प्रमाण आगमप्रमाण से शुद्धपर्यायों की विवक्षा जानना। अशुद्धपर्याय में चार प्रकार के भाव कहे, उसी अनुसार शुद्धपर्याय में घटित करना। मोक्षमार्ग की पर्याय शुद्ध है, वह प्रगट हुई, वह भावकर्तृत्व है। प्रथम पर्याय का नाश किया, वह अभावकर्तृत्व है। मोक्षमार्ग की पर्याय है, उसका अभाव करता जाता है और सिद्धपर्याय के सन्मुख होता जाता है, वह भावाभावकर्तृत्व है और वर्तमान मोक्षमार्ग की पर्याय में सिद्ध की पर्याय नहीं, उसका प्रारम्भ करता है, वह अभावभावकर्तृत्व है। सिद्धपर्याय में भी तदनुसार चार प्रकार के भंग पड़ते हैं।

यह जीवद्रव्य की शुद्ध और अशुद्धपर्याय की विवक्षा हुई। तत्प्रमाण पुद्गल और दूसरे सभी द्रव्यों में सिद्धान्तानुसार गुण-पर्याय का कथन समझना चाहिए। इस प्रकार से छह द्रव्यों को सामान्य स्वरूप का कथन जानना। अब आगे की गाथा में छह द्रव्य जो सामान्य कहे, उनमें से पाँच द्रव्यों का पंचास्तिकायरूप से वर्णन करेंगे। ●●

गाथा - २२

जीवा पोग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।

अमया अत्थित्तमया कारणभूदो हि लोगस्स॥२२॥

जीवाः पुद्गलकाया आकाशमस्तिकायौ शेषौ।

अमया अस्तित्वमयाः कारणभूता हि लोकस्य॥२२॥

अत्र सामान्येनोक्तलक्षणानां षण्णां द्रव्याणां मध्यात् पञ्चानामस्तिकायत्वं व्यवस्थापितम्।
अकृतत्वात् अस्तित्वमयत्वात् विचित्रात्मपरिणतिरूपस्य लोकस्य कारणत्वाच्चाभ्युप-
गम्यमानेषु षट्सु द्रव्येषु जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः प्रदेशप्रचयात्मकत्वात् पञ्चास्तिकायाः।
न खलु कालस्तदभावादस्तिकाय इति सामर्थ्यादवसीयत इति॥२२॥

जीव-पुद्गल धरम-अधरम गगन अस्तिकाय सब।

अस्तित्वमय हैं अकृत कारणभूत हैं इस लोक के॥२२॥

अन्वयार्थ :- [जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय, [आकाशम्]
आकाश और [शेषौ अस्तिकायौ] शेष दो अस्तिकाय [अमयाः] अकृत हैं,
[अस्तित्वमयाः] अस्तित्वमय हैं और [हि] वास्तव में [लोकस्य कारणभूताः] लोक
के कारणभूत हैं।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) सामान्यतः जिनका स्वरूप (पहले) कहा गया है,
ऐसे छह द्रव्यों में से पाँच को अस्तिकायपना स्थापित किया गया है।

अकृत होने से, अस्तित्वमय होने से और अनेक प्रकार की 'अपनी परिणतिरूप
लोक के कारण होने से जो स्वीकार (-सम्मत) किये गये हैं, ऐसे छह द्रव्यों में जीव,
पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म प्रदेशप्रचयात्मक (-प्रदेशों के समूहमय) होने से वे
पाँच अस्तिकाय हैं। काल को प्रदेशप्रचयात्मकपने का अभाव होने से वास्तव में
अस्तिकाय नहीं हैं, ऐसा (बिना-कथन किये भी) सामर्थ्य से निश्चित होता है॥२२॥

१. लोक छह द्रव्यों के अनेकविध परिणामरूप (-उत्पादव्ययध्रौव्यरूप) हैं; इसलिए छह द्रव्य
सचमुच लोक के कारण हैं।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ५, शनिवार

सर्वज्ञ परमात्मा ने छह द्रव्य देखे हैं। उनमें पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। और काल है, वह द्रव्य है परन्तु अस्तिकाय नहीं है, उसकी अब बात करते हैं।

अर्थ—प्रथम एक तो जीवद्रव्य कायवन्त है। (१) आत्मा है, वह असंख्य प्रदेशी है। वह असंख्य प्रदेशी अंश है—अवयव है और आत्मा अवयवी है। (२) दूसरा पुद्गलद्रव्य कायवन्त है। एक परमाणु तो एक प्रदेश है। परन्तु दो से लेकर अनन्त परमाणु का स्कन्ध हो सकता है, इसलिए वह कायवन्त है। पुद्गल स्वयं कायवन्त है। दूसरे जीव के कारण नहीं। मकान, शरीर इत्यादि स्वयं अपने से कायवन्त हैं। परमाणु स्वयं अपने से एकत्रित होकर कायवन्त बनते हैं। पुरुषार्थ करने से पैसादि इकट्ठे होते हैं या पृथक् पड़ जाते हैं, ऐसा नहीं है। आत्मा के कारण से पुद्गल का कायवन्तपना नहीं है। (३) आकाशद्रव्य कायवन्त है, वह अनन्त प्रदेशी एक द्रव्य है। वह स्वयं अपने से कायवन्त है। (४) धर्मास्तिकाय कायवन्त है। वह लोकप्रमाण असंख्य प्रदेशी है। (५) अधर्मास्तिकाय कायवन्त है। लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी अखण्ड द्रव्य है। वह भी अस्तिकाय है। इस प्रकार जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश—ये पाँच द्रव्य कायवन्त हैं।

ये पाँच द्रव्य कायवन्त हैं, वे कैसे हैं ? (१) 'अमया' किसी के बनाये हुए नहीं। ईश्वर ने बनाये नहीं। उन द्रव्यों को भूतकाल में किसी ने बनाया नहीं। वर्तमान में कोई बनाता नहीं और भविष्य में कोई बनायेगा नहीं। क्योंकि वे अस्तिकाय हैं। वे स्वयं अपने से हैं। वे स्वभाव से स्वयंसिद्ध हैं। दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध, वह कायवन्त है। वह भी स्वयंसिद्ध है।

और वे पदार्थ कैसे हैं ? (२) 'अस्तित्वमया' उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जो सद्भाव है, उससे अपने स्वरूप के अस्तित्व से परिणामी हैं। कायवन्त पदार्थ अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव से परिणमित हो रहे हैं। शरीर, आत्मा के कारण और आत्मा, शरीर के कारण पलटता नहीं, परन्तु अपने अस्तित्व के कारण पलटता है। कालद्रव्य न हो तो सिद्ध का द्रव्य परिणमे नहीं, यह तो निमित्त का कथन है। वास्तव में सिद्ध का द्रव्य

अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव के कारण से पलट रहा है। उसमें कालद्रव्य निमित्तमात्र है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीनपने के अस्तित्व से पदार्थ टिक रहा है। संसार में अनेक प्रकार के संयोग-वियोग दिखाई देते हैं, वे पुद्गलकाय के अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव के कारण से हैं। किसी के कारण से कुछ है ही नहीं। ऐसा यथार्थ ज्ञान करना।

और वे द्रव्य कैसे हैं ? (३) 'लोकस्य कारणभूताः'—निश्चय से नाना प्रकार की परिणतिरूप लोक को निमित्तभूत है। अर्थात् कि लोक उनसे बना हुआ है। सब द्रव्य हैं, वही लोक है। लोक कोई पृथक् वस्तु नहीं है।

भावार्थ - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छह द्रव्य हैं। उनमें कालद्रव्य के बिना पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं। क्योंकि इन पाँचों द्रव्यों को प्रदेशों के समूहरूप काय है। प्रदेशों के समूह को काय कहते हैं। ये पाँचों द्रव्य कायवन्त हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए वह अकाय है। यह कथन विशेष से आगम प्रमाण से जानना।

अब कहते हैं कि कालद्रव्य को कायसंज्ञा नहीं कहलाती, परन्तु वह द्रव्य तो है। उस कालद्रव्य बिना सिद्धि नहीं होती क्योंकि कालद्रव्य अस्तित्वरूप वस्तु है, उसका कथन करते हैं। गाथा २२वीं में पाँच अस्तिकाय हैं, ऐसा सिद्ध किया। अब इस २३वीं गाथा में कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं।

●●

वस्तुस्वरूप की गर्जना करनेवाले मुनिराज

आ...हा..हा! जङ्गल में रहनेवाले वीतरागी सन्तों को तो देखो। जङ्गल में जैसे सिंह गर्जन करता है, वैसे ही मुनिराज वस्तुस्वरूप की गर्जना करते हैं। सिद्ध भगवान जैसा आत्मानुभव करते हैं, ठीक वैसा ही आत्मानुभव मुनिराज भी करते हैं। सिद्ध तथा साधक दोनों एक ही जाति का अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवते हैं; उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है।... यही मोक्षमहल का सीधा मार्ग है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, योगसार प्रवचन, पृष्ठ-१०९, ११०

गाथा - २३

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोगगलाणं च।

परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो॥२३॥

सद्भावस्वभावानां जीवानां तथैव पुद्गलानां च।

परिवर्तनसम्भूतः कालो नियमेन प्रज्ञप्तः॥२३॥

अत्रास्तिकायत्वेनानुक्तस्यापि कालस्यार्थापन्नत्वं द्योतितम्।

इह हि जीवानां पुद्गलानां च सत्तास्वभावत्वादस्ति प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्तिरूपः परिणामः। स खलु सहकारिकारणसद्भावे दृष्टः, गतिस्थित्यवगाहपरिणामवत्। यस्तु सहकारिकारणं स कालः। तत्परिणामान्यथानुपपत्तिगम्यमानत्वादनुक्तोऽपि निश्चयकालोऽस्तीति निश्चीयते। यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपो व्यवहारकालः स जीवपुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत एवेति॥२३॥

सत्तास्वभावी जीव पुद्गल द्रव्य के परिणामन से।

है सिद्धि जिसकी काल वह कहा जिनवरदेव ने॥२३॥

अन्वयार्थ :- [सद्भावस्वभावानाम्] सत्तास्वभाववाले [जीवानाम् तथा एव पुद्गलानाम् च] जीव और पुद्गलों के [परिवर्तनसम्भूतः] परिवर्तन से सिद्ध होनेवाले [कालः] ऐसा काल [नियमेन प्रज्ञप्तः] (सर्वज्ञों द्वारा) नियम से (निश्चय से) उपदेश दिया गया है।

टीका :- काल अस्तिकायरूप से अनुक्त (-नहीं कहा गया) होने पर भी उसे अर्थपना (पदार्थपना) सिद्ध होता है, ऐसा यहाँ दर्शाया है।

इस जगत में वास्तव में जीवों को और पुद्गलों को सत्तास्वभाव के कारण प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकवृत्तिरूप परिणाम वर्तता है। वह (-परिणाम) वास्तव में सहकारी कारण के सद्भाव में दिखाई देता है, गति-स्थित-अवगाहपरिणाम की भाँति। (जिस प्रकार गति, स्थिति और अवगारूप परिणाम धर्म, अधर्म और आकाशरूप सहकारी कारणों के सद्भाव में होते हैं, उसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप परिणाम सहकारी कारण के सद्भाव में होते हैं।) यह जो सहकारी कारण, सो काल है।

१जीव-पुद्गल के परिणाम की २अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा ज्ञात होता है इसलिए, निश्चयकाल-(अस्तिकायरूप से) अनुक्त होने पर भी-(द्रव्यरूप से) विद्यमान है, ऐसा निश्चित होता है। और जो निश्चयकाल की पर्यायरूप व्यवहारकाल वह, जीव-पुद्गलों के परिणाम से व्यक्त (-गम्य) होता है, इसलिए अवश्य तदाश्रित ही (-जीव तथा पुद्गल के परिणाम के आश्रित ही) गिना जाता है।।२३।।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ५, शनिवार

अर्थ - उत्पाद-व्यय-ध्रुव से अस्तित्व धराते जो पदार्थ हैं, उनमें जीव और पुद्गल नयी और पुरानी अवस्थारूप परिणमनेवाले प्रगट दिखायी देते हैं। इसलिए निश्चय से उस परिणमन में निमित्तभूत ऐसा कालद्रव्य है, ऐसा भगवन्त देवाधिदेव ने कहा है। नयी वस्तु पुरानी होती है, इससे कालद्रव्य है—ऐसा साबित होता है। ज्ञान की एक समय की पर्याय में स्व और पर जैसे हैं, वैसे जानने की ताकत है। ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उन्हें जैसा है, वैसा न जाने तो ज्ञान मिथ्या होता है और ज्ञान मिथ्या होने से आत्मा की भी यथार्थ श्रद्धा नहीं होती; इसलिए पाँच अस्तिकाय हैं, वैसे कालद्रव्य भी है, यह बतलाते हैं।

१. यद्यपि कालद्रव्य जीव-पुद्गलों के परिणाम के अतिरिक्त धर्मास्तिकायादि के परिणाम को भी निमित्तभूत है, तथापि जीव-पुद्गलों के परिणाम स्पष्ट ख्याल में आते हैं; इसलिए कालद्रव्य को सिद्ध करने में मात्र उन दो के परिणाम की ही बात ली गयी है।
२. अन्यथा अनुपपत्ति=अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता। (जीव-पुद्गलों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम अर्थात् उनकी समयविशिष्ट वृत्ति। वह समयविशिष्ट वृत्ति समय को उत्पन्न करनेवाले किसी पदार्थ के बिना (-निश्चयकाल के बिना) नहीं हो सकती। जिस प्रकार आकाश बिना द्रव्य अवगाहन प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् उनका विस्तार (तिर्यकपना) नहीं हो सकता, उसी प्रकार निश्चयकाल बिना द्रव्य परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकते अर्थात् उनको प्रवाह (ऊर्ध्वपना) नहीं हो सकता। इस प्रकार निश्चयकाल के अस्तित्व बिना (अर्थात् निमित्तभूत कालद्रव्य के सद्भाव बिना) अन्य किसी प्रकार जीव-पुद्गल के परिणाम बन नहीं सकते, इसलिए 'निश्चयकाल विद्यमान है' ऐसा ज्ञात होता है-निश्चित होता है।)

भावार्थ - इस लोक में जीव और पुद्गल की समय-समय में जो नयी और पुरानी अवस्थाएँ होती हैं, वह स्वभाव का ही परिणमन है। अनन्त आत्माएँ और अनन्तान्त पुद्गल परमाणुओं की जो अवस्था होती है, वह अपने स्वभाव से होती है। काल के कारण नहीं होती। वह अवस्था सहकारी कारण की मौजूदगी में देखने में आती है, इसलिए वह अवस्था होते समय कोई निमित्त ही होता नहीं, ऐसा नहीं है। जीव-पुद्गल की अवस्था दिखती है, उसमें कालद्रव्य निमित्तरूप से देखने में आता है।

पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर स्कन्ध होता है, वैसे कालाणु इकट्ठे नहीं होते क्योंकि उनमें स्निग्धता-रूक्षता का गुण नहीं है। परन्तु रत्न का ढेर पड़ा हो, वैसे पूरे लोक में असंख्य कालाणु हैं। कालद्रव्य किस प्रकार से निमित्त है ? वह कहते हैं—जैसे गति में धर्मास्तिकाय; स्थिति में अधर्मास्तिकाय और अवगाहन में आकाश निमित्त है; उसी प्रकार जीव-पुद्गल के परिणमन में कालद्रव्य अवश्य निमित्त है, ऐसा अनुमान होता है। आगमप्रमाण से भी यह निश्चित होता है, तथापि उस कालद्रव्य के कारण से जीव और पुद्गल का परिणमन है—ऐसा नहीं है। निमित्त बिना परिणमन होता नहीं, इसलिए निमित्त के कारण से है, ऐसा नहीं है।

मछली पानी में चलती है, उसे पानी निमित्त कहलाता है, परन्तु पानी उसे चलाता नहीं है। और कोई मनुष्य चला जा रहा हो और रास्ते में वृक्ष की छाया आवे, वहाँ खड़ा रहे तो वह छाया निमित्त कहलाती है। परन्तु चलते हुए मनुष्य को वृक्ष खड़ा रखता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल स्वयं के कारण से परिणमन करते हैं, उन्हें कालद्रव्य निमित्त है। कालद्रव्य अर्थात् काल का परिणमन, वह जीवादि स्वयं के कारण से परिणमन करते हैं, उन्हें निमित्त होता है। परन्तु कालद्रव्य को खोजने जाना नहीं पड़ता।

देखो ! इस कालद्रव्य सम्बन्धी मान्यता में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बड़ा अन्तर है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय पाँच द्रव्य ही मानता है। कालद्रव्य को नहीं मानता। कालद्रव्य को औपचारिक मानता है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। कालद्रव्य अनादि-अनन्त असंख्य हैं। उनके निमित्त बिना किसी द्रव्य का परिणमन नहीं हो

सकता। अर्थात् कि जीवादिक का परिणमन, वह निश्चय है; वहाँ कालद्रव्य का परिणमन निमित्त है, वह व्यवहार है। निश्चय-व्यवहार दोनों होना चाहिए। इसलिए कालद्रव्य है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए।

कालद्रव्य निश्चय से है और उसकी पर्याय, वह व्यवहार है। बहुत पर्याय का समूह वह व्यवहारकाल है। यहाँ मुख्यरूप से पंचास्तिकाय को साबित करते हैं। कालद्रव्य को वह अस्तिकाय अर्थात् जीव-पुद्गल द्वारा सिद्ध करते हैं। जीर्ण और नवीन आदि पर्याय है, इससे काल का माप निकलता है। कोई वस्तु नयी हो, वह जीर्ण हो जाती है, इसके आधार से व्यवहारकाल साबित होता है और व्यवहारकाल का आधार निश्चय कालद्रव्य है, वह साबित होता है।

सत्पदप्ररूपणा शास्त्र में आती है, इसलिए शब्द है, वह सत् है तो उसका वाच्य न हो, ऐसा नहीं होता। वाच्य न हो तो पद नहीं हो सकता। कोई कहे कि गंधे के सींग कहलाते हैं परन्तु वैसा पदार्थ तो नहीं है। तो उसे कहते हैं कि 'गंधे के सींग' यह एक पद नहीं परन्तु वाक्य है। इसलिए यह नहीं होता। परन्तु गंधा, सींग-यह पद है, इसलिए सामने उसका वाच्य भी होता है। सींग शब्द है तो सींग पदार्थ न हो, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार काल शब्द है तो कालद्रव्य न हो, ऐसा नहीं होता। शब्द है तो उसका वाच्य भी है। शब्द भिन्न है और उसका वाच्य ऐसा पदार्थ भिन्न है। इस प्रकार दोनों को न स्वीकार करे तो वह शब्द और वस्तु को नहीं समझता।

इस प्रकार व्यवहारकाल जीव-पुद्गल की परिणति द्वारा साबित होता है। वह जीव-पुद्गल के परिणामों को और काल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव है। अनन्त जीवों और पुद्गलों के परिणाम नैमित्तिक हैं और कालद्रव्य की परिणति निमित्त है। यह पहले-पश्चात् नहीं, एक समय में है। कितने ही कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अशुद्धता में ही होता है, परन्तु शुद्ध में नहीं होता - तो यह बात खोटी है। केवलज्ञान नैमित्तिक और कालद्रव्य निमित्त है। सिद्धपर्याय नैमित्तिक और काल निमित्त है। आत्मा और शरीर समय-समय की पर्याय धारण करते हैं, उन्हें काल निमित्तमात्र है। नैमित्तिक के समय हो, उसे निमित्त कहा जाता है। निगोद की पर्याय को काल निमित्तमात्र

है। शुभभाव नैमित्तिक है और काल निमित्त है। शरीर में आहार जाये परन्तु वह रक्तरूप परिणमने का न हो, उसे काल परिणमाता नहीं। परन्तु जो-जो पर्याय हो, उसे काल निमित्त है। यह स्वतन्त्रता की घोषणा है।

काल के अस्तित्व से जीव-पुद्गल के परिणाम का अस्तित्व है अर्थात् कि कालद्रव्य के परिणाम निमित्त हैं और जीव-पुद्गल की पर्याय नैमित्तिक है, ऐसा सिद्ध होता है और जीव-पुद्गल के परिणामों से कालद्रव्य की पर्याय जानी जा सकती है।

कालद्रव्य नाम का पदार्थ है, उसकी एक समय की पर्याय है। उसे सिद्ध करने के लिये जीव-पुद्गल के परिणाम निमित्त हैं और काल की पर्याय नैमित्तिक है। दूसरे द्रव्यों के निमित्त से कालद्रव्य की पर्याय साबित करना, वह व्यवहार है। इस प्रकार सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार सच्चा ज्ञान करके अज्ञान को टालना, यही धर्म है।

●●

मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

मुनिराज, निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं। अहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है। साधुपना कोई अलग ही है भाई! विज्ञान का घन ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसमें वे अन्तर्निमग्न हैं। निमग्नपना, वह पर्याय है, परन्तु वह पर्याय त्रैकालिक एकाकार विज्ञानघनस्वभाव में निमग्न है, डूबी हुई है। अहा! इस दशा के बिना मुक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में होते हैं, परन्तु इतने से ही सम्पूर्ण मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रचुर स्वसम्बेदनस्वरूप निर्ग्रन्थ चारित्रदशा आये, उससे मुक्तिदशा प्राप्त होती है। बाह्य में वेष धारण कर ले, नग्नता ले ले और पञ्च महाव्रतादि का पालन करे, वह कोई मुनिदशा नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ १८४

गाथा - २४

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्टफासो य।
 अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति॥२४॥
 व्यपगतपञ्चवर्णरसो व्यपगतद्विगन्धाष्टस्पर्शश्च।
 अगुरुलघुको अमूर्तो वर्तनलक्षणश्च काल इति॥२४॥

रस-वर्ण पंचरु फरस अठ अर गंध दो से रहित है।
 अगुरुलघुक अमूर्त युत अरु काल वर्तन हेतु है॥२४॥

अन्वयार्थ :- [कालः इति] काल (निश्चयकाल) [व्यपगतपंचवर्णरसः] पाँच वर्ण और पाँच रसरहित, [व्यपगतद्विगन्धाष्टस्पर्शः च] दो गंध और आठ स्पर्श रहित, [अगुरुलघुकः] अगुरुलघु, [अमूर्तः] अमूर्त [च] और [वर्तनलक्षणः] वर्तनालक्षणवाला है।

*भावार्थ :- यहाँ निश्चयकाल का स्वरूप कहा है।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक कालाणु (कालद्रव्य) स्थित है। वह कालाणु (कालद्रव्य), सो निश्चयकाल है। अलोकाकाश में कालाणु (कालद्रव्य) नहीं है।

वह काल (निश्चयकाल) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहित है, वर्णादि रहित होने से अमूर्त है और अमूर्त होने से सूक्ष्म, अतीन्द्रियज्ञानग्राह्य है। और वह षट्गुणहानिवृद्धिरहित अगुरुलघुत्वस्वभाववाला है। काल का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है; अर्थात् जिस प्रकार शीतऋतु में स्वयं अध्ययनक्रिया करते हुए पुरुष को अग्नि सहकारी (बहिरंग निमित्त) है और जिस प्रकार स्वयं घूमने की क्रिया करते हुए कुम्हार के चाक को नीचे की कीली सहकारी है; उसी प्रकार निश्चय से स्वयमेव परिणाम को प्राप्त जीव-पुद्गलादि द्रव्यों को (व्यवहार से) कालाणुरूप निश्चयकाल बहिरंग निमित्त है।

* श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इस २४वीं गाथा की टीका लिखी नहीं है, इसलिए अनुवाद में अन्वयार्थ के बाद तुरन्त भावार्थ लिखा गया है।

प्रश्न :- अलोक में कालद्रव्य नहीं है, वहाँ आकाश की परिणति किस प्रकार हो सकती है?

उत्तर :- जिस प्रकार लटकती हुई लम्बी डोरी को, लम्बे बाँस को या कुम्हार के चाक को एक ही स्थान पर स्पर्श करने पर सर्वत्र चलन होता है, जिस प्रकार मनोज्ञ स्पर्शनेन्द्रिय विषय का अथवा रसनेन्द्रियविषय का शरीर के एक ही भाग में स्पर्श होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में सुखानुभव होता है और जिस प्रकार सर्पदंश या व्रण (घाव) आदि शरीर के एक ही भाग में होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में दुःखवेदना होती है, उसी प्रकार कालद्रव्य लोकाकाश में ही होने पर भी, सम्पूर्ण आकाश में परिणति होती है क्योंकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है।

यहाँ यह बात मुख्यतः ध्यान में रखना चाहिए कि काल किसी द्रव्य को परिणमित नहीं करता, सम्पूर्ण स्वतंत्रता से स्वयमेव परिणमित होनेवाले द्रव्यों को वह बाह्यनिमित्तमात्र है।

इस प्रकार निश्चयकाल का स्वरूप दर्शाया गया॥२४॥

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ७, रविवार

आत्मा है, वैसे कालाणु भी हैं। आत्मा में ज्ञान, आनन्द आदि भाव हैं। कालाणु में ये भाव नहीं, परन्तु कालाणु पदार्थ है, उसकी पहिचान कराते हैं।

अर्थ - निश्चय काल का स्वरूप कहते हैं। पाँच वर्ण और पाँच रस जिसे नहीं और दो गन्ध और आठ स्पर्श गुण भी जिसे नहीं और षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप अगुरुलघु-गुणसंयुक्त है और वह अमूर्त है और परद्रव्य के परिणमन में निमित्त है—ऐसा निश्चयकाल का लक्षण है।

कालाणु पदार्थ अरूपी है। उसमें वर्णादि गुण नहीं है। जैसे जीव-पुद्गलादि अस्तिकाय हैं, वैसे कालाणु अस्तिकाय नहीं है। परन्तु वह वस्तु तो है। जैसा पुद्गल का स्वभाव है, वैसा काल का स्वभाव नहीं, इसलिए कालाणु इकट्ठे नहीं होते। कालद्रव्य है, इसका निर्णय सूक्ष्म दृष्टिपूर्वक करना चाहिए, ऐसा आचार्यदेव आगे कहेंगे। द्रव्य

अपने कारण से परिणमते हैं, उसमें कालद्रव्य निमित्त है।

भावार्थ - कालद्रव्य अन्य द्रव्य की परिणति को सहायक हैं अर्थात् कि निमित्त हैं। वह किस प्रकार से? यह दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे कोई शिष्य सर्दी की शीतलता में अपने कारण से वाँचन करता हो तो उसे बाहर में अग्नि निमित्त है। पढ़ने की क्रिया तो स्वयं करता है, उसमें अग्नि निमित्तमात्र है। अग्नि पढ़ने की प्रेरणा करती नहीं। अग्नि से कारण से वह पढ़ता नहीं। अग्नि बलजोरी से कहती नहीं कि तू पढ़। परन्तु वह मात्र निमित्त है।

और कुम्हार का चाक अपने आप घूमता है, उसमें नीचे की कीली निमित्त है। कीली चाक को चलाती नहीं। इसी प्रकार सभी द्रव्यों की परिणति को निमित्तरूप कालद्रव्य है। कालद्रव्य बलजोरी से किसी को परिणमाता नहीं। आत्मा स्वयं समझता न हो और आयुष्य पूरा होने का समय हुआ हो तो कालद्रव्य ऐसा नहीं कहता कि अब तू आत्मा का (हित) करने के लिये समझण कर! परन्तु आत्मा स्वयं समझे तो उसके परिणमन में कालद्रव्य निमित्त कहा जाता है।

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि लोकाकाश के बाहर कालद्रव्य नहीं है, तो वहाँ आकाश किसके निमित्त से परिणमता है?

उसका उत्तर कहते हैं कि जैसे कुम्हार का चाक घूमता है, उस समय उसके एक कोने में लकड़ी छुआने से पूरा चाक घूमता है। और जिस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय का विषय एक जगह होता है और वेदन पूरे आत्मा में होता है। चन्दन शरीर के एक भाग में चोपड़े तो उसका वेदन पूरे आत्मा में होता है। बिच्छु एक जगह काटे और उसका वेदन पूरे आत्मा में होता है। और फोड़ा इत्यादि एक जगह होता है और वेदना पूरे आत्मा में होती है; उसी प्रकार कालद्रव्य लोकाकाश में होने पर भी अलोकाकाश की परिणति में वह निमित्त होता है।

और कोई प्रश्न करे कि कालद्रव्य अन्य द्रव्यों की परिणति को निमित्त होता है परन्तु कालद्रव्य की परिणति को निमित्त कौन है? तो कहते हैं कि काल को निमित्त काल है। जैसे आकाश का आधार आकाश है, उसी प्रकार कालद्रव्य के परिणमन में

कालद्रव्य स्वयं निमित्त है। ऐसा निश्चित होने से द्रव्य की स्वतन्त्रता साबित होती है। जैसे आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है, उसका कारण क्या ? तो कहते हैं कि वह अकारणीय है। उसका कारण कोई परद्रव्य नहीं हो सकता। स्वभाव को कारण होता नहीं, उसी प्रकार काल को काल कारण है अर्थात् कि काल के परिणमन में कोई पर कारण नहीं है। इस प्रकार स्वतन्त्र पदार्थ हैं, ऐसा निर्णय करके कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, उसे किसी इन्द्रिय और मन की आवश्यकता नहीं है।

आकाश को रहने के लिये जैसे दूसरे स्थान की आवश्यकता नहीं है; उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान करने के लिये पर की आवश्यकता नहीं है। जैसे आत्मा का स्वयंसिद्ध अपने क्षेत्र में रहने का स्वभाव है; उसी प्रकार आत्मा का स्वयंसिद्ध स्व-परप्रकाशक स्वभाव है।

जैसे ज्ञान, सूर्य, रत्न, दीपकादि पदार्थ स्व-परप्रकाशक है। उनके प्रकाश के लिये किसी अन्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है; उसी प्रकार कालद्रव्य को अपनी परिणति के लिये अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं है। स्वयं कालद्रव्य स्वयं अपने को निमित्त है। सूर्य को प्रकाशित करने में कोई अन्य कारण नहीं है। अपनी उज्ज्वलता का स्वभाव है, वह स्व-पर को बतलाता है। रत्न का प्रकाश स्वयं है। वह किसी पर के कारण से नहीं है और दीपक भी स्व-परप्रकाशक है। दीपक में दूसरी चीजें ज्ञात होती हैं, इसलिए उन दूसरी चीजों के कारण से दीपक नहीं है। जो जिसका स्वभाव है, उसमें किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं है। जैसे काल स्वयं से परिणमता है, वैसे आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, वह स्वयं से है। स्वभाव को निमित्त हो नहीं सकता। आत्मा की पर्याय पलटती है, उसमें काल निमित्त है, परन्तु स्व-परप्रकाशक स्वभाव को कोई निमित्त नहीं है। स्वतन्त्र है। सूर्य को प्रकाशित करने में दूसरे सूर्य की आवश्यकता नहीं पड़ती; उसी प्रकार कालद्रव्य परिणमता है, उसमें कोई निमित्त नहीं है।

और प्रश्न होता है कि—जैसे कालद्रव्य में परिणति होती है, उसमें काल स्वयं निमित्त है, उसी प्रकार जीव-पुद्गलादि द्रव्य भी अपनी परिणति में निमित्त क्यों न हों ?

उसमें काल का निमित्त है, ऐसा क्यों कहा है ? दूसरे द्रव्यों की परिणति में काल की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहो तो क्या बाधा है ? तो उससे कहते हैं कि —

कालद्रव्य का विशेषगुण वर्तना लक्षण है। वह अन्य पदार्थों की परिणति को निमित्तभूत है। जिस प्रकार आकाश अन्य पदार्थों को अवगाह दे, ऐसा उसका गुण है। धर्मास्तिकाय का जीव-पुद्गल को गमन में गतिहेतुत्व होने का गुण है और अधर्मास्तिकाय में जीव-पुद्गल को स्थितिहेतुत्व का गुण है; उसी प्रकार कालद्रव्य दूसरे पदार्थों के परिणमन में निमित्त है।

जड़कर्म स्वयं परिणमता है, वह उसका उपादान है और काल उसे निमित्त है। आत्मा में राग-द्वेषरूप परिणमता है, वह उसका उपादान है और काल का परिणमन, उसमें निमित्त है। प्रत्येक द्रव्य का उपादान स्वयं वह-वह द्रव्य ही है। एक द्रव्य का उपादान दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता, परन्तु कथंचित् प्रकार से अन्य पदार्थ अन्य पदार्थ को निमित्त कारण होता है। उपादान एक द्रव्य में दो नहीं होते परन्तु निमित्त दूसरे द्रव्य होते हैं। कलम चलती है, वह उपादान है। उसमें हाथ निमित्त है; हाथ उपादान है और उसमें आत्मा का निमित्त है। राग नैमित्तिक है और कर्म निमित्त है। इस प्रकार परद्रव्य निमित्तकारण होता है, परन्तु कोई किसी को कर्ता नहीं है। मोरपिच्छी उठती है, वह उसके कारण से, उसमें अँगुली निमित्तमात्र है। अँगुली से वह ऊँची नहीं हुई। दुकान बराबर चलती है, वह उपादान है, उसमें आत्मा की ममता निमित्तमात्र है। ममता की, इसलिए दुकान की व्यवस्था बराबर होती है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार उपादान-निमित्त की यहाँ बहुत स्पष्टता की है, तथापि अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण समझता नहीं है।

आकाशद्रव्य अवकाश में निमित्त है; धर्मास्तिकाय गतिहेतुत्व; अधर्मास्तिकाय स्थितिहेतुत्व; इस प्रकार एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य निमित्त पड़ते हैं। यदि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य निमित्त हैं, ऐसा न माना जाये तो जीव-पुद्गल दो ही द्रव्य रह जायें, इसलिए निमित्तरूप से दूसरा द्रव्य है।

बहुत से लोग कहते हैं कि निमित्त से उपादान में कुछ कार्य होता है, ऐसा माना जाये तो ही निमित्त को माना कहलाये। परन्तु ऐसा नहीं है। जब उपादान में कार्य होता

है, तब निमित्त दूसरा द्रव्य होता है, ऐसा मानना, वह यथार्थ है। जीव-पुद्गलादि अपने कारण से परिणमते हैं, उसमें काल निमित्त है, ऐसा न माने तो कालद्रव्य नहीं रहता। निमित्त-निमित्तपने का कार्य करे परन्तु पर में कुछ नहीं करता। निमित्त तो अनादि-अनन्त है, परन्तु निमित्त से उपादान में कुछ कार्य हो, ऐसा माना जाये तो द्रव्य स्वतन्त्र नहीं रहता। आगम विरुद्ध होता है। लोक की मर्यादा नहीं रहती।

कालद्रव्य को दूसरा द्रव्य निमित्त नहीं है, यह बात बराबर है परन्तु कालद्रव्य ही नहीं है—ऐसा नहीं है। कालद्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन में निमित्त है, ऐसा न माना जाये तो दो ही द्रव्य रहते हैं। इस प्रकार लोक की मर्यादा नहीं रहती। इसलिए निश्चयकाल अनादि-अनन्त पदार्थ है। असंख्य कालाणु हैं। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। कालद्रव्य है, उसे न माने तो आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वभाव को नहीं माना। क्योंकि कालद्रव्य ज्ञान का ज्ञेय है, वह परप्रकाशक में जाता है। उसे न माने, उसने परप्रकाशक स्वभाव को नहीं माना।

आत्मा का अपना स्वकाल खिला, अर्थात् कि आत्मा का भान हुआ, तब निमित्तरूप कालद्रव्य है, ऐसा श्रद्धा में आ गया है। पुरुषार्थ की गति संसार की ओर थी, वह चक्र बदलकर स्वभाव की ओर गति हुई, तब कालद्रव्य है, ऐसा भी साथ में भान होता है। किसी को सूक्ष्मता से ख्याल में न आवे तो वह अपवाद है। आत्मा की पर्याय बदलती है तो उसमें निमित्त कोई द्रव्य होना चाहिए, ऐसी प्रतीति आ जाती है। बिल्कुल निषेध नहीं होता। गुरुगम न मिला हो तो कदाचित् ख्याल में न आवे परन्तु कोई कहे तो विरोध नहीं करे। कालद्रव्य नहीं है, ऐसा माने तो दूसरे धर्मादिद्रव्य निमित्तरूप हैं, उनका भी निषेध होता है। इस प्रकार चार द्रव्यों का निषेध होने से जीव-पुद्गल भी मान्यता में नहीं रहते। पर है, ऐसा जानने की ताकतवाला स्वयं है, उसका भी निषेध होता है। जैसे काँच का बड़ा गोला घर में बीच में बाँधा हो तो उसमें सब दिखता है, उसका निषेध करे तो गोले का निषेध होता है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान में ज्ञेयपदार्थ ज्ञात होते हैं। उस ज्ञेय का निषेध करने से ज्ञान का निषेध होता है।

यह निश्चयकाल का वर्णन किया। अब, व्यवहारकाल का वर्णन करते हैं। ●●

गाथा - २५

समओ णिमिओ कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो॥२५॥

समयो निमिषः काष्ठा कला च नाली ततो दिवारात्रः।
मासर्त्वयनसंवत्सरमिति कालः परायत्तः॥२५॥

अत्र व्यवहारकालस्य कथंचित्परायत्तत्वं द्योतितम्।

परमाणुप्रचलनायत्तः समयः। नयनपुटघटनायत्तो निमिषः। तत्संख्याविशेषतः काष्ठा कला नाली च। गगनमणिगमनायत्तो दिवारात्रः। तत्संख्याविशेषतः मासः, ऋतुः, अयनं, संवत्सरः इति। एवंविधो हि व्यवहारकालः केवलकालपर्यायमात्रत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात् परायत्त इत्युपमीयत इति॥२५॥

समय-निमिष-कला-घड़ी दिनरात-मास-ऋतु-अयन।
वर्षादि का व्यवहार जो वह पराश्रित जिनवर कहा॥२५॥

अन्वयार्थ :- [समयः] समय, [निमिषः] निमेष, [काष्ठा] काष्ठा, [कला च] कला, [नाली] घड़ी, [ततः दिवारात्रः] अहोरात्र, (-दिवस), [मासर्त्वयनसंवत्सरम्] मास, ऋतु, अयन और वर्ष- [इति कालः] ऐसा जो काल (अर्थात् व्यवहारकाल) [परायत्तः] वह पराश्रित है।

टीका :- यहाँ व्यवहारकाल का कथंचित् पराश्रितपना दर्शाया है।

परमाणु के गमन के आश्रित समय है; आँख के मिचने के आश्रित निमेष है; उसकी (-निमेष की) अमुक संख्या से काष्ठा, कला और घड़ी होती है; सूर्य के गमन के आश्रित अहोरात्र होता है; और उसकी (-अहोरात्र की) अमुक संख्या से मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं।-ऐसा व्यवहारकाल केवल काल की पर्यायमात्ररूप से अवधारना अशक्य होने से (अर्थात् पर की अपेक्षा बिना-परमाणु, आँख, सूर्य आदि पर पदार्थों की अपेक्षा बिना-व्यवहारकाल का माप निश्चित करना अशक्य होने से) उसे 'पराश्रित' ऐसी उपमा दी जाती है।

भावार्थ :- 'समय' निमित्तभूत ऐसे मन्दगति से परिणत पुद्गल-परमाणु द्वारा प्रगट

होता है—मापा जाता है (अर्थात् परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश में मन्दगति से जाने में जो समय लगे, उसे समय कहा जाता है।) 'निमेष' आँख के मिचने से प्रगट होता है (अर्थात् खुली आँख के मिचने में जो समय लगे, उसे निमेष कहा जाता है और वह एक निमेष असंख्यात समय का होता है।) पन्द्रह निमेष का एक 'काष्ठा', तीस काष्ठा की एक 'कला', बीस से कुछ अधिक कला की एक 'घड़ी' और दो घड़ी का एक 'मुहूर्त' बनता है। 'अहोरात्र' सूर्य के गमन से प्रगट होता है (और वह एक अहोरात्र तीस मुहूर्त का होता है) तीस अहोरात्र का एक 'मास', दो मास की एक 'ऋतु', तीन ऋतु का एक 'अयन' और दो अयन का एक 'वर्ष' बनता है।—यह सब व्यवहारकाल है। 'पल्योपम', 'सागरोपम' आदि भी व्यवहारकाल के भेद हैं।

उपरोक्त समय—निमेषादि सब वास्तव में मात्र निश्चयकाल की ही (—कालद्रव्य की ही) पर्यायें हैं परन्तु वे परमाणु आदि द्वारा प्रगट होती हैं, इसलिए (अर्थात् परपदार्थों द्वारा मापी जा सकती हैं इसलिए) उन्हें उपचार से पराश्रित कहा जाता है॥२५॥

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ७-८, रविवार-सोमवार

अर्थ : कालद्रव्य की एक समय की पर्याय, वह व्यवहार काल है। तो भी जीव-पुद्गल के नये-पुरानेरूप परिणाम से वह उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता है।

दूसरे द्रव्य द्वारा कालद्रव्य की पर्याय हुई, ऐसा कहना, वह पराधीन है अर्थात् कि उसमें पर की अपेक्षा है, इसलिए व्यवहारकाल है। यह अब कहते हैं—एक परमाणु मन्दगति से छोटे में छोटे काल में दूसरे प्रदेश में जाये, उसे समय कहा जाता है। यह व्यवहार से पर्याय का माप है और निश्चय से कालद्रव्य की पर्याय है।

काल का अधिकार चलता है। पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और छठवाँ काल नाम का पदार्थ है, वह काल भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जैसे जीव वस्तु है, वैसे काल भी मूल वस्तु है। आचार्यदेव कालद्रव्य का वर्णन करके अन्त में कहेंगे कि खरपरदृष्टि से अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से इस काल को जानना।

आत्मा अनन्त ज्ञानादि स्वभाववाला त्रिकाल है। चिदानन्दमूर्ति आत्मा एक

कालस्वरूप अभेद है। एक काल में अभेद परिपूर्ण द्रव्य को जाना, वहाँ स्वकाल प्रगट हुआ। और उसमें निमित्तरूप परकाल का अस्तित्व है, ऐसी भी वहाँ प्रतीति हो जाती है। जिसे चिदानन्द आत्मा का भान नहीं, उसे तो स्वकाल का भान नहीं और वैसे निमित्तरूप कालद्रव्य का भी उसे यथार्थ भान नहीं। आत्मा चिदानन्द एक कालस्वभावी है, अर्थात् कि अभेदरूप से सदा एकरूप है। ऐसे स्वकालसहित द्रव्य का भान होने पर निमित्तरूप परकाल अर्थात् कि कालद्रव्य का भी ज्ञान में स्वीकार हो जाता है। ज्ञान स्व-पर दोनों को जानता है। अपना स्वकाल और उसमें निमित्तरूप परकाल, इन दोनों को जानता है। मैं अखण्ड ज्ञायक चिदानन्द हूँ-ऐसी उपादेयबुद्धि होने पर ज्ञान के ज्ञेयरूप छहों द्रव्यों की स्वीकृति हो जाती है। जहाँ निश्चय स्वकाल ज्ञात हुआ, वहाँ दूसरे काल पदार्थ का भी भान आ ही जाना चाहिए। यदि काल को न माने तो यहाँ अपने ज्ञान की पूर्णता ही सिद्ध नहीं होती। स्वकाल को जानने से पर काल का ज्ञान साथ ही आ जाता है। ऐसा ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है।

कालद्रव्य एक प्रदेशी ही है। एक 'समय', वह कालद्रव्य की पर्याय है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति से जाये, उतने समय में उस प्रदेश में काल की पर्याय हो जाती है और पर्याय का धारक द्रव्य भी उतने ही क्षेत्र में है। जितने क्षेत्र में पर्याय की सिद्धि हो जाती है, उतने ही क्षेत्र में द्रव्य रहा हुआ है। अर्थात् कि कालद्रव्य एक प्रदेश में रहा हुआ है। पर्याय और पर्यायवान द्रव्य का क्षेत्र भिन्न नहीं है।

छह द्रव्यों को जानें, ऐसा ज्ञानपर्याय का सामर्थ्य है। यदि छह द्रव्य को भी न माने तो छह द्रव्य को जाननेवाले ज्ञान को भी नहीं मान सकता। ज्ञान की एक समय की पर्याय छहों द्रव्यों को निर्विकल्परूप से जान ले, ऐसा उसका सामर्थ्य है। सामने छह द्रव्य ज्ञेयरूप से निमित्त हैं, परन्तु उस ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता।

समय, निमिष, घड़ी, दिन इत्यादि समय का माप है। वह कालद्रव्य की व्यवहारपर्याय है और उस व्यवहारपर्याय का माप परद्रव्य की अपेक्षा से होता होने से उस व्यवहारकाल को पराधीन कहा जाता है। व्यवहारकाल का माप निम्नानुसार है।

मन्दगति से परिणमित परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को

समय कहते हैं। जब असंख्यात समय व्यतीत होते हैं, तब एक निमिष होता है। पन्द्रह निमिष की एक काष्ठा होती है और बीस काष्ठा हो, तब एक कला होती है। बीस कला से थोड़ा अधिक हो, तब एक नाली अथवा घड़ी होती है जो कि पानी में रखी हुई छिद्रवाली कटोरी अथवा रेतवाली घड़ी से जानी जा सकती है। ऐसे दो घड़ी हो, तब एक मुहूर्त होता है। जब बीस मुहूर्त बीतते हैं, तब एक दिन और रात्रि होती है, जो कि सूर्य की गति से जाना जा सकता है और तीस दिन का महीना, दो महीने की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष होता है। और जहाँ तक वर्ष की गिनती हो सकती है, वहाँ तक संख्यात काल कहा जाता है। तदुपरान्त पल्य, सागर आदि असंख्यात अथवा अनन्त काल जानना।

इस प्रकार व्यवहारकाल द्रव्य के परिणमन की मर्यादा से गिनने में आता है। मूल द्रव्य निश्चयकाल है। निश्चयकाल द्रव्य त्रिकाल है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं है। वह स्वाधीन है। वह मूल पदार्थ है।

●●

छोटे से सिद्ध भगवान....

अहा! आठ वर्ष का छोटा-सा राजकुमार, जब दीक्षा लेकर मुनि हो, तब वैराग्य का वह अद्भुत दृश्य! आनन्द में लीनता!! **मानों छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरें हों! वाह रे वाह! धन्य यह मुनिदशा!**

जब वे छोटे से मुनिराज दो-तीन दिन में आहार के लिए निकलें, तब आनन्द में झूलते-झूलते धीरे-धीरे चले आ रहे हों और योग्य विधि का मेल मिलने पर आहार ग्रहण के लिए छोटे-छोटे हाथों को अञ्जलि जोड़कर खड़े हों। **अहा! वह दृश्य कैसा होगा!!**

बाद में वे आठ वर्ष के मुनिराज, आत्मा के ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध हो जाएँ – ऐसी आत्मा की शक्ति है। **वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरादि भगवान के पास आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसङ्ग बनते रहते हैं।**

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, १८९, पृष्ठ ११६

गाथा - २६

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
 पोग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो॥२६॥
 नास्ति चिरं वा क्षिप्रं मात्रारहितं तु सापि खलु मात्रा।
 पुद्गलद्रव्वेण विना तस्मात्कालः प्रतीत्यभवः॥२६॥

अत्र व्यवहारकालस्य कथञ्चित् परायत्तत्वे सदुपपत्तिरुक्ता।

इह हि व्यवहारकाले निमिषसमयादौ अस्ति तावत् चिर इति क्षिप्र इति सम्प्रत्ययः। स खलु दीर्घह्रस्वकालनिबन्धनं प्रमाणमन्तरेण न सम्भाव्यते। तदपि प्रमाणं पुद्गलद्रव्यपरिणाममन्तरेण नावधार्यते। ततः परपरिणामद्योतमानत्वाद्व्यवहारकालो निश्चयेनानन्याश्रितोऽपि प्रतीत्यभव इत्यभिधीयते। तदत्रास्तिकायसामान्यप्ररूपणायामस्तिकायत्वा-भावात्साक्षादनुपन्यस्यमानोऽपि जीवपुद्गलपरिणामान्यथानुपपत्त्या निश्चयरूपस्तत्परिणामायत्ततया व्यवहाररूपः कालोऽस्तिकाय-पञ्चकवल्लोकरूपेण परिणत इति खरतरदृष्ट्याभ्युपगम्यत इति॥२६॥

विलम्ब अथवा शीघ्रता का ज्ञान होता माप से।

माप होता पुद्गलाश्रित काल अन्याश्रित कहा॥२६॥

अन्वयार्थ :- [चिरं वा क्षिप्रं] 'चिर' अथवा 'क्षिप्र' ऐसा ज्ञान (-अधिक काल अथवा अल्प काल ऐसा ज्ञान) [मात्रारहितं तु] परिमाण बिना (-काल के माप बिना) [न अस्ति] नहीं होता; [सा मात्रा अपि] और वह परिमाण [खलु] वास्तव में [पुद्गलद्रव्वेण विना] पुद्गलद्रव्य के नहीं होता; [तस्मात्] इसलिए [कालः प्रतीत्यभवः] काल आश्रितरूप से उपजनेवाला है (अर्थात् व्यवहारकाल पर का आश्रय करके उत्पन्न होता है, ऐसा उपचार से कहा जाता है)।

टीका :- यहाँ व्यवहारकाल के कथञ्चित पराश्रितपने के विषय में सत्य युक्ति कही गयी है।

प्रथम तो, निमेष-समयादि व्यवहारकाल में 'चिर' और 'क्षिप्र' ऐसा ज्ञान (-अधिक काल और अल्प काल ऐसा ज्ञान होता है)। वह ज्ञान वास्तव में अधिक और अल्प काल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रमाण (-कालपरिमाण) बिना सम्भवित नहीं होता; और वह प्रमाण पुद्गलद्रव्य के परिणाम बिना निश्चित नहीं होता। इसलिए, व्यवहारकाल पर के परिणाम द्वारा ज्ञात होने के कारण-यद्यपि निश्चय से वह अन्य के

आश्रित नहीं है तथापि-आश्रितरूप से उत्पन्न होनेवाला (-पर के अवलम्बन से उपजनेवाला) कहा जाता है।

इसलिए यद्यपि काल को अस्तिकायपने के अभाव के कारण यहाँ अस्तिकाय की सामान्य प्ररूपणा में उसका *साक्षात् कथन नहीं है तथापि, जीव-पुद्गल के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा सिद्ध होनेवाला निश्चयरूप काल और उनके परिणाम के आश्रित निश्चित होनेवाला व्यवहाररूप काल पंचास्तिकाय की भाँति लोकरूप से परिणत है-ऐसा, अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि से जाना जा सकता है।

भावार्थ :- 'समय' अल्प है, 'निमेष' अधिक है और 'मुहूर्त' उससे भी अधिक है, ऐसा जो ज्ञान होता है, वह 'समय', 'निमेष' आदि का परिमाण जानने से होता है; और वह कालपरिमाण पुद्गलों द्वारा निश्चित होता है। इसलिए व्यवहारकाल की उत्पत्ति पुद्गलों द्वारा होती (उपचार से) कही जाती है।

इस प्रकार यद्यपि व्यवहारकाल का माप पुद्गल द्वारा होता है, इसलिए उसे उपचार से पुद्गलाश्रित कहा जाता है, तथापि निश्चय से वह केवल कालद्रव्य की ही पर्यायरूप है, पुद्गल से सर्वथा भिन्न है-ऐसा समझना। जिस प्रकार दस सेर पानी के मिट्टीमय घड़े का माप पानी द्वारा होता है, तथापि घड़ा मिट्टी की ही पर्यायरूप है; पानी की पर्यायरूप नहीं है; उसी प्रकार समय-निमेषादि व्यवहारकाल का माप पुद्गल द्वारा होता है, तथापि व्यवहारकाल, कालद्रव्य की ही पर्यायरूप है; पुद्गल की पर्यायरूप नहीं है।

कालसम्बन्धी गाथासूत्रों के कथन का संक्षेप इस प्रकार है-जीव-पुद्गलों के परिणाम में (समयविशिष्ट वृत्ति में) व्यवहार से समय की अपेक्षा आती है; इसलिए समय को उत्पन्न करनेवाला कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिए। वह पदार्थ, सो कालद्रव्य है। कालद्रव्य परिणमित होने से व्यवहारकाल होता है और वह व्यवहारकाल पुद्गल द्वारा मापा जाने से उसे उपचार से पराश्रित कहा जाता है। पंचास्तिकाय की भाँति निश्चयव्यवहाररूप काल भी लोकरूप से परिणत है, ऐसा सर्वज्ञों ने देखा है और अति तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा स्पष्ट सम्यक् अनुमान भी हो सकता है।

कालसम्बन्धी कथन का तात्पर्यार्थ निम्नोक्तानुसार ग्रहण करने योग्य है:-अतीत अनन्त काल में जीव को एक चिदानन्दरूप काल ही (स्वकाल ही) जिसका स्वभाव है,

* साक्षात्=सीधा (काल का विस्तृत सीधा कथन श्री प्रवचनसार के द्वितीय-श्रुतस्कन्ध में किया गया है; इसलिए काल का स्वरूप विस्तार से जानने के इच्छुक जिज्ञासु को प्रवचनसार में से वह ज्ञान लेना चाहिए।

ऐसे जीवास्तिकाय की उपलब्धि नहीं हुई है; उस जीवास्तिकाय का ही सम्यक् श्रद्धान, उसी का रागादि से भिन्नरूप भेदज्ञान और उसी में रागादिविभावरूप समस्त संकल्प-विकल्पजाल के त्याग द्वारा स्थिर परिणति कर्तव्य है॥२६॥

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ८, सोमवार

अर्थ : काल की मर्यादा बिना थोड़ा काल-बहुत काल, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए काल की मर्यादा का कथन करना आवश्यक है। तथा उस काल की मर्यादा पुद्गलद्रव्य बिना निश्चित नहीं होती। अर्थात् कि परमाणु की मन्द गति, सूर्य की चाल इत्यादि प्रकार के जो पुद्गल के परिणाम हैं, उनसे काल की मर्यादा हो सकती है। इस कारण से व्यवहारकाल की उत्पत्ति पुद्गलद्रव्य के निमित्त से होती है, ऐसा कहा जाता है।

जिनमत में सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य कहे हैं। उन द्रव्यों के बिना लोक की सिद्धि नहीं होती। जगत में निश्चय कालद्रव्य बिना जीव-पुद्गल का परिणमन सिद्ध नहीं हो सकता और जीव-पुद्गल में नयी-पुरानी पर्यायरूप परिणमन बिना व्यवहारकाल की सिद्धि नहीं होती। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अपने ज्ञान में सूक्ष्म दृष्टि द्वारा युक्ति इत्यादि से निर्णय करके इस कालद्रव्य को जानो। कालद्रव्य को जानने का कहा, परन्तु उपादेयरूप तो अपना चिदानन्द एक ज्ञानस्वभाव ही है।

क्षणिक राग-द्वेष, पुण्य-पाप जितना ही अपने को मानता था, तब तो उसे स्वकाल का भी भान नहीं था और परकाल का भी ज्ञान नहीं था। जहाँ अन्तर्मुख होकर चिदानन्दस्वभाव का भान होने पर स्वकाल का पुरुषार्थ प्रगट हुआ, वहाँ उस स्वकाल में निमित्तरूप ऐसे परकाल को भी जानता है। इसलिए जिसे वीतराग की आज्ञा मानना हो, उसे सूक्ष्म दृष्टि से जगत में असंख्य कालाणुद्रव्य हैं, ऐसा निर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार छह द्रव्यों का सामान्य वर्णन किया।

अब जीवद्रव्य का विशेष वर्णन करते हैं। संसारी जीव का स्वरूप उपाधिरहित तथा उपाधिसहित किस प्रकार है, वह नयविलास से वर्णन करते हैं।

●●

गाथा - २७

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
 भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥२७॥
 जीव इति भवति चेतयितोपयोगविशेषितः प्रभुः कर्ता।
 भोक्ता च देहमात्रो न हि मूर्तः कर्मसंयुक्तः॥२७॥

अत्र संसारावस्थस्यात्मनः सोपाधि निरुपाधि च स्वरूपमुक्तम्।

आत्मा हि निश्चयेन भावप्राणधारणाजीवः, व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाजीवः। निश्चयेन चिदात्मकत्वात्, व्यवहारेण चिच्छक्तियुक्तत्वाच्चेतयिता। निश्चयेनापृथग्भूतेन, व्यवहारेण पृथग्भूतेन चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेनोपलक्षितत्वादुपयोगविशेषितः। निश्चयेन भावकर्मणां, व्यवहारेण द्रव्यकर्मणामास्रवणबन्धनसंवरणनिर्जरणमोक्षणेषु स्वयमीशत्वात् प्रभुः। निश्चयेन पौद्गलिककर्म-निमित्तात्मपरिणामानां, व्यवहारेणात्मपरिणामनिमित्तपौद्गलिककर्मणां कर्तृत्वात्कर्ता। निश्चयेन शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानां, व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसंपादितेष्टानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वाद्भोक्ता। निश्चयेन लोकमात्रोऽपि विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वान्नामकर्मनिवृत्तमणु महच्च शरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रः। व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्वपरिणामान्मूर्तोऽपि निश्चयेन नीरूपस्वभावत्वान्न हि मूर्तः। निश्चयेन पुद्गलपरिणामानुरूपचैतन्यपरिणामात्मभिः, व्यवहारेण चैतन्यपरिणामानुरूपपुद्गलपरिणामात्मभिः कर्मभिः संयुक्तत्वात्कर्मसंयुक्त इति॥२७॥

आत्मा है जीव-देह प्रमाण चित्-उपयोगमय।

अमूर्त कर्ता-भोक्ता प्रभु कर्म से संयुक्त है॥२७॥

अन्वयार्थ :- [जीवः इति भवति] (संसारस्थित) आत्मा जीव है, [चेतयिता] चेतयिता (चेतनेवाला) है, [उपयोगविशेषितः] उपयोगलक्षित है, [प्रभुः] प्रभु है, [कर्ता] कर्ता है, [भोक्ता] भोक्ता है, [देहमात्रः] देहप्रमाण है, [न हि मूर्तः] अमूर्त है [च] और [कर्मसंयुक्तः] कर्मसंयुक्त है।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) संसार-दशावाले आत्मा का 'सोपाधि और निरुपाधि स्वरूप कहा है।

१. सोपाधि=उपाधि सहित; जिसमें पर की अपेक्षा आती हो ऐसा।

आत्मा निश्चय से भावप्राण को धारण करता है इसलिए 'जीव' है, व्यवहार से (असद्भूतव्यवहारनय से) द्रव्यप्राण को धारण करता है इसलिए 'जीव' है; 'निश्चय से चित्स्वरूप होने के कारण 'चेतयिता' (चेतनेवाला) है, व्यवहार से (सद्भूतव्यवहारनय से) चित्शक्तियुक्त होने से 'चेतयिता' है; निश्चय से 'अपृथग्भूत' ऐसे चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से 'उपयोगलक्षित' है, व्यवहार से (सद्भूतव्यवहारनय से) पृथग्भूत ऐसे चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से 'उपयोगलक्षित' है; निश्चय से भावकर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश (समर्थ) होने से 'प्रभु' है, व्यवहार से (असद्भूतव्यवहारनय से) द्रव्यकर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश होने से 'प्रभु' है; निश्चय से पौद्गलिक कर्म जिनका निमित्त है ऐसे आत्मपरिणामों का कर्तृत्व होने से 'कर्ता' है, व्यवहार से (असद्भूत-व्यवहारनय से) आत्मपरिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पौद्गलिक कर्मों का कर्तृत्व होने से 'कर्ता' है; निश्चय से शुभाशुभ कर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुख-दुःखपरिणामों का भोक्तृत्व होने से 'भोक्ता' है, व्यवहार से (असद्भूतव्यवहारनय से) शुभाशुभ कर्मों से सम्पादित (प्राप्त) इष्टानिष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से 'भोक्ता' है; निश्चय से लोकप्रमाण होने पर भी, विशिष्ट अवगाहपरिणाम की शक्तिवाला होने से नामकर्म से रचित छोटे-बड़े शरीर में रहता हुआ व्यवहार से (सद्भूतव्यवहारनय से) 'देहप्रमाण' है; व्यवहार से (असद्भूतव्यवहारनय से) कर्मों के साथ एकत्वपरिणाम के कारण मूर्त होने पर भी, निश्चय से अरूपीस्वभाववाला होने के कारण 'अमूर्त' है; 'निश्चय से पुद्गलपरिणाम को अनुरूप चैतन्यपरिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से 'कर्मसंयुक्त' है, व्यवहार से (असद्भूत-व्यवहारनय से) चैतन्यपरिणाम को अनुरूप पुद्गलपरिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से 'कर्मसंयुक्त' है।

१. निश्चय से चित्शक्ति को आत्मा के साथ अभेद है और व्यवहार से भेद है; इसलिए निश्चय से आत्मा चित्शक्तिस्वरूप है और व्यवहार से चित्शक्तिवान है।
२. अपृथग्भूत=अपृथक्; अभिन्न। (निश्चय से उपयोग आत्मा से अपृथक् है और व्यवहार से पृथक् है।)
३. संसारी आत्मा निश्चय से निमित्तभूत पुद्गलकर्मों को अनुरूप ऐसे नैमित्तिक आत्म परिणामों के साथ (अर्थात् भावकर्मों के साथ) संयुक्त होने से कर्मसंयुक्त है और व्यवहार से निमित्तभूत आत्मपरिणामों को अनुरूप ऐसे नैमित्तिक पुद्गलकर्मों के साथ (अर्थात् द्रव्यकर्मों के साथ) संयुक्त होने से कर्मसंयुक्त है।

भावार्थ :—पहली २६ गाथाओं में षड्द्रव्य और पंचास्तिकाय का सामान्य निरूपण करके, अब इस २७वीं गाथा से उनका विशेष निरूपण प्रारम्भ किया गया है। उसमें प्रथम, जीव का (आत्मा का) निरूपण प्रारम्भ करते हुए इस गाथा में संसारस्थित आत्मा को जीव (अर्थात् जीवत्ववाला), चेतयिता, उपयोगलक्षणवाला, प्रभु, कर्ता इत्यादि कहा है। जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोग, प्रभुत्व, कर्तृत्व, इत्यादि का विवरण अगली गाथाओं में आयेगा॥२७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ८, सोमवार

(१) निश्चय से आत्मा त्रिकाल चैतन्यप्राण से अभेद वस्तु है, सदा चैतन्यमय है। आत्मा तो त्रिकाल चैतन्यप्राण से जीवित है। इन्द्रियाँ या मन, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। अन्न, वह आत्मा का प्राण नहीं। आत्मा का तो चैतन्यप्राण है, उससे आत्मा कभी पृथक् नहीं है।

- ★ शुद्धनिश्चय से तो अपने अखण्ड चैतन्यप्राण से जीता है,
- ★ अशुद्धनिश्चय से क्षयोपशमभावरूप प्राण से जीता है।
- ★ असद्भूत उपचरितव्यवहार से दस प्राणों से जीता है।—ऐसा जीव नाम का पदार्थ है।

जीवपदार्थ निश्चय से चेतना स्वभाव से अभेद है, गुण और गुणी दोनों अभेद हैं; चेतना गुण बिना आत्मा रहा ही नहीं। अज्ञानी को लगता है कि मुझे रागादि बिना, शरीरादि बिना, पैसे बिना चलता नहीं, परन्तु अनन्त काल से चेतना द्वारा ही आत्मा टिक रहा है—ऐसा वह जानता नहीं। चेतनागुण का भेद करना, वह व्यवहार है और अभेद में तो चेतना को और आत्मा को गुण-गुणी भेद नहीं; गुण-गुणी भेद भी व्यवहार है। चेतनागुण से अभेद आत्मा का भान करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। रागादि भाव तो उपाधि हैं। वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। उपयोगरूप परिणाम से वह आत्मा जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बाहर के कारणों से वह ज्ञात नहीं

होता। चेतना को यहाँ गुण कहा है और उपयोग को पर्याय कहा है।

(२) चेतना और उपयोग में क्या अन्तर है?—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर : आत्मा त्रिकाली द्रव्य, चेतना उसका त्रिकाली गुण और उपयोग उसकी पर्याय है। चेतना के परिणाम को उपयोग कहा है। उपयोग, वह परिणतिरूप है। चेतना कहने से यहाँ कर्म-कर्मफल इत्यादि चेतना की बात नहीं है। वे तीन प्रकार तो पर्याय है और यह चेतना तो त्रिकाली है। और चेतना की पर्याय, वह उपयोग है।

(३) और आत्मा प्रभु है। किस प्रकार से? कि आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष, इन पर्यायों को करने में आत्मा स्वयं ही प्रभु है। कर्म के कारण से वे आस्रव, बन्ध इत्यादि होते हैं, ऐसा नहीं, उस पर्याय के परिणमन में स्वयं ही प्रभु है। अज्ञानी कहता है कि जैसे घोड़े के ऊपर बैठे हुए मनुष्य को घोड़ा चले वैसे गति करनी पड़ती है, उसी प्रकार कर्म के उदयप्रमाण आत्मा परिणमता है। उसकी बात झूठी है। मनुष्य, मनुष्य की योग्यता से चलता है और घोड़ा, घोड़े से चलता है। कोई किसी के कारण से चलता नहीं। उसी प्रकार आत्मा भी कर्म के कारण से विकाररूप परिणमता नहीं परन्तु अपनी प्रभुता से ही अपनी पर्याय में परिणमता है। स्वयं ही अपनी बन्ध-मोक्ष पर्याय में स्वतन्त्ररूप से परिणमता है, इसलिए वह प्रभु है। समयसार की ४७ शक्तियों में जो प्रभुत्वशक्ति वर्णन की है, वह तो त्रिकाली स्वभाव की बात है, और यहाँ पर्याय की बात है। पर्याय में बन्ध या मोक्षरूप परिणमे, उसमें आत्मा का ही अस्तित्व है, इसलिए आत्मा ही प्रभु है। अशुद्धता का कारण कौन? आत्मा ही स्वयं अपनी पर्याय का प्रभु है, कोई दूसरा अपना प्रभु नहीं। अनन्त तीर्थकर इकट्ठे होकर भी उसे आस्रव-बन्ध करने से रोक नहीं सकते और कोई तिरा नहीं सकते। स्वयं ही पर्याय में उल्टा या सुल्टा प्रभु है।

श्रीमद् ने कहा है कि : 'भगवान् परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाता है, तथापि उसमें भी अपलक्षण कहीं कम नहीं हैं।'

वहाँ दूसरे प्रभु की बात नहीं, परन्तु आत्मा की ही बात है कि आत्मा स्वयं स्वभाव से अनन्त गुणवाला परमेश्वर होने पर भी पर्याय में उसके अपलक्षणों का भी पार नहीं

अर्थात् कि पर्याय में अपराध भी है—ऐसे द्रव्य-पर्याय का प्रमाणज्ञान कराते हैं। यह अध्यात्मग्रन्थ है, तथापि ज्ञानप्रधान कथन होने से द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान कराते हैं। समयसार में तो द्रव्यस्वभाव का आश्रय कराने के लिये कहते हैं कि विकार, वह पुद्गल के परिणाम हैं ! वहाँ दृष्टिप्रधान कथन है और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। दोनों कथन एक ही आचार्यदेव के हैं; दोनों यथार्थ हैं। जैसा है, वैसा जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का करनेवाला आत्मा प्रभु स्वयं है। कोई कर्म उसका करनेवाला नहीं। सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र-अकषायभाव उन सबका करनेवाला प्रभु स्वयं है, दूसरा नहीं। संवर में भी कर्ता स्वयं है। संवरपर्याय, वह भावकर्म है। विभाव, वह भी भावकर्म है और स्वभाव, वह भी भावकर्म है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब भावकर्म है। उनका कर्ता स्वयं है। अपनी शक्ति से होता है। उसमें दूसरे की शक्ति से नहीं होता।

कोई कहता है कि सम्यग्दर्शन दैवात् होता है। और यह बाहर का चारित्र, वह पुरुषार्थ से होता है। इस चारित्र से देव में जाकर फिर भगवान के पास जायेंगे और वहाँ सम्यग्दर्शन पायेंगे। अहो ! कितना अधिक फेरफार हो गया है ! यहाँ तो कहते हैं कि तेरे सम्यग्दर्शन कार्य का करनेवाला प्रभु तू स्वयं है। दूसरे का उसमें कुछ नहीं।

एक अंश से लेकर पूर्ण शुद्धता तक के सभी कार्य का कर्ता स्वयं है। अपनी प्रभुता से वे होते हैं, उसमें दूसरा कोई करनेवाला नहीं है।

अजीव परवस्तु है, उसका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं। जीव में जो आस्रव, संवर आदि पर्यायें होती हैं, उनका कर्ता स्वयं है, अपनी प्रभुता से वे होती हैं। निश्चय से अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं प्रभु है।

अपनी पर्याय का स्वयं कर्ता होता है, तब व्यवहार से कर्म-निमित्त का स्वयं कर्ता है, ऐसा कहा जाता है। आत्मा अपने पुरुषार्थ की विपरीतता से विकारीभाव करे, तब जड़कर्म उसके कारण से आते हैं, उनका कर्ता आत्मा व्यवहार से कहलाता है।

संवर = आत्मा स्वयं पुण्य-पापरहित अपनी शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का प्रभु हुआ, तब निमित्त अटका। इसलिए उसे अटकाया, ऐसा कहने का व्यवहार है।

आत्मा पुण्य-पाप में अटका, वह भावबन्ध का स्वयं प्रभु है। तब जड़कर्म बँधे, उनके बाँधने का प्रभु निमित्त से कहलाता है।

नैमित्तिक में निर्जरा हुई, तब निमित्त-कर्म टल गया, वहाँ निमित्त को टालने का प्रभु व्यवहार से कहा जाता है।

स्वयं अन्दर पुण्य-पाप आदि सर्व अशुद्धता का नाश करके मोक्ष किया, तब निमित्त-कर्म सब टल गया। उसके व्यवहार से कर्म को टाला—ऐसा कहा जाता है। अन्दर अपने भाव में मोक्ष करने का प्रभु हुआ तो व्यवहार से निमित्त टालने का प्रभु कहलाता है।

इस प्रकार अन्दर अपने भाव को करने का प्रभु हुआ, तब निमित्त-कर्म टालने का प्रभु व्यवहार से कहा जाता है—इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की सन्धि है।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ९, मंगलवार

इस गाथा में आत्मा का वर्णन करते हुए, उसकी पर्याय तथा निमित्त कैसा होता है ? यह भी बतलाते हैं। द्रव्य, पर्याय और निमित्त का यथार्थ ज्ञान करे तो निमित्तरहित और विकारीभाव से रहित शुद्ध चैतन्य आत्मा की ओर का झुकाव करे। आत्मा चेतना गुणवाला है, उपयोगवाला है और प्रभु है—ऐसे तीन बोल हो गये हैं। अब कर्ता की बात करते हैं।

(४) 'कर्ता' पुद्गलकर्मों का निमित्त पाकर जो परिणाम होते हैं, उनका आत्मा निश्चय से कर्ता है।

यहाँ शुद्धनय को गौण करके बात की है। पुद्गलकर्मों के निमित्त से आत्मा में विकारीपर्याय होती है, ऐसा कहा है। पुद्गलकर्म निमित्त है, ऐसा कहने से नैमित्तिक पर्याय है, ऐसा सिद्ध होता है। निमित्त-नैमित्तिकभाव में कालभेद नहीं। वास्तव में अपने पुण्य-पाप का कर्ता आत्मा है, ऐसा कहा है। वह शुद्धनय को गौण करके अशुद्ध निश्चयनय की मुख्यता से कहा है। निमित्त के कारण से विकार नहीं। राग-द्वेषादि के

परिणाम आत्मा स्वयं करता है, उसमें कर्म निमित्तमात्र है। आत्मा स्वभाव को चूककर विकाररूप होता है, तब निमित्त कौन था, इस बात को समझाया है। और विकार निमित्त के लक्ष्य से होता है, यह बात भी साथ-साथ कहते हैं। जीव जब दया, दान, भक्ति आदि के भाव करता है, तब कर्म की उपस्थिति होती है। परन्तु उस कर्म के कारण से विकार नहीं होता। निमित्त के ऊपर दोष डालने से दोष टलता नहीं। स्वयं अपने अपराध से शुभाशुभभाव का कर्ता है।

आत्मा के अशुद्ध परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गलकर्म हों, उनका आत्मा व्यवहार से कर्ता है।

यहाँ कहते हैं कि व्यवहारनय से आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता है और पंचाध्यायी में कहा है कि आत्मा को शरीर, कर्म आदि का कर्ता कहना, वह नयाभास है। यहाँ तो कहते हैं कि विकारी पर्याय का आत्मा कर्ता होता है, उसका निमित्त पाकर कर्म की पर्याय होती है, उसका व्यवहार से आत्मा कर्ता है। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है। आत्मा राग करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और नये कर्म बँधते हैं, उसमें यह राग निमित्त है परन्तु निमित्त से नैमित्तिकभाव है, ऐसा नहीं। आत्मा विकार करे तो उसका निमित्त पाकर जड़कर्म होते हैं, उनका व्यवहार से आत्मा कर्ता है, ऐसा यहाँ कहा गया है।

(५) 'भोक्ता' शुभाशुभकर्मों के निमित्त से होते सुख-दुःख के परिणामों का आत्मा निश्चय से भोक्ता है।

आत्मा हर्ष-शोक के भावों को करता है, उसे शुभ-अशुभ जड़कर्मों का उदय निमित्त है, परन्तु उस कर्म के कारण से सुख-दुःख के परिणाम हुए नहीं। स्वयं सुख-दुःख के परिणाम करता है, इसलिए आत्मा वास्तव में उन परिणाम का भोक्ता है। शरीर, लड्डू, कपड़े, मकानादि वस्तुओं को आत्मा भोग नहीं सकता और कर्म आदि परवस्तु आत्मा को बलजोरी से हर्ष-शोक के परिणाम कराती नहीं। परन्तु आत्मा स्वयं स्वभाव को चूककर सुख-दुःख के परिणाम करता है, इसलिए भोक्ता है।

शुभाशुभकर्म के उदय से इष्ट-अनिष्ट विषय प्राप्त हों, उनका आत्मा व्यवहारनय से भोक्ता है।

सातावेदनीय कर्म के निमित्त से इष्ट सामग्री मिलती है और असाता के उदय से अनिष्ट सामग्री मिलती है। कोई कहे कि आत्मा ने व्यवस्था बराबर नहीं रखी, इसलिए पैसे नहीं मिले या पैसे रहे नहीं, तो वह बात खोटी है। परन्तु असाता के उदय के कारण से पैसे मिलते नहीं। पैसे मिलने में वर्तमान पुरुषार्थ का कारण नहीं है। बहुत-से पैसे के लिये बहुत प्रयत्न करता है परन्तु मिलते नहीं और बहुत-से थोड़ा प्रयत्न करते हैं तो भी लाखों रुपये कमाते हैं, इसलिए वह पुरुषार्थ के कारण से नहीं, परन्तु कर्म के कारण से है।

वास्तव में परपदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है, परन्तु आत्मा स्वयं सुख-दुःख की कल्पना करता है तो परपदार्थ को आरोप से इष्ट-अनिष्ट कहा जाता है। रोग या निरोगता, सधनता या निर्धनता आदि पूर्वकर्म के कारण से मिलते हैं। उसमें आत्मा सुख-दुःख की कल्पना करे तो उसका व्यवहार से भोक्ता कहलाता है, निश्चय से अपना और व्यवहार से पर का भोक्ता है, इस प्रकार एक समय में दो पदार्थों को आत्मा भोक्ता नहीं परन्तु अपनी सुख-दुःख की कल्पना का भोक्ता होता है। उसमें परचीज निमित्त है, इसलिए व्यवहार से पर का भोक्ता कहा गया है। परन्तु (वास्तव में) पर को भोगता नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, इसलिए भोग नहीं सकता। अज्ञानी जीव कहते हैं कि 'कर्म में तुम्हारा अधिकार है, परन्तु उसके फल में कदापि नहीं' तो कर्ता स्वयं और भोक्ता दूसरा, ऐसा नहीं है, परन्तु आत्मा स्वयं कर्ता है और भोक्ता भी है।

(६) 'स्वदेहमात्र' निश्चयनय से आत्मा लोकमात्र असंख्यप्रदेशी है।

लोक जितने आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, यह निश्चय है। परन्तु केवलीसमुद्घात के समय लोकप्रमाण हो, वह निश्चय है, ऐसा नहीं है। वह तो विस्तार होने से व्यवहार में जाता है। यहाँ तो निश्चय लोकप्रमाण प्रदेशों की संख्या है। असंख्यातप्रदेशी आत्मा है, वह कल्पना नहीं परन्तु यथार्थ है, ऐसा बतलाने के लिये निश्चय से कहा है। आत्मा अवयवी है और असंख्यप्रदेश वे अवयव हैं। वह त्रिकाल-अनादि अनन्त है। वह निश्चय है। यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होती। अब व्यवहार से बात करते हैं।

व्यवहारनय से आत्मा संकोच-विस्तारशक्ति से नामकर्म के निमित्त से छोटा-बड़ा शरीर होता है, तत्प्रमाण है।

चींटी, कुत्ता, कौआ आदि के शरीर में जीव रहता है, वह अपनी शक्ति से रहता है और शरीर तो नामकर्म के निमित्त से छोटा अथवा बड़ा मिलता है। आत्मा उस शरीर-परिमाण रहता है, वह अपनी शक्ति से व्यवहार से रहता है। जब तक संसार में है, तब तक शरीरप्रमाण संकोच-विस्तार करके रहता है, वह व्यवहार है; इसलिए आत्मा व्यवहारनय से स्वदेह प्रमाण होता है, ऐसा कहा है।

(७) व्यवहार से आत्मा मूर्त के संयोग से मूर्त कहलाता है परन्तु मूर्त होता नहीं।

आत्मा व्यवहार से कर्म के संयोग के कारण से मूर्तिक विभावपरिणामरूप परिणमता है, तथापि निश्चय से स्वाभाविक भाव से आत्मा अमूर्त है। व्यवहार से जीव और शरीर एक कहलाते हैं अर्थात् कि वास्तव में एक नहीं हैं, ऐसा हुआ। मूर्त के संयोग से मूर्त कहलाता है। जैसे पानी के संयोग से 'पानी का लोटा' कहलाता है, परन्तु वास्तव में पानी का लोटा होता नहीं, उसी प्रकार शरीर के संयोग से आत्मा को मूर्त शरीरवाला कहलाता है, परन्तु वास्तव में आत्मा मूर्त शरीरवाला नहीं है। विकार की योग्यता है तो शरीर का सम्बन्ध है और शरीर के सम्बन्ध के कारण से व्यवहार से मूर्त कहलाता है। यह आत्मा की पर्याय की योग्यता और निमित्त का ज्ञान कराते हैं।

(८) 'कर्मसंयुक्त' निश्चय से पुद्गलकर्म के निमित्त से होते अशुद्ध भावकर्म-संयुक्त आत्मा है।

पुद्गलकर्मों का निमित्त पाकर आत्मा में अशुद्ध चैतन्य विभाव परिणाम होते हैं। उन भावकर्मसहित आत्मा है। निश्चयनय से मलिन परिणामसहित आत्मा है। पुण्य-पापादि परिणाम आत्मा के हैं। समयसार में निश्चय से पुण्य-पाप परिणाम आत्मा के नहीं, परन्तु पुद्गल के हैं, ऐसा कहा गया है, वह तो स्वभावदृष्टि में पर्याय की गौणता करके, तथा विकारी परिणाम निकल जाते हैं, इस अपेक्षा से कहा गया है। यहाँ तो पर्याय का ज्ञान कराते हैं कि विकार आत्मा स्वयं करे तो होता है। कर्म कराता नहीं, यह कहते हैं।

व्यवहारनय से आत्मा अशुद्धपरिणाम के निमित्त से होनेवाले द्रव्यकर्मसहित है।

आत्मा व्यवहार से कर्मसहित है, क्योंकि जड़कर्म के परिणाम हुए, उसमें आत्मा

की अशुद्ध पर्याय निमित्त है, इसलिए आत्मा कर्मसंयुक्त है। संसार हो और विकार न हो, ऐसा नहीं होता; इसलिए निश्चय से आत्मा संसार में विकारसहित है और व्यवहार से जड़कर्मसहित है। संसार में व्यवहार से कर्मसहित नहीं ही, ऐसा नहीं है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

आत्मा कैसा है ? तो कि

(१) चेतनागुणवाला है,

(२) उपयोग विशिष्ट अर्थात् जानने-देखने के परिणामवाला है,

(३) आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन पदार्थ में निश्चय से स्वयं भावकर्मों के सामर्थ्यवाला होने से प्रभु है, व्यवहार से द्रव्यकर्म की ऐश्वर्यतासहित है, इसलिए प्रभु है।

(४) वास्तव में अपने विभावभाव का कर्ता है और व्यवहार से पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है।

(५) निश्चय से सुख-दुःख आदि परिणामों का भोक्ता है और व्यवहार से शुभ-अशुभकर्मों के निमित्त से प्राप्त इष्ट-अनिष्ट सामग्री का भोक्ता है,

(६) वास्तव में आत्मा लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहारनय से नामकर्म के निमित्त से प्राप्त छोटे-बड़े शरीरप्रमाण है। इसलिए स्वदेहपरिमाण है,

(७) यद्यपि आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल के संयोग से मूर्तिक कहलाता है, परन्तु वास्तव में वह अमूर्तिक है,

(८) वास्तव में आत्मा अपने अशुद्धभाव से ही सहित है, व्यवहारनय से अशुद्धभाव का निमित्त पाकर नये कर्म बँधते हैं, उनसे सहित है। ऐसे संसारी जीव की शुद्ध-अशुद्धनय के कथन से, सिद्धान्त अनुसार विवक्षा जानना चाहिए।

अब, मोक्ष में रहनेवाले जो सिद्ध आत्मा हैं, उनका उपाधिरहित शुद्धस्वरूप कैसा है, यह कहते हैं।



गाथा - २८

कम्मलविप्पमुक्को उड्डं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥२८॥

कर्ममलविप्रमुक्त ऊर्ध्वं लोकस्यान्तमधिगम्य।
स सर्वज्ञानदर्शी लभते सुखमनिन्द्रियमनन्तम्॥२८॥

अत्र मुक्तावस्थस्यात्मनो निरुपाधि स्वरूपमुक्तम् ।

आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्मरजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमन-
स्वभावत्वाल्लोकान्तमधिगम्य परतो गतिहेतोरभावादवस्थितः केवलज्ञानदर्शनाभ्यां स्वरूप-
भूतत्वादमुक्तोऽनन्तमतीन्द्रियं सुखमनुभवति। मुक्तस्य चास्य भावप्राणधारणलक्षणं जीवत्वं,
चिद्रूपलक्षणं चेतयितृत्वं, चित्परिणामलक्षण उपयोगः, निर्वर्तितसमस्ताधिकारशक्तिमात्रं प्रभुत्वं,
समस्तवस्त्वसाधारणस्वरूपनिर्वर्तनमात्रं कर्तृत्वं, स्वरूपभूतस्वातन्त्र्यलक्षणसुखोपलभ्यरूपं
भोक्तृत्वं, अतीतानन्तरशरीरपरिमाणवगाहपरिणामरूपं देहमात्रत्वं, उपाधिसम्बन्धविविक्त-
मात्यन्तिकममूर्तत्वम् । कर्मसंयुक्तत्वं तु द्रव्यभावकर्मविप्रमोक्षान्न भवत्येव। द्रव्यकर्माणि हि
पुद्गलस्कन्धा भावकर्माणि तु चिद्विवर्ताः। विवर्तते हि चिच्छक्तिरनादिज्ञाना वरणादिकर्मसम्पर्क-
कूणितप्रचारा परिच्छेद्यस्य विश्वस्यैकदेशेषु क्रमेण व्याप्रियमाणा । यदा तु ज्ञानावरणादिकर्म-
सम्पर्कः प्रणश्यति तदा परिच्छेद्यस्य विश्वस्य सर्वदेशेषु युगपद्व्यापृता कथञ्चित्कौटस्थमवाप्य
विषयान्तरमनाप्रवन्ती न विवर्तते । स खल्वेष निश्चितः सर्वज्ञसर्वदर्शित्वोपलम्भः । अयमेव
द्रव्यकर्मनिबन्धनभूतानां भावकर्मणां कर्तृत्वोच्छेदः। अयमेव च विकारपूर्वकानुभवा-
भावादौपाधिकसुखदुःखपरिणामानां भोक्तृत्वोच्छेदः । इदमेव चानादिविवर्तखेदविच्छित्ति-
सुस्थितानन्तचैतन्यस्यात्मनः स्वतन्त्रस्वरूपानुभूतिलक्षणसुखस्य भोक्तृत्वमिति ॥२८॥

कर्म मल से मुक्त आतम मुक्ति कन्या को वरे ।

सर्वज्ञता समदर्शिता सह अनन्तसुख अनुभव करे ॥२८॥

अन्वयार्थः [कर्ममलविप्रमुक्तः] कर्ममल से मुक्त आत्मा [ऊर्ध्वं] ऊपर [लोकस्य
अन्तम्] लोक के अन्त को [अधिगम्य] प्राप्त करके [सः सर्वज्ञानदर्शी] वह सर्वज्ञ-
सर्वदर्शी [अनन्तम्] अनन्त [अनिन्द्रियम्] अनिन्द्रिय [सुखम्] सुख का [लभते] अनुभव
करता है।

टीका :- यहाँ मुक्तावस्थावाले आत्मा का निरुपाधि स्वरूप कहा है।

आत्मा (कर्मरज के) परद्रव्यपने के कारण कर्मरज से सम्पूर्णरूप से जिस क्षण छूटता है (-मुक्त होता है), उसी क्षण (अपने) ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अन्त को पाकर आगे गतिहेतु का अभाव होने से (वहाँ) स्थिर रहता हुआ, केवलज्ञान और केवलदर्शन (निज) स्वरूपभूत होने के कारण उनसे न छूटता हुआ अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। उस मुक्त आत्मा को, भावप्राणधारण जिसका लक्षण (-स्वरूप) है ऐसा 'जीवत्व' होता है। चिद्रूप जिसका लक्षण (-स्वरूप) है ऐसा 'चेतयितृत्व' होता है; चित्परिणाम जिसका लक्षण (-स्वरूप) है ऐसा 'उपयोग' होता है; प्राप्त किये हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारों की 'शक्तिमात्ररूप' 'प्रभुत्व' होता है; समस्त वस्तुओं से असाधारण ऐसे स्वरूप की निष्पत्तिमात्ररूप (-निज स्वरूप को रचनेरूप) 'कर्तृत्व' होता है; स्वरूपभूत स्वातंत्र्य जिसका लक्षण (-स्वरूप) है ऐसे सुख की उपलब्धिरूप 'भोक्तृत्व' होता है; अतीत अनन्तर (-अन्तिम) शरीरप्रमाण अवगाहपरिणामरूप 'देहप्रमाणपना' होता है; और उपाधि के सम्बन्ध से 'विविक्त' ऐसा आत्यंतिक (सर्वथा) 'अमूर्तपना' होता है। (मुक्त आत्मा को) 'कर्मसंयुक्तपना' तो होता ही नहीं, क्योंकि द्रव्यकर्मों और भावकर्मों से विमुक्ति हुई है। द्रव्यकर्म वे पुद्गलस्कन्ध है और भावकर्म वे 'चिद्विवर्त' हैं। चित्शक्ति अनादि ज्ञानावरणादिकर्मों के सम्पर्क से (सम्बन्ध से) संकुचित व्यापारवाली होने के कारण ज्ञेयभूत विश्व के (-समस्त पदार्थों के) एक-एक देश में क्रमशः व्यापार करती हुई विवर्तन को प्राप्त होती है। किन्तु जब ज्ञानावरणादिकर्मों

१. शक्ति=सामर्थ्य; ईशत्व। (मुक्त आत्मा समस्त आत्मिक अधिकारों को भोगने में अर्थात् उनका उपयोग करने में स्वयं समर्थ है, इसलिए वह प्रभु है।)
२. मुक्त आत्मा की अवगाहना चरमशरीरप्रमाण होती है, इसलिए उस अन्तिम शरीर की अपेक्षा लेकर उनको 'देहप्रमाणपना' कहा जा सकता है।
३. विविक्त=भिन्न; रहित।
४. पूर्व सूत्र में कहे हुए 'जीवत्व' आदि नव विशेषों में से प्रथम आठ विशेष मुक्तात्मा को भी यथासम्भव होते हैं, मात्र एक 'कर्मसंयुक्तपना' नहीं होता।
५. चिद्विवर्त=चैतन्य का परिवर्तन अर्थात् चैतन्य का एक विषय को छोड़कर अन्य विषय को जाननेरूप बदलना; चित्शक्ति का अन्य अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप परिवर्तित होना।

का सम्पर्क विनष्ट होता है, तब वह ज्ञेयभूत विश्व के सर्व देशों में युगपद् व्यापार करती हुई कथंचित् 'कूटस्थ' होकर, अन्य विषय को प्राप्त न होती हुई विवर्तन नहीं करती। वह यह (चित्शक्ति के विवर्तन का अभाव), वास्तव में निश्चित (-नियत, अचल) सर्वज्ञपने की और सर्वदर्शीपने की उपलब्धि है। यही, द्रव्यकर्मों के निमित्तभूत भावकर्मों के कर्तृत्व का विनाश है; यही, विकारपूर्वक अनुभव के अभाव के कारण 'औपाधिक सुखदुःख-परिणामों के भोक्तृत्व का विनाश है; और यही, अनादि विवर्तन के खेद के विनाश से जिसका अनन्त चैतन्य सुस्थित हुआ है, ऐसे आत्मा को स्वतन्त्रस्वरूपानुभूतिलक्षण सुख का (-स्वतन्त्र स्वरूप की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे सुख का) भोक्तृत्व है।॥२८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ९, मंगलवार

गाथा २७ में संसारी जीव का वर्णन किया था। अब सिद्ध का वर्णन करते हैं। जो जीव ज्ञानावरणीयरूप द्रव्यकर्म और विकार आदि भावकर्म से सर्व प्रकार से मुक्त है, वह सबको जानने तथा देखनेवाले शुद्ध जीव ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण से तीन लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्र में प्राप्त होते हैं। सिद्धपरमात्मा मुक्तदशा को प्राप्त हैं, वे पहले से ही जड़कर्म से और विकार से भिन्न हैं, ऐसी दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता करके मुक्तदशा में परमानन्द को प्राप्त हुए हैं। उस परमानन्द का कारण भी परमानन्द ऐसा त्रिकाली निर्विकार शुद्धस्वभाव ही है। पूर्ण जानने-देखने का स्वभाव जो प्रगट हुआ है, वह अल्पज्ञान और अल्पदर्शन के आश्रय से प्रगट नहीं हुआ परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वभाव की दृष्टि करने से प्रगट होता है। संसारी जीव एक अवस्था में और एक स्थान

१. कूटस्थ=सर्वकाल एकरूप रहनेवाली; अचल। (ज्ञानावरणादिकर्मों का सम्बन्ध नष्ट होने पर कहीं चित्शक्ति सर्वथा अपरिणामी नहीं हो जाती; किन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप परिवर्तित नहीं होती-सर्वदा तीनों काल के समस्त ज्ञेयों को जानती रहती है, इसलिए उसे कथंचित् कूटस्थ कहा है।)
२. औपाधिक=द्रव्यकर्मरूप उपाधि के साथ सम्बन्धवाले; जिनमें द्रव्यकर्मरूपी उपाधि निमित्त होती है ऐसे; अस्वाभाविक; वैभाविक; विकारी।

में नहीं रहते परन्तु सिद्ध तो ऊर्ध्वगतिस्वभाव के कारण से अपनी पर्याय की योग्यता से लोक के अग्रभाग में रहे हुए हैं। वे सिद्धपरमात्मा सविकार, पराधीन इन्द्रियसुख से रहित, अमर्यादित आत्मा के स्वाभाविक अतीन्द्रियसुख को प्राप्त होते हैं। इन्द्रियसुख से रहित आनन्ददशा, वह पराधीन नहीं परन्तु स्वाधीन है। संसार का सुख तो कल्पनामात्र और दुःखरूप है और सिद्धदशा का सुख तो अतीन्द्रिय और स्वाभाविक है।

भावार्थ : संसारी जीव परद्रव्य के सम्बन्ध से जब छूटता है, उसी समय सिद्धक्षेत्र में जाकर रहता है। संसारी जीव अपने स्वभाव का संग करके परद्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़ता है, तब परद्रव्य का संग नहीं रहता और संग छोड़ा, ऐसा कहा जाता है। शुद्ध आत्मा सिद्धक्षेत्र में स्थित होता है, वहाँ परमानन्द में रहना, वह मुक्ति है। यद्यपि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, तथापि आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने के कारण से लोक के अग्रभाग में रहता है, यह निमित्त का कथन है। वास्तव में शुद्ध आत्मा की लोक में रहने की योग्यता के कारण से ही वे वहाँ स्थित होते हैं।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण १०, बुधवार

इससे पहले की गाथा में सामान्य जीव की व्याख्या की। यहाँ इस गाथा में सिद्धात्मा की व्याख्या करते हैं।

भावार्थ : संसारी जीव परद्रव्य के सम्बन्ध से छूटता है, उसी समय में सिद्धक्षेत्र में स्थित होता है। आत्मा का ऊर्ध्वगमनस्वभाव है। परन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव कारण से आगे नहीं जाता, यह निमित्त से कथन किया है। आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध है, उसकी पूर्ण शुद्धदशा हो, तब वह लोक के अग्र में जाता है। वह अपनी योग्यता है, इसलिए वहाँ रहता है। परन्तु आगे धर्मास्तिकाय नहीं, इसलिए आगे नहीं जाता, ऐसा नहीं है। लोक के अग्र में जाता है, वह आत्मा का अपना स्वभाव है। मछली पानी में रहती है और गमन करती है, वह मछली की अपनी योग्यता है। वह पानी के कारण से नहीं है। सींग फटे तब दाना ऊँचा उछलता है और धुँआँ ऊँचा जाता है, ऐसा उसका स्वभाव है, उसी प्रकार आत्मा में पूर्णदशा प्रगटे, तब वह लोकाग्र में जाकर रहता है, यह उसका स्वभाव है।

सिद्ध आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शनसंयुक्त अनन्त अतीन्द्रियसुख को भोगते हैं। मोक्ष अवस्था में भी आत्मा के अविनाशी भावप्राण हैं, उस द्वारा वे सदा जीते हैं, इसलिए सिद्धपरमात्मा को जीवत्वशक्ति है। शुद्धस्वरूप का अनुभव होने के कारण सिद्ध को चेतयिता भी कहा जाता है। जानने-देखने का स्वभाव है, इसलिए उन्हें राग-द्वेषरहित ज्ञान है। भगवान को शुद्ध परिणामरूप उपयोगी भी कहा जाता है। इसलिए भगवान को भी उपयोग है, यह निश्चित होता है। यह पर्याय की बात है। अपने चैतन्य की निर्मलदशारूप उपयोग भगवान को है।

और, शुद्ध आत्मा को समस्त आत्मिक शक्तियों का सामर्थ्य प्रगट हुआ है, इसलिए प्रभुत्वशक्ति भी है। स्त्री-कुटुम्ब का प्रभु तो मुफ्त का कहलाता था और अन्तर में राग-द्वेष का अशुद्धदृष्टि से प्रभु कहलाता था, परन्तु वास्तव में आत्मा की सभी शक्तियाँ प्रगट हुई, इसलिए प्रभु कहलाता है। अशुद्धदृष्टि से निगोद अशुद्धता का प्रभु है और शुद्धदृष्टि से भगवान प्रभु हैं, एक पुण्य-पाप का प्रभु है और एक पूर्णता का प्रभु है, इतना अन्तर है। स्वयं अपना प्रभु है, दूसरे का प्रभु नहीं और दूसरा कोई उसका प्रभु नहीं। इससे विपरीत स्वरूप सिद्ध का कोई कहता हो तो उसका निषेध करने के लिये यहाँ यथार्थ व्याख्यान किया है। सिद्ध को सब शक्तियाँ प्रगट हुई हैं, इसलिए वे अनन्त गुण के धाम हैं। शक्ति थी, वह पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गयी है। स्वयं अपने प्रभु हैं, वे जगत के प्रभु नहीं। शास्त्र में तीन लोक के नाथ कहा जाता है, वे तीन लोक को जानते हैं, इस अपेक्षा से कहा जाता है। अर्थात् दूसरे अनन्त सिद्ध हैं, उन्हें भी ज्ञान जानता है। निचली दशा में ज्ञान अटकता था, तब पर के ऊपर लक्ष्य जाता था, परन्तु पूर्णदशा प्रगट हुई, इसलिए पर के ऊपर लक्ष्य नहीं रहता।

अपना स्वरूप अन्य पदार्थों में नहीं है, इसलिए आत्मा अपने स्वभाव से सदा परिणमता है, इसलिए आत्मा स्वयं कर्ता है। संसार में पुण्य-पाप का कर्तापना था और व्यवहार से जड़कर्म का कर्तापना कहा था। परन्तु सिद्ध भगवान अपनी पर्याय के कर्ता हैं, पर के कर्ता नहीं। यद्यपि संसारी आत्मा भी पर का कर्ता नहीं, परन्तु अज्ञानी राग-द्वेष आदि का कर्ता होता था, तब कर्म का कर्ता कहलाता था, परन्तु सिद्ध को तो व्यवहार से भी पर के कर्तापने का आरोप नहीं आता। जीव का दूसरे में अस्तित्व नहीं,

इसलिए अपने परिणाम का कर्ता है। संवर आदि में कर्म के अभावरूप कर्तापना कहा था और आस्रव में कर्म का कर्तापना कहा है, वहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया था। परन्तु यहाँ सिद्धदशा में ऐसा व्यवहार लागू नहीं पड़ता, क्योंकि अकेला ज्ञानानन्द परिणमन हो रहा है।

सिद्ध आत्मा को स्वाधीन सुख की प्राप्ति हुई है। उसका वे अनुभव करते होने के कारण भोक्ता भी हैं। संसारदशा में सुख-दुःख का भोक्ता अशुद्ध निश्चयनय से कहा था और व्यवहार से इष्ट-अनिष्ट सामग्री का भोक्ता कहा था, परन्तु यहाँ तो स्वभाव की लीनता से पर्याय में प्रगट पूर्ण सुख से खिल निकले हैं, ऐसे अनुभव के भोक्ता हैं।

सिद्ध भगवान् अन्तिम शरीर के अवगाहन से किञ्चित् न्यून पुरुषाकार आत्मप्रदेश के अवगाहन से रहे हुए हैं, इस कारण से देहमात्र कहलाते हैं। लकड़ी के साँचे के आकार खाँड की चाशनी के खिलौने बनाते हैं, वे लकड़ी का साँचा अलग करने पर खाण्ड की चाशनी का खिलौना रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा अमृत की मूर्ति है, वह शरीर छूट जाने पर शरीर से किञ्चित् न्यून आकार रह जाता है, अकेली आनन्द की मूर्ति रह जाती है। इससे विरुद्ध कोई कहनेवाला हो तो वह सर्वज्ञ के आत्मा को जानता नहीं।

जब संसारी आत्मा सर्व परद्रव्य के सम्बन्ध से छूट जाता है, तब पौद्गलिक उपाधि से सर्वथा रहित होता है, इसलिए वह अमूर्तिक कहलाता है। द्रव्यकर्म तथा भावकर्म से रहित हो गये हैं, इसलिए वे कर्मसहित नहीं हैं। प्रथम व्यवहार से कर्मसहित कहकर आत्मा को मूर्तिक कहा था, परन्तु यहाँ तो आत्मा का अमूर्तिकपना बतलाते हैं। पहली गाथा में संसारीजीव का विशेष वर्णन करके जो विशेषण कहे थे, वे मुक्तजीव को भी होना सम्भव है। परन्तु उन विशेषणों में से एक कर्मसंयुक्तपना है, वह बनता नहीं। दूसरे सब विशेषण मिलते हैं। कर्म है, वह दो प्रकार के हैं। एक द्रव्यकर्म और दूसरा भावकर्म। जीव के सम्बन्ध से जो पुद्गल वर्गणा का स्कन्ध है, वह द्रव्यकर्म कहलाता है और चेतना की विभावपर्याय, वह भावकर्म है। आत्मा को विकार होने की योग्यता है, वह नैमित्तिक है और उसमें कर्म निमित्त हैं। इस निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध से संसारी जीव को कर्मसंयुक्त कहा है। सिद्ध को पूर्ण शुद्धदशा होने के कारण वह विशेषण लागू नहीं पड़ता।

यहाँ कोई पूछे कि आत्मा का लक्षण तो चेतना है, वह विभावरूप से कैसे होगा ? आत्मा अनन्त शक्तिवाला चेतन पदार्थ है, वह विभावरूप कैसे परिणमेगा ?

तो इसका उत्तर (यह है कि) संसारी जीव को अनादि काल से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का संयोग है, उस संयोग से आत्मा की चैतन्यशक्ति भी अपने निजस्वरूप से च्युत हो गयी है, अर्थात् कि कर्म की उपस्थिति है, उसका आश्रय करने से अपनी पर्याय अपने स्वभाव से च्युत हो गयी है, इसलिए अनादि से संसार में अज्ञानरूप से परिणम रहा है। कर्म संयोग से विभाव होता है, ऐसा कहा है। तो संयोग कहते ही दो पदार्थों की पृथक्ता है, वह दो की एकता नहीं बतलाता। संयोग और स्वभाव दो हैं। स्वभाव को चूकता है, वह संयोगदृष्टि करता है। अज्ञानी को यह बात बैठती नहीं, इसलिए वह निमित्त-उपादान में बड़ा विवाद उठाता है। कर्म के कारण से आत्मा की शक्ति रुकती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वयं स्वरूप से हट जाता है, इसलिए पर घर में जाता है। पर्यायदृष्टि से संसार अनादि का है। पहले शुद्धता थी और बाद में अशुद्धता हुई, ऐसा नहीं है, तथापि अशुद्धता समय-समय में नयी करता है। पूर्व में भूल की थी, वह अवरोधक है, ऐसा नहीं, परन्तु वर्तमान जितना विभाव का जोर करता है, उतना आत्मा में से च्युत होता है।

दृष्टान्त : जैसे कादव के सम्बन्ध से जल अपने स्वभाव को छोड़ देता है, उसी प्रकार कर्म के सम्बन्ध से चेतना विभावरूप होती है, अर्थात् कि आत्मा स्वयं कर्म का सम्बन्ध करता है तो विभावरूप परिणमता है। जैसे पानी की स्वच्छतारूप से पानी स्वयं नहीं परिणमा तो कादव के सम्बन्ध से मलिन हुआ, ऐसा कहा जाता है। निमित्त-उपादान का बहुत ऊहापोह चला है। इस बात को नहीं समझनेवाले ऐसा कहते हैं कि 'उपादानवाले उपादान की ओर खींचते हैं और निमित्तवाले निमित्त की ओर खींचते हैं, परन्तु अनेकान्त नहीं करते। जैसे कोई पक्षी बोलता हो तो उसका अपने-अपने पक्ष प्रमाण प्रत्येक अर्थ करते हैं। उसी प्रकार शास्त्र वाँचकर उपादानवाला उपादान की ओर खींचता है और निमित्तवाला निमित्त की ओर खींचता है।'—ऐसा वे मानते हैं। परन्तु वास्तव में वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। निमित्त वस्तु है सही, परन्तु जैसे उपादान से

काम होता है, वैसे निमित्त से भी काम होता है तो एकान्त हो जाता है और वस्तु की स्वतन्त्रता नहीं रहती।

अनादि से अज्ञान के कारण चेतना विभावरूप परिणमी है, इसलिए सभी पदार्थों को एकसाथ जानने में वह असमर्थ है। आंशिक किन्हीं पदार्थों को क्षयोपशम की यथायोग्यता प्रमाण जानती है। चेतना थोड़ा काम करती है, यह प्रश्न था तो उससे कहते हैं कि अपने स्वभाव को चूककर चेतना पर में अटकी है, इसलिए क्रम-क्रम से एकदेश जानती है। पर की सम्हाल करने जाने पर अपनी सम्हाल नहीं रहती। जैसे किसी व्यापारी को शाकभाजी, हीरा-माणिक्य आदि की दुकान हो, उसमें शाकभाजी की दुकान की सम्हाल रखने जाये तो हीरा-माणिक्य की दुकान की सम्हाल नहीं रहती; उसी प्रकार आत्मा राग-द्वेष, शुभ-अशुभभाव की सम्हाल रखे तो पुण्य-पाप बँधते हैं, परन्तु चैतन्य की सम्हाल नहीं रहती, इसलिए उसे धर्म नहीं होता।

जब वह संसारी आत्मा स्वभाव का लक्ष्य करता है और पुरुषार्थपूर्वक आत्मा की सम्हाल करता है, तब उसे सम्यग्दर्शनादि सामग्री मिलती है। अपने पुरुषार्थ से स्वभाव के लक्ष्य से शुद्धपर्याय प्रगट हो, वह काललब्धि है। सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वभाव में लीनता होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का सम्बन्ध छूटता है और शुद्धचेतना प्रगट होती है, पूर्ण शुद्धचेतना होने से आत्मा त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष जान लेता है। कर्म के निमित्त के झुकाव में जब ज्ञानचेतना प्रवर्तती थी, तब अल्पज्ञान का कार्य होता था। वह चेतना स्वभाव से परिणमने पर पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान होता है। अल्पज्ञता और पूर्णता दोनों दशायें आत्मा से ही होती हैं। कर्म के अभाव के अथवा कर्म के उदय के कारण से वह प्रवर्तती नहीं।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ११, गुरुवार

अनादि काल से विकार के कारण आत्मा संसार में भ्रमता है। उस विकाररहित आत्मा के शुद्धस्वभाव का भान करना, वह मोक्ष का कारण है। उस आत्मा के स्वभाव का यहाँ वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसमें एकाग्र होने से शुद्धचेतना

प्रगट होती है; वह शुद्धचेतना प्रगट होने पर सिद्धभगवान केवलज्ञान द्वारा तीन काल-तीन लोक को एक समय में जान लेते हैं। यही उनकी महत्ता है। तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसी आत्मशक्ति प्रगट हो, वही आत्मा की वास्तविक महत्ता है।

आत्मा की जो केवलज्ञानमय परमात्मदशा प्रगटी है, वह परिणमती होने पर भी सदा एकरूप ऐसी की ऐसी रहा करती है। इसलिए वह कूटस्थ-समान है, उसमें हीनाधिकतारूप परिणमन नहीं है, इसलिए वह कथंचित् कूटस्थ है। सिद्धपना भी पर्याय है, उसमें भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमन तो है। परन्तु वह दूसरे प्रकार से नहीं होती, ऐसी की ऐसी रहती है। इस अपेक्षा से उसे कूटस्थ भी कहा जाता है। छद्मस्थ जीव को ज्ञान में हीनाधिकता होती है, ऐसा सिद्ध को नहीं होता। सिद्धभगवान को एक समय में सब ज्ञात हो गया है। अब कुछ नया जानने का बाकी नहीं रहा, इसलिए ज्ञान सदा एकधारा से रहता है। उससे कभी निवृत्ति नहीं होती। रागादि परभाव के कर्ता-भोक्तापने से छूटकर शुद्धचेतना से निश्चल होता हुआ आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भाव को प्राप्त होता है। उनको अकेली शुद्धचेतना ही है; रागादि को करनेरूप कर्मचेतना या हर्ष-शोकरूप कर्मफलचेतना उनको नहीं है; रागादि विभावभाव, वह द्रव्यकर्म का कारण है, उस विभावभाव के कर्तृत्व का सिद्ध को नाश हुआ है। किस प्रकार से नाश हुआ है?—कि चेतना को चैतन्यस्वभाव में लीन करने से शुद्धचेतना रह गयी और रागादि विभाव का कर्तापना मिट गया। अज्ञानी जीव भी पर को तो भोगता नहीं, वह हर्ष-शोक को और रागादि को भोगता था; शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान करके उसमें स्थिर होने से वह हर्ष-शोक तथा रागादि का भोगना टलकर अकेली परमानन्दमय शुद्धचेतना का अनुभव रह जाता है। ऐसी सिद्धदशा है।

अनादिकाल से विभावपर्याय के कारण आकुलता करके उसको भोगता था, वह खेद था। चैतन्यस्वभाव के अनन्त आनन्द के अवलम्बन में भगवान को उस खेद का नाश हो गया है और जो सहज स्वाधीन चैतन्यस्वरूप सुख प्रगट हुआ है, वह अनन्त काल तक ऐसा का ऐसा रहा करेगा। यह बात तो सिद्ध की है, परन्तु ऐसा प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है—ऐसा समझना।

और उन सिद्धभगवान के ज्ञान-सुख इत्यादि का विशेष वर्णन करते हैं। ●●

गाथा - २९

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं॥२९॥

जातः स्वयं स चेतयिता सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।

प्राप्नोति सुखमनन्तमव्याबाधं स्वकममूर्तम्॥२९॥

इदं सिद्धस्य निरुपाधिज्ञानदर्शनसुखसमर्थनम् ।

आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभावः संसारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कुचितात्मशक्तिः परद्रव्यसम्पर्केण क्रमेण किञ्चित् किञ्चिज्जानाति पश्यति, परप्रत्ययं मूर्तसम्बद्धं सव्याबाधं सान्त सुखमनुभवति च । यदा त्वस्य कर्मक्लेशाः सामस्त्येन प्रणश्यन्ति, तदाऽनर्गलासङ्कुचितात्मशक्तिरसहायः स्वयमेव युगपत्समग्रं जानाति पश्यति, स्वप्रत्ययममूर्तसम्बद्धमव्याबाधमनन्तं सुखमनुभवति च । ततः सिद्धस्य समस्तं स्वयमेव जानतः पश्यतः, सुखमनुभवतश्च स्वं, न परेण प्रयोजनमिति ॥२९॥

आतम स्वयं सर्वज्ञ-समदर्शित्व की प्राप्ति करे।

अर स्वयं अव्याबाध एवं अतीन्द्रिय सुख अनुभवे ॥२९॥

अन्वयार्थः : [सः चेतयिता] वह चेतयिता (चेतनेवाला आत्मा) [सर्वज्ञः] सर्वज्ञ [च] और [सर्वलोकदर्शी] सर्व लोकदर्शी [स्वयं जातः] स्वयं होता हुआ, [स्वकम्] स्वकीय [अमूर्तम्] अमूर्त [अव्याबाधम्] अव्याबाध [अनन्तम्] अनन्त [सुखम्] सुख को [प्राप्नोति] उपलब्ध करता है।

टीका : यह, सिद्ध के निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुख का समर्थन है।

वास्तव में ज्ञान, दर्शन और सुख जिसका स्वभाव है, ऐसा आत्मा संसारदशा में, अनादि कर्मक्लेश द्वारा आत्मशक्ति संकुचित की गयी होने से, परद्रव्य के सम्पर्क द्वारा (-इन्द्रियादि के सम्बन्ध द्वारा) क्रमशः कुछ-कुछ जानता है और देखता है तथा पराश्रित, मूर्त (इन्द्रियादि) के साथ सम्बन्धवाला, सव्याबाध (-बाधासहित) और सान्त सुख का अनुभव करता है; किन्तु जब उसके कर्मक्लेश समस्तरूप से विनाश को प्राप्त होते हैं तब, आत्मशक्ति अनर्गल (-निरंकुश) और असंकुचित होने से, वह असहायरूप से (-किसी

की सहायता के बिना) स्वयमेव युगपद् सब (-सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) जानता है और देखता है तथा स्वाश्रित, मूर्त (इन्द्रियादि) के साथ सम्बन्धरहित, अव्याबाध और अनन्त सुख का अनुभव करता है। इसलिए सब स्वयमेव जानने और देखनेवाले तथा स्वकीय सुख का अनुभवन करनेवाले सिद्ध को पर से (कुछ भी) प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ : सिद्धभगवान (तथा केवली भगवान) स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिरूप से परिणमित होते हैं; उनके उस परिणमन में लेशमात्र भी (इन्द्रियादि) पर का आलम्बन नहीं है।

यहाँ कोई सर्वज्ञ का निषेध करनेवाला जीव कहे कि-‘सर्वज्ञ है ही नहीं, क्योंकि देखने में नहीं आते’, तो उसे निम्नोक्तानुसार समझाते हैं :-

हे भाई! यदि तुम कहते हो कि ‘सर्वज्ञ नहीं है’, तो हम पूछते हैं कि सर्वज्ञ कहाँ नहीं है? इस क्षेत्र में और इस काल में अथवा तीनों लोक में और तीनों काल में? यदि ‘इस क्षेत्र में और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है’ ऐसा कहो, तो वह सम्मत ही है। किन्तु यदि ‘तीनों लोक में और तीनों काल में सर्वज्ञ नहीं है’ ऐसा कहो तो हम पूछते हैं कि वह तुमने कैसे जाना? यदि तीनों लोक को और तीनों काल को सर्वज्ञरहित तुमने देख-जान लिया तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये, क्योंकि जो तीन लोक और तीन काल को जाने, वही सर्वज्ञ है। और यदि सर्वज्ञरहित तीनों लोक और तीनों काल को तुमने नहीं देखा-जाना है तो फिर ‘तीन लोक और तीन काल में सर्वज्ञ नहीं है’ ऐसा तुम कैसे कह सकते हो? इस प्रकार सिद्ध होता है कि तुम्हारा किया हुआ सर्वज्ञ का निषेध योग्य नहीं है।

हे भाई! आत्मा एक पदार्थ है और ज्ञान उसका स्वभाव है; इसलिए उस ज्ञान का सम्पूर्ण विकास होने पर ऐसा कुछ नहीं रहता कि जो उस ज्ञान में अज्ञात रहे। जिस प्रकार परिपूर्ण उष्णतारूप परिणमित अग्नि समस्त दाह्य को जलाती है, उसी प्रकार परिपूर्ण ज्ञानरूप परिणमित आत्मा समस्त ज्ञेय को जानता है। ऐसी सर्वज्ञदशा इस क्षेत्र में इस काल में (अर्थात् इस क्षेत्र में इस काल में जन्म लेनेवाले जीवों को) प्राप्त नहीं होती, तथापि सर्वज्ञत्वशक्तिवाले निज आत्मा का स्पष्ट अनुभव इस क्षेत्र में इस काल में भी हो सकता है।

यह शास्त्र अध्यात्म शास्त्र होने से यहाँ सर्वज्ञसिद्धि का विस्तार नहीं किया गया है; जिज्ञासु को वह अन्य शास्त्रों में देख लेना चाहिए॥२९॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण ११, गुरुवार

वह शुद्ध चिदात्मा स्वयं अपने स्वाभाविक भाव से ही सर्व का जाननेवाला-देखनेवाला है, किसी निमित्त के कारण या व्यवहार के कारण सर्वज्ञता या सर्वदर्शीपना नहीं होता। मेरा आत्मा ही सर्वज्ञस्वभावी है, अल्पज्ञता और राग-द्वेष, वह मेरी चीज़ नहीं और संयोग तो मुझसे भिन्न ही है—ऐसा ज्ञान करके उसमें स्थिर होने से स्वभाव के अवलम्बन से ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्रगट होती है तथा वे भगवान जिसका पार नहीं ऐसे अतीन्द्रियस्वभाव सुख को प्राप्त हुए हैं। ज्ञान, दर्शन और आनन्द, वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है, वह सिद्ध को पूर्ण प्रगट हो गया है। ज्ञान, दर्शन और आनन्द, ये तीनों ही अपने स्वकीय स्वभाव से ही प्रगट हुए हैं, इसके अतिरिक्त मनुष्यदेह या देव-गुरु इत्यादि निमित्तों के साधन द्वारा वे ज्ञानादि प्रगट नहीं हुए। अनादि-अनन्त स्वभाव ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय है, उसके ही अवलम्बन से उनकी पूर्णता प्रगट होती है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञान-दर्शनस्वभाव है; जानना-देखना, वह उसका त्रिकालस्वभाव है। जानने-देखने के स्वभाव में आनन्द ही होता है; जानने-देखने में खेद नहीं होता, ऐसा जानने-देखने का स्वभाव तो त्रिकाल है, परन्तु अनादि से उस स्वभाव को चूककर, कर्मबन्ध के निमित्त में एकाग्रता द्वारा वह संक्लेश होकर अवृत्त हुआ है और वह अपने भाव का आवरण है और उसमें द्रव्यकर्म का आवरण निमित्तमात्र है।

वास्तव में जीव स्वयं अपने भावमिथ्यात्वरूप भावआवरण से ही संसार में भटकता है। उसमें द्रव्यकर्म का आवरण तो निमित्तमात्र है। सर्व जीवों का परिपूर्ण परमात्मस्वभाव होने पर भी सबको वैसी परमात्मदशा क्यों प्रगट नहीं होती? जो सिद्धपरमात्मा हुए, वे किस प्रकार होते हैं? और जो नहीं होते, वे किस कारण से? यह बताते हैं। अनादि से अपने मिथ्यात्वादि संक्लेशभाव के कारण ही।

जीव का सर्वज्ञस्वभाव प्रतीति करके उसका अवलम्बन लेने से सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है, वस्तु का स्वभाव किसी पर के अवलम्बन से नहीं हो सकता। अपने संक्लेशभाव

के कारण सर्वज्ञशक्ति संकुचित हो गयी है। पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, ऐसा न मानकर, मैं तो अल्पज्ञ—रागी—पामर हूँ—ऐसा मानता है, वह भाव ही सर्वज्ञदशा का घात करनेवाला है। ‘अपने तो अनादि के अल्पज्ञ, अपने में कहीं सर्वज्ञता प्रगटे!’ ऐसा माननेवाले अज्ञानी को अपनी सर्वज्ञशक्ति का विश्वास नहीं आता। परन्तु यहाँ कहा जाता है कि भाई! तेरा अकेला स्वभाव तो त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य से भरपूर ही है। उसका विश्वास कर तो उसमें से सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है।

(१) आत्मा की ज्ञानशक्ति का सर्वथा विकास हो जाये तो वह सर्वज्ञ हो जाये,

(२) और यदि ज्ञान का अल्प विकास भी न रहे तो वह जड़ हो जाये।

(३) किंचित् विकास और किंचित् आवरण, ऐसी ज्ञानदशा को क्षयोपशम कहा जाता है।

ज्ञानशक्ति के विकास में अनादि से आवरण होने से क्रम-क्रम से वह अल्प जानता है। ज्ञान का जानने का स्वभाव है, तथापि आगे आनेवाले कल का क्यों नहीं जान सकता? क्योंकि पर्याय में आवरण है।

और ‘आगामी कल का नहीं ज्ञात होता’ इतना तो ख्याल आया न! वह ज्ञान का उघाड़ है। चैतन्यस्वभाव को भूला है, इसलिए पर्याय में ज्ञान अल्प हो गया है। ऐसा वह ज्ञान पराधीन है, बाधावाला है, मूर्तिक इन्द्रिय के अवलम्बनपूर्वक जानता है।

पर्याय में अल्प विकास होने पर भी, उस पर्याय को अन्तर्मुख करके मैं सर्वविकासी शक्तिमान हूँ—ऐसा प्रतीति में ले, तब तो पर्याय का विकास होकर सर्वज्ञता खिल जाये। परन्तु ज्ञान को सर्वविकासी चैतन्यशक्ति में न जोड़कर, पर में जोड़ता है; इसलिए ज्ञान का विकास अटककर वह पराधीन हो गया है और वैसा जीव अपने सहज अतीन्द्रियसुख को भूलकर पराधीन, विनाशीक, मूर्तिक और बाधावाले कल्पित सुख को भोगता है।

कोई कर्म, काल इत्यादि के कारण अल्पज्ञता और दुःख है, ऐसा नहीं। अज्ञानी वर्तमान इन्द्रियगम्य स्थूल संयोग को देखकर, संयोग और विकारी वासना में सुख मानकर क्लेश भोगता है। वह क्लेश कैसे टले? कि बाह्य व्रत, तप क्रिया से वह टलता

नहीं, परन्तु अतीन्द्रिय आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-रमणता से टलता है।

आत्मा का ज्ञान कैसा है? कि सर्व बाधारहित, पर की सहायता बिना एक समय में समस्त पदार्थों को जानता-देखता है। यदि पर से और पर को जानता हो तो परद्रव्य तो सब एक समय में वर्त रहे हैं, तथापि क्यों नहीं जानता? स्वयं अपने पूर्ण स्वरूप को पहिचानकर उसमें भले प्रकार से एकाग्र हो तो जैसा द्रव्यस्वभाव शक्तिरूप से है, वैसा पूर्ण पर्याय में प्रगट होता है।

आत्मा पर से भिन्न है, उसे भूलकर अनादि से बाधाकारी—विरुद्ध भाव में रुका, उस परालम्बन से छूटकर नित्यानन्द, स्वाधीन, अतीन्द्रिय अमूर्तिक, परसंयोगरहित, अखण्डित, अविनाशी सुख को निरन्तर भोगता है। इस कारण से सिद्धपरमेष्ठी स्वयं जाननेवाले-देखनेवाले, सुख का अनुभव करनेवाले हैं। उन्हें पर से कुछ प्रयोजन नहीं है।

आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी है। उसकी प्रतीति और एकाग्रता द्वारा ज्ञानस्वभाव का पूर्ण विकास होकर प्रगट सर्वज्ञ हो सकता है।

यहाँ कोई नास्तिकमति तर्क करता है कि : 'सर्वज्ञ नहीं, क्योंकि सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला प्रत्यक्ष में हमको कोई दिखाई नहीं देता।' अभी सर्वज्ञ के स्वरूप में विवाद निकालनेवाले बहुत हैं। उनको कर्तापन का अभिमान छोड़ना नहीं है। यदि सर्वज्ञ की श्रद्धा करे तो उनका माना हुआ सब बदलना पड़े, वह पोषाता नहीं, इसलिए सर्वज्ञ का विपरीत अर्थ करते हैं।

प्रश्न : सर्वज्ञ मानने में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वज्ञ है और सर्वज्ञ ने देखा, वह बदलता नहीं, ऐसा अन्दर में निर्णय हो तो संसार के ओर की रुचि और कर्ताबुद्धि छूटे ही तथा सर्वज्ञ की प्रतीति में ज्ञानस्वभाव ही शरण है, ऐसा सत्य पुरुषार्थ करे। स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी प्रतीति करना नहीं, उसे यह मूल बात बैठती नहीं।

सर्वज्ञ ने, जो कुछ होनेवाला है, वह जाना—ऐसी निःशंक प्रतीति है तो सर्वज्ञशक्ति किस कारण से प्रगट हुई और वह किसके लक्ष्य से प्रगट हुई, इसका बराबर निर्णय करे

तो अनन्त पुरुषार्थसहित सर्वसमाधान हो सकता है। एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसे पूर्ण सामर्थ्य का पता जिसने प्राप्त किया, उसने ऐसा निर्णय किया कि अल्पज्ञता से, निमित्त से, राग से अथवा पर में कर्तृत्वबुद्धि से सर्वज्ञ नहीं हुआ जाता; परन्तु अन्दर शक्तिरूप से पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उसमें एकाग्र होने से साक्षात् केवलज्ञानी हुआ जा सकता है। ऐसी दृष्टि-रुचि हुई, उसे संसार की रुचि गयी, पर में उदासीन होकर कर्ताबुद्धि गयी, उसमें अपूर्व पुरुषार्थ ज्ञान में एकाग्र होने का आया।

अब कोई पूछे कि परलोक है, उसकी साबिती क्या ?

उत्तर : यह अनेक जीव हैं, उनकी बुद्धि में, आकार में, रूप में, सधनता-निर्धनता, रोग-निरोगता इत्यादि में जो विचित्रता दिखती है, इस आधार से साबित होता है कि पूर्व के कारण में अन्तर है, तो वर्तमान कार्य में अन्तर है। पूर्व में वे थे और यह वर्तमान उस पूर्वभव का फल है।

आंशिक राग का अभाव और निर्मल विकास का प्रगटपना हो सकता है, तो किसी को सर्वांश हो सकता है। और यहाँ क्रम से जानना प्रत्यक्ष है तो जिसे राग, द्वेष, अज्ञान सर्वथा गये हैं और ज्ञानस्वभाव का पूर्ण विकास हुआ है, वह अक्रम से और प्रत्यक्ष सर्व का जाननेवाला हो सकता है, और वह सर्वज्ञ है।

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण १२, शुक्रवार

इस पंचास्तिकाय में जीवद्रव्य का विशेष वर्णन चलता है। जीव का स्वभाव अपने आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का है। देह से भिन्न आत्मतत्त्व है, उसमें अपने स्वभाव से सर्व को जानने-देखने की सामर्थ्य है; जहाँ ज्ञान-दर्शन की पूर्णता हो, वहाँ आनन्द की भी पूर्णता होती ही है। जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना, उसकी यह बात है।

शरीर जड़ है, अजीव है; भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है। मुझमें सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और पूर्ण आनन्द होने की सामर्थ्य है। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी मैं स्वयं मेरे

स्वभाव से पूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय हो सकता हूँ। ऐसी प्रथम प्रतीति करनी चाहिए। इसके लिये पहले सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं।

नास्तिक कहता है कि : इस जगत में सर्वज्ञ हैं ही नहीं, अर्थात् कि कोई आत्मा तीन काल-तीन लोक को जान सके, ऐसा ज्ञानवाला हो —ऐसा हमको भासित नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ प्रत्यक्ष दिखते नहीं; जैसे गधे के सींग दिखते नहीं, उसी प्रकार सर्वज्ञ दिखते नहीं; इसलिए सर्वज्ञ नहीं हैं—ऐसा नास्तिक कुतर्क करता है। तुम कहते हो कि अनन्त सर्वज्ञ हैं, एक-एक जीव में सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य है, अभी महाविदेह में सीमन्धर भगवान इत्यादि सर्वज्ञ भगवन्त विराजते हैं, परन्तु हमको तो सर्वज्ञ दिखते नहीं।

तो उससे हम पूछते हैं कि हे भाई! सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा तू किस प्रकार से कहता है? क्या इस काल में और इस क्षेत्र में ही सर्वज्ञ नहीं हैं? या सर्वकाल में और सर्वक्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है? इस काल में और इस क्षेत्र सर्वज्ञ नहीं है, यह तो बराबर है, परन्तु जगत में कहीं सर्वज्ञ नहीं, ऐसा यदि तू कहता हो तो क्या तूने तीन लोक को और तीन काल को देखा है? सभी क्षेत्र देखे बिना 'यहाँ सर्वज्ञ नहीं' ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए सभी क्षेत्र में और सब काल में सर्वज्ञ नहीं, ऐसा कहने पर तू ही तीन काल और तीन लोक का जाननेवाला हो गया, इसलिए सर्वज्ञ की सिद्धि हो गयी।

और गधे के सींग नहीं, परन्तु भैंस इत्यादि के तो सींग हैं न? उसी प्रकार इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं, परन्तु पंचविदेहक्षेत्र में तो सर्वज्ञ हैं, इसलिए सर्वज्ञ का सर्वथा अभाव नहीं है। जिस प्रकार 'अमुक जगह में घड़ा नहीं' ऐसा कब कहलाता है? जब वह क्षेत्र देखा हो तब; उसी प्रकार 'सर्वज्ञ नहीं' ऐसा तू कब कह सकता है? कि तूने सब क्षेत्र देखा हो तो। इसलिए उसमें सर्वज्ञ सिद्ध हो जाते हैं। स्वयं ने जो क्षेत्र देखा न हो, उस क्षेत्र में 'यहाँ घट नहीं' अथवा 'यहाँ सर्वज्ञ नहीं' ऐसा निषेध नहीं किया जा सकता।

जो सर्वज्ञ हो, वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता और जिसने सर्वकाल सर्वलोक देखे न हों, वह भी सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता। देखता इनकार करे नहीं और अन्धे का विश्वास किया नहीं जाता।

दूसरी बात 'तू कहता है कि हमको सर्वज्ञ दिखाई नहीं देते', परन्तु भाई! तू तो आगामी कल की बात भी नहीं जान सकता, तो क्या इससे आगामी कल का अभाव है? नहीं। तथा हमारे चित्त के भाव को या एक सूक्ष्म परमाणु को भी तू नहीं जान सकता, तो क्या हमारे चित्त का या परमाणु का अभाव है? नहीं ही। उसी प्रकार सर्वज्ञ तुझे तेरे स्थूलज्ञान में ज्ञात न हों, इससे कहीं सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता।'

अब नास्तिक पूछता है कि : तुम सर्वज्ञ की अस्ति किस प्रकार से सिद्ध करते हो?

तो कहते हैं कि : हम हमारे ज्ञान के अंश के आधार से सर्वज्ञ का अनुमान करते हैं। विकार टलकर ज्ञान कायम रहता है, तो उस ज्ञान का धारक ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकाग्र होकर रहने से राग-द्वेष छूटकर पूर्णज्ञान भी प्रगट हो सकता है, ऐसा हमारा अनुमान है; और जो अनुमान है, वह दूसरे किसी को प्रत्यक्ष भी अवश्य वर्तता है; और सर्वज्ञ के बाधकपने का अभाव है।

ज्ञान के अल्प उघाड़ में से विशेष उघाड़ आता हुआ दिखता है, तो वह कहाँ से आया? ज्ञान का पूर्ण स्वभाव भरा है, उसमें से ही विशेषज्ञान आया है और उसके अवलम्बन से पूर्ण ज्ञान प्रगट होने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है—ऐसे स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक सर्वज्ञ का अनुमान होता है।

जैसे छोटीपीपर के स्वभाव में ६४ पहरी चरपराई भरी है, वही प्रगट होती है; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानस्वभाव त्रिकाल पड़ा है, उसका वीतरागी विज्ञान होने पर उसमें से ही पूर्णानन्दमय सर्वज्ञदशा प्रगट होती है। ज्ञान की ओर एकाग्र होने पर ज्ञान खिलता है और पूर्ण एकाग्र होने पर पूर्ण ज्ञान भी खिलता है। देखो! इसमें सर्वज्ञ को सिद्ध करने से मोक्षमार्ग भी इकट्ठा ही आ जाता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करके उसमें लीन होकर सर्वज्ञ हुए आत्मा, इस जगत में है। जिसे आत्मा को स्वीकार करना हो, उसे ऐसा सर्वज्ञ स्वभाव स्वीकार करना पड़ेगा। सर्वज्ञता कहीं बाहर से नहीं आती। पर्याय को अन्तर में एकाग्र करने से अल्पज्ञता में से सर्वज्ञता हो जाती है। तेरा आत्मकल्याण का मार्ग निमित्त

और रागरहित अकेले तेरे ध्रुवस्वभाव में परिणति को एकाग्र करना ही है, ऐसा कहनेवाले सर्वज्ञदेव, वे ही देव हैं; ऐसा कहनेवाले गुरु, वे ही सच्चे गुरु हैं और ऐसा बतलानेवाली वाणी, वही शास्त्र है। इसके अतिरिक्त दूसरे को माने तो व्यवहार खोटा है और बाहर के अवलम्बन में धर्म माने, वह मूढ़ है।

सर्वज्ञ है, उसे कोई बाधक प्रमाण नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ज्ञान है। उसमें शरीरादि तो कहीं रहे, और रागादि भी उसके स्वभाव में नहीं है। आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण त्रिकाल ध्रुव है, उसमें क्षण-क्षण में पलटा होता है, वह पलटा (परिवर्तन/परिणमन) स्वभाव के आश्रय से होने पर ज्ञान-आनन्द इत्यादि खिलते हैं, परन्तु किसी निमित्त इत्यादि के आश्रय से ज्ञानादि खिलते नहीं। पर्याय में रागादि और अल्पज्ञता है, वह तो ऊपर का क्षणिक भाग है और ध्रुवस्वभाव पूर्ण त्रिकाल है। आत्मा चैतन्य हीरा है, उसकी पर्याय के एक पासा में जरा सा दाग है, परन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द का कन्द पूरा चैतन्यहीरा दागवाला नहीं है। ऐसी पर्याय को गौण करके ध्रुव आनन्दकन्द चिदानन्द स्वभाव को प्रतीति में लेकर उसमें एकाग्रता करने से आत्मा में से रागादि निकलकर पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट होते हैं। सर्वज्ञता होती है, वहाँ पूर्ण आनन्द होता ही है।

पहले साधकदशा में अधूरा आनन्द था; अज्ञानी ने पर में सुख और आनन्द माना था। उसके बदले में तो पर से भिन्न चिदानन्दस्वभाव हूँ—ऐसी अन्तर्दृष्टि का विषय करने से स्वभाव में से आनन्द प्रगट हुआ और पूर्णानन्द की प्रतीति हो गयी। देखो, यह सर्वज्ञ की प्रतीति!

मैं मेरे आत्मा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट करना चाहता हूँ तो मुझसे पहले पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट करनेवाले जीव हो गये हैं, वे कैसे हैं? कहाँ हैं? कितने हैं? ऐसा निर्णय करना चाहिए।

- 'अनादि काल' से क्रम-क्रम से सर्वज्ञ होते ही आते हैं,
- 'सिद्धलोक' में ऐसे अनन्त सिद्ध सर्वज्ञरूप से विराजते हैं,
- 'महाविदेह' में सीमन्धरादि तीर्थकर और लाखों केवली भगवन्त अभी देहसहित सर्वज्ञरूप से विराजमान हैं।

इस प्रकार अनादिकाल, सिद्धलोक, महाविदेहक्षेत्र यह सब स्वीकार किये बिना सर्वज्ञ को मान नहीं सकता। जो सर्वज्ञ हुए, वे सब ही अपने आत्मा में से ही हुए हैं—ऐसा निर्णय करके स्वयं अपने आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करना, वह प्रथम धर्म है।

केवली सर्वज्ञ कैसे होते हैं ? कहाँ होते हैं ? वह सर्वज्ञता कहाँ से प्रगट होती है ? उस सर्वज्ञता के साधक सन्त की दशा कैसी होती है ? और सर्वज्ञ के कहे हुए शास्त्र कैसे होते हैं ?—यह सब निर्णय किये बिना धर्म नहीं होता।

जैसे एक और एक = दो होते हैं, उसमें कोई चतुर मनुष्य तो इनकार नहीं करता, उसी प्रकार सर्वज्ञता जगत में सिद्ध है, इसका कोई इनकार नहीं कर सकता।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि अहो ! ‘जादो सयं स चेदा सव्वण्हू...’ आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से सर्वज्ञ होता है। ऐसे आत्मस्वभाव की प्रतीति करना, वही परमात्मा होने का उपाय है। जिसे अवतार न चाहिए हो, जिसे भव के दुःख का भय लगा हो, वह आत्मा की पूर्णानन्द परमात्मदशा प्रगट करने की धगश हो, वह सर्वज्ञ का निर्णय करके युक्ति, आगम, अनुभवप्रमाण से अपने आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करो, उसकी प्रतीति करो और उसमें अन्तर्मुख होकर परिणति की एकाग्रता करो। यह सर्वज्ञ होने का उपाय है। देखो ! अल्पज्ञता है, राग है, निमित्त है, परन्तु उनके आश्रय से सर्वज्ञता नहीं होती। सर्वज्ञता तो अपने ध्रुव स्वभाव में से ही प्रगट होती है। जो सर्व का जाननेवाला हो, वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता। अर्थात् कि सर्वज्ञ का निषेध किसी प्रकार से सिद्ध हो ही नहीं सकता।

अहो ! धीर होकर चैतन्य के स्वभाव का विचार कर। कहाँ झुकने से सर्वज्ञता खिलेगी ? सर्वज्ञता है, उसका उपाय करनेवाले और कहनेवाले भी हैं, उनसे विपरीत कहनेवाले भी हैं। इसलिए परीक्षा करके सर्वज्ञ को और सर्वज्ञता को साधनेवाले सन्त को तथा उनके कहे हुए सर्वज्ञता के उपाय को जानना चाहिए, टका की तीन हाँडी लेने जाये तो वहाँ भी टकोर मारकर परीक्षा करता है, तो जिसे सर्वज्ञ होना हो, पूर्णानन्द प्रगट करना हो, उसे ज्ञान में परीक्षा करके सर्वज्ञ का निर्णय करना चाहिए, और उनके जैसा अपना आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है, उसे परखना चाहिए।

परख्यां माणेक मोतियां, परख्यां हेम कपूर;
पण एक न परख्यो आतमा, त्यां रह्यो दिग्मूढ।

इसलिए यहाँ आचार्य भगवान आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव बतलाते हैं। अहो! स्वयं आत्मा ही सर्वज्ञतारूप से परिणमता है—ऐसा निर्णय करे, उसे अन्तर में मुक्ति का मार्ग खुले बिना नहीं रहता। उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। स्वभाव क्या? पर्याय क्या? विकार क्या? निमित्त क्या?—इन सबकी पहिचान करके स्वभावसन्मुख झुके तो मुक्तिमार्ग प्रगटे। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से मुक्तिमार्ग प्रगट नहीं होता और सन्देह नहीं टलता।

जहाँ ज्ञान पूरा हो, वहाँ दर्शन पूर्ण हो, आनन्द पूर्ण हो, वीर्य पूर्ण हो—अनन्त गुणों की दशा पूर्ण हो—ऐसे अनन्त गुणवाले आत्मा की प्रतीति कर।

सर्वज्ञ प्रत्यक्ष नहीं दिखते, इसलिए कहीं उनका निषेध नहीं हो सकता, परन्तु अनुमान से निर्णय करना चाहिए। जैसे आगामी कल का दिन प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होता, परन्तु आगामी कल आयेगा, तब उस समय के लोग तो उसे प्रत्यक्ष देखेंगे न? इसी प्रकार इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं, परन्तु महाविदेह इत्यादि क्षेत्र में सर्वज्ञ हैं, ऐसा अनुमान से निर्णय हो सकता है। और यहाँ जो अनुमान से निर्णय हो सकता है, वह वहाँ के लोगों को तो प्रत्यक्ष है—इस प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में निश्चय से तो अपना स्वभाव निर्णय करने का है कि मेरा स्वभाव ऐसा पूर्ण है—ऐसे स्वभाव के सन्मुख होने से पर्याय का अपूर्व पलटा हो जाता है।

अमूर्त चीज़ को अल्पज्ञता से नहीं जान सकता, इसलिए अभाव नहीं माना जा सकता। ज्ञानगुण की अनन्त शक्ति पूर्ण प्रगट हुई, उसमें तीन काल-तीन लोक एक समय में ज्ञात हों और उसके साथ अनन्त वीर्य, कर्ता-भोक्ता, प्रभुत्व, स्वच्छत्व इत्यादि शक्ति भी प्रगट होती है। ऐसा परिपूर्ण स्वभाव है, उसकी प्रतीति करे तो उसमें रुचि और एकाग्रता द्वारा वह दशा प्रगट करने का पुरुषार्थ किये बिना न रहे। बीच में अशुभ से बचने के लिये दया, दान, भक्ति इत्यादि के पुण्यपरिणाम हों, परन्तु उनका आदर नहीं, रुचि नहीं।

श्रद्धा में पर का स्वामित्व छोड़ और त्रिकाल चैतन्यस्वभाव का स्वामी हो और वर्तमान पर्याय में भूल से होनेवाले पुण्य-पाप का स्वामित्व छोड़ तो स्वसन्मुखता की उग्रता द्वारा सर्वज्ञता प्रगट हुए बिना रहेगी नहीं।

राग को हिलानेवाला नहीं तो पर का करनेवाला-बदलनेवाला भी नहीं, परन्तु सर्व से भिन्न ज्ञाता रहकर जाननेवाले को जान। सुखी होना हो तो त्रिकाल अनन्त सुखस्वरूप क्या है, उसे जान।

यह सब संयोगरूप है, उसे माने और उन सबके जाननेवाले को न माने, वह कैसा? स्वयं जाननेवाला शक्ति से परिपूर्ण है, ऐसा निर्णय कर तो पराधीनता की बात नहीं बैठेगी।

अब जीवत्वगुण की व्याख्या करते हैं।

●●

आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार

अहो! महान सन्त-मुनिवरो ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। आचार्यदेव तो धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को जीवन्त कर रखा है... गजब का काम किया है! साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर, परम सत् को अक्षुण्णरूप से जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार गूँजती है – ऐसे महान शास्त्रों की रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचनायें तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य का शङ्खनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्य की बात है तथा उसकी समझ तो मुक्ति का वरण करने जाने के लिए श्रीफल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही होनेवाला है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सर्व्वं, १००६, पृष्ठ ७७

गाथा - ३०

पाणेहिं चदुहिं जीवहि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो॥३०॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यः खलु जीवितः पूर्वम्।

स जीवः प्राणाः पुनर्बलमिन्द्रियमायुरुच्छ्वासः॥३०॥

जीवत्वगुणव्याख्येयम् ।

इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः । तेषु चित्सामान्यन्वयिनो भावप्राणाः, पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः । तेषामुभयेषामपि त्रिष्वपि कालेष्वनवच्छिन्नसन्तानत्वेन धारणात्संसारिणो जीवत्वम्। मुक्तस्य तु केवलानामेव भावप्राणानां धारणात्तदवसेयमिति ॥३०॥

श्वास आयु इन्द्रिबलमय प्राण से जीवित रहे।

त्रय लोक में जो जीव वे ही जीव संसारी कहे॥३०॥

अन्वयार्थ :- [यः खलु] जो [चतुर्भिः प्राणैः] चार प्राणों से [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जियेगा और [जीवितः पूर्वम्] पूर्वकाल में जीता था, [सः जीवः] वह जीव है; [पुनः प्राणः] और प्राण [इन्द्रियम्] इन्द्रिय, [बलम्] बल, [आयुः] आयु तथा [उच्छ्वासः] उच्छ्वास है।

टीका :- यह, जीवत्वगुण की व्याख्या है।

प्राण इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वासस्वरूप है। उनमें [प्राणों में,] *चित्सामान्यरूप अन्वयवाले वे भावप्राण हैं और पुद्गलसामान्यरूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण हैं। उन दोनों प्राणों को त्रिकाल अच्छिन्न-सन्तानरूप से (अटूट धारा से) धारण करता है, इसलिए संसारी को जीवत्व है। मुक्त को (सिद्ध को) तो केवल भावप्राण ही धारण होने से जीवत्व है, ऐसा समझना॥३०॥

* जिन प्राणों में चित्सामान्यरूप अन्वय होता है, वे भावप्राण हैं अर्थात् जिन प्राणों में सदैव 'चित्सामान्य, चित्सामान्य, चित्सामान्य' ऐसी एकरूपता-सदृशता होती है, वे भावप्राण हैं। (जिन प्राणों में सदैव 'पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य' ऐसी एकरूपता-सदृशता होती है, वे द्रव्यप्राण हैं।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, माघ कृष्ण १२, शुक्रवार

अर्थ : जो चार प्राणों द्वारा जीता था, वर्तमान में जीता है, भावि में जियेगा, वह जीव है। तथा जीव को इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास वे द्रव्यप्राण हैं। सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध—इन चार भावप्राणों से जो त्रिकाल जीता है, वह जीव है।

(१) मन, वचन, काया सम्बन्धी बलप्राण—मन-वचन-काया तो जड़ है, परन्तु जीव में वीर्यगुण है, वह त्रिकाल शुद्ध वीर्यबलप्राण है और वर्तमान क्षायोपशमिकभाव, वह वीर्य की योग्यता वह अशुद्धनिश्चय से वीर्यप्राण से जीव जीता है, परन्तु जड़ से जीव का अस्तित्व नहीं है।

(२) इन्द्रिय पाँच जड़-अचेतन हैं, वे द्रव्येन्द्रिय हैं और भावेन्द्रिय तो उघाड़रूप ज्ञान है।

(३) आयु जड़ है और शरीर में रहने की जीव की योग्यता है।

(४) श्वासोच्छ्वास जड़ है और उस प्रकार से जीव की सामने योग्यता है।

अल्पज्ञ की क्षणिक अधूरी पर्याय को पूरा जीवपना मानता है, वह जीव पर्यायबुद्धिरूप अज्ञान के कारण से संसार में भटकता है और त्रिकाली पूर्ण स्वभाव को मानकर स्वसन्मुख होता है, वह अशरीरी सिद्धपरमात्मा होकर अविनाशी सुखमय, मुक्तानन्दी सिद्ध होता है, यह बात आगे आयेगी।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १, मंगलवार

जिसे धर्म करना हो, उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। पहले गाथा ३ में समय तीन प्रकार से है, यह बात आ गयी है। (१) शब्दसमय, (२) ज्ञानसमय, (३) अर्थसमय। दृष्टान्त : 'हीरा' शब्द बोला गया, वह शब्दसमय; हीरा सम्बन्धी का ज्ञान, वह ज्ञानसमय; हीरा पदार्थ, वह अर्थसमय। ऐसे सब पदार्थों में तीन प्रकार से समय घटित किये जा सकते हैं।

(१) शब्दसमय : 'पंचास्तिकाय की राग-द्वेषरहित यथार्थ अक्षर-पद-वाक्य की रचना को द्रव्यश्रुतरूप शब्दसमय कहते हैं।' इसमें सच्चे शास्त्र किसे कहना, इसकी व्याख्या है। सच्चे शास्त्र ऐसा बताते हैं कि इस जगत में अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ऐसे छह द्रव्य हैं, प्रत्येक स्वतन्त्र हैं; कोई किसी के कर्ता-हर्ता नहीं। जीव स्वतन्त्र और जड़ भी स्वतन्त्र है। शास्त्रकार तथा उनकी वाणी ऐसा कहती है और बतलाती है कि वाणी का परिणमन स्वतन्त्र है। आत्मा उसका कर्ता नहीं और वाणी तथा वाणी की ओर के राग के अवलम्बन बिना तुझे तेरे अवलम्बन से ज्ञान हो, ऐसा है—ऐसा बतलाते हैं। केवली भगवान तो परिपूर्ण हैं, उनको कोई सुनने का राग नहीं होता। अल्पज्ञ जीव को वाणी अथवा शास्त्र सुनने का राग उठता है और श्रवण के समय शास्त्र का तथा शास्त्रकार का अभिप्राय ऐसा है कि वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, शुभराग निर्बलता के कारण से होता है। शास्त्र के ऊपर लक्ष्य से सुननेवाले को लाभ होगा नहीं, परन्तु सुननेवाला स्वयं अपने स्वभाव का लक्ष्य करेगा और स्थिर होगा तो धर्म होगा। इसलिए शास्त्र है, शास्त्रकार है, शुभराग है—ऐसा ज्ञान कराते हैं। परन्तु धर्म तो अपने अवलम्बन से प्रगट होता है।

जो शास्त्र ऐसा कहे कि निश्चय से धर्म होता है और फिर वापस ऐसा भी कहे कि व्यवहार बिना नहीं चलता, वह शास्त्र सच्चा नहीं। 'अ, क' इत्यादि अक्षर हैं, 'जीव' यह पद कहा जाता है, ऐसे अक्षर-पद की राग-द्वेषरहित रचना को शब्दसमय कहते हैं। जो शास्त्र छह द्रव्य को न माने, जो शास्त्र द्रव्यों को पराधीन मनावे, निमित्त हो तो उपादान में काम होता है—ऐसा कहे, पुण्य से धर्म होता है—ऐसा कहे, आत्मा वाणी बोलता है—ऐसा कहे, वे शास्त्र नहीं परन्तु खोटे शास्त्र हैं। उन्हें शब्दसमय नहीं कहा जाता। जो शास्त्र छह द्रव्यों को सम्पूर्ण स्वतन्त्र बतलाकर, पुण्य-पाप भावों को हेय बतलाकर स्वभाव की रुचि करावे, वे सच्चे शास्त्र हैं और वे शब्दसमय हैं।

(२) ज्ञानसमय : 'उस ही शब्दश्रुत का, मिथ्यात्वभाव के नष्ट होने से, जो यथार्थ ज्ञान होना, सो भावश्रुतरूप 'ज्ञानसमय' है।' शब्द कहनेवाले का ज्ञान भी ऐसा ही जाने कि परसन्मुख की रुचि, शास्त्र और वाणी की ओर की रुचि छूटकर त्रिकाली

ज्ञानस्वभाव की रुचि होना, वह भावश्रुतज्ञान है। इस प्रकार स्वज्ञेय का सच्चा ज्ञान करे तो ही सच्चा ज्ञान किया कहलाता है।

(३) पदार्थसमय : ' और जो सम्यग्ज्ञान के द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, उनका नाम अर्थसमय कहा जाता है ' सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पदार्थ ज्ञात होते हैं, उसे पदार्थसमय अथवा अर्थसमय कहते हैं। ' आत्मा ' शब्द बोलने से आत्मपदार्थ उसके द्रव्य-गुण-पर्याय कैसे होते हैं और आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ, वे आत्मा नहीं, यह ख्याल में आ जाये तो आत्मा पदार्थ का और आत्मा शब्द का यथार्थ ज्ञान किया कहलाये।

जैसे नामा मिलान करते समय थैली में ७३५ रुपये सिलक (बैलेंस) है तो वह सिलक पदार्थ है, तत्प्रमाण शब्द बोले और तत्प्रमाण ज्ञान भी होना चाहिए और नामा में भी तत्प्रमाण ही रुपये ७३५ की सिलक जमा रहनी चाहिए। इससे कम-ज्यादा हो तो वह सिलक, नामा अथवा ज्ञान यथार्थ नहीं है। उसी प्रकार छह द्रव्य चौदह ब्रह्माण्ड की सिलक है। उसी प्रमाण स्वतन्त्र छह द्रव्यों को कहे और उसी प्रमाण ज्ञान करे तो वह ज्ञान सच्चा है।

शास्त्र कैसे होते हैं और शास्त्र कहनेवाले कैसे होते हैं, उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं। जो व्यवहार की मुख्यता करे और पराधीनता बतलावे, वह वीतराग के शास्त्र नहीं, तथा वह सच्चा वक्ता नहीं। शास्त्र वीतरागता बतलाते हैं।

शास्त्र राग का कारण नहीं, सामने के पदार्थ राग का कारण नहीं तथा ज्ञान राग का कारण नहीं। तीनों को स्वतन्त्र जाने तो वीतरागता का कारण हो और धर्मदशा प्रगट हो, ऐसा है।

यहाँ गाथा ३० में भी यही कहना है। शास्त्र के शब्द-शब्द में वीतरागता है। यहाँ संसारी जीव की प्राणों से पहिचान दी है, (परन्तु) अन्तिम सार तो वीतरागता बतलाने का है।

' इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन चारों ही प्राणों से जो चैतन्यरूप परिणति है, वे तो भावप्राण हैं और इनकी ही जो पुद्गलस्वरूप परिणति है, वे द्रव्यप्राण कहलाते हैं। '

यहाँ संसारी प्राणी की पहिचान पर्याय से तथा निमित्तरूप जड़प्राण से यह दी है, तथापि तात्पर्य तो जीव का मूलस्वरूप बतलाने का है।

(१) जीव किसे कहना, यह बात पहले आ गयी है। जीव है, ऐसा कहने से जीव की सत्ता साबित होती है। **त्रिकाली सत्ता सुखरूप होगी या दुःखरूप होगी ? दुःख हो तो पर्याय में होता है, त्रिकाली सत्ता में दुःख नहीं होता, इसलिए सुखरूप है।** जो सत्ता है, वह चैतन्यरूप है। जानने-देखने का सामान्य स्वभाव, वह चैतन्य है और विशेष जाननेरूप वह ज्ञान है। ऐसे सत्ता, सुख, चैतन्य और ज्ञान, इन चार प्रकार के त्रिकाली प्राण से जीव जी रहा है। यह त्रिकाली की बात हुई, वह शुद्ध निश्चयनय से है।

(२) अब ऐसे त्रिकाली प्राणवाले जीव का भान चूका हुआ जीव संसारदशा में चार प्राण से जी रहा है। जिसे जितने प्राण हों, उतने समझ लेना। कम से कम चार प्राण तो होते ही हैं और अधिक से अधिक दस प्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को होते हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, श्वासोच्छ्वास।

पाँच इन्द्रियों के निमित्त से क्षयोपशमरूप ज्ञान होने की पर्याय में योग्यता है। मन, वचन और काया के निमित्त में अपना वीर्य हीन होने की पर्याय में योग्यता है। आयु के निमित्त से अपनी उस पर्याय में उतना समय रहने की अपनी योग्यता है। श्वासोच्छ्वास के निमित्त से सक्रिय रहने की अपनी पर्याय की योग्यता है। ऐसे चार प्रकार से अपनी पर्याय की योग्यता के कारण जीना, वह भावप्राण है और वे अशुद्धनिश्चयनय से हैं।

(३) ऐसे संसारी जीव को निमित्तरूप से जड़ प्राण भी होते हैं। पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, कायारूप तीन बलप्राण, श्वासोच्छ्वास और आयु निमित्तरूप से है अथवा जिसे जितने प्राण हों, तत्प्रमाण निमित्तरूप से समझना। उसे द्रव्यप्राण कहते हैं।

वास्तव में स्वयं सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध—इन चार त्रिकाली प्राण से जीता है और पर्याय में भावप्राण से और निमित्तरूप से द्रव्यप्राण से जीता है, ऐसा सब ज्ञान करे तो वह यथार्थ ज्ञान किया कहलाये।

इस गाथा में वर्तमान पर्याय में भावप्राण और निमित्तरूप से द्रव्यप्राण से जीता है,

ऐसा कहा है। जो जीव वर्तमान पर्याय के भावप्राण को तथा निमित्तरूप से द्रव्यप्राण को मानता नहीं, वह जीव की पर्याय को भी समझता नहीं। पर्याय के प्राण का तथा निमित्तरूप से द्रव्यप्राण का भी यथार्थ ज्ञान किया कब कहलाये? पर्याय के चार प्राण—इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास, यह समझकर सार क्या? पर्याय में ऐसी हीनता और निमित्तरूप से जड़प्राण होने पर भी मैं अनादि-अनन्त शुद्धद्रव्य हूँ और सत्ता, सुख, चैतन्य, ज्ञान—ऐसे चार प्राण से जी रहा हूँ, ऐसे अंशी ऐसे द्रव्य की ओर वजन जाये तो पर्याय का तथा निमित्त का यथार्थ ज्ञान किया कहलाये। यहाँ पूरा प्रमाण ज्ञान (द्रव्य का तथा पर्याय का) बताते हैं, तथापि त्रिकाली सत्ता—अंशी स्वभाव की ओर जोर ढला हुआ है। अंशी के जोर की ओर ढलते ही पर्याय का तथा निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है। मेरे ज्ञान की हीनता और बल की हीनता होने पर भी तथा निमित्तरूप से जड़प्राण होने पर भी मैं तो त्रिकाली शुद्ध हूँ; सत्ता, सुख, चैतन्य और ज्ञान ऐसे त्रिकाली प्राण से जीता हूँ—ऐसा जिसका वजन त्रिकाली द्रव्य की ओर जाता है, उसने ही प्रमाणज्ञान किया कहा जाता है और पर्याय तथा निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान किया कहलाता है।

प्रत्येक गाथा में तीन समय लागू पड़ते हैं। शब्दसमय, ज्ञानसमय और पदार्थसमय। गाथा के शब्द, उन शब्दों के निमित्त से होता ज्ञान और वे पदार्थ वीतरागता बतलाते हैं।

‘ये दोनों जाति के प्राण संसारी जीव के सदा अखण्डित सन्तानकर प्रवर्तते हैं, इन प्राणोंकर संसार में जीवता कहलाता है।’—यहाँ कहा कि संसारी प्राणी सदा ही चार प्राण से और निमित्तरूप से द्रव्यप्राण से जीया था, जीता है और जीयेगा। ‘सदा’ और ‘अखण्डित’ शब्द प्रयोग किये हैं। इनका हेतु क्या है? किसी भी शब्दसमय का हेतु राग अथवा संसार का नहीं हो सकता। यह शब्द सुनकर कोई जीव ऐसा निर्णय करे कि मैं सदा ही संसारी रहूँगा तो उसने यथार्थ ज्ञान किया नहीं और वह शब्दसमय को समझा नहीं। जैसे शास्त्र में ज्ञान करने के लिये इस लोक में अभव्य जीव हैं, ऐसा कहे परन्तु अभव्य शब्द सुनकर सुननेवाले—पात्र जीव ऐसा निर्णय करते हैं कि मैं अभव्य तो नहीं, परन्तु दीर्घभव्य भी नहीं, मैं तो नजदीक का मुक्तिगामी भव्य हूँ, ऐसा निर्णय करनेवाले को शब्दसमय निमित्त कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ ‘सदा अखण्डित सन्तानकर प्रवर्तते

हैं' ऐसे जो शब्द कहे, उनका लायक जीव विचार करता है कि यह तो पर्याय का ज्ञान करने के लिये है। और विग्रहगति में दस प्राण रहते नहीं, एक आयुप्राण रहता है, तथापि 'अखण्डित सन्तानकर क्यों कहा? विग्रहगति में तो खण्डित हो जाते हैं न? भाई! अखण्डित त्रिकाली प्राण से तू जी रहा है, ऐसा द्रव्य का ज्ञान और वर्तमान पर्याय का ज्ञान—ऐसा प्रमाणज्ञान करके राग-द्वेषरहित तेरे द्रव्यस्वभाव की ओर झुक तो तू मोक्षमार्ग में है और तेरे लिये संसार का अखण्डितपना है ही नहीं। तुझे तो संसार खण्डित हो गया है। इस प्रकार राग-द्वेषरहितरूप से यथार्थ जानता है, वह मोक्ष के पंथ में है।

चरणानुयोग के कथन हों या करणानुयोग के हों—चाहे जिस सत्शास्त्र के शब्द हों, वे प्रत्येक वीतरागता के पोषक हैं।

१. जड़ इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वा, मन, वचन, काया—ये जड़ प्राण हैं वे पदार्थसमय हैं।

२. क्षयोपशमरूप अल्प ज्ञान, अल्प वीर्य इत्यादि भावप्राण की पर्याय, वह पदार्थसमय है।

३. त्रिकाली चैतन्य, बोध, सुख, सत्तारूपी शुद्धप्राण से भरपूर द्रव्य है, वह भी पदार्थसमय है।

इस प्रकार तीनों प्रकार के पदार्थसमय हैं। उनमें अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये तथा निमित्तरूप से जड़प्राण भी आ गये। अब ऐसे तीन पदार्थों को जो यथार्थ जानता है, वह ज्ञानसमय है और उन पदार्थों को बतलानेवाला शब्दसमय है। वाणी को कहनेवाले छद्मस्थ गुरु शिष्य को कहते हैं : तू और मैं दोनों कल्याण के साधनेवाले हैं, शब्द अथवा वाणी भी वीतरागता कहती है। पदार्थ भी स्वतन्त्र पदार्थ हूँ, ऐसा बतलाते हैं और ज्ञान भी रागरहित तेरा स्वभाव है, ऐसा जानता है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान करके अपने त्रिकाली प्राण की ओर मुड़ता है, उसे भेदज्ञान होता है।

जो जीव शब्दों के भाव को समझता नहीं और कहता है कि अरेरे! यह प्राण कब छूटे? अंशबुद्धि कब छूटे? वह जीव शब्दसमय को समझता नहीं, शास्त्र को समझता नहीं। और कोई जीव कहे कि हमको सब पदार्थ का ज्ञान तो हुआ परन्तु मिथ्यादर्शन

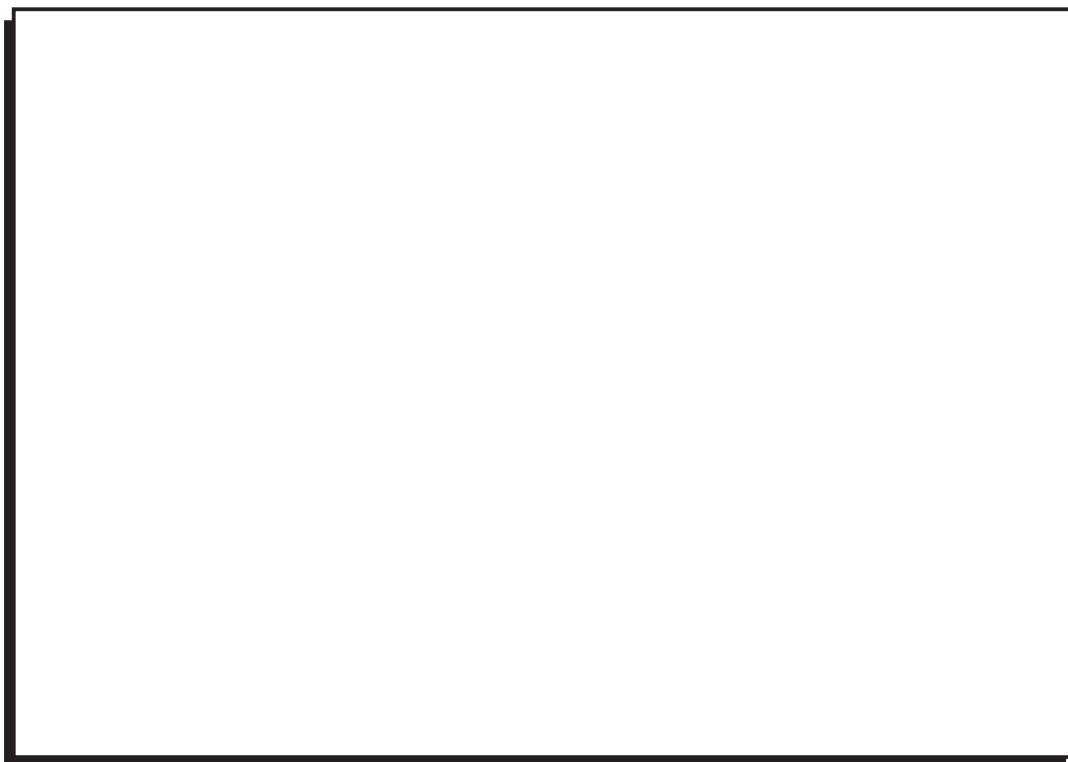
आदि अशुद्धता टलती नहीं तो वह भी खोटा है। वह ज्ञानसमय को समझता नहीं। वे दोनों जीव एक भी समय को जानते नहीं। चाहे जो शास्त्र के शब्द हों, वे ऐसा कहते हैं कि अंशी का, अंश का, तथा निमित्त का एकसाथ प्रमाणज्ञान होने से भेदज्ञान और वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। यहाँ पंचास्तिकाय का ज्ञान कराना है। संसारदशा में राग को रागरूप समझ, उघाड़ और न्यूनता को उसरूप जान। संयोग जड़ को जड़रूप जान और त्रिकाली स्वभाव त्रिकालीरूप से है, ऐसा जान। इस प्रकार जैसा है, वैसा जाने तो अपना वजन त्रिकाली स्वभाव की ओर जाने से आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होने पर प्रमाणज्ञान होता है। वह प्रमाणज्ञान केवलज्ञान का कारण होता है।

विग्रहगति में जीव को इन्द्रिय नहीं, मन-वचन-काया नहीं, श्वास नहीं, मात्र आयु है। वहाँ भले खण्डित हुआ। वहाँ भी जीव अपने त्रिकाली प्राण से अविच्छिन्न धारा जी रहा है। इसीलिए इस गाथा में जड़प्राण का निमित्तपना, पर्याय का खण्डपना और द्रव्य का अखण्डपना बतलाना है। गाथा में अखण्डित शब्द कहे हैं, परन्तु उन शब्दों को यथार्थ रुचिपूर्वक सुननेवाले को तथा उनका सम्यक् ज्ञान करनेवाले को अखण्डित संसार नहीं रहता।

यहाँ द्रव्यप्राण निमित्त है, ऐसा कहा है तथापि निमित्त के कारण से ज्ञान नहीं। निमित्त से ज्ञान माने तो पंचास्तिकाय रहते नहीं और निमित्त नहीं है, ऐसा माने तो भी पंचास्तिकाय नहीं रहते। संसार में निमित्तरूप से प्राण है, परन्तु वास्तव में मैं द्रव्य से त्रिकाल शुद्ध हूँ, ऐसा ज्ञान करने से स्वभाव की ओर ढलता ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणज्ञान हुआ, वह बढ़कर पूर्ण ज्ञान हुआ और अल्पज्ञता की योग्यता थी, वह टल गयी और निमित्त भी टल गया। अल्पज्ञ जीव को पंचास्तिकाय का ज्ञान है तथा सिद्ध में भी वही ज्ञान है, अल्पज्ञता थी वह टलकर सिद्धदशा हो गयी, साधकदशा में क्रम-क्रम से आगे बढ़कर परमात्मदशा प्रगटी और अकेले सत्ता, सुख, चैतन्य, ज्ञान, प्राणरूप जीव रहा।

मोक्ष अवस्था में केवल शुद्ध चैतन्यादि प्राण से जीव जीता है, इसलिए सिद्धजीव को शुद्ध जीव कहते हैं। संसारी जीव को अशुद्ध जीव कहते हैं, ऐसा समझनेवाला जीव संसारी मिटकर शुद्ध सिद्ध होनेवाला है।

शास्त्रों को यथार्थ जानना चाहिए। शास्त्र भेदज्ञान की बात कहते हैं। निमित्त को और आत्मा को एक मनावे, राग को और आत्मा को एक मनावे, कर्म के कारण से विकार मनावे, काल के कारण से मुक्ति मनावे तो पंचास्तिकाय नहीं रहते और वे सच्चे शास्त्र नहीं हैं। यह बात सर्वज्ञ, उनके शास्त्र और उनके कहनेवाले यथार्थ गुरु बिना और अपनी पात्रता बिना समझ में आये ऐसी नहीं। पानी की सपाटी समान लगती है परन्तु बाँस से मापे तो किनारे की अपेक्षा मध्य में बहुत गहरा पानी होता है, उसी प्रकार दूसरे का तथा सर्वज्ञ का कहना ऊपर-ऊपर से अज्ञानी को समान लगता है परन्तु अन्तरज्ञान के माप से मापे तो बहुत अन्तर है। सपाटी के माप से तालाब की गहराई मापने जाये तो तालाब के माप में भूल खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी के शब्द की कथनी के माप से तत्त्वज्ञान मापने जाये तो वह तत्त्व को समझता नहीं। इसलिए वीतराग सर्वज्ञदेव ने कहे हुए पंचास्तिकाय का जैसा है, वैसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। ●●



गाथा - ३१-३२

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
 देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा॥३१॥
 केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
 विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा॥३२॥

अगुरुलघुका अनन्तास्तैरनंतैः परिणताः सर्वे।
 देशैरसंख्याताः स्याल्लोकं सर्वमापन्नाः॥३१॥
 केचित्तु अनापन्ना मिथ्यादर्शनकषाययोगयुताः।
 वियुताश्च तैर्बहवः सिद्धाः संसारिणो जीवाः॥३२॥

अत्र जीवानां स्वाभाविकं प्रमाणं मुक्तामुक्तविभागश्चोक्तः ।

जीवा ह्यविभागैकद्रव्यत्वाल्लोकप्रमाणैकप्रदेशाः । अगुरुलघवो गुणास्तु तेषामगुरु-
 लघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठित्वनिबन्धनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदाः प्रतिसमय-
 सम्भवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानयोऽनन्ताः। प्रदेशास्तु अविभागपरमाणुपरिच्छिन्नसूक्ष्मांशरूपा
 असंख्येयाः । एवंविधेषु तेषु केचित्कथञ्चिल्लोकपूरणावस्थाप्रकारेण सर्वलोकव्यापिनः, केचित्तु
 तदव्यापिन इति । अथ ये तेषु मिथ्यादर्शनकषाययोगैरनादिसंततिप्रवृत्तैर्युक्तास्ते संसारिणः, ये
 विमुक्तास्ते सिद्धाः, ते च प्रत्येकं बहव इति ॥३१-३२॥

अगुरुलघुक स्वभाव से जिय अनन्त गुणमय परिणमें ।
 जिय के प्रदेश असंख्य पर जिय लोकव्यापी एक है ॥३१॥
 बन्धादि विरहित सिद्ध आस्रव आदि युत संसारि सब ।
 संसारि भी होते कभी कुछ व्याप्त पूरे लोक में ॥३२॥

अन्वयार्थ :- [अनंताः अगुरुलघुकाः] अनन्त ऐसे जो अगुरुलघु (गुण, अंश)
 [तैः अनंतैः] उन अनन्त अगुरुलघु [गुण] रूप से [सर्वे] सर्व जीव [परिणताः] परिणत
 हैं; [देशैः असंख्याताः] वे असंख्यात प्रदेशवाले हैं। [स्यात् सर्वम् लोकम् आपन्नाः]
 कतिपय कथंचित् समस्त लोक को प्राप्त होते हैं [केचित् तु] और कतिपय [अनापन्नाः]
 अप्राप्त होते हैं। [बहवः जीवाः] अनेक (अनन्त) जीव [मिथ्यादर्शनकषाययोगयुताः]

मिथ्यादर्शन-कषाय-योगसहित [संसारिणः] संसारी हैं [च] और अनेक (अनन्त जीव) [तैः वियुताः] मिथ्यादर्शन-कषाय-योगरहित [सिद्धाः] सिद्ध हैं।

टीका :- यहाँ जीवों का स्वाभाविक ^१प्रमाण तथा उनका मुक्त और अमुक्त ऐसा विभाग कहा है।

जीव वास्तव में अविभागी-एकद्रव्यपने के कारण लोकप्रमाण-एकप्रदेशवाले हैं। उनके (जीवों के) ^२अगुरुलघुगुण-अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूपप्रतिष्ठत्व के कारणभूत स्वभाव उसका ^३अविभाग परिच्छेद-प्रतिसमय होनेवाली ^४षट्स्थानपतित वृद्धिहानिवाले अनन्त हैं; और (उनके अर्थात् जीवों के) प्रदेश-जो कि अविभाग परमाणु जितने मापवाले सूक्ष्म अंशरूप हैं वे-असंख्य हैं। ऐसे उन जीवों में कतिपय कथंचित् (केवलसमुद्घात के कारण) लोकपूरण-अवस्था के प्रकार द्वारा समस्त लोक में व्याप्त होते हैं और कतिपय समस्त लोक में अव्याप्त होते हैं। और उन जीवों में जो अनादि प्रवाहरूप से प्रवर्तमान मिथ्यादर्शन-कषाय-योग सहित हैं, वे संसारी हैं, जो उनसे विमुक्त हैं (अर्थात् मिथ्यादर्शन-कषाय-योग से रहित हैं), वे सिद्ध हैं; और वे हर प्रकार के जीव बहुत हैं (अर्थात् संसारी तथा सिद्ध जीवों में से हर एक प्रकार के जीव अनन्त हैं)॥३१-३२॥

१. प्रमाण=माप; परिमाण। (जीव के अगुरुलघुत्वस्वभाव के छोटे से छोटे अंश (अविभाग परिच्छेद) करने पर स्वभाव से ही सदैव अनन्त अंश होते हैं, इसलिए जीव सदैव ऐसे (षट्गुणवृद्धिहानियुक्त) अनन्त अंशों जितना है। और जीव के स्वक्षेत्र के छोटे से छोटे अंश करने पर स्वभाव से ही सदैव असंख्य अंश होते हैं, इसलिए जीव सदैव ऐसे असंख्य अंशों जितना है।
२. गुण=अंश; अविभाग परिच्छेद। (जीव में अगुरुलघुत्व नाम का स्वभाव है। वह स्वभाव जीव को स्वरूपप्रतिष्ठत्व के (अर्थात् स्वरूप में रहने के) कारणभूत है। उसके अविभाग परिच्छेदों को यहाँ अगुरुलघु गुण (अंश) कहे हैं।)
३. किसी गुण में (अर्थात् गुण की पर्याय में) अंश कल्पना की जाने पर, उसका जो छोटे से छोटा (जघन्य मात्रारूप, निरंश) अंश होता है, उसे उस गुण का (अर्थात् गुण की पर्याय का) अविभाग परिच्छेद कहा जाता है।
४. षट्स्थानपतित वृद्धिहानि=छह स्थान में समावेश पानेवाली वृद्धिहानि; षट्गुण वृद्धिहानि। (अगुरुलघुत्वस्वभाव के अनन्त अंशों में स्वभाव से ही प्रतिसमय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती है।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल २, बुधवार

जीवों के स्वाभाविक प्रदेशों की अपेक्षा का प्रमाण कहते हैं तथा मुक्त और संसारी जीवों का भेद कहते हैं।

जीव का और जड़ पदार्थों का अस्तित्व पृथक् रूप से जिस प्रकार से है, उस प्रकार से जानना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ अपनी मर्यादा में काम करता है। पदार्थों की मर्यादा न जाने तब तक धर्म कहाँ करना, इसका निर्णय नहीं होता। छहों द्रव्य अपनी-अपनी मर्यादा में काम कर रहे हैं, इसलिए अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में काम कर रहे हैं, ऐसा निर्णय करे तो अपनी मर्यादा में अन्तर्मुख देखने का रहे।

यहाँ जीव की व्याख्या है। प्रत्येक जीव षट्गुणहानिवृद्धिरूप अगुरुलघुगुण में परिणत हो रहा है। अपनी मर्यादा से बाहर जाता नहीं। आत्मा असंख्यप्रदेशी है। शरीर, वह आत्मा का क्षेत्र नहीं। एक परमाणु के माप जितने गज से आत्मा का क्षेत्र मापा जाये तो आत्मा असंख्य परमाणु जितने कदवाला है। असंख्य प्रदेश कभी भी कम नहीं होते या बढ़ते नहीं। उसमें अनन्त गुण हैं, एक गुण बढ़ता नहीं तथा एक गुण घटता नहीं। एक समय में सभी गुणों की पर्यायें हैं। उन पर्यायों का काल एक समय से बढ़ता नहीं तथा दूसरे क्षेत्र में जाता नहीं तथा शरीर, कर्म इत्यादि दूसरे पदार्थ आत्मा के क्षेत्र में आते नहीं। इस प्रकार अनन्त जीव अपने क्षेत्र में और काल अर्थात् पर्याय में परिणमते हैं, और अपने भाव अर्थात् गुणों में टिक रहे हैं। जीव समुद्घात करे या निगोद में जाये तो भी अपनी मर्यादा में रहता है।

आत्मा में अगुरुलघुगुण है, उसके कारण षट्गुणहानिवृद्धि के परिणाम प्रत्येक जीव में हो रहे हैं। संख्यात, असंख्यात और अनन्तगुण वृद्धि; संख्यात, असंख्यात और अनन्तगुण हानि; संख्यात, असंख्यात और अनन्त भाग वृद्धि; और संख्यात, असंख्यात और अनन्तभाग हानि—ऐसे बारह प्रकार होते हैं।

अगुरुलघुगुण आत्मा की मर्यादा सम्हालने का कारण है। उसका अविभागी अंश

अतिसूक्ष्म है, वह आगमकथित प्रमाण से जानना चाहिए। प्रत्येक जीव अपनी मर्यादा में रहा हुआ है।

(१) जितने सिद्ध के गुण हैं, उतने प्रत्येक जीव के गुण हैं। एक गुण बढ़ता नहीं तथा घटता नहीं। यह त्रिकाली गुणों की मर्यादा की बात हुई। सिद्ध हो तो गुण बढ़ते नहीं और निगोद हो तो घटते नहीं।

(२) आत्मा के प्रदेश असंख्य हैं, उसमें से एक प्रदेश बढ़ता नहीं तथा घटता नहीं। निगोद में जाये, चींटी में जाये या हाथी हो या केवलीसमुद्घात करे तो भी एक प्रदेश क्षेत्र में बड़ा अथवा छोटा नहीं होता। यह क्षेत्र की मर्यादा की बात हुई।

(३) जीव की पर्याय साधक की हो या बाधक की हो, निगोद की हो या सिद्ध की हो, तीव्र अज्ञानी की पर्याय हो या ज्ञानी की पर्याय हो तो भी वह पर्याय अपनी मर्यादा में रहती है, वह दूसरे की पर्याय में नहीं जाती।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मर्यादा बाँधी अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय से अपनी मर्यादा में प्रत्येक जीव रहता है। अवस्था एक समय की मर्यादा है और द्रव्य-गुण की मर्यादा त्रिकाल है। ऐसे दोनों की मर्यादा जानने से प्रमाणज्ञान पूरा होता है। अपने ज्ञान में पूरा आत्मद्रव्य ज्ञेयरूप से ख्याल में आ जाता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा—अभव्य भी अपनी मर्यादा में रहा हुआ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनन्त गुण और उनकी समय-समय की पर्याय—ऐसे गुण-पर्याय का बना हुआ द्रव्य अपनी हृद में रम रहा है।

लवण समुद्र में सोलह हजार योजन पानी ऊँचा चढ़ा है। आड़ी दीवार नहीं। उस पानी में एकेन्द्रिय जीव और जड़ परमाणु हैं। जीव और परमाणु वह के वह नहीं होते, वे बदला करते हैं, तथापि जीव और परमाणु ऐसी जातिवाले आते हैं कि पानी का उठाव ऐसा का ऐसा रहता है। पानी के जीव और परमाणु उस क्षेत्र में और काल में अपनी मर्यादा छोड़ते नहीं। उसी प्रकार अनन्त आत्मा अपने स्वक्षेत्र की और अपने ज्ञान-दर्शनादि भाव की और समय-समय की मर्यादा के बाहर गर्दन करते नहीं (जाते नहीं)। क्षेत्र के बाहर, गुण के बाहर या पर्याय के बाहर वे जाते नहीं और पर का काम करते नहीं। अगुरुलघुगुण के कारण वे अपनी मर्यादा उल्लंघते नहीं।

जितने जीव हैं, उन प्रत्येक में अगुरुलघुगुण रहा हुआ है अर्थात् कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसमें अगुरुलघुगुण न हो तथा उस प्रत्येक जीव का क्षेत्र लोकप्रमाण असंख्यप्रदेश है, अर्थात् कि प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है।

अब इसके दो प्रकार कहते हैं :

(१) उन जीवों में से कितने ही केवलज्ञानी जीव केवलीसमुद्घात के समय दण्ड-कपाटादि अवस्था के समय समस्त लोकप्रमाण होते हैं। दण्ड-कपाटादि के समय कर्मों के निमित्तों से प्रदेशों का विस्तार लोकप्रमाण होता है। इस कारण से समुद्घात की अपेक्षा से कितने ही जीव लोकप्रमाण कहे जाते हैं। लोकप्रमाण होने पर भी अपनी मर्यादा को कभी भी उल्लंघते नहीं।

(२) तथा कितने ही जीव समुद्घात के अतिरिक्त लोकप्रमाण नहीं, परन्तु अपने-अपने शरीरप्रमाण हैं। आलू का जीव आलू के शरीरप्रमाण और मनुष्य का जीव मनुष्य के शरीरप्रमाण होता है। वह भी अपनी मर्यादा में रहता है। लोकप्रमाण हो तो जीव अपनी मर्यादा से बढ़ जाये और निगोद के शरीरप्रमाण हो तो अपनी मर्यादा से घट जाये, ऐसा कभी नहीं होता, प्रत्येक अपनी मर्यादा में रहता है।

असंख्यप्रदेशी पूरी वस्तु रखकर उसमें लोकप्रमाण व्यापक और शरीरप्रमाण व्यापक, ऐसे दो भाग पाड़कर ज्ञान कराया, तथापि वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा में रहे हुए हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसा निर्णय करनेवाले जीव को अपने असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में देखने का रहता है। परक्षेत्र में घालमेल करने की पर्यायबुद्धि उसे नहीं होती।

अब वर्तमान पर्याय के भाव की अपेक्षा से दो भेद करते हैं।

‘उस अनन्त जीवराशि में अनन्तानन्त जीव अनादि काल से मिथ्यात्व-कषाय-योग से संयुक्त संसारी हैं अर्थात् जितने जीव मिथ्यादर्शन-कषाय-योग संयुक्त हैं, ये सब संसारी कहे जाते हैं और जो उन मिथ्यात्व-कषाय-योगों से रहित शुद्ध जीव हैं, वे सिद्ध हैं। वे सिद्ध (मुक्त जीव भी) अनन्त हैं। यह शुद्धाशुद्धजीवों का सामान्यस्वरूप जानना।’

जीवराशि में अनन्त जीव अनादिकाल से भ्रान्तिवाले हैं। शरीर, कर्म आदि

परपदार्थों को अपना मानकर भ्रान्ति में पड़े हुए हैं और शरीर, कर्मरहित आत्मा शुद्ध है, ऐसा भान करके अपने में श्रद्धा और लीनता करे और मुक्त हों, वे सिद्ध हैं। निगोद का जीव हो या सिद्ध का हो, तथापि अपनी मर्यादा में रहे हुए हैं। इस प्रकार मर्यादा निश्चित करनेवाले को भान होता है कि शरीर, कर्म, वाणी तथा दूसरे जीवों की मर्यादा से मेरी मर्यादा भिन्न है, मैं तो मेरी मर्यादा में हूँ। संसारी की मर्यादा मेरे कारण से मेरे क्षेत्र में है। संसार की मर्यादा कर्म या दूसरे के क्षेत्र में नहीं। संसार की मर्यादा अपने में है, ऐसा भान होने से परपदार्थों के साथ की एकताबुद्धि टूट जाती है और स्वसन्मुख झुकने पर देखता है तो संसारपर्याय है, वह एक समय की मर्यादावाली है और द्रव्य तो शुद्ध गुणों से भरपूर है, वह त्रिकाली मर्यादावाला है, ऐसा ज्ञान करने से द्रव्य में संसार नहीं। ऐसे शुद्ध द्रव्य की दृष्टि होने पर अपना संसार टूट जाता है। कोई दूसरे जीव अपने को लाभ-नुकसान करे, ऐसा नहीं होता। निमित्त, उपादान की मर्यादा में काम करे, ऐसा नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव एक के कारण दूसरे में होता है, ऐसा मानकर भ्रान्ति का सेवन करता है। तू एक जीवपदार्थ है या नहीं और दूसरी चीज़ है या नहीं? यदि है तो कितनी है? यदि दो होने पर भी एक -दूसरे में जाये तो दो रहती नहीं और एक का वर्तमान दूसरी चीज़ के वर्तमान के कारण से हो तो भी दोनों वस्तुओं का नाश होता है। एक परमाणु अस्ति धराता है, एकप्रदेशी उसका क्षेत्र है। वह उसकी वर्तमान अवस्था को उल्लंघनकर तुझे लाभ दे, ऐसा नहीं होता और तू तेरी असंख्यप्रदेश की मर्यादा उल्लंघनकर उस परमाणु में फेरफार करे, ऐसी तेरी मर्यादा नहीं।

काशी घाट के लोटा में पानी भरा हो, उस समय पानी का कद पानी में है और लोटा का कद लोटा में है। दोनों भिन्न हैं। इसी प्रकार यह शरीर काशी घाट के लोटा समान है। पानी लोटा प्रमाण दिखने पर भी दोनों के कद एकरूप हुए नहीं। भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार आत्मा का कद शरीरप्रमाण होने पर भी वे दोनों एकरूप नहीं। आत्मा का कद शरीरप्रमाण हो तो भी अपनी मर्यादा में है। विग्रहगति में हो तो भी अपनी मर्यादा में और केवलीसमुद्घात करे, तब लोकप्रमाण हो तो भी अपनी मर्यादा में है। ऐसा निर्णय करने से असंख्यप्रदेशी अपने जीव के सन्मुख देखने का रहता है।

पैर में बिच्छू के काटने से सर्वत्र ख्याल आ जाता है, इसलिए आत्मा धारावाही

पूरा है, तथापि पैर में जो अंश हैं, वे अंश सिर के नहीं, इसलिए अंश भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए अंश अधिक हैं और आत्मा अखण्ड एक है। ऐसे असंख्यप्रदेशी अखण्ड रखकर लोकप्रमाण व्यापक और शरीरप्रमाण व्यापक ऐसे दो भाग किये और भाव से दो प्रकार किये—एक भ्रान्तिवाले संसारी और एक भ्रान्तिरहित सिद्ध। संसारी रहे तो भी मर्यादा में रहकर तथा सिद्ध हों तो भी मर्यादा में रहकर होते हैं। चौथे काल में केवलज्ञान हो तो भी अपनी मर्यादा में है और पाँचवें काल में केवलज्ञान होता नहीं, तो भी अपनी मर्यादा में रहकर होता नहीं।

इस प्रकार मर्यादा का निर्णय होने से परपदार्थ के कर्तृत्व का अभिमान टल जाता है। लोग कहते हैं कि पैसा हमको मिला, परन्तु पैसा अपनी मर्यादा में रहा है, वह जीव के क्षेत्र में आया नहीं। पुण्यकर्म के परमाणु कर्म की मर्यादा में रहे हैं।

प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादा में रही हुई है। ऐसा प्रत्येक वस्तु का धर्म है। आत्मा के असंख्यप्रदेश में गुणों को और पर्यायों को जैसा है, वैसा श्रद्धा में धार रखना, वह धर्म है। एक समय की पर्याय को स्वयं धार रखता है, ऐसा निर्णय करने से प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र निश्चित होता है। दूसरे मुझे सहायता करे, मैं दूसरे को सहायता करूँ, धर्म प्राप्त कराऊँ—ऐसी असत् कल्पना का नाश होता है। और निमित्त की मर्यादा निमित्त में और मेरी मर्यादा मुझमें, ऐसा निर्णय करने से पर के सन्मुख देखने का रहता नहीं। स्वसन्मुख झुकने से पर्याय तो एक समय की मर्यादावाली है। वह एक अंश है। द्रव्य-गुण की मर्यादा त्रिकाली है। एक अंश में पूरा अंशी आता नहीं और एक समय की पर्याय जितना मैं नहीं, मैं तो त्रिकाली द्रव्य हूँ—ऐसे शुद्ध द्रव्य की ओर झुकने से ज्ञान सम्यक् होता है, वह ज्ञान सुख का कारण है और मिथ्याज्ञान जो दुःख का कारण है, उसका अभाव होता है। ऐसे ज्ञान के पश्चात् जैसे-जैसे स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे चारित्रदशा होती है। वह बढ़कर सिद्धदशा होती है। जो जीव अपनी मर्यादा समझता नहीं और पर में घालमेल करने का अभिमान करके अपनी मर्यादा चूकता है, वह संसारी है और अपनी मर्यादा समझकर श्रद्धा-ज्ञान करता है, वह क्रम से सिद्ध होता है।

इस प्रकार शुद्ध-अशुद्ध जीव का स्वरूप जानना।

गाथा - ३३

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।

तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि॥३३॥

यथा पद्मरागरत्नं क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरम्।

तथा देही देहस्थः स्वदेहमात्रं प्रभासयति॥३३॥

एष देहमात्रत्वदृष्टान्तोपन्यासः ।

यथैव हि पद्मरागरत्नं क्षीरे क्षिप्तं स्वतोऽव्यतिरिक्तप्रभास्कन्धेन तद्व्याप्नोति क्षीरं, तथैव हि जीवः अनादिकषायमलीमसत्वमूले शरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशैस्तदभिव्याप्नोति शरीरम् । यथैव च तत्र क्षीरेऽग्निसंयोगादुद्वलमाने तस्य पद्मरागरत्नस्य प्रभास्कन्ध उद्वलते पुनर्निविशमाने निविशते च, तथैव च तत्र शरीरे विशिष्टाहारादिवशादुत्सर्पति तस्य जीवस्य प्रदेशाः उत्सर्पन्ति पुनरपसर्पन्ति अपसर्पन्ति च । यथैव च तत्पद्मरागरत्नमन्यत्र प्रभूतक्षीरे क्षिप्तं स्वप्रभास्कन्ध-विस्तारेण तद्व्याप्नोति प्रभूतक्षीरं, तथैव च जीवोऽन्यत्र महति शरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशविस्तारेण तद्व्याप्नोति महच्छरीरम् । यथैव च तत्पद्मरागरत्नमन्यत्र स्तोकक्षीरे निक्षिप्तं स्वप्रभास्कन्धोपसंहारेण तद्व्याप्नोति स्तोकक्षीरं, तथैव च जीवोऽन्यत्राणुशरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशोपसंहारेण तद्व्याप्नोत्यणुशरीरमिति ॥३३॥

अल्प या बहु क्षीर में ज्यों पद्ममणि आकृति गहे ।

त्यों लघु-गुरु इस देह में ये जीव आकृतियाँ धरें॥३३॥

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [पद्मरागरत्नं] पद्मरागरत्न [क्षीरे क्षिप्तं] दूध में डाला जाने पर [क्षीरम् प्रभासयति] दूध को प्रकाशित करता है, (तथा) उसी प्रकार [देही] देही (जीव) [देहस्थः] देह में रहता हुआ [स्वदेहमात्रं प्रभासयति] स्वदेहप्रमाण प्रकाशित होता है।

टीका :- यह देहप्रमाणपने के *दृष्टान्त का कथन है (अर्थात् यहाँ जीव का देहप्रमाणपना समझाने के लिये दृष्टान्त कहा है।)

* यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त अमुक अंशों में ही एक-दूसरे के साथ मिलते हैं (समानतावाले) होते हैं, सर्व अंशों में नहीं।

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अव्यतिरिक्त प्रभासमूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादि काल से कषाय द्वारा मलिनता होने के कारण शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभासमूह में उफान आता है (अर्थात् वह विस्तार को व्याप्त होता है) और दूध फिर बैठ जाने पर प्रभासमूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनश्च, जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में डाला जाने पर स्वप्रभासमूह के विस्तार द्वारा उस अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

भावार्थ :- तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे विशुद्ध-दर्शनज्ञानस्वभाववाले चैतन्यचमत्कारमात्र शुद्धजीवास्तिकाय से विलक्षण मिथ्यात्वरगादि विकल्पों द्वारा उपार्जित जो शरीरनामकर्म उससे जनित (अर्थात् उस शरीरनामकर्म का उदय जिसमें निमित्त है ऐसे) संकोचविस्तार के आधीनरूप से जीव सर्वोत्कृष्ट अवगाहरूप से परिणमित होता हुआ सहस्रयोजनप्रमाण

१. अव्यतिरिक्त=अभिन्न (जिस प्रकार 'मिश्री एक द्रव्य है और मिठास उसका गुण है' ऐसा कहीं दृष्टान्त में कहा हो तो उसे सिद्धान्तरूप नहीं समझना चाहिए; उसी प्रकार यहाँ भी जीव के संकोचविस्ताररूप दार्ष्टान्त को समझने के लिये रत्न और (दूध में फैली हुई) उसकी प्रभा को जो अव्यतिरिक्तपना कहा है, यह सिद्धान्तरूप नहीं समझना चाहिए। पुद्गलात्मक रत्न को दृष्टान्त बनाकर असंख्यप्रदेशी जीवद्रव्य के संकोचविस्तार को किसी प्रकार समझाने के हेतु यहाँ रत्न की प्रभा को रत्न से अभिन्न कहा है। (अर्थात् रत्न की प्रभा संकोचविस्तार को प्राप्त होने पर मानों रत्न के अंश ही-रत्न ही-संकोचविस्तार को प्राप्त हुए ऐसा समझने को कहा है)।

महामत्स्य के शरीर में व्याप्त होता है, जघन्य अवगाहरूप से परिणमित होता हुआ उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भाग जितने लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्मनिगोद के शरीर में व्याप्त होता है और मध्यम अवगाहरूप से परिणमित होता हुआ मध्यम शरीर में व्याप्त होता है।३३।।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ३, गुरुवार

आत्मा देहमात्र किस प्रकार से है, यह बताते हैं। कोई आत्मा को सर्वव्यापक मानता है, कोई अंगूठा प्रमाण मानता है, कोई चावल के दाने जितना मानता है, यह सब विपरीत मान्यतायें हैं। आत्मा शरीरप्रमाण है, यह बतलाते हैं।

जिस प्रकार पद्मरागमणि दूध में डालने से उसकी प्रभा दूध के क्षेत्र जितने क्षेत्र में पसरती है; उसी प्रकार संसारी जीव अपने देह में रहा हुआ देह के बराबर प्रकाश करता है। यहाँ दृष्टान्त सर्वथा समान नहीं समझना। दृष्टान्त में मणिरत्न छोटा है और उसकी प्रभा दूध में सर्वत्र दिखती है। उसी प्रकार आत्मा छोटा हो और शरीर बड़ा हो, ऐसा नहीं समझना। आत्मा शरीरप्रमाण है। मणिरत्न की प्रभा पूरे दूध में फैलती है, उसी प्रकार आत्मा की कान्ति पूरे शरीरप्रमाण फैली हुई है, शरीरप्रमाण आत्मा का क्षेत्र है। परन्तु शरीर और आत्मा एकमेक नहीं हैं। शरीर तो भिन्न चीज़ है। जो कुछ दर्द होता है, वह शरीर की अवस्था में होता है। नख का भाग कटने पर खटक खटक होता है, वह जड़ की पर्याय है, वह आत्मा की अवस्था नहीं, तथापि वह दर्द मुझे हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। रोग दुःख का कारण नहीं, शरीर की अवस्था को अपनी मानना, वह मान्यता दुःख का कारण है। ज्ञानी जानता है कि वह शरीर की अवस्था है, मुझे रोग नहीं होता, मैं तो ज्ञाता हूँ, इस प्रकार स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव का भान नहीं, उसे शरीर के साथ एकत्वबुद्धि है और उसे शरीर का सम्बन्ध रहा करता है।

भावार्थ : पद्मराग नाम का रत्न दूध से भरपूर बर्तन में डाला जाये तो उस रत्न में ऐसा गुण है कि वह अपनी प्रभा से समस्त दूध को अपनी प्रभा के बराबर प्रकाशमान करता है। रत्न की पर्याय और दूध की पर्याय भिन्न है। कोई पर्याय दूसरी पर्याय का कुछ

भी नहीं कर सकती। इस प्रकार संसारी जीव अनादिकाल से विकार से मलिन होता है और शरीरप्रमाण रहता है।

मिथ्यात्व, वही मूल कषाय है। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि चूककर पर का कर सकता हूँ, पुण्य, राग, निमित्त को अपना मानना, वह सब मिथ्यात्वरूपी संसार है। विषयों में आनन्द की कल्पना करना, वह भ्रान्ति है। जीव पर्याय में मलिन हुआ है, परन्तु वह एक समय जितना पर्याय में हुआ है। और वह प्रवाह से अनादि से मैला है। पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ, ऐसा नहीं। अनादि काल से भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके संसार में भटकता है, उन-उन शरीरों में आत्मा अपने प्रदेश फैलाकर रहता है, इसलिए शरीरप्रमाण आत्मा रहता है।

और जिस प्रकार से रत्नसहित दूध अग्नि के संयोग से उफान आने पर बढ़ता है और रत्न की प्रभा बढ़ती है तथा अग्नि का संयोग कम होने से उफान बन्द होने से रत्न की प्रभा घट जाती है, उसी प्रकार पुष्टिकारक आहार से शरीर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शरीर में रहे हुए आत्मा के प्रदेश विस्तार पाते हैं और आहार घट जाने से शरीर घट जाने पर आत्मा के प्रदेश संकोच पाते हैं। यहाँ दृष्टान्त में भी दूध उफान पावे या उफान बन्द हो, वह स्वयं के कारण से है। अग्नि तो निमित्तमात्र है। उसी प्रकार शरीर का छोटा-बड़ा, स्थूल-कृश होना, वह शरीर के कारण से है, आहार निमित्त-मात्र है। शरीर पुष्ट हो तो आहार निमित्त कहलाता है, यहाँ शरीर के क्षेत्र के साथ आत्मा के क्षेत्र का मेल कैसा है—उतना निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है। आत्मा के प्रदेश विस्तार पावे अथवा संकोच पावे, वह अपने कारण से पाते हैं, शरीर के कारण से नहीं। जड़ का कार्य जड़ में और चेतन का कार्य चेतन में होता है। किसी के कारण कोई नहीं है।

शरीर के कारण आत्मा की चौड़ाई मानना, यही भ्रम है। आत्मा का कर्ता ईश्वर तो नहीं, परन्तु कर्म के कारण या शरीर के कारण आत्मा में संकोच-विस्तार होता नहीं। परन्तु अपने में संकोच-विस्तार गुण के कारण से वह छोटा-बड़ा हुआ करता है। स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन लम्बा मच्छ होता है। सातवें नरक में पाँच सौ धनुष का शरीर होता है तो आत्मा तत्प्रमाण होता है, छोटा शरीर धारण करे, तब छोटा

होता है। इस प्रकार से छोटे-बड़े शरीर इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं, वहाँ अपने असंख्यप्रदेशों में रहकर शरीरप्रमाण संकोच-विस्तार अपने कारण से होता है।

कितने ही जीवों को अद्भुतता लगती है कि आत्मा के प्रदेश असंख्य उतने के उतने रहे और वापस संकोच-विस्तार हो, यह क्या? रूपी वस्तु जैसे कि चमड़े में संकोच-विस्तार होता है परन्तु अरूपी आत्मा में संकोच-विस्तार नहीं होता, ऐसा अज्ञानी जीव कहते हैं। परन्तु यह बात खोटी है। आत्मा असंख्यप्रदेश में रहकर संसारदशा में संकोच-विस्तार हो, वैसा उसका स्वभाव है, ऐसा जो नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार उस मणि को बहुत दूध में डाला जाये तो प्रभा बढ़ाकर सब दूध में व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार बड़े शरीर को जीव धारण करे तो अपने आत्मा के प्रदेशों का विस्तार तत्प्रमाण होता है, तथा जिस प्रकार वह रत्न थोड़े दूध में डाला जाये तो वह प्रभा संकुचित होकर थोड़े दूध के क्षेत्र जितनी हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा बड़े शरीर में से निकलकर छोटा शरीर धारण करे तो उसके प्रदेश संकुचित होकर छोटे शरीरप्रमाण होते हैं। इसलिए निश्चित होता है कि कर्म के निमित्त से आत्मा की संकोच-विस्तारशक्ति के प्रभाव से जैसा शरीर धारण करे, वैसा वह संकोच-विस्तार पाकर रहता है। स्वयंभूरमणसमुद्र में मगरमच्छ की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की होती है और जघन्य अवगाहना अलब्धपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद के जीव की है, जो एक श्वास में १८ भव करता है।

जो जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को मानते नहीं और तत्त्वज्ञान का जोर से विरोध करते हैं, वे क्रम से निगोददशा प्राप्त करते हैं। आलू के एक राई जितने टुकड़े में असंख्य औदारिकशरीर होते हैं और एक शरीर में अनन्त निगोद के जीव होते हैं। अभी तक में जितने सिद्ध हुए, उनकी अपेक्षा अनन्तगुणे जीव निगोद के उस एक शरीर में रहते हैं। प्रत्येक जीव ने भिन्न-भिन्न अनन्त भव धारण किये हैं। एक भव में बहुत विचित्रता दिखती है तो फिर अनन्त विचित्र भवों में अनन्त विचित्रता बीत गयी है परन्तु आत्मा अखण्ड चिदानन्द है, उसकी श्रद्धा करता नहीं। शरीर, कर्म और विकार से रहित आत्मा

शुद्ध चिदानन्द है, उसकी जो तीव्र विराधना करता है, उस जीव का ज्ञान रुंध जाता है और उसके फल में निगोददशा को प्राप्त होता है, और मैं पूर्ण ज्ञानानन्द हूँ, ऐसे आत्मा के भानसहित ज्ञानस्वभाव की उग्र आराधना करे तो उसे ज्ञान की विकासदशा होकर केवलज्ञान होता है।

जीव का निश्चय से अशुद्धभाव, वह ज्ञान का विरोध है, और निश्चय से शुद्धभाव, वह ज्ञान का आराधन है। बाकी चार गतियाँ हैं, वे पुण्य-पाप की आराधना का फल है। उत्कृष्ट शुभ में देवगति, मध्यम शुभ में मनुष्यगति, माया के फल में तिर्यचगति और तीव्र अशुभ के फल में नरकगति प्राप्त होती है। निश्चय-गति दो—ज्ञानस्वभाव की उत्कृष्ट आराधना, वह सिद्धगति और ज्ञानस्वभाव की तीव्र विराधना, वह निगोद।

प्रश्न : निगोद में दुःख दिखता नहीं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनन्त दुःख है। कोई मनुष्य असाध्य हो गया हो, फिर उसे बहुत लकड़ियाँ मारे तो भी उसे उसका ख्याल नहीं आता, परन्तु उसे दुःख तो बहुत है। उसी प्रकार निगोद में चैतन्यस्वभाव का भान चूक जाने से मूढ़ता बहुत बढ़ गयी है और राग तथा शरीर के साथ एकत्वबुद्धि बहुत बढ़ गयी है; इसलिए वहाँ अनन्त दुःख है। चक्रवर्ती के सुकुमार कुँवर को जमशेदपुर की जलती अग्नि की भट्टी में डाले और जो दुःख हो, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा दुःख निगोद के जीव को है। उसने तीव्र मिथ्यात्वरूपी क्लोरोफार्म सूँघा है। जैसे किसी बेहोश बीमार को कुछ खबर नहीं रहती, परन्तु दुःख तो बहुत है, उसी प्रकार निगोद के जीव को बहुत दुःख है। ज्ञान का उघाड़ बहुत घटकर अक्षर के अनन्तवें भाग हो गया है। मिथ्यात्व का सेवन करनेवाले को ऐसे भव मिलते हैं। अनन्त बार कर्म बाँधे और शरीर मिले। अब उस मैल का सम्बन्ध न चाहिए हो, उसे सच्ची समझण करना और अपने आत्मा की महिमा लाना चाहिए।

अब, एक शरीर से दूसरे शरीर में जीव जाये, उस समय जीव का अस्तित्व और देह से उसकी भिन्नता बताते हैं तथा अन्य देह धारण करने का कारण कहते हैं। ●●

गाथा - ३४

सर्वत्रास्ति जीवो न चैक एककाये ऐक्यस्थः।
अज्झवसाणविसिद्धो चिद्धदि मलिणो रजमलेहिं॥३४॥

सर्वत्रास्ति जीवो न चैक एककाये ऐक्यस्थः।
अध्यवसानविशिष्टश्चेष्टते मलिनो रजोमलैः॥३४॥

अत्र जीवस्य देहादेहांतरेऽस्तित्वं, देहात्पृथग्भूतत्वं, देहांतरसञ्चरणकारणं चोपन्यस्तम् ।

आत्मा हि संसारावस्थायां क्रमवर्तिन्यनवच्छिन्नशरीरसन्ताने यथैकस्मिन् शरीरे वृत्तः तथा क्रमेणान्येष्वपि शरीरेषु वर्तत इति तस्य सर्वत्रास्तित्वम् । न चैकस्मिन् शरीरे नीरे क्षीरमिवैक्येन स्थितोऽपि भिन्नस्वभावत्वात्तेन सहैक इति तस्य देहात्पृथग्भूतत्वम् । अनादि-बन्धनोपाधिविवर्तितविविधाध्यवसायविशिष्टत्वात्तन्मूलकर्मजालमलीमसत्वाच्च चेष्टमानस्यात्मन-स्तथाविधाध्यवसायकर्मनिर्वर्तितेतरशरीरप्रवेशो भवतीति तस्य देहान्तरसञ्चरणकारणोपन्यास इति ॥३४॥

दूध-जल वत एक जिय-तन कभी भी ना एक हों ।

अध्यवसान विभाव से जिय मलिन हो जग में भ्रमें॥३४॥

अन्वयार्थ :- [जीवः] जीव [सर्वत्र] सर्वत्र (क्रमवर्ती सर्व शरीरों में) [अस्ति] है [च] और [एककाये] किसी एक शरीर में [ऐक्यस्थः] (क्षीरनीरवत्) एकरूप से रहता है तथापि [न एकः] उसके साथ एक नहीं है; [अध्यवसानविशिष्टः] अध्यवसाय विशिष्ट वर्तता हुआ [रजोमलैः मलिनः] रजमल [कर्ममल] द्वारा मलिन होने से [चेष्टते] वह भ्रमण करता है।

टीका :- यहाँ जीव का देह से देहान्तर में (-एक शरीर से अन्य शरीर में) अस्तित्व, देह से पृथक्त्व तथा देहान्तर में गमन का कारण कहा है।

आत्मा संसार-अवस्था में क्रमवर्ती अच्छिन्न (-अटूट) शरीरप्रवाह में जिस प्रकार एक शरीर में वर्तता है, उसी प्रकार क्रम से अन्य शरीरों में भी वर्तता है; इस प्रकार उसे सर्वत्र (-सर्व शरीरों में) अस्तित्व है। और किसी एक शरीर में, पानी में दूध की भाँति एकरूप से रहने पर भी, भिन्न स्वभाव के कारण उसके साथ एक (तद्रूप) नहीं है; इस

प्रकार उसे देह से पृथक्पना है। अनादि बन्धनरूप उपाधि से विवर्तन (परिवर्तन) पानेवाले विविध अध्यवसायों से विशिष्ट होने के कारण (—अनेक प्रकार के अध्यवसायवाला होने के कारण) तथा वे अध्यवसाय जिसका निमित्त है, ऐसे कर्मसमूह से मलिन होने के कारण भ्रमण करते हुए आत्मा को तथाविध अध्यवसायों तथा कर्मों से रचे जानेवाले (—उस प्रकार के मिथ्यात्वरगादिरूप भावकर्मों तथा द्रव्यकर्मों से रचे जानेवाले) अन्य शरीर में प्रवेश होता है; इस प्रकार उसे देहान्तर में गमन होने का कारण कहा गया॥३४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ३, गुरुवार

आत्मा संसारअवस्था में क्रमवर्ती अनेक पर्यायों में है। भव एक समय में दो नहीं होते।

एक भव के बाद दूसरा भव होता है। पहला शरीर, फिर दूसरा शरीर, फिर तीसरा शरीर, ऐसे एक के बाद एक शरीर धारण करता है, परन्तु सबमें आत्मा एक है। शरीर पलटने से आत्मा पलट नहीं जाता। जिस प्रकार एक शरीर में आत्मा प्रवर्तता है, उसी प्रकार दूसरा शरीर धारण करे, तब दूसरे शरीर में प्रवर्तता है, अर्थात् रहता है। इस प्रकार से समस्त शरीरों की परम्परा में वह का वही जीव रहता है। नया जीव उपजता नहीं। सोलहवान सोने की ईंट है, उसे अलग-अलग वस्त्र काले, जीर्ण, नये, सफेद इत्यादि में लपेटा जाये और उस वस्त्र के ऊपर हिरण का, स्त्री का, पुरुष का, बाघ का ऐसे भिन्न-भिन्न चित्र हों तो भी वह सोने की ईंट उस चित्ररूप अथवा वस्त्ररूप नहीं होती। सोना, वह सोना है और वस्त्र, वह वस्त्र है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान की ईंट है, उसके ऊपर काला शरीर, सफेद शरीर, जीर्ण शरीर, ढोर का शरीर, नरक का शरीर, निगोद का शरीर लिपटा हुआ है, परन्तु उससे आत्मा शरीररूप नहीं हो गया है। प्रत्येक जीव अपने-अपने असंख्यप्रदेश में अपने गुणों से भरपूर है और एक समय की भूलवाला है। स्त्री-पुरुष इत्यादि के आकारों से लिपटा हुआ होने पर भी सोने की ईंट की भाँति आत्मा ऐसा का ऐसा है। देह अनन्त और भिन्न-भिन्न आकार के मिलने पर भी आत्मा असंख्यप्रदेशी अपने गुणों से भरपूर ऐसा का ऐसा है, तत्प्रमाण प्रत्येक शरीर में उसी

प्रकार से प्रवर्तता है। नया उपजता नहीं। वह का वह भगवान आत्मा है। अज्ञानभाव से उसे खबर नहीं और देवरूप से उपजने पर मैं देव हो गया, मनुष्य होने पर मैं मनुष्य हो गया—ऐसे शरीर के साथ एकत्वबुद्धि करता है, इसलिए नये-नये शरीर मिला करते हैं, परन्तु यदि पर्यायबुद्धि टाले और सच्चा ज्ञान करे तो अपनी ओर देखने से द्रव्यबुद्धि होने से संसार टलता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ४, शुक्रवार

इस पंचास्तिकाय शास्त्र में छह द्रव्य का स्वरूप बतलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—यह छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। उनमें जीवद्रव्य का वर्णन चलता है। जीव अपने अस्तिकाय के कारण से प्रवर्तता है, शरीर के कारण से प्रवर्तता नहीं। जीव एक के बाद एक शरीर धारण करता है, उसमें वह का वह जीव है, वह नया उपजता नहीं।

व्यवहारनय की अपेक्षा से शरीर में क्षीर-नीर की भाँति एक स्वरूप धारण कर रहा है, अर्थात् कि एक क्षेत्र में दिखता है। दूध पानीरूप नहीं होता, पानी दूधरूप नहीं होता, दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में होने पर भी शरीर आत्मारूप नहीं होता और आत्मा शरीररूप नहीं होता। अथवा आत्मा से शरीर प्रवर्तता है या शरीर से आत्मा प्रवर्तता है, ऐसा नहीं होता। परन्तु व्यवहारनय से एक क्षेत्र में है, ऐसा कहा जाता है तो भी निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा देह से कभी भी एकमेक हुआ नहीं। आत्मा और शरीर अपने-अपने स्वरूप से भिन्न रहते हैं। ऐसा भान करे तो अपनी ओर देखने का रहता है। विकारी पर्याय अपनी अपने कारण से है और द्रव्य-गुण तो शुद्ध है—ऐसे पर्याय और द्रव्य का ज्ञान होने पर प्रमाणज्ञान होता है और अपने द्रव्य की ओर झुकने से सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा देह से भिन्न होने पर भी भिन्न-भिन्न शरीरों में जाने की चेष्टा क्यों करता है? शरीर के साथ की एकत्वबुद्धि संसार का कारण है। शरीर हो तो धर्म होगा, मैं हूँ तो शरीर चलता है। शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब वे मेरे—ऐसे दूसरे पुद्गलों में और जीवों

में मेरापना मानकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम करके ज्ञानावरणादि कर्म बाँधकर संसार में भटकता है।

भावार्थ : यद्यपि आत्मा शरीरादि परद्रव्य से भिन्न है, तथापि संसारअवस्था में अनादि कर्मबन्धन से अनेक प्रकार के विभावभाव करता है। संसार में क्यों भटकता है ? चैतन्यस्वभाव असंग है, उसकी असंगबुद्धि छोड़कर जीव पर के साथ संगबुद्धि करता है और विभावभाव करता है। पुण्य-पाप दोनों विभाव हैं, उस विभाव से नये कर्म बँधते हैं। उन नये कर्म के उदय से जीव एक देह से दूसरी देह धारण करता है। इस प्रकार संसार में भटकता है। जीव भटकता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है।

प्रथम जीव को निर्णय करना चाहिए कि मेरे विभाव से मैं भटकता हूँ और वह विभाव मेरे जीवास्तिकाय का है। वह विभाव कर्म का अथवा दूसरे जीव का नहीं है तथा दूसरे के कारण से नहीं है। कर्म के कारण से विकार माने तो पुद्गलास्तिकाय के कारण जीवास्तिकाय माना कहलाये। यहाँ शास्त्र में जीवास्तिकाय का स्वरूप स्वतन्त्र बताते हैं। जीवास्तिकाय के द्रव्य-गुण-पर्याय (विकारीपर्याय या अविकारी) जीवास्तिकाय के कारण से है और पुद्गलास्तिकाय के द्रव्य-गुण-पर्याय पुद्गलास्तिकाय के कारण से है। इस प्रकार जीव निर्णय करे तो जीव को अपने अस्तिकाय के ऊपर देखने का प्रसंग रहता है और पर की ओर से दृष्टि हटती है।

विकार मेरी पर्याय में होता है और वह एक समय जितना है। द्रव्य-गुण त्रिकाली शुद्ध है, उसमें विकार नहीं। विकार पर्यायधर्म है, वह त्रिकाली द्रव्य का धर्म नहीं है। ऐसे त्रिकाली शुद्धस्वभाव की अस्ति की स्वीकृति करने से—गुण-गुणी की एकत्वबुद्धि करने से भेदज्ञान होता है और क्रम से संसार का अभाव होता है। भगवान को तेरहवें गुणस्थान में विभाव है, वह भगवान के जीवास्तिकाय का है, परन्तु अघातिकर्म के कारण से नहीं है। पुण्य, पाप या विभावभाव निमित्त से या कर्म से नहीं है। ऐसे प्रथम निमित्त से तथा परवस्तु से भेदज्ञान होता है और विकार एक समय का है, त्रिकाली द्रव्य-गुण में नहीं, ऐसा निर्णय होने से, मैं विकार से भिन्न शुद्ध जीव हूँ—ऐसा भेदज्ञान होने से सम्यग्ज्ञान होकर वीतरागता होती है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मैं स्त्री-पुत्रों को निभाता हूँ। वह मूढ़ता है। स्त्री-पुत्र

जीवास्तिकाय हैं, वे स्वयं के कारण से निभते हैं। उनका आधार वे जीव हैं। एक जीवास्तिकाय के कारण दूसरा जीवास्तिकाय निभे, ऐसा माननेवाले भिन्न द्रव्यों को एक मानते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीव मानता है कि शरीर को मैं निभाता हूँ, यह लकड़ी को मैं हिलाता हूँ। शरीर पुद्गलास्तिकाय है, वह उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से टिक रहा है। इस लकड़ी के परमाणु इसके द्रव्य-गुण-पर्याय से टिकते हैं, तथापि पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय के कारण टिके अथवा फेरफार हो, ऐसा मानना, वह मूढ़ता है। निगोद का जीव संसार में भटकता है, वह अपने कारण से भटकता है। कर्म के कारण से भटकता नहीं। कर्मपुद्गल स्वयं के कारण से इकट्ठे हुए हैं, जीव के कारण से इकट्ठे होते नहीं। जीव अपने असंख्यप्रदेश में अपने वीर्य की स्फुरणा करे, परन्तु उस वीर्य से वह परवस्तु को ले या छोड़े, यह मान्यता अज्ञान है।

यहाँ पंचास्तिकाय सिद्ध करना है। यह लकड़ी अथवा लड्डू, यह अनन्त परमाणुओं का उस समय का अस्तिकाय है। वह अस्तिकाय जीव के कारण से मानना, वह मूढ़ता है। जीव के असंख्यप्रदेश, उसके भाव और उसका समय-समय का परिणमन—ऐसे जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जीवास्तिकाय के कारण से है। तथा परमाणु अकेला रहे अथवा स्कन्धरूप हो, वह द्रव्य, उसका क्षेत्र, उसके स्पर्शादि गुण और उसकी समय-समय की अवस्था—ऐसे पुद्गल के चारों बोल पुद्गलास्तिकाय के कारण से है।

एक मकान बँधता है, उसमें बहुत परमाणु इकट्ठे हुए हैं, वे उसके अस्तिकाय के धर्म के कारण से आते हैं और जाते हैं, कारीगर के कारण से इकट्ठे नहीं होते। जीव के कारण से शरीर चलता है, ऐसा मानने में आवे तो शरीर का—पुद्गल का पर्याय धर्म उड़ जाता है। लकवा के समय चलने की इच्छा होने पर भी शरीर नहीं चलता, उसरूप उस समय का परिणमन है। एक समय भी जीव के कारण से चलता नहीं, ऐसा निर्णय करे तो त्रिकाल उसके बिना चल रहा है, ऐसा निर्णय हो। जीव के विकल्प के कारण क्या पुद्गलास्तिकाय इकट्ठा होगा? ऊँचा-नीचा होगा? नहीं होगा। ऐसा निर्णय करे तो जीव को पर के सन्मुख देखना का रहे नहीं, परन्तु अपने सन्मुख देखने का रहे। स्वयं ज्ञान करे या इच्छा करे, वह अपने में करता है। इच्छा एक समय की है और ज्ञानस्वभाव

त्रिकाली है और त्रिकाल में इच्छा नहीं। ऐसे एक समय की पर्याय का ज्ञान और त्रिकाली का ज्ञान करे तो पर से भेदज्ञान होकर, विकार से भिन्न पड़कर, त्रिकाली द्रव्य में स्थिर हो, वही धर्म है।

प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में परिणम रहा है, तथापि यह बात अज्ञानी समझता नहीं। और कोई ऐसा भी कहता है कि हम राग न करें तो ये चीजें नहीं होगी। यह भी मूढ़ता है। क्या पर के कार्य को तू अटका सकता है? मन्दिर की तथा दूसरी प्रवृत्ति बहुत होती है और इससे हिंसा होती है, इसलिए अपने को इस प्रकार का शुभभाव नहीं करना और दूसरा राग करना, इससे प्रवृत्ति से बच जायें। ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। क्या राग करने से परचीज की पर्याय की जा सकती है और अमुक राग करने से परचीज की पर्याय को रोका जा सकता है? जगत के परमाणु अस्तिरूप से रहकर कायरूप से हुआ करते हैं, उन्हें कायरूप होना या न होना, वह आत्मा के अस्तिकाय के अधिकार की बात नहीं। इसलिए धीर हो! प्रवृत्ति या निवृत्ति बाहर की जड़ की क्रिया के आधीन नहीं है। तू तुझमें घालमेल और अज्ञान की प्रवृत्ति कर रहा है। इसलिए पर का अभिमान छोड़। तू तुझसे है, पर पर से है। तेरे कारण से पर नहीं और पर के कारण से तू नहीं। इस प्रकार पर के साथ की एकत्वबुद्धि तोड़े तो संसार टूटे और पर के साथ एकत्वबुद्धि करे तो संसार चालू रहता है।

अब सिद्ध जीवों का स्वभाव बताते हैं तथा सिद्ध को अन्तिम देह से किंचित् न्यून शुद्ध प्रदेशस्वरूपी देह कहते हैं।

●●

मुनिराजों से जैनशासन की शोभा!

मुनिराज निरन्तर ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। वे कभी-कभी पिछली रात्रि में थोड़ी निद्रा लेते हैं, उन्हें विशेष प्रमाद नहीं होता। अहा, जिनका आत्मा चैतन्य की साधना में अत्यन्त जागृत है, उन्हें नींद लेना कैसे सुहाएगा? जागृत रहकर सिद्धपद को साधनेवाले मुनिराजों से जैनशासन की शोभा है। उनका समावेश 'णमो लोए सव्वसाहणं' में होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २८

गाथा - ३५

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा॥३५॥

येषां जीवस्वभावो नास्त्यभावश्च सर्वथा तस्य।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वागोचरमतीताः॥३५॥

सिद्धानां जीवत्वदेहमात्रत्वव्यवस्थेयम् ।

सिद्धानां हि द्रव्यप्राणधारणात्मको मुख्यत्वेन जीवस्वभावो नास्ति । न च जीवस्वभावस्य सर्वथाभावोऽस्ति भावप्राणधारणात्मकस्य जीवस्वभावस्य मुख्यत्वेन सद्भावात् । न च तेषां शरीरेण सह नीरक्षीरयोरिवैक्येन वृत्तिः, यतस्ते तत्सम्पर्कहेतुभूतकषाययोगविप्रयोगादतीतानन्तरशरीरमात्रावगाहपरिणतत्वेऽप्यत्यन्तभिन्नदेहाः । वाचां गोचरमतीतश्च तन्महिमा, यतस्ते लौकिकप्राणधारणमन्तरेण शरीरसम्बन्धमन्तरेण च परिप्राप्तनिरूपाधिस्वरूपाः सततं प्रतपन्तीति॥३५॥

जीवित नहीं जड़ प्राण से पर चेतना से जीव हैं।
जो वचनगोचर हैं नहीं वे देह विरहित सिद्ध हैं॥३५॥

अन्वयार्थ :- [येषां] जिनके [जीवस्वभावः] जीवस्वभाव (-प्राणधारणरूप जीवत्व) [न अस्ति] नहीं है और [सर्वथा] सर्वथा [तस्य अभावः च] उसका अभाव भी नहीं है, [ते] वे [भिन्नदेहाः] देहविरहित [वागोचरम् अतीताः] वचनगोचरातीत [सिद्धाः भवन्ति] सिद्ध (सिद्ध भगवन्त) हैं।

टीका :- यह सिद्धों के (सिद्ध भगवन्तों के) जीवत्व और देहप्रमाणत्व की व्यवस्था है।

सिद्धों को वास्तव में द्रव्यप्राण के धारणस्वरूप जीवस्वभाव मुख्यरूप से नहीं है; (उन्हें) जीवस्वभाव का सर्वथा अभाव भी नहीं है, क्योंकि भावप्राण के धारणस्वरूप जीवस्वभाव का मुख्यरूप से सद्भाव है। और उन्हें शरीर के साथ, नीरक्षीर की भाँति, एकरूप ^१वृत्ति नहीं है; क्योंकि शरीरसंयोग से हेतुभूत कषाय और योग का वियोग हुआ

१. वृत्ति=वर्तन; अस्तित्व।

है; इसलिए वे ^१अतीत अनन्तर शरीरप्रमाण अवगाहरूप परिणत होने पर भी अत्यन्त देहरहित हैं। और ^२वचनगोचरातीत उनकी महिमा है; क्योंकि लौकिक प्राण के धारण बिना और शरीर के सम्बन्ध बिना, सम्पूर्णरूप से प्राप्त किये हुए निरुपाधि स्वरूप द्वारा वे सतत प्रतपते हैं (-प्रतापवन्त वर्तते हैं)॥३५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ४, शुक्रवार

सिद्ध भगवान को परमानन्ददशा का अनुभव होता है। उन्हें पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वास और आयु—ऐसे दस प्राण होते नहीं। संसारदशा में जीवन में कारणरूप प्राण सिद्ध को होते नहीं। और सर्वथा प्रकार से प्राण का अभाव है, ऐसा भी नहीं। सत्ता, सुख, चैतन्य, और ज्ञानरूप प्राण उनको होते हैं। उसके कारण वे सदा जी रहे हैं। वे सिद्ध भगवन्त शरीररहित अमूर्तिक है, वचनातीत है। वचन द्वारा उनकी महिमा हो सके, ऐसा नहीं है। जैसे निगोद का जीव जीवास्तिकाय है, वैसे सिद्ध भी जीवास्तिकाय है। पर्याय में अन्तर है, परन्तु पर्याय में अन्तर होने से दूसरे प्रकार का जीवास्तिकाय हो जाता है, ऐसा नहीं है।

भावार्थ : सिद्धान्त में दो प्रकार के प्राण कहे हैं। एक निश्चय और दूसरे व्यवहार। उसमें से शुद्ध सत्ता, शुद्ध सुख, चैतन्य और ज्ञान—ऐसे चार निश्चयप्राण हैं। तथा अशुद्ध इन्द्रियादि, बल इत्यादि प्राण हैं, वे व्यवहारप्राण हैं। जिनके द्वारा जीव का अस्तित्व टिकता है, उसे प्राण कहते हैं। जीव में संसारी और सिद्ध ऐसे दो भेद हैं। जो पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु की योग्यता से जीता है, वह संसारी जीव है और सत्ता, सुख, चैतन्य और ज्ञान आदि शुद्ध प्राणों से जीते हैं, वे सिद्ध हैं। इस

१. अतीत अनन्तर=भूत काल का सबसे अन्तिम; चरम। (सिद्धभगवन्तों की अवगाहना चरमशरीरप्रमाण होने के कारण उस अन्तिम शरीर की अपेक्षा लेकर उन्हें 'देहप्रमाणपना' कहा जा सकता है तथापि, वास्तव में वे अत्यन्त देहरहित हैं।)

२. वचनगोचरातीत=वचनगोचरता को अतिक्रान्त; वचनविषयातीत; वचन-अगोचर।

कारण से सिद्धों को कथंचित् प्रकार से प्राण हैं और कथंचित् नहीं। निश्चयप्राण उनमें हैं और व्यवहारप्राण उनमें नहीं, उनमें बिलकुल अशुद्धता नहीं है। सिद्ध को क्षीर-नीर समान देह का सम्बन्ध नहीं है। उन्हें प्रदेशों की अवगाहना अन्तिम देह से किंचित् न्यून होती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, स्वच्छत्व इत्यादि अनन्त गुणों से वे विराजमान हैं और उनकी अपार महिमा है। आत्मा के अविनाशी पद में अनन्त काल तक वे रहते हैं। संसार की अपेक्षा सिद्ध का काल अनन्त-अनन्तगुणा है। उनके आनन्द और परिपूर्णता की क्या बात करना! अपने स्वरूप के असंख्यप्रदेश में खिले हुए प्रवाह में वे पोढ़ रहे हैं। यह जीवास्तिकाय का स्वरूप कहा।

आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध लोकाग्र में विराजते हैं, ऐसा यहाँ कहा नहीं। वह पदार्थ निमित्त है, परन्तु निमित्त के कारण से उपादान नहीं है। इस जगत में कितने ही जीव मात्र जीव को मानते हैं और दूसरे पाँच द्रव्यों को नहीं मानते, कोई काल को नहीं मानते, कोई छह द्रव्यों को मानते हैं परन्तु एक-दूसरे को पराधीन मानते हैं, यह भ्रमणा है। दूसरे द्रव्य से कार्य माने तो सब एक हो जाते हैं और दूसरे द्रव्य न माने तो सब एक हो जाता है। इसलिए छह द्रव्य जैसे हैं, वैसे स्वतन्त्र मानना चाहिए।

यहाँ स्वतन्त्रता का ज्ञान कराकर दूसरी चीज़ का ज्ञान कराते हैं। जीव विकार करने में या अविकारी सिद्ध होने में स्वतन्त्र है, ऐसा सिद्ध करते हैं।

अब, जैसा कारण-कार्य संसारी जीव को होते हैं, वैसा कार्यकारणभाव सिद्ध को नहीं है, ऐसा बतलाते हैं।



मुनिराज को कोई जिम्मेदारी नहीं

मुनि को कर्म-प्रक्रम नहीं होता। मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते, पाठशाला का ध्यान रखना पड़ेगा, रकम उगाहने हेतु तुम्हें जाना पड़ेगा, तीर्थ हेतु रकम उगाहना पड़ेगा — ऐसे किसी भी कार्य को मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी रखते ही नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासनं सर्व्वं, २७२, पृष्ठ १६

गाथा - ३६

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि॥३६॥

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात् कार्यं न तेन सः सिद्धः।
उत्पादयति न किञ्चिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥३६॥

सिद्धस्य कार्यकारणभावनिरासोऽयम् ।

यथा संसारी जीवो भावकर्मरूपयात्मपरिणामसन्तत्या द्रव्यकर्मरूपया च पुद्गलपरिणाम-
सन्तत्या कारणभूतया तेन तेन देवमनुष्यतिर्यग्नारकरूपेण कार्यभूत उत्पद्यते, न तथा सिद्ध-
रूपेणापीति । सिद्धो ह्युभयकर्मक्षये स्वयमुत्पद्यमानो नान्यतः कुतश्चिदुत्पद्यत इति । यथैव च स
एव संसारी भावकर्मरूपामात्मपरिणामसन्ततिं द्रव्यकर्मरूपां च पुद्गलपरिणामसन्ततिं कार्यभूतां
कारणभूतत्वेन निर्वर्तयन् तानि तानि देवमनुष्यतिर्यग्नारकरूपाणि कार्याण्युत्पादयत्यात्मनो, न
तथा सिद्धरूपमपीति । सिद्धो ह्युभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादय-न्नान्यत्किञ्चिदुत्पादयति ॥३६॥

अन्य से उत्पाद नहिं इसलिए सिद्ध न कार्य हैं।
होते नहीं हैं कार्य उनसे अतः कारण भी नहीं ॥३६॥

अन्वयार्थ :- [यस्मात् सः सिद्धः] वे सिद्ध [कुतश्चित् अपि] किसी (अन्य)
कारण से [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं होते [तेन] इसलिए [कार्यं न] कार्य नहीं हैं, और
[किञ्चित् अपि] कुछ भी (अन्य कार्य को) [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करते [तेन]
इसलिए [सः] वे [कारणम् अपि] कारण भी [न भवति] नहीं हैं।

टीका :- यह सिद्ध को कार्यकारणभाव होने का निरास है (अर्थात् सिद्धभगवान्
को कार्यपना और कारणपना होने का निराकरण-खण्डन है)।

जिस प्रकार संसारी जीव कारणभूत ऐसी भावकर्मरूप *आत्मपरिणामसन्तति और
द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणामसन्तति द्वारा उन-उन देव-मनुष्य-तिर्यच-नारक के रूप में
कार्यभूतरूप से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सिद्धरूप से भी उत्पन्न होता है-ऐसा नहीं

* आत्मपरिणामसन्तति=आत्मा के परिणामों की परम्परा।

है; (और) सिद्ध (-सिद्धभगवान) वास्तव में, दोनों कर्मों का क्षय होने पर, स्वयं (सिद्धरूप से) उत्पन्न होते हुए अन्य किसी कारण से (-भावकर्म से या द्रव्यकर्म से) उत्पन्न नहीं होते।

पुनश्च, जिस प्रकार वही संसारी (जीव) कारणभूत होकर कार्यभूत ऐसी भावकर्मरूप आत्मपरिणामसन्तति और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणामसन्तति रचता हुआ कार्यभूत ऐसे वे-वे देव-मनुष्य-तिर्यच-नारक के रूप अपने में उत्पन्न करता है, उसी प्रकार सिद्ध का रूप भी (अपने में) उत्पन्न करता है-ऐसा नहीं है; (और) सिद्ध वास्तव में, दोनों कर्मों का क्षय होने पर, स्वयं अपने को (सिद्धरूप से) उत्पन्न करते हुए अन्य कुछ भी (भावद्रव्यकर्मस्वरूप अथवा देवादिस्वरूप कार्य) उत्पन्न नहीं करते॥३६॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ४, शुक्रवार

किसी परवस्तु से सिद्ध जीव उपजते नहीं, कर्म के टलने से सिद्धदशा होती नहीं, परन्तु अपने पुरुषार्थ से सिद्धदशा होती है। कर्म का या नोकर्म का कार्य सिद्ध नहीं है। तथा सिद्ध को कर्म या नोकर्म निमित्तरूप से भी नहीं है। यदि कर्म के अभाव के कारण सिद्ध हुए, ऐसा माना जाये तो सिद्ध सादि-अनन्त काल तक टिकते हैं, वहाँ अनन्त काल तक उसका कारण कौन? यह लकड़ी बसूला से हुई है, ऐसा माना जाये तो लकड़ी दस वर्ष तक टिकती है, उसका कारण कौन? वर्तमान में भी उसे बसूला निमित्त नहीं है। लकड़ी को बसूला का निमित्त तो एक समय है। पाँच-दस वर्ष तक बसूला बिना वह टिकी रहती है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है तो पहले समय में भी बसूला बिना ही लकड़ी बनी है। उसी प्रकार सिद्धदशा सादि-अनन्त काल तक अपने कारण से, कर्म के अभावरूपी कारण बिना टिक रही है तो पहले समय में भी सिद्धदशा कर्म के अभावरूपी कारण बिना हुई है, इसलिए सिद्ध को कोई कारण नहीं, ऐसा साबित होता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ५, शनिवार

देखो, यहाँ सिद्धस्वरूप का वर्णन चलता है। संसारभाव भी स्वयं से उत्पन्न होता है और सिद्धपना भी स्वयं से उत्पन्न होता है। कोई शरीर, कर्म, क्षेत्र, काल की अपेक्षा से सिद्धपना उत्पन्न हो, ऐसा नहीं। वह बाह्य कारण का कार्य नहीं है, परन्तु द्रव्यस्वभाव त्रिकाल चिदानन्द कारणपरमात्मा है, उसका कार्य सिद्धपद है।

संसारी जीव अपनी भूल से अज्ञान, राग, द्वेष करता है और उसका कार्य चार गति है। परन्तु सिद्ध भगवान को किसी प्रकार का संसारसम्बन्धी कारण-कार्य घटित नहीं हो सकता। कोई कहे कि सिद्धपरमात्मा महान हुए परन्तु यदि वे जगत के किसी कार्य के कारण न हो तो वे किस काम के ? तो ऐसा माननेवाला सिद्धदशा को समझता नहीं। वे रागादि, कर्म और शरीर को किसी काल में भी उपजाते नहीं।

संसारी जीव राग-द्वेष, पुण्य-पाप को उपजाकर चार गति में परिभ्रमण करता है, नये कर्म का कारण भी होता है और उसका कार्य संसारपरिभ्रमण है। वह योग्यतारूप उस-उस जीव का अपना स्वभाव है, सिद्ध का ऐसा स्वभाव नहीं।

संसारी जीव अनादि काल से पुद्गलकर्म के सम्बन्धरूप कारण को पाकर मिथ्यात्व, रागादिरूप से परिणमता है, वह अपने पुरुषार्थ से है। कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध संसारदशा में है, परन्तु सिद्धदशा में नहीं।

संसार में प्रथम निमित्त कर्म और पश्चात् नैमित्तिक रागादि ऐसा कारण-कार्य नहीं है। आगे-पीछे काल नहीं है, स्वतन्त्र एक समय का स्वयंसिद्ध मेल है। पर्याय में भी स्वयं प्रसिद्ध स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र कर्ता है, उस समय कैसा निमित्त होता है, वह ज्ञान करने के लिये है। जीव विकारी परिणाम करता है, उस कार्य के समय जड़कर्म की परिणति निमित्तकारण है। जिसे स्वतन्त्र परिणमन की खबर नहीं, उस अज्ञानी जीव को ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध अनादि से चला आता है। इससे जड़कर्म, संसारभ्रमण करनेवाले को भावकर्म (रागादि) का कारण है और जीव की अपनी अशुद्धपरिणति, वह कार्य है। जीव की विभावपरिणति है, वह नये कर्म का कारण है और ज्ञानावरणादि आठ कर्म तथा चार गति के शरीर का संयोग, वह कार्य है। ऐसा सिद्ध भगवान को नहीं है।

अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादि का उत्पादक है। समय-समय की अशुद्धता नये कर्म का निमित्त होती है और बँधे हुए पुराने कर्म अज्ञानी जीव को नये रागादि का कारण होते हैं। ऐसी एक समयमात्र की स्थितिवाला स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। ऐसी बात वीतरागदर्शन बिना अन्यमत में नहीं है।

आत्मा त्रिकाल चिदानन्द शुद्ध है। द्रव्य-गुण-पर्याय में भी शक्तिरूप से त्रिकाल पूर्ण शुद्ध है, परन्तु संसारदशा में वर्तमान उत्पादरूप पर्याय में विकार का स्वतन्त्र कर्तापना है। जीव नया-नया विकार करता है तो पुराने कर्म के उदय को निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त की दृष्टि छोड़कर त्रिकाली शुद्ध द्रव्यदृष्टि करके अन्तर्मुख हो तो संसारदृष्टि न हो और चारित्र में जितने अंश में स्वसन्मुख वीतराग हो, उतना मोक्ष के निकट होता है।

संसार में और मोक्ष में जीव स्वतन्त्र है, तो भी संसारी प्राणी को विकारी दशा है, इसलिए व्यवहार कारण-कार्य सम्बन्ध बतलाते हैं। निश्चय से तो जीव अपनी योग्यता से विकारी अवस्थारूप से परिणमता है, तब सामने की चीज़ को निमित्त कहा जाता है। निमित्त तो नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है।

संसारी जीव को विकारी परिणाम की उत्पत्ति भी निश्चय से जीव का पर्यायधर्म है। उसकी उत्पत्ति कर्म द्वारा नहीं होती परन्तु जीव रागादि करता है तो कर्म को निमित्तकारण कहा जाता है।

समयसार में रागादि को अभूतार्थ कहा गया है और द्रव्यदृष्टि का विषय चिदानन्द अखण्ड ध्रुव है, उसे भूतार्थ कहा गया है। मोक्षमार्ग, मोक्षपर्याय, वह भी एक समय की पर्याय है। वह द्रव्यदृष्टि का विषय नहीं, इसलिए भेद को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा गया है और त्रिकाल अभेद स्वभाव को मुख्य करके उसे भूतार्थ कहा गया है।

तब यहाँ जीव की एक समय की विकारी पर्याय को भी भूतार्थ कहा गया है, क्योंकि यहाँ प्रमाणज्ञान का विषय बतलाना है। जीव वर्तमान विभावरूप स्वयं परिणमता है, वह विद्यमान भाव है और विकारीपर्याय में सामने निमित्त है, वह भी विद्यमान—सत्यार्थ है।

जिसे निश्चय शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई और स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान हुआ, वह कहता है कि पर्याय में विकार और उसमें कर्म निमित्त है। ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इतना निर्णय किये बिना विकार अभूतार्थ है, ऐसा नहीं जान सकता। अर्थात् कि क्षणिक विकार है, वह त्रिकाल स्वभाव में नहीं, अर्थात् अभूतार्थ है, ऐसा निश्चित नहीं कर सकता।

निमित्त और विकार पर्याय अपेक्षा से विद्यमान है। है उसे उड़ावे तो दृष्टि सच्ची होती नहीं, व्यवहारकारण-कार्य का यथार्थ ज्ञान किये बिना पर्याय स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होती और पर्याय में विकार-अविकार की स्वतन्त्रता स्वीकार किये बिना क्षणिक विकार का निषेध करके त्रिकाल अविकार की दृष्टि नहीं हो सकती।

कर्म से विकार होता है, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है परन्तु मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग का कम्पन स्वयंसिद्ध अपने से—जीव से होता है, वह निश्चय से जीव में होता है, ऐसा जाने तो व्यवहार से कर्म कारण कहलाते हैं।

शरीर की रचना निश्चय से शरीर के रजकणों के कारण से होती है और रागी जीव का राग व्यवहार से कारण है। यह बात पर्याय में व्यवहार से सत्यार्थ है, परन्तु इससे कोई परस्पर पराधीनता माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

निमित्त के बिना विकार हो तो वह स्वभाव हो जायेगा, परन्तु जीव में विकारभाव की योग्यता है, इससे विकार होता है और उस समय सामने कर्म निमित्तरूप से होता है।

जिसे परमानन्द भूतार्थस्वभाव का पूर्ण आश्रय है, ऐसे सिद्धभगवान् अपने परिपूर्ण परमानन्द को उपजाते हैं। किसी काल में वे संसारभाव को उपजाते नहीं, सदा अपने शुद्धस्वरूप को ही उपजाते हैं। दूसरा कुछ उपजाते नहीं।

अब कोई बौद्धमती जीव का सर्वथा अभाव होना, उसे ही मोक्ष मानता है, उसका निषेध करते हैं। जैन नाम धरानेवाले भी अनित्य बौद्धमान्यता धरते हैं कि फलाने मरकर अनन्त में मिल गये, परन्तु ऐसा है नहीं। यहाँ संसार में दुःख भोगने में स्वतन्त्र है और उत्कृष्ट पुरुषार्थ करके मोक्षदशा प्रगट की, वहाँ अनन्त में मिल जाये और अपनी भिन्न सत्ता का नाश हो—ऐसा नहीं होता।

गाथा - ३७

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।

विण्णानमविण्णानं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे॥३७॥

शाश्वतमथोच्छेदो भव्यमभव्यं च शून्यमितरच्च।

विज्ञानमविज्ञानं नापि युज्यते असति सद्भावे॥३७॥

अत्र जीवाभावो मुक्तिरिति निरस्तम् ।

द्रव्यं द्रव्यतया शाश्वतमिति, नित्ये द्रव्ये पर्यायाणां प्रतिसमयमुच्छेद इति, द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपयायैः भाव्यमिति, द्रव्यस्य सर्वदा भूतपयायैरभाव्यमिति, द्रव्यमन्यद्रव्यैः सदा शून्यमिति, द्रव्यं स्वद्रव्येण सदाऽशून्यमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनन्तं ज्ञानं क्वचित्सान्तं ज्ञानमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनन्तं क्वचित्सान्तमज्ञानमिति-एतदन्यथानुपपद्यमानं मुक्तौ जीवस्य सद्भावमावेदयतीति ॥३७॥

सद्भाव हो न मुक्ति में तो ध्रुव-अध्रुवता ना घटे ।

विज्ञान का सद्भाव अर अज्ञान असत कैसे बनें? ॥३७॥

अन्वयार्थ :- [सद्भावे असति] यदि (मोक्ष में जीव का) सद्भाव न हो तो [शाश्वतम्] शाश्वत, [अथ उच्छेदः] नाशवन्त, [भव्यम्] भव्य (-होनेयोग्य), [अभव्यम् च] अभव्य (-न होनेयोग्य), [शून्यम्] शून्य, [इतरत् च] अशून्य, [विज्ञानम्] विज्ञान और [अविज्ञानम्] अविज्ञान [न अपि युज्यते] (जीवद्रव्य में) घटित नहीं हो सकते। (इसलिए मोक्ष में जीव का सद्भाव है ही।)

टीका :- यहाँ, 'जीव का अभाव सो मुक्ति है' इस बात का खण्डन किया है।

(१) द्रव्य द्रव्यरूप से शाश्वत है, (२) नित्य द्रव्य में पर्यायों का प्रति समय नाश होता है, (३) द्रव्य सर्वदा अभूत पर्यायरूप से भव्य (-होनेयोग्य, परिणमित होनेयोग्य) है, (४) द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायरूप से भाव्य (-न होनेयोग्य) है, (५) द्रव्य अन्य द्रव्यों से सदा शून्य है, (६) द्रव्य स्वद्रव्य से सदा अशून्य है, (७) 'किसी जीवद्रव्य में अनन्त

१. जिसे सम्यक्त्व से च्युत नहीं होना है, ऐसे सम्यक्त्वी जीव को अनन्त ज्ञान है और जिसे सम्यक्त्व से च्युत होना है, ऐसे सम्यक्त्वी जीव के सान्त ज्ञान है।

ज्ञान और किसी में सान्त ज्ञान है, (८) ^१किसी जीवद्रव्य में अनन्त अज्ञान और किसी में सान्त अज्ञान है—यह सब, ^२अन्यथा घटित न होता हुआ, मोक्ष में जीव के सद्भाव को प्रगट करता है॥३७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ५, शनिवार

(१) अविनाशी स्वभाव : संसार में आत्मा की पर्याय अशुद्धतारूप से पलटती है और मोक्ष होने पर शुद्धरूप से पलटती है, परन्तु द्रव्य का नाश नहीं होता। जैसे सुवर्ण शुद्ध हो, वैसे जीव द्रव्यरूप से टिककर अशुद्धअवस्था से मुक्त होता है और परमानन्दयुक्त होता है।

अन्यमती कहते हैं कि जैसे दीपक में से धुएँ का नाश करना हो तो दीपक को बुझा देना पड़ता है, उसी प्रकार जीव में से राग-द्वेषरूपी धुएँ का नाश करना हो तो ज्ञान का नाश कर डालो तो जाननेरूप उपाधि का नाश हो जायेगा, उसका नाम वे मोक्ष मानते हैं; तो ऐसा नहीं है।

१. अभव्य जीव को अनन्त अज्ञान है और जिसे किसी काल भी ज्ञान होता है, ऐसे अज्ञानी भव्य जीव को सान्त अज्ञान है।
२. अन्यथा=अन्य प्रकार से; दूसरी रीति से। (मोक्ष में जीव का अस्तित्व ही न रहता हो तो उपरोक्त आठ भाव घटित हो ही नहीं सकते। यदि मोक्ष में जीव का अभाव ही हो जाता हो तो, (१) प्रत्येक द्रव्य द्रव्यरूप से शाश्वत है—यह बात कैसे घटित होगी? (२) प्रत्येक द्रव्य नित्य रहकर उसमें पर्याय का नाश होता रहता है—यह बात कैसे घटित होगी? (३-६) प्रत्येक द्रव्य सर्वदा अनागत पर्याय से भाव्य, सर्वदा अतीत पर्याय से अभाव्य, सर्वदा पर से शून्य और सर्वदा स्व से अशून्य है—यह बातें कैसे घटित होंगी? (७) किसी जीवद्रव्य में अनन्त ज्ञान है—यह बात कैसे घटित होगी? और (८) किसी जीवद्रव्य में सान्त अज्ञान है (अर्थात् जीवद्रव्य नित्य रहकर उसमें अज्ञानपरिणाम का अन्त आता है)—यह बात कैसे घटित होगी? इसलिए इन आठ भावों द्वारा मोक्ष में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।)

जैन कहते हैं कि पर्याय में से अशुद्धता का नाश हुआ, इसलिए त्रिकाल जीवसत्ता जो अनन्तगुण का पिण्ड है, उसका नाश नहीं होता। मोक्ष में अविनाशी सुखरूप शाश्वत् सत्तारूप से जीव रहता है। सिद्ध होने पर चैतन्यसत्ता का विकास हुआ है, अभाव हुआ नहीं। जीव का नाश होता नहीं, पर्याय का नाश अर्थात् बदलना होता है, वह जीवसत्ता बिना नहीं हो सकता।

(२) **विनाशी व्ययभाव** : यदि मोक्ष में जीवद्रव्य का ही अभाव हो तो संसार में समय-समय में पर्याय का नाश होता है, तथापि जीव का नाश नहीं होता और सिद्ध भगवान में सर्वथा नाश कैसे बने ? होता ही नहीं। मात्र समय-समय में पर्याय बदलती है। द्रव्य तो त्रिकाल रहता है। यदि मोक्ष में जीव नित्य न हो तो अनित्य पर्यायधर्म किसका ? मुक्तदशा में केवलज्ञान भी अनित्य अर्थात् एक समय का है। अर्थात् कि समय-समय में उसका पलटना होता है, ऐसा ही स्वभाव है। शाश्वत् और अशाश्वत् दोनों होकर पूरी वस्तु है। इस प्रकार सिद्ध में भी द्रव्य—अपेक्षा से अविनाशीपना और पर्याय—अपेक्षा से विनाशीपना है। यह बोल हुए।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ६, रविवार

सिद्ध परमात्मा शरीररहित हुए, वे जीवद्रव्यरूप रहकर हुए हैं। जीव का नाश होता नहीं। असंख्यप्रदेशी आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड और समय-समय की अवस्था का होना, ऐसा जीवास्तिकाय है। ऐसा भान होकर सिद्धदशा होती है। सिद्ध में आत्मा है। आत्मा न हो तो अविनाशीपना नहीं बनता और द्रव्य की नास्ति हो तो समय-समय का विनाशीपना भी सम्भव नहीं होता। इसलिए सिद्ध में द्रव्य—अपेक्षा से अविनाशीपना और समय-समय की अवस्था की अपेक्षा से विनाशीपना है। ऐसे दो बोल हो गये हैं। अब सिद्ध में भव्यभाव कहते हैं।

(३) **भव्यभाव** : आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, ऐसा भान करके अन्तर में सम्पूर्णरूप से स्थिर हो जाने से शुद्धभाव प्रगट हुए, उन भावों का समय-समय में नया-नया परिणमन होता है। भव्य जीवों को भव्यभाव होता है, यह बात यहाँ नहीं है।

परमानन्ददशा का नयी-नयी अवस्थारूप से होना, वह भव्यभाव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यरूप नयी-नयी अवस्था होती है, वह भव्यभाव है। यदि सिद्धदशा में आत्मा न हो तो भव्यभाव नहीं हो सकता और भव्यभाव न हो तो सिद्ध आत्मा नहीं हो सकते। इसलिए भव्यभाववाला सिद्ध आत्मा उपादेय है—ऐसी तू श्रद्धा कर।

(४) **अभव्यभाव** : अभव्य जीव मोक्ष के योग्य नहीं, उस अभव्यपने की यहाँ बात नहीं है। आत्मा का शुद्ध भान करके, परमानन्ददशा प्रगट करके, विकार का और मलिनता का न होना, उसे अभव्यभाव कहते हैं। सिद्ध कभी भी अशुद्ध नहीं होते। उसका कारण क्या? कर्म का अभाव हुआ इसलिए? नहीं। अशुद्धरूप से न होना, वह भी उनका अभव्यभावरूपी धर्म है। कर्म जड़ हैं, कर्म से संसार नहीं और कर्म के अभाव से मोक्ष नहीं। कर्म के अभाव से मोक्ष होता है और वे जीव संसार में आते नहीं, यह निमित्त का कथन है। वास्तव में अशुद्धतारूप से न होना, यह सिद्ध का अपना उपादानभाव है। जो जीव सिद्ध हुए, उनमें आत्मा कायम न रहता हो तो भव्य-अभव्यभाव किसमें रहेंगे? मुक्ति किसकी? इसलिए निश्चित होता है कि वहाँ आत्मा कायम रहता है और ये दोनों भाव सिद्ध को होते हैं।

(५) **शून्यभाव** : सिद्ध में परद्रव्य से खालीपना है। संसारी जीव भी पर से खाली है। शरीर, कर्म इत्यादि परपदार्थ का सिद्ध में अभाव है। सिद्ध भगवान तो अपनी परमानन्ददशा में विराजते हैं। उनको परपदार्थ का आनन्द नहीं तथा परपदार्थ जगत में हैं, इसलिए आनन्द है, ऐसा भी नहीं।

यहाँ जीवास्तिकाय का वर्णन है। जीव अस्ति है और असंख्यप्रदेशी काय भी है। आत्मा में कर्म की शून्यता है। अब जिस पदार्थ का जिसमें अभाव हो, वह पदार्थ आत्मा को क्या करे? अज्ञानी जीव दृष्टान्त देते हैं कि घोड़े के ऊपर बैठे हुए मनुष्य को घोड़ा जहाँ ले जाये, वहाँ जाना पड़ता है; उसी प्रकार कर्म जीव को प्रेरक होकर जहाँ ले जाये, वहाँ जीव को जाना पड़ता है और राग-द्वेष करने ही पड़ते हैं—ऐसी अज्ञानी दलील करता है। परन्तु यह दलील खोटी है। घोड़े के कारण मनुष्य चलता हो तो घोड़े के एक क्षेत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी रहे हुए हैं, वे भी घोड़े के साथ क्षेत्रान्तर पाना चाहिए। परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता। मनुष्य में घोड़े की शून्यता है और घोड़े में

मनुष्य की शून्यता है। घोड़ा अपनी योग्यता से चलता है और मनुष्य अपनी योग्यता से चलता है। इसी प्रकार कर्म में आत्मा की शून्यता है और आत्मा में कर्म की शून्यता है। कर्म, कर्म के कारण से उसके अस्तिकाय में हैं और जीव अपने अस्तिकाय में है। कर्म के कारण से जीव राग-द्वेष करता नहीं परन्तु अपने कारण से वह करता है। और कितने ही जीव कहते हैं कि बेचारे सिद्ध को काल के कारण जबरदस्ती से परिणमना पड़ता है, यह भी अज्ञानभाव है क्योंकि सिद्ध में काल की शून्यता है। और एक सिद्ध दूसरे सिद्ध में जाकर मिल नहीं जाते। एक सिद्ध में दूसरे सिद्ध की शून्यता है। ऐसा स्वतन्त्र निर्णय करना चाहिए।

(६) **अशून्यभाव** : अपने स्वभाव से सिद्धभगवान् परिपूर्ण हैं। अज्ञानी जीव कहते हैं कि कोई जीव मरण पाते हुए अनन्त में मिल गये। यह बात खोटी है। अपने ज्ञान-दर्शन आदि व्यक्त करके जो परमानन्ददशा प्रगट की, उससे वे भरचक हैं। यदि सिद्धदशा में आत्मा न रहता हो तो शून्यभाव और अशून्यभाव किसका कहना? वे भाव रहते हैं और आत्मा भी वहाँ कायम है। संसारदशा अनादि-सान्त है और सिद्धदशा सादि-अनन्त है, परन्तु जीव की अस्ति तो त्रिकाल है। इस प्रकार जीवास्तिकाय का स्वरूप जानकर अल्पज्ञता को तथा स्वरूप को जानकर उसे हेयरूप समझकर उपादेय तो शुद्ध आत्मा समझना।

(७) **विज्ञान** : यथार्थ पदार्थ का जानना, वह विज्ञान है। सिद्ध भगवन्तों में केवलज्ञान है। कितने ही लोग कहते हैं कि मस (कालिमा) का नाश करना हो तो दीपक का नाश करना चाहिए, उसी प्रकार राग-द्वेषरूपी विकार का नाश करना हो तो आत्मज्ञानस्वभावरूपी दीपक का नाश करना चाहिए। परन्तु यह दलील खोटी है। शरीर, कर्म इत्यादि परपदार्थ का आत्मा में अभाव है, और विकार क्षणिक है और आत्मा त्रिकाली शुद्धस्वभावी है। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिरता करे तो केवलज्ञान का विकास हो और राग का तथा अल्पज्ञता का नाश होता है। सिद्ध अस्तिकाय हैं, ज्ञान से भरपूर हैं, एक समय की ज्ञानपर्याय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जानते हैं।

(८) **अविज्ञान** : इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा अधूरे ज्ञान का सिद्ध में अभाव है। इसलिए अविज्ञान कहा है। सिद्धदशा

में जीव न हो तो विज्ञान और अविज्ञान है, ऐसा किस प्रकार से कहा जाये ? इसलिए सिद्ध में जीव कायम रहता है ।

(१) सिद्ध जीवों में ज्ञान अनन्त है, अपने आत्मा का ज्ञान करके, निर्विकारी ध्यान करके जो ज्ञान सिद्धदशा में प्रगट हुआ, वह अनन्त काल तक रहनेवाला है । यहाँ काल अपेक्षा से अनन्त समझना । यह सिद्ध के जीवास्तिकाय का स्वभाव है । जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, आत्मा का ज्ञान करके अनन्त चक्षु खिल गये और ज्ञान का विकास सम्पूर्ण हुआ, वह अनन्त काल तक टिके, ऐसा सिद्ध के जीवास्तिकाय का स्वभाव है, वह आदरणीय है ।

(२) साधक जीवों का ज्ञान सान्त है । जीव ने आत्मा का भान किया कि विकार मेरा स्वरूप नहीं, मैं चिदानन्दस्वभावी हूँ—ऐसा भान होने पर क्षायोपशमिकज्ञान सम्यक् रूप से परिणमा, वह सम्यग्ज्ञान की शुरुआत हुई । केवलज्ञान होने पर क्षायोपशमिकज्ञान का अभाव हो जाता है, इसलिए उसे सान्त कहा गया है । एक समय की पर्याय की बात नहीं लेना । प्रवाहरूप से अधिक में अधिक टिके तो उत्कृष्ट ६६ सागर तक ऐसा का ऐसा रहे, फिर केवलज्ञान होने पर अन्त आता है, ऐसा उस जीवास्तिकाय का स्वभाव है । श्रेणिक राजा वर्तमान में नरक में हैं, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान है । वहाँ से निकलकर आगामी भव में तीर्थकर होंगे । उस ज्ञान का अन्त आयेगा और केवलज्ञान प्रगट करेंगे, वह सादि-अनन्तकाल तक रहेगा । यह सब जीवास्तिकाय का स्वभाव है । ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान है, ऐसा नहीं है । वह तेरा पर्यायस्वभाव है । ज्ञानगुण तो अनादि-अनन्त है । मैं किसी का कर्ता-हर्ता नहीं, पुण्य का कर्ता नहीं तथा ज्ञान पर के कारण से होता नहीं, ऐसा भान करके जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सम्यग्ज्ञान की शुरुआत होकर उसका अन्त अवश्य आयेगा और तू केवलज्ञान को प्रगट करेगा; इसलिए जीवास्तिकाय के स्वभाव का तू यथार्थ ज्ञान कर ।

(३) अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव घोरडू मूँग जैसे होते हैं । उनमें से कोई जीव क्रियाकाण्ड करे, शरीर के खण्ड-खण्ड टुकड़े होने पर भी क्रोध करते नहीं, दया पाले, मुनिपना ले, परन्तु आत्मा क्या है, उसका भान न करे, ऐसे अभव्य मिथ्यादृष्टि का अज्ञान अनादि-अनन्त काल तक रहनेवाला है । ऐसे भी जीव हैं । वह उनके जीवास्तिकाय की योग्यता है ।

(४) भव्य मिथ्यादृष्टि जीव का अज्ञान अनादि-सान्त है। अज्ञान अनादि से है। परन्तु वे योग्य जीव आत्मा का भान करके अज्ञान का नाश करेंगे, इसलिए अनादि-सान्त कहा है। पर के कारण से या कर्म के कारण से नहीं परन्तु जीवास्तिकाय के ज्ञानगुण की पर्याय का वह स्वभाव है।

शुद्ध जीवद्रव्य में केवलज्ञान की अपेक्षा से अनन्त ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि जीव में क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा से सान्त ज्ञान है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा से अनन्त अज्ञान है, भव्य मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा से सान्त अज्ञान है।

सिद्ध के जीवों में तीन काल के समस्त पदार्थों को जाननेरूप ज्ञान है, इसलिए वहाँ ज्ञानभाव कहा जाता है। और इन्द्रियाँ तथा मन के अवलम्बन से प्रगट होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान का सिद्ध में अभाव है। विनाशी ज्ञान की अपेक्षा से अज्ञानभाव जानना। वह दो प्रकार अर्थात् कि ज्ञान और अज्ञानभाव, सिद्धदशा में जीव कायम न हो तो किस प्रकार बने?

भावार्थ : जो अज्ञानी जीव मोक्ष अवस्था में जीव का नाश मानते हैं, उन्हें समझाने के लिये आठ भाव कहे हैं। इन आठ भावों से मोक्ष में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि आठ भाव न हो तो जीवद्रव्य का अभाव हो जाये और जीवद्रव्य का अभाव होने पर संसार और मोक्ष दोनों अवस्थाओं का अभाव मानने का प्रसंग आवे, इसलिए आठों भावों का ज्ञान करना चाहिए।

(१) अविनाशी स्वभाव, (२) विनाशी व्ययभाव, (३) शुद्धरूप से परिणमिता भव्यभाव, (४) अशुद्धता के अभावरूप अभव्यभाव, (५) पर से खालीरूप शून्यभाव, (६) अपने ज्ञान-दर्शनादि से परिपूर्ण ऐसा अशून्यभाव, (७) सर्व पदार्थों को परिपूर्ण जाननेरूप ऐसा ज्ञानभाव और (८) अधूरे ज्ञानरूप से नहीं होनेरूप अज्ञानभाव। इन आठ भावों से जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है और सिद्ध में जीव का अस्तित्व मानने से इन आठों का अस्तित्व रहता है।

इस प्रकार सिद्ध जीवों का स्वभाव है, वह उनके अस्तिकाय का स्वरूप है—ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

जीव असंख्यप्रदेशी होने पर भी, पर्याय में अन्तर पड़ता है, वह भी अपने अस्तिकाय का स्वरूप है, वह कोई पर के कारण से नहीं है, यह बताते हैं।

गाथा - ३८

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥३८॥

कर्मणां फलमेकः एकः कार्यं तु ज्ञानमथैकः।
चेतयति जीवराशिश्चेतकभावेन त्रिविधेन॥३८॥

चेतयितृत्वगुणव्याख्येयम् ।

एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन प्रकृष्टतरज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यान्तरायवसादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयन्ते। अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यान्तरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपकर्मफलानु-भवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयन्ते । अन्यतरे तु प्रक्षालितसकलमोहकलङ्केन समुच्छिन्नकृत्स्नज्ञानावरणतयात्यन्तमुन्मुद्रितसमस्तानुभावेन चेतकस्वभावेन समस्तवीर्यान्तराय-क्षयासादितानन्तवीर्या अपि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यवाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्त-स्वाभाविक सुखं ज्ञानमेव चेतयन्त इति ॥३८॥

कोई वेदे कर्म फल को, कोई वेदे करम को।
कोई वेदे ज्ञान को निज त्रिविध चेतकभाव से॥३८॥

अन्वयार्थः- [त्रिविधेन चेतकभावेन] त्रिविध चेतकभाव द्वारा [एकः जीवराशिः] एक जीवराशि [कर्मणां फलम्] कर्मों के फल को, [एकः तु] एक जीवराशि [कार्यं] कार्य को [अथ] और [एकः] एक जीवराशि [ज्ञानम्] ज्ञान को [चेतयति] चेतती (-वेदती) है।

टीका :- यह, ^१ चेतयितृत्वगुण की व्याख्या है।

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुँद गया है, ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा सुख-

१. चेतयितृत्व=चेतयितापना; चेतनेवालापना; चेतकपना।

दुःखरूप 'कर्मफल' को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यान्तराय से कार्य करने का (-कर्मचेतनारूप परिणमित होने का) सामर्थ्य नष्ट हो गया है।

दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव ^२ प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुँद गया है, ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा-भले ही सुख-दुःखरूप कर्मफल के अनुभव से मिश्रितरूप से-'कार्य' को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने अल्प वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से ^३ कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

और दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा, जिसमें से सकल मोहकलंक धुल गया है तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण जिसका समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित हो गया है, ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा 'ज्ञान' को ही-कि जो ज्ञान अपने से ^४ अव्यतिरिक्त स्वाभाविक सुखवाला है उसी को-चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य को प्राप्त किया है, इसलिए उनको (विकारी सुख-दुःखरूप) कर्मफल निर्जरित हो गया है और अत्यन्त 'कृतकृत्यपना हुआ है (अर्थात् कुछ भी करना लेशमात्र भी नहीं रहा है)॥३८॥

-
२. कर्मचेतनावाले जीव को ज्ञानावरण 'प्रकृष्ट' होता है और कर्मफलचेतनावाले को 'अति प्रकृष्ट' होता है।
 ३. कार्य=(जीव द्वारा) किया जाता हो वह; इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्म। (जिन जीवों को वीर्य का किंचित् विकास हुआ है, उनको कर्मचेतनारूप से परिणमित सामर्थ्य प्रगट हुआ है, इसलिए वे मुख्यतः कर्मचेतनारूप से परिणमित होते हैं। वह कर्मचेतना कर्मफलचेतना से मिश्रित होती हैं।)
 ४. अव्यतिरिक्त=अभिन्न। (स्वाभाविक सुख ज्ञान से अभिन्न है, इसलिए ज्ञानचेतना स्वाभाविक सुख के संचेतन-अनुभवन-सहित ही होती है।)
 ५. कृतकृत्य=कृतकार्य। (परिपूर्ण ज्ञानवाले आत्मा अत्यन्त कृतकार्य हैं इसलिए, यद्यपि उन्हें अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है तथापि, उनका वीर्य कार्यचेतना को (कर्मचेतना को) नहीं रचता, (और विकारी सुख-दुःख विनष्ट हो गये हैं, इसलिए उनका वीर्य कर्मफल चेतना को भी नहीं रचता); ज्ञानचेतना को ही रचता है।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ६, रविवार

(१) एक जीवराशि कर्मों के निमित्त को सुख-दुःखरूप से वेदती है। वे जीव अनन्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि जीव, आलू, शकरकन्द आदि कन्दमूल के जीव हर्ष-शोक को वेदते हैं। आलू के एक छोटे टुकड़े में असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में अनन्त आत्मायें हैं। स्थावर जीव सुख-दुःख को वेदते हैं। अपना ज्ञानस्वभाव छोड़कर हर्ष-शोक को वेदते हैं। वहाँ राग-द्वेष के कर्तापनेरूप कर्मचेतना की मुख्यता नहीं परन्तु गौणता है, इसलिए हर्ष-शोक को मुख्यरूप से वेदते हैं, ऐसा कहा है। जो नित्यनिगोद का जीव अभी तक व्यवहारराशि में आया नहीं परन्तु अनादिकाल से वहाँ है, वह कोई कर्म के कारण से वहाँ है—ऐसा नहीं, परन्तु उस जीवास्तिकाय का ऐसा पर्यायस्वभाव है। यहाँ कर्मफलचेतना प्रधान है।

(२) एक जीवराशि ऐसी है कि किञ्चित् वीर्य को स्फुरित कर, राग-द्वेषादि करूँ—ऐसे कर्तापने की प्रधानता से सुख-दुःख को भोगते हैं। यहाँ कर्मचेतना प्रधान है। ईयळ, मकोड़ा, मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि जीवों में कुछ करूँ, राग-द्वेष करूँ, पर का करूँ, ऐसे कर्तापने की प्रधानता है। ऐसा उस जीवास्तिकाय का स्वभाव है। किसी ईश्वर ने तो जीव बनाये नहीं, परन्तु कर्म के कारण से ऐसा पर्यायस्वभाव है, ऐसा भी नहीं है। कोई जीव पर का कर नहीं सकता, परन्तु अज्ञानी मिथ्याभ्रान्ति करता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि हर्ष-शोक का वेदना, वह शरीर का धर्म है। देह का दण्ड देह भोगे, और कोई हर्ष-शोक, राग-द्वेष माया कहते हैं, वह सब अज्ञानभाव है। शरीर जड़ है, उसे भोगने का होता नहीं और राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक तेरी पर्याय में बिल्कुल नहीं ही, ऐसा माना जाये तो तेरा अस्तिकाय उड़ जाता है। राग-द्वेष करे तो भी अपने में और हर्ष-शोक को भोगे, वह भी अपने में अपने कारण से है। ऐसा जीवास्तिकाय का पर्यायस्वभाव है। ऐसा ज्ञान करके, वह पर्याय आदरणीय नहीं—ऐसा उसके ऊपर से दृष्टि हटाकर अपने शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ७, सोमवार

आत्मा क्या वेद सकता है, उसका वर्णन है।

एक जीवराशि स्थावर जीवों की ऐसी है कि सुख-दुःखरूप कर्मफल को भोगती है। अर्थात् कि हर्ष-शोक को वेदती है—अनुभव करती है। पृथ्वी आदि के स्थावर जीव अपने शरीर को, शस्त्र को या संयोग को अनुभव नहीं करते। परचीजों को वे जीव स्पर्शते ही नहीं। शास्त्र में कथन आता है कि स्थावर जीवों को छेदन-भेदन का दुःख बहुत है, परन्तु वह कथन निमित्त से है। छेदन-भेदन का दुःख नहीं। शस्त्र उन्हें स्पर्शता ही नहीं। अपने ज्ञानस्वभाव को चूककर वे जीव पर में सुख है, ऐसी विपरीत मान्यता के कारण से हर्ष-शोक को वेद रहे हैं, परन्तु कोई बाहर के संयोग व शरीर को भोगे, ऐसा उनका स्वभाव नहीं। वहाँ कर्मफलचेतना की मुख्यता है। एकेन्द्रिय जीव मुख्यरूप से हर्ष-शोक को भोग रहे हैं।

एक जीवराशि त्रस जीवों की ऐसी है कि वे पर के तथा राग के कर्तापनेरूप अभिमानसहित राग-द्वेष को भोगते हैं। वहाँ राग-द्वेष के कर्तृत्व की मुख्यता है, अर्थात् कि कर्मचेतना की मुख्यता है, ईयळ, मकोड़ा, हाथी, मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि जीव राग के करनेरूप भाव अपने में करते हैं। इसलिए शुभाशुभभावों अथवा मैं पर का कर सकता हूँ, ऐसे अभिमान के भाव वे कर सकते हैं, परन्तु इससे शरीरादि जड़ पदार्थों अथवा दूसरे चेतनद्रव्यों की अवस्था को कर सके या दूसरे के कार्य कर सके, यह उनके अधिकार की बात नहीं है।

पुद्गलद्रव्य अस्ति है और उस परमाणु का स्कन्ध, वह काय है। वह उससे अस्तिकायरूप हुआ है। अज्ञानी जीव भ्रम में पड़ता है कि वह पुद्गल की अवस्था मुझसे होती है। सिंह हिरण को खाता हो तो हिरण के शरीर की अवस्था सिंह का जीव नहीं कर सकता। भगवान के निकट दर्शन के समय हाथ जोड़ने की क्रिया होना, उसे जीव नहीं कर सकता। हाथ पुद्गलास्तिकाय है। वह काय जीव के कारण से नहीं। एक हजार योजन का मच्छ मुख चौड़ा करे, वह चौड़ारूप होने की क्रिया उसके जीव के

आधीन है ही नहीं। जीव पर के करनेरूप भाव अथवा शुभाशुभभाव—राग-द्वेष करके चार गति में भटकता है, परन्तु पर का कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। जीव में चेतना नाम का त्रिकाली गुण है, उसकी पर्याय में वह या तो जागृत रहे अथवा अजागृत रहे परन्तु पर का करे, ऐसा कभी नहीं होता। एक जीवराशि हर्ष-शोक की मुख्यता से अजागृत रहती है और एक जीवराशि राग-द्वेष के कर्तापने की मुख्यता से अजागृत रहती है। अब तीसरी जीवराशि केवली तथा सिद्धों की है, वह कहते हैं।

(३) एक जीवराशि ऐसी है कि जो शुद्ध ज्ञान को ही अनुभव करती है, वह केवली तथा सिद्ध हैं। चौथे गुणस्थान में धर्मी जीव को आत्मा का भान है, मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हूँ, शरीरादि का करना, वह मेरा काम नहीं। राग-द्वेष, वह मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा भान होने पर ज्ञानचेतना की शुरुआत हो जाती है, परन्तु अभी वहाँ अस्थिरता के राग-द्वेष साधक को होते हैं, इसलिए उसकी ज्ञानचेतना को गौण करके पूर्ण ज्ञानचेतना प्रगट हुई, ऐसे सिद्ध तथा केवली को यहाँ लिया है। इस प्रकार केवली भगवान तथा सिद्ध भगवान अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं। स्वर्ग-नरकादि देखते हैं, तथापि उनको राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोक नहीं होता।

इस प्रकार कर्मचेतना, कर्मफलचेतना तथा ज्ञानचेतना—ऐसे तीन प्रकार कहे। जितने जीव हैं, वे सब इन तीनों में से किसी न किसी चेतनासहित होते ही हैं। जीव या तो ज्ञान करे, या तो राग-द्वेष को करे अथवा हर्ष-शोक को वेदे—इन तीन के अतिरिक्त चौथा काम करे, वह जीव का सामर्थ्य नहीं है।

इस प्रकार आत्मा में चैतन्यगुण जान लेना चाहिए।

यह पंचास्तिकाय का वर्णन है। प्रत्येक अस्तिकाय स्वतन्त्र है, ऐसा बतलाना है। तू जीवास्तिकाय है। पुद्गलास्तिकाय तुझसे भिन्न है, उसका तू कुछ कर सकता नहीं। तू तुझमें राग-द्वेष के परिणाम करे, वे तुझमें हैं, पर में नहीं, पर के कारण से भी नहीं—ऐसी यहाँ जीवास्तिकाय की पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराकर पूरे जीवास्तिकाय का प्रमाणज्ञान कराना है। हर्ष-शोक तथा राग-द्वेष चेतन की सत्ता में होते हैं, जड़ की सत्ता में या जड़ के कारण से होते नहीं। पर्याय में दोष होता है, वह तेरा है, परन्तु वह एक

समय का है। ऐसा पर्याय का ज्ञान कराते हैं। साथ ही साथ ज्ञानादि गुण शुद्ध हैं, ऐसे द्रव्य-गुणों का भी ज्ञान कराते हैं। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। पर से भिन्न कराकर, राग तेरे शुद्ध द्रव्य में नहीं, ऐसा ज्ञान कराकर, त्रिकाली द्रव्य की ओर झुकाने का हेतु है।

जबकि समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है। समयसार में चौथे गुणस्थान में धर्मीजीव को भान हुआ कि मैं आत्मा शुद्ध हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं।—ऐसा भान होने पर चौथे (गुणस्थान में) ज्ञानचेतना कही है और अल्प राग-द्वेष होता है, उसका धर्मी जीव कर्ता है ही नहीं, ऐसा कहा है। और जो राग-द्वेष होते हैं, उन्हें पुद्गल का कार्य गिना गया है। जैसे मिट्टी विस्तार पाकर घटरूप होती है, उसी प्रकार जड़कर्म विस्तार पाकर—व्यापक होकर राग-द्वेषरूपी कार्य करते हैं। आत्मा पसरकर राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोकरूपी कार्य नहीं करता। यह किस अपेक्षा से कथन है, यह समझना चाहिए। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है। दृष्टि परपदार्थ को तो स्वीकारती नहीं, परन्तु राग-द्वेष को भी स्वीकारती नहीं। मैं परिपूर्ण शुद्ध द्रव्य हूँ, ऐसा वह अकेले ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को ही स्वीकार करती है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव की अधिकता में—प्रधानता में राग-द्वेष को गौण करती है; राग-द्वेष को अभूतार्थ कहकर, कर्म का कार्य कहकर वह आत्मा का कार्य है ही नहीं—ऐसा दृष्टि के जोर से कहते हैं। आत्मा का विस्तार ज्ञाता-दृष्टापना और वीतरागपना हो, परन्तु आत्मा का विस्तार राग-द्वेष नहीं होता। वहाँ दृष्टि की प्रधानता है। निमित्त और राग-द्वेष की पर्याय को गौण करके ज्ञानी के हर्ष-शोक को अथवा आर्त-रौद्रध्यान को भी पुद्गल का कार्य कहा है, ऐसा समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है।

परन्तु वह दर्शनप्रधान कथन सच्चा किसके लिये? जिसने द्रव्य और पर्याय का यथार्थज्ञान किया हो, उसके लिये। जो जीव राग-द्वेष कर्म के कारण से माने अथवा पर्याय को पराधीन माने, उसकी तो बात है ही नहीं। द्रव्य और पर्याय का यथार्थ ज्ञान करने के पश्चात्, स्वसन्मुख झुकने के प्रयोजनवशात् राग-द्वेष को गौण करके स्वभाव को अग्र करना, वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

यहाँ पंचास्तिकाय में पूरे जीवास्तिकाय के स्वभाव का—द्रव्य और पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराना है। यहाँ कहा कि एकेन्द्रिय जीव हर्ष-शोक को वेदता है और त्रस

जीव राग-द्वेषरूप परिणाम करे तो वह अपने में अपने कारण से करता है, पर के कारण से करता नहीं। राग-द्वेष होते हैं, वे चैतन्य की सत्ता में होते हैं, ऐसा कहने का हेतु पर से पृथक् करने का है और वह राग-द्वेषरूपी पर्यायस्वभाव एक समय जितना है, परन्तु तेरा त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध ही है। इस प्रकार पर्याय और द्रव्य दोनों का यथार्थ ज्ञान कराकर प्रमाणज्ञान कराते हैं।

इस प्रकार दोनों की कथनपद्धति जैसी है, वैसी समझना चाहिए।

भावार्थ : अनेक जीव कहते हैं कि जिसे विशेषता करके ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उदय है। अपना ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण प्रगट होना चाहिए, वह अपने कारण से प्रगटाता नहीं, उसमें ज्ञानावरणीयकर्म निमित्त है, अपना दृष्टा स्वभाव परिपूर्ण प्रगटाता नहीं, उसमें दर्शनावरणीय कर्म निमित्त है, अपना वीर्य अपने में स्फुरित करना चाहिए, वह अपने में स्फुरित नहीं करता, उसमें अन्तराय कर्म निमित्त है। अपने स्वरूप की असावधानी में मोहनीयकर्म निमित्त है। इन कर्मों के निमित्त से अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखादि हीन अथवा विपरीतरूप से परिणमते हैं। यहाँ (१) कर्म के निमित्त का ज्ञान, (२) हीन अथवा विपरीत पर्याय का ज्ञान, तथा (३) पूरे द्रव्यस्वभाव का ज्ञान—ऐसे तीन का ज्ञान कराते हैं। तीनों का सच्चा ज्ञान होने पर प्रमाणज्ञान होता है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवों को कर्म का जोर है, इसलिए उन्हें हीन दशा है तो यह बात खोटी है। वे जीव अपने कारण से हीन दशा को प्राप्त हुए हैं। कर्म तो जड़ है, आत्मा में उसका अत्यन्त अभाव है। नीम के कोर में, आलू के एक टुकड़े में असंख्य शरीर हैं। एक शरीर में अनन्त जीव हैं। वे जीव ज्ञान-दर्शनरूप शक्ति से भरपूर हैं परन्तु पर्याय में बहुत हीन दशा को प्राप्त हैं और मुख्यरूप से हर्ष-शोक को भोगते हैं। पर को तथा कर्म को भोगते नहीं। चाकू से सब्जी कटने पर अथवा तेल में सब्जी डालने से उस जीव को बहुत दुःख होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। परपदार्थ तो जीव को स्पर्शता ही नहीं, परन्तु अज्ञानी जीव संयोगों को देखता है। किन्तु उसका पर्यायधर्म राग-द्वेष को वेदने का है, उसे वह देखता नहीं। प्रत्येक जीव की पर्याय अपने-अपने से होती है, और मेरी पर्याय मुझसे होती है। ऐसे अंश की स्वीकृति करने पर वह अंश किसका? अंश—पर्याय तो द्रव्य की है और द्रव्य तो शुद्ध है। इस प्रकार

से अंश का ज्ञान करके अंश की दृष्टि छोड़कर अंशी की दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन और वीतरागता होती है।

एकेन्द्रिय जीव को त्रस के जैसा पुरुषार्थ नहीं है, यह करूँ, यह लूँ—ऐसा राग-द्वेष के कर्तापनेरूप मुख्यरूप से पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए उन जीवों को मुख्यरूप से कर्मफलचेतनासहित जानना।

अब त्रस जीव की बात करते हैं। उन जीवों को ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहकर्म के विशेष उदय से चैतन्यशक्ति का परिणमन बहुत हीन तथा विपरीत है, परन्तु उन्हें एकेन्द्रिय की अपेक्षा अन्तरायकर्म के क्षयोपशम के निमित्त से वीर्य विशेष है, इसलिए सुख-दुःखरूप फल भोगने के लिये इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरूपी मोह करने को उद्यमी होते हैं। यह मकान ठीक है, यह मकान ठीक नहीं; निरोगी शरीर ठीक है, इज्जत हो तो ठीक पड़े, पर की दया पालकर उसे बचाऊँ—इत्यादि प्रकार से शुभाशुभ राग-द्वेष उठाया करते हैं। अज्ञानी परपदार्थ को कर नहीं सकता, परन्तु राग-द्वेष का कर्ता होता है। देश का करूँ, इसे ऐसे सुधार दूँ, ऐसा विकल्प किया करता है। देश परपदार्थ है, उसे कौन बदले और सुधारे? यह वस्तु सुन्दर है, यह खराब है, इत्यादि प्रकार से इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। हमारे पिता के पास पैसे नहीं थे, परन्तु हमने हमारे बाहुबल से कमाये—ऐसा अभिमान करता है। पैसा जड़ है, वह पुद्गल परावर्तन के नियमानुसार आता है और जाता है, तेरे आत्मा के हाथ की बात नहीं। मैंने इतने लोगों को समझाया, इतने शास्त्र बनाये, इतने गाँवों को सुधारा—ऐसे अनेक प्रकार से पर में घालमेल के भाव करता है, परन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता। आचार्य भगवान कहते हैं कि ऐसा अभिमान छोड़ और पर्याय में रागादि होते हैं, वे तेरे कारण से होते हैं, पर के कारण से होते नहीं। और त्रिकाली निरपराधी स्वभाव की दृष्टि में उस रागरूपी अपराध को गौण कर और प्रमाणज्ञानपूर्वक स्वभाव की दृष्टि कर।

जिस प्रकार अफीम का कड़वाहट और नींबू का खटाश स्वभाव है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव और सामर्थ्य क्या है?

जीव हर्ष-शोक को वेदे अथवा राग-द्वेषादि परिणाम को करे अथवा अपने ज्ञानस्वभाव को जाने—इन तीन के अतिरिक्त चौथा कार्य जीव का नहीं है। त्रस जीव

विशेष बल के कारण से अपना वीर्य राग-द्वेष के मार्ग में ले जाता है, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि वह अज्ञानी का कार्य है, परन्तु वह बाहर की क्रिया करता है, ऐसा नहीं होता। अज्ञानी जीव मानता है कि भक्ति के शुभभाव किये, इसलिए शरीर चला, परन्तु ऐसा नहीं होता। शरीर पुद्गलास्तिकाय है। वह उसके कारण से चलता है।

यहाँ मिथ्यादृष्टि की मुख्यता से बात की है। त्रस जीवों को मुख्यरूप से कर्मचेतनासहित जानना। हर्ष-शोक या राग-द्वेषरूप से होना, वह पर्यायधर्म है।—इस प्रकार पर से पृथक् कराते हैं। हर्ष-शोक या राग-द्वेष करना या ज्ञातारूप से रहना, वह तेरे हाथ की बात है। इस प्रकार पर से पृथक् पड़ने पर और सच्चा प्रमाणज्ञान होने पर अन्तरोन्मुख होना बन सके ऐसा है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ८, मंगलवार

सुखी कैसे हुआ जाये ? आत्मा एक द्रव्य है, उसमें चेतना गुण है, वह चेतता है। उसमें राग-द्वेष की प्रधानता से राग-द्वेष को करे, या तो हर्ष-शोक की मुख्यता से वेदे, या तो ज्ञान करे। पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक मेरे मूलस्वभाव में नहीं, ऐसा जाने और शुद्ध चैतन्य को उपादेय श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

आत्मा ईश्वर है—शक्तिवाला है। कैसा शक्तिशाली है ? हर्ष-शोक को वेदे, काम-क्रोध को करे, शुभ-अशुभभाव करे, वैसा शक्तिशाली है परन्तु लक्ष्मी को या शरीर को अनुभव करे या देश का रक्षण करे या शरीर आदि का करे, ऐसा शक्तिशाली नहीं है। अनन्त एकेन्द्रिय जीव मुख्यरूप से हर्ष-शोक को वेदते हैं और त्रस जीव असंख्य हैं। उनमें राग-द्वेष करने की मुख्यता है और इससे वे संसार में भटकते हैं।

अब ज्ञानचेतनावाले अनन्त हैं, उनकी बात करते हैं। जिसमें केवली तथा सिद्ध दोनों आ जाते हैं। (सम्यग्दृष्टि इत्यादि साधक जीवों को यहाँ गौण समझना।) उन जीवों को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म सर्वथा गये हैं तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य पर्याय में प्रगट हो गये हैं। अपने शुद्ध

चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ज्ञान, दर्शन, वीर्य की हीनता तथा चारित्र की असावधानी और विपरीतता टालकर राग-द्वेष का नाश किया तो कर्म दूसरे परमाणुरूप पलट गये इसलिए उन्होंने चार कर्मों का नाश किया, ऐसा कहा जाता है। वे अनाकुल स्वतन्त्र आनन्ददशा में लीन हैं।

यदि भगवान् अनन्त शक्तिमान् हैं तो बड़े-बड़े पर्वत तो तोड़ सकते हैं न? तथा पर का कुछ काम तो कर देते हैं न? ऐसा अज्ञानी प्रश्न करता है। भाई! आत्मा की ईश्वरता अपने में है। या तो राग-द्वेष करे अथवा हर्ष-शोक को वेदे अथवा ज्ञान करे। पर का करे, यह मान्यता ही मूढ़ की है। अज्ञानी कहता है कि यह पर्वत तोड़कर रेलवे निकाला, अमुक काम किये, परन्तु वह सब अज्ञानभाव है। आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। राग-द्वेष मुझसे, मुझमें होते हैं, परन्तु वह अपराध है और वह एक समय का है—त्रिकाली स्वरूप तो निरपराध है, ऐसा भान करे तो धर्म होता है। ऐसे ज्ञानचेतनावाले सम्यग्दृष्टि जीवों को जितनी शुद्धता वर्तती है, उतने अंश में वे सुखी हैं। स्वरूप में झूलते हुए मुनि उनसे विशेष सुखी हैं और सम्पूर्ण ज्ञानचेतनवाले केवली तथा सिद्ध सम्पूर्ण स्वाभाविक सुख में लीन हैं। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन होने से ज्ञानचेतना पूरी प्रगट हुई, ऐसे केवली और सिद्ध की बात ली है। अपेक्षा से साधक की बात समझ लेना चाहिए।

समयसार में दृष्टिप्रधान कथन में ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थान में बतलायी है। पुण्य-पाप, वह विकार है; आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि होने पर ज्ञानचेतना कही है। चौथे गुणस्थान में युद्ध के परिणाम और द्वेष के परिणाम होने पर भी ज्ञाता-दृष्टा की अधिकता में राग-द्वेष को गौण करके ज्ञानचेतना कही है। और उससे आगे बढ़ने पर, मुनिदशा होने पर मुनि आनन्द के अनुभव में होते हैं। मुनि को सिंह काटे, अग्नि का संयोग होने पर भी वे आनन्द में मौज मनाते हैं। वहाँ विशेष शान्ति है और केवली तथा सिद्ध सम्पूर्ण सुखी हैं। जैसे कमल सम्पूर्ण खिल निकले, उसी प्रकार केवलज्ञानी सम्पूर्ण दशारूप से खिल निकले हैं, इसलिए परिपूर्ण सुखी हैं। वे ज्ञानचेतनासंयुक्त जानना।

अब, इन तीन प्रकार की चेतना के धारण करनेवाले कौन-कौन जीव होते हैं, यह बताते हैं।

गाथा - ३९

सर्वे खलु कर्मफलं स्थावरकाया तसा हि कज्जुदं।

प्राणित्तमदिक्कंता णाणं विंदन्ति ते जीवाः॥३९॥

सर्वे खलु कर्मफलं स्थावरकायास्त्रसा हि कार्ययुतम्।

प्राणित्वमतिक्रान्ताः ज्ञानं विन्दन्ति ते जीवाः॥३९॥

अत्र कः किं चेतयत इत्युक्तम् ।

चेतयन्ते अनुभवन्ति उपलभन्ते विन्दन्तीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामे-कार्यत्वात्।
तत्र स्थावराः कर्मफलं चेतयन्ते, त्रसाः कार्यं चेतयन्ते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयन्त इति ॥३९॥

स्थावर कर्म फल भोगते, त्रस कर्मफल युत अनुभवे ।

प्राणित्व से अतिक्रान्त जिनवर वेदते हैं ज्ञान को ॥३९॥

अन्वयार्थ :- [सर्वे स्थावरकायाः] सर्व स्थावर जीवसमूह [खलु] वास्तव में [कर्मफलं] कर्मफल को वेदते हैं, [त्रसाः] त्रस [हि] वास्तव में [कार्ययुतम्] कार्यसहित कर्मफल को वेदते हैं और [प्राणित्वम् अतिक्रान्ताः] जो प्राणित्व का (-प्राणों का) अतिक्रम कर गये हैं [ते जीवाः] वे जीव [ज्ञानं] ज्ञान को [विंदन्ति] वेदते हैं।

टीका:-यहाँ, कौन क्या चेतता है (अर्थात् किस जीव को कौनसी चेतना होती है), वह कहा है।

चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है-ये एकार्थ हैं (अर्थात् यह सब शब्द एक अर्थवाले हैं), क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर, कर्मफल को चेतते हैं; त्रस, कार्य को चेतते हैं; केवलज्ञानी, ज्ञान को चेतते हैं।

भावार्थ:-पाँच प्रकार के स्थावर जीव अव्यक्त सुख-दुःखानुभवरूप शुभाशुभकर्मफल को चेतते हैं। द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव उसी कर्मफल को इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कार्यसहित चेतते हैं।^१ परिपूर्ण ज्ञानवन्त भगवन्त (अनन्त सौख्य सहित) ज्ञान को ही चेतते हैं॥३९॥

१. यहाँ परिपूर्ण ज्ञानचेतना की विवक्षा होने से, केवली भगवन्तों और सिद्धभगवन्तों को ही ज्ञानचेतना कही गई है। आंशिक ज्ञानचेतना की विवक्षा से तो मुनि, श्रावक तथा अविरत

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ८, मंगलवार

पृथ्वीकाय जीव जैसे कि नमक के एक टुकड़े में असंख्यात जीव हैं, तथा एक पानी की बूँद में असंख्य जीव, अग्नि में तथा वायु में असंख्य जीव और वनस्पति में असंख्य और अनन्त जीव हैं। ऐसे पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं। उन जीवों को राग-द्वेष करूँ, ऐसा व्यक्तपना होता नहीं। परन्तु हर्ष-शोक के वेदन में उनकी चेतना रुक गयी है। मैं आत्मा कौन हूँ, इसकी उन्हें खबर नहीं। कर्म की प्रधानता के कारण हर्ष-शोक को भोगते हैं—ऐसा नहीं, परन्तु अपनी मूढ़ता के कारण से हर्ष-शोक को वेदते हैं। अर्थात् कि उन्हें कर्मफलचेतना की मुख्यता है।

दो इन्द्रिय से संज्ञीपंचेन्द्रिय तक के त्रस जीव राग-द्वेष करने की मुख्यता से सुख-दुःख को भोगते हैं। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष किया करते हैं। ईयळ, मकोड़ा आदि को मन नहीं होने पर भी राग-द्वेष करूँ, ऐसी प्रेरणा होती है। अपने ज्ञानस्वभाव में चेतना रोकनी चाहिए, उसके बदले राग-द्वेष वह मेरा कर्तव्य है और देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसे विकारी परिणमन में चेतना तथा वीर्य को उन्होंने रोक दिया है। हीरा, माणिक्य, कपड़े इत्यादि परपदार्थों का आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता, परन्तु दुकान का ऐसा करूँ, वैसा करूँ, ऐसे राग-द्वेष में मेहनत कर रहा है। पुद्गल पदार्थ पुद्गल में है, जीव जीव में हैं, ऐसा उसे भान नहीं। अनुकूल पदार्थ ठीक हैं और प्रतिकूल पदार्थ अठीक हैं, ऐसा ठीक-अठीक भाव करके पुण्य-पाप के धुएँ में स्वयं चक्कर खा गया है। ऐसे जीवों को कर्मचेतना की मुख्यतासहित जानना।

जो जीव दस प्राणों से रहित हैं, वे अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं, वे शुद्धप्रत्यक्षज्ञानी जीव केवलज्ञानी हैं। वे साक्षात् परमानन्द को अनुभव करते हैं। केवली भगवान को शरीर और आयु होने पर भी अतीन्द्रिय और दस प्राणों से रहित गिना है क्योंकि वे अकेले ज्ञान को ही वेदते हैं। ऐसे जीवों को ज्ञानचेतना संयुक्त जानना।

★ तीन प्रकार के जीव तीन प्रकार की चेतना को धारते हैं।

★ अनन्त एकेन्द्रिय जीव हर्ष-शोक को अर्थात् मुख्यता से कर्मफलचेतना को धारते हैं।

★ असंख्यात त्रस जीव राग-द्वेष को करते हैं अर्थात् मुख्यता से कर्मचेतना को धारते हैं।

★ अनन्त सिद्ध और केवली ज्ञान करते हैं अर्थात् (मात्र) ज्ञानचेतना को धारते हैं।

मानस्तम्भ की अवस्था को जीव नहीं कर सकता, राग के कारण से जड़ की अवस्था हो, ऐसा नहीं बनता, जड़ का होना जड़ में और राग का होना आत्मा में है। पुद्गल अस्ति है और स्कन्धरूप से होना, वह उसकी काय है। दान देनेवाले ने शुभराग किया, परन्तु पुद्गल में फेरफार करना ज्ञानी और अज्ञानी के हाथ की बात नहीं।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि अपने को इतनी अधिक प्रवृत्ति नहीं करना और इस प्रकार का शुभराग नहीं करना कि जिससे प्रवृत्ति बढ़ जाये। उसे कहा जाता है कि बाहर की पर्याय में तू प्रवेश नहीं कर सकता कि जिससे वहाँ से विमुख होकर निवृत्ति ले। पुद्गल परमाणुओं का अस्तिकारूप से होना या न होना, वह उसके आधीन है, तेरे आधीन नहीं। किसी के कारण से किसी का अस्तित्व टिक सकता है या बदला जा सकता है, ऐसा नहीं होता। जिस काल में जो संयोग होनेवाले हैं, उस काल में वे संयोग होंगे। उन्हें लाना या रोकना किसी के हाथ की बात नहीं, और जो राग जिस काल में होनेवाला है, वह राग उस काल में होगा ही। दृष्टि संयोग और राग के ऊपर है या ज्ञानस्वभाव के ऊपर है, इसके आधार पर धर्म और अधर्म का माप है। यदि स्वभाव के ऊपर दृष्टि करके ज्ञान करे तो धर्मी है और संयोगों तथा राग के ऊपर जिसकी दृष्टि है, वह अधर्मी है।

पर में फेरफार करना चाहता है, वही भ्रान्ति है। पर, पर के कारण से होता है—ऐसा ज्ञान करके, राग अपने कारण से एक समय जितना होता है, ऐसा ज्ञान करके उसे हेय समझकर, त्रिकाल शुद्ध स्वभाव को उपादेय मानना, यह जीव के हाथ की बात है। इस प्रकार निमित्त और पर्याय की रुचि बदलकर त्रिकाली स्वभाव की रुचि करना, वह धर्म है।

अब, उपयोगगुण की व्याख्या करते हैं। उपयोग, वह ज्ञानगुण की पर्याय है, तथापि चेतन का सामर्थ्य बतलाने के लिये उसे गुण कहा है। चेतना के बारह भेद तथा उनका सामर्थ्य कितना है, यह बतलायेंगे।

गाथा - ४०

अथोपयोगगुणव्याख्यानम् ।

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।

जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥४०॥

उपयोगः खलु द्विविधो ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः ।

जीवस्य सर्वकालमनन्यभूतं विजानीहि ॥४०॥

आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । सोऽपि द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्च । तत्र विशेषग्राहि ज्ञानं, सामान्यग्राहि दर्शनम् । उपयोगश्च सर्वदा जीवादपृथग्भूत एव, एकास्तित्वनिर्वृत्तत्वादिति ॥४०॥

ज्ञान-दर्शन सहित चिन्मय द्विविध है उपयोग यह ।

ना भिन्न चेतनतत्त्व से है चेतना निष्पन्न यह ॥४०॥

अन्वयार्थ :- [ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः] ज्ञान और दर्शन से संयुक्त ऐसा [खलु द्विविधः] वास्तव में दो प्रकार का [उपयोगः] उपयोग [जीवस्य] जीव को [सर्वकालम्] सर्व काल [अनन्यभूतं] अनन्यरूप से [विजानीहि] जानो ।

टीका:-आत्मा का चैतन्य-अनुविधायी (अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करनेवाला) परिणाम सो उपयोग है। वह भी दो प्रकार का है-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। वहाँ, विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन है (अर्थात् विशेष जिसमें प्रतिभासित हो, वह ज्ञान है और सामान्य जिसमें प्रतिभासित हो, वह दर्शन है।) और उपयोग सर्वदा जीव से *अपृथग्भूत ही है, क्योंकि एक अस्तित्व से रचित है ॥४०॥

* अपृथग्भूत = अभिन्न। (उपयोग सदैव जीव से अभिन्न ही है, क्योंकि वे एक अस्तित्व से निष्पन्न हैं।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ८, मंगलवार

वास्तव में चेतना के दो प्रकार के परिणाम हैं। प्रथम ज्ञान को वेदने की बात आयी थी। यहाँ ज्ञान के परिणाम की बात करते हैं। दो प्रकार से उपयोग—१. दर्शन उपयोग, २. ज्ञान उपयोग—आत्मा में चेतनारूपी परिणाम आत्मा से होते हैं। इन्द्रिय, मन के कारण या वाणी से या पुस्तक से वे नहीं होते। शास्त्र, वाणी इत्यादि पुद्गलास्तिकाय है। उपयोगरूप परिणाम जीवास्तिकाय में होते हैं। अपने ज्ञान का व्यापार असंख्यप्रदेश में अपने कारण से अपनी सत्ता से होता है, तथापि वाणी और शास्त्र से ज्ञान मानना, यह मान्यता दो पदार्थों की एकत्वबुद्धि बताता है।

मैं आत्मा हूँ, यह दूसरे आत्मा हैं, यह पुद्गल का स्कन्ध है। इस प्रकार पर पदार्थों को पृथक्-पृथक् तथा अपनी त्रिकाली शक्ति तथा वर्तमान पर्याय को पृथक्-पृथक् जाने, उसे ज्ञान उपयोग कहते हैं। और जो उपयोग सामान्यरूप से अर्थात् किसी भी प्रकार का भेद किये बिना सामान्य सत्ता को देखता है, उसे दर्शन-उपयोग कहते हैं। ऐसे दो प्रकार का व्यापार अनादि-अनन्त काल तक असंख्यप्रदेशी जीव में साथ में रहा हुआ है। कोई भी प्राणी ज्ञान-दर्शन बिना का हो, ऐसा नहीं होता, ऐसा हे शिष्य! तू जान। जहाँ आत्मा है, वहाँ जानने-देखने का व्यापार है और जहाँ जानने-देखने का व्यापार है, वहाँ आत्मा है, ऐसा तू जान।

व्यवहारनय से, आत्मा तथा उपयोग में भेद है। केवलज्ञान और केवली प्रभु ऐसा संज्ञाभेद से भेद है, तो भी प्रदेशभेद से भेद नहीं। जैसे शरीर, मन, वाणी, कर्म आत्मा के प्रदेश से सर्वथा भिन्न हैं, उसी प्रकार उपयोग और आत्मा वास्तव में भिन्न नहीं हैं। गुड़ और मिठास में व्यवहार से भेद है, तथापि परमार्थ से भेद नहीं, क्योंकि गुण का नाश होने से गुणी का नाश होता है और गुणी के नाश से गुण का नाश होता है। इसलिए गुण-गुणी एक है। जैसे मिठास का नाश होने से गुड़ का नाश होता है और उष्णता का नाश होने से अग्नि का नाश होता है; उसी प्रकार उपयोग का नाश होने से आत्मा का नाश होता है। स्त्री, पुत्र, कर्म, पैसा आदि का नाश होने से आत्मा नाश नहीं पाता, परन्तु ज्ञान का नाश होने से आत्मा का नाश हो जाता है। इसलिए दोनों को एकता है। अर्थात् कि उपयोग को और आत्मा को एकता है, ऐसा कहते हैं।

●●

गाथा - ४१

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।

कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥४१॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानानि पञ्चभेदानि।

कुमतिश्रुतविभङ्गानि च त्रीण्यपि ज्ञानैः संयुक्तानि॥४१॥

ज्ञानोपयोगविशेषाणां नामस्वरूपाभिधानमेतत् ।

तत्राभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं कुमतिज्ञानं कुश्रुतज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति नामाभिधानम् । आत्मा ह्यनन्तसर्वात्मप्रदेशव्यापिविशुद्धज्ञानसामान्यत्मा । स खल्वनादिज्ञानावरणकर्मावच्छन्नप्रदेशः सन्, यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदाभिनिबोधिकज्ञानम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदवधिज्ञानम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादेव परमनोगतं मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तन्मनःपर्ययज्ञानम्, यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं विशेषेणावबुध्यते तत्संभाविकं केवलज्ञानम् । मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमाभिनिबोधिकज्ञानमेव कुमतिज्ञानम्, मिथ्यादर्शनोदयसहचरितं श्रुतज्ञानमेव, श्रुतज्ञानम्, मिथ्यादर्शनोदय-सहचरितमवधिज्ञानमेव विभङ्गज्ञानमिति स्वरूपाभिधानम् ।

-इत्थं मतिज्ञानादिज्ञानोपयोगाष्टकं व्याख्यातम् ॥४१॥

मतिश्रुतावधि अर मनः केवल ज्ञान पाँच प्रकार हैं।

कुमति कुश्रुत विभंग युत अज्ञान तीन प्रकार हैं॥४१॥

अन्वयार्थ :- [आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि] आभिनिबोधिक (-मति) श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल- [ज्ञानानि पंचभेदानि] इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं; [कुमतिश्रुतविभंगाणि च] और कुमति, कुश्रुत और विभंग-[त्रीणि अपि] यह तीन (अज्ञान) भी [ज्ञानैः] (पाँच) ज्ञान के साथ [संयुक्तानि] संयुक्त किये गये हैं। (इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।)

टीका:-यह, ज्ञानोपयोग के भेदों के नाम और स्वरूप का कथन है।

वहाँ, (१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यय

-ज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) कुमतिज्ञान, (७) कुश्रुतज्ञान और (८) विभंगज्ञान-इस प्रकार (ज्ञानोपयोग के भेदों के) नाम का कथन है।

(अब उनके स्वरूप का कथन किया जाता है :-) आत्मा वास्तव में अनन्त, सर्व आत्मप्रदेशों में व्यापक, विशुद्ध ज्ञानसामान्यस्वरूप है। वह (आत्मा) वास्तव में अनादि ज्ञानावरणकर्म से आच्छादित प्रदेशवाला वर्तता हुआ, (१) उस प्रकार के (अर्थात् मतिज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से और इन्द्रिय-मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह आभिनिबोधिकज्ञान है,

(२) उस प्रकार के (अर्थात् श्रुतज्ञान के) आवरण के क्षयोपशम से और मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह श्रुतज्ञान है,

(३) उस प्रकार के आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह अविधज्ञान है,

(४) उस प्रकार के आवरण के क्षयोपशम से ही परमनोगत (-दूसरों के मन के साथ सम्बन्धवाले) मूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह मनःपर्ययज्ञान है,

(५) समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से, केवल ही (-आत्मा अकेला ही), मूर्त-अमूर्त द्रव्य का सकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह स्वाभाविक केवलज्ञान है,

(६) मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का आभिनिबोधिकज्ञान ही कुमतिज्ञान है,

(७) मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है,

(८) मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का अवधिज्ञान ही विभंगज्ञान है। - इस प्रकार (ज्ञानोपयोग के भेदों के) स्वरूप का कथन है।

इस प्रकार मतिज्ञानादि आठ ज्ञानोपयोगों का व्याख्यान किया गया।

भावार्थ :- प्रथम तो, निम्नानुसार पाँच ज्ञानों का स्वरूप है :-

१. विकलरूप से = अपूर्णरूप से; अंशतः।

२. विशेषतः अवबोधन करना = जानना। (विशेष अवबोध अर्थात् विशेष प्रतिभास, सो ज्ञान है।)

निश्चय से अखण्ड-एक-विशुद्धज्ञानमय ऐसा यह आत्मा व्यवहारनय से संसारावस्था में कर्मावृत्त वर्तता हुआ, मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर, पाँच इन्द्रियों और मन से मूर्त-अमूर्त वस्तु को विकलरूप से जो जानता है, वह मतिज्ञान है। वह तीन प्रकार का है : उपलब्धिरूप, भावनारूप और उपयोगरूप। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से जनित अर्थग्रहणशक्ति (-पदार्थ को जानने की शक्ति), वह उपलब्धि है; जाने हुए पदार्थ का पुनः-पुनः चिंतन, वह भावना है और 'यह काला है', 'यह पीला है' इत्यादिरूप से अर्थग्रहण व्यापार (-पदार्थ को जानने का व्यापार), वह उपयोग है। उसी प्रकार वह (मतिज्ञान) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप भेदों द्वारा अथवा कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारीबुद्धि तथा संभिन्नश्रोतृताबुद्धि ऐसे भेदों द्वारा चार प्रकार का है। (यहाँ, ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि निर्विकार शुद्ध अनुभूति के प्रति अभिमुख जो मतिज्ञान, वही उपादेयभूत अनन्त सुख का साधक होने से निश्चय से उपादेय है, उसके साधनभूत बहिरंग मतिज्ञान, तो व्यवहार से उपादेय है।)

वही पूर्वोक्त आत्मा, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर, मूर्त-अमूर्त वस्तु को परोक्षरूप से जो जानता है, उसे ज्ञानी श्रुतज्ञान कहते हैं। वह लब्धिरूप और भावनारूप है तथा उपयोगरूप और नयरूप है। 'उपयोग' शब्द से यहाँ वस्तु को ग्रहण करनेवाला प्रमाण समझना चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु को जननेवाला ज्ञान समझना चाहिए और 'नय' शब्द से वस्तु के (गुणपर्यायरूप) एक देश को ग्रहण करनेवाला ऐसा ज्ञाता का अभिप्राय समझना चाहिए। (यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि विशुद्धज्ञानदर्शन जिसका स्वभाव है, ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक जो भावश्रुत, वही उपादेयभूत परमात्मतत्त्व का साधक होने से निश्चय से उपादेय है किन्तु उसके साधनभूत बहिरंग श्रुतज्ञान तो व्यवहार से उपादेय है।)

यह आत्मा, अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर, मूर्त वस्तु को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है। वह अवधिज्ञान लब्धिरूप तथा उपयोगरूप, ऐसा दो प्रकार का जानना। अथवा अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि, ऐसे भेदों द्वारा तीन प्रकार से है। उसमें, परमावधि और सर्वावधि चैतन्य के उछलने से भरपूर आनन्दरूप परमसुखामृत के रसास्वादरूप समरसीभाव से परिणत चरमदेही तपोधनों को होता है। तीनों प्रकार के अवधिज्ञान निश्चय से विशिष्ट सम्यक्त्वादि गुण से होते हैं। देवों और नारकों के होनेवाले भवप्रत्ययी जो अवधिज्ञान, वह नियम से देशावधि ही होता है।

यह आत्मा, मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर, परमनोगत मूर्त वस्तु को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है। ऋजुमति और विपुलमति, ऐसे भेदों द्वारा मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। वहाँ, विपुलमति मनःपर्ययज्ञान पर के मन-वचन-काय सम्बन्धी पदार्थों को, वक्र तथा अवक्र दोनों को, जानता है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तो ऋजु को (अवक्र को) ही जानता है। निर्विकार आत्मा की उपलब्धि और भावनासहित चरमदेही मुनियों को विपुलमति मनःपर्ययज्ञान होता है। यह दोनों मनःपर्ययज्ञान वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान की भावनासहित, पन्द्रह प्रमादरहित अप्रमत्त मुनि को उपयोग में-विशुद्ध परिणाम में-उत्पन्न होते हैं। यहाँ मनःपर्ययज्ञान के उत्पादकाल में ही अप्रमत्तपने का नियम है, फिर प्रमत्तपने में भी वह संभवित होता है।

जो ज्ञान घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन लेकर उत्पन्न नहीं होता, वह केवलज्ञान है। वह श्रुतज्ञानस्वरूप भी नहीं है। यद्यपि दिव्यध्वनिकाल में उसके आधार से गणधरदेव आदि को श्रुतज्ञान परिणमित होता है, तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेव आदि को ही होता है, केवली भगवन्तों को तो केवलज्ञान ही होता है। पुनश्च, केवलीभगवन्तों को श्रुतज्ञान नहीं है इतना ही नहीं, किन्तु उन्हें ज्ञान-अज्ञान भी नहीं है अर्थात् उन्हें किसी विषय का ज्ञान तथा किसी विषय का अज्ञान हो, ऐसा भी नहीं है-सर्व विषयों का ज्ञान ही होता है; अथवा, उन्हें मति-ज्ञानादि अनेक भेदवाला ज्ञान नहीं है-एक केवलज्ञान ही है।

यहाँ जो पाँच ज्ञानों का वर्णन किया गया है, वह व्यवहार से किया गया है। निश्चय से तो बादलरहित सूर्य की भाँति आत्मा अखण्ड-एक-ज्ञान-प्रतिभासमय ही है।

अब, अज्ञानत्रय के सम्बन्ध में कहते हैं -

मिथ्यात्व द्वारा अर्थात् भाव-आवरण द्वारा अज्ञान (-कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान तथा विभंगज्ञान) और अविरतिभाव होता है तथा ज्ञेय का अवलम्बन लेने से (-ज्ञेय सम्बन्धी विचार अथवा ज्ञान करने से) उस-उस काल दुःनय और दुःप्रमाण होते हैं। (मिथ्यादर्शन के सद्भाव में वर्तता हुआ मतिज्ञान, वह कुमतिज्ञान है; श्रुतज्ञान, वह कुश्रुतज्ञान है; अवधिज्ञान, वह विभंगज्ञान है; उसके सद्भाव में वर्तते हुए नय, वे दुःनय हैं और प्रमाण, वह दुःप्रमाण है।) इसलिए ऐसा भावार्थ समझना चाहिए कि निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूतिस्वरूप निश्चय सम्यक्त्व उपादेय है।

इस प्रकार ज्ञानोपयोग का वर्णन किया गया॥४१॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ८, मंगलवार

अब ज्ञान उपयोग के भेद बताते हैं।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ऐसे पाँच प्रकार सम्यक् ज्ञान के जानना और कुमति, कुश्रुत, विभंग ऐसे अज्ञान के तीन—इस प्रकार कुल आठ भेद जानना।

मतिज्ञान : तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं कि इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मतिज्ञान होता है, वह निमित्त की उपस्थिति बतलाने के लिये कहा गया है। ज्ञान इन्द्रियों से होता हो तो पुद्गल और जीव एक हो जायें। इन्द्रिय और मन का आत्मा में अभाव है। तेरा मतिज्ञान का उपयोग तुझसे होता है, इन्द्रिय से होता नहीं।

श्रुतज्ञान : शास्त्र से श्रुतज्ञान होता नहीं। स्वभाव के आश्रय से चैतन्य के उपयोग के परिणाम, वह श्रुतज्ञान है। वह पर के कारण से नहीं है। जैसे शब्द पढ़े, वैसा ज्ञान होता है न? शब्द और शास्त्र पुद्गलास्तिकाय है। यह जीवास्तिकाय के ज्ञानगुण के उपयोग का वर्णन चलता है। उपयोग स्व की अस्ति में होता है, पर की अस्ति में नहीं होता। इसलिए शब्द, शास्त्र इत्यादि संयोगों की रुचि छोड़कर, पर्याय जितना मानना छोड़कर तेरे त्रिकाली ज्ञानगुण से भरपूर स्वभाव की रुचि कर, तो धर्म हो ऐसा है।

अवधिज्ञान : इन्द्रिय और मन के अवलम्बन बिना स्वर्ग, नरकादि रूपी पदार्थों को मर्यादितरूप से जाने, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। रूपी पदार्थ हैं, इसलिए अवधिज्ञान होता है, ऐसा नहीं परन्तु त्रिकाली चेतनागुण है, उसकी उपयोगरूप अवस्था अवधिज्ञान की होती है। किसी परपदार्थ के कारण से वह नहीं है।

मनःपर्ययज्ञान : सामनेवाले जीव के रूपी पदार्थ सम्बन्धी के चिन्तवन को जान लेना, वह मनःपर्ययज्ञान है। वह अपने अन्तर का व्यापार है।

केवलज्ञान : असंख्यप्रदेशों से समस्त रूपी और अरूपी पदार्थों को एक साथ, तीनों काल की पर्यायसहित जाने, उसे केवलज्ञान कहते हैं। वह अन्तर का व्यापार है।

पंचेन्द्रिय, मनुष्यपना, मजबूत संहनन या बाहर के काल के कारण केवलज्ञान होता नहीं।

अज्ञानी जीव मानते हैं कि देशदेशान्तर में पर्यटन करने से, बहुत लोगों से मिलने से, बहुत पुस्तकें अथवा शास्त्र वाँचने से ज्ञान प्रगट होता है, तो वह सब अज्ञानभाव है। अपने ज्ञान का व्यापार अपने से होता है।

कुमतिज्ञान : आत्मा के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान नहीं मानकर राग और निमित्त से ज्ञान मानना, वह कुमतिज्ञान है। कितने ही कहते हैं कि अज्ञानी गुरु मिले, इसलिए हमको अज्ञान हुआ तो यह बात खोटी है। कुदेव-कुगुरु के कारण से अज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वयं उल्टा ज्ञान करता है तो होता है। वह अपने अस्तिकाय का ज्ञान का उल्टा व्यापार है।

कुश्रुतज्ञान : वेदान्त पढ़े, कामशास्त्र पढ़े, इसलिए उल्टा श्रुतज्ञान होता है, यह बात खोटी है। स्वयं कुश्रुतज्ञान करता है, वह अपनी अस्ति में अपने से होता है।

विभंगज्ञान : रूपी पदार्थ—स्वर्ग, नरकादि को जानने का ज्ञान भी आत्मज्ञानरहित होता है, उसे विभंगज्ञान कहते हैं। स्वर्ग-नरकादि का कर्ता माने, राग का कर्ता माने, कुगुरु की कृपा से ज्ञान माने, ऐसी उल्टी मान्यतावाले जीव को अमुक रूपी पदार्थ सम्बन्धी जानने का ज्ञान हो तो उसे विभंगज्ञान कहते हैं। वह भी अपने कारण से है, पर के कारण से नहीं।

इस प्रकार ज्ञान की पर्याय अपने अस्तिकाय में अपने से होती है, ऐसा ज्ञान करे तो पर से पृथक् पड़कर ज्ञानपर्याय जिसमें से आती है, ऐसे त्रिकाली चेतना के धारक आत्मस्वभाव की ओर दृष्टि हो, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ९, बुधवार

भावार्थ : स्वाभाविक भाव से यह आत्मा अपने समस्त प्रदेशव्यापी अनन्त निरावरण शुद्ध ज्ञानसंयुक्त है। आत्मवस्तु ज्ञान से भरपूर है, राग-द्वेष से भरपूर नहीं। पैसा, कर्म और शरीररूप होना, वह आत्मा का स्वभाव नहीं, दया-दानादि विकल्प

आत्मा का स्वभाव नहीं, आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वभाव से भरपूर है। पर्याय में भेद पड़ता है, वह जाननेयोग्य है; परन्तु भेद अंगीकार करनेयोग्य नहीं। मात्र अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव अंगीकार करनेयोग्य है।

परन्तु संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म के आधीन होता हुआ हीन और अल्पज्ञ वर्तता है। स्वयं स्वभाव को चूककर कर्म के संग में पड़ा है, इसलिए अपनी हीनदशारूप से परिणमा है। इसलिए सर्वांग—असंख्यप्रदेश में ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छादित हुआ है, ऐसा निमित्त से कथन किया जाता है।

उस ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से मतिज्ञान प्रगट होता है। — यह कथन निमित्त से है। मैं चैतन्यस्वभावी निर्मल हूँ, परपदार्थ का तथा राग-द्वेष का जाननेवाला हूँ। जानने का काम मुझमें मुझसे है—ऐसे चैतन्य की ओर दृष्टि होने से मतिज्ञान प्रगट होता है, उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्तमात्र है।

मन तथा पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से मूर्तिक तथा अमूर्तिक द्रव्य को विशेषता से जिस ज्ञान द्वारा परोक्ष जानने में आवे, उसे मतिज्ञान कहते हैं। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं। अपनी ज्ञानपर्याय हीन परिणमती है, इसलिए निमित्त का अवलम्बन अर्थात् उपस्थित होता है, तथापि जड़ इन्द्रिय या कर्म के कारण ज्ञान होता है, ऐसा है ही नहीं। कोई कहे कि भेदरूप ज्ञान की अवस्था होती ही नहीं तो वह खोटा है, कोई कहे कि भेदरूप ज्ञान की अवस्था कर्म के क्षयोपशम के कारण से अथवा इन्द्रियों के कारण से होती है, ऐसा माने तो भी खोटा है, और कोई कहे कि मतिज्ञान की अवस्था के समय कर्म के क्षयोपशम का और इन्द्रियादि का निमित्तपना है ही नहीं तो भी खोटा है, तथापि इन्द्रिय के कारण से ज्ञान नहीं होता क्योंकि जड़ इन्द्रियों का आत्मा में अभाव है। यह जड़ इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, धर्म, अधर्म, आकाश इत्यादि अमूर्तिक द्रव्य है। यह शुभभाव है, यह अशुभभाव है इत्यादि मूर्त-अमूर्त पदार्थों को अपनी ज्ञानपर्याय में स्वलक्ष्य से जाने, उसे मतिज्ञान कहते हैं। जिसमें किंचित् विकास है और किंचित् अविकास है। सामने कर्म का क्षयोपशम निमित्त है और इन्द्रिय-मन बाह्य निमित्त है। अवलम्बन अर्थात् निमित्त की उपस्थितिमात्र, परन्तु निमित्त के कारण से नहीं। इन्द्रिय और मन निमित्त है, इसलिए परोक्षज्ञान कहा है। परन्तु स्वपर्याय की उपस्थिति में और परचीजों

की सहायता बिना जानता है। सामने के पदार्थ हैं, इसलिए ज्ञान उन्हें जानता है, ऐसा नहीं है।

अज्ञानी जीव मानता है कि यह वस्तु खट्टी है, इसलिए खट्टे का ज्ञान हुआ, पवन का स्पर्श होने से पवन का ज्ञान, रोग आने पर रोग का ज्ञान हुआ—इस प्रकार ज्ञेय के कारण से अथवा इन्द्रियों के कारण से ज्ञान होना मानता है, वह सब अज्ञानभाव है। शरीर, इन्द्रियाँ, सोना इत्यादि पुद्गल पदार्थ अस्ति है, उनकी स्कन्धरूप अवस्था वह काय है। ऐसे पुद्गलास्तिकाय को जीवास्तिकाय की पर्याय मानना, वह दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि है। जैसे निमित्त हों, उसी प्रकार से ज्ञान होता है। समवसरण देखने पर समवसरण का ज्ञान होता है। अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि सामने की चीज़ के कारण ज्ञान होता होगा! वे सब पुद्गलस्कन्ध हैं। आत्मा से भिन्न हैं। जीव द्रव्य है, ज्ञान उसका त्रिकाली गुण है और उसकी मतिज्ञानरूपी अवस्था होना, वह जीव का पर्यायधर्म है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों होकर जीवास्तिकाय का स्वरूप पूरा होता है। इस प्रकार पर से भिन्न पड़कर तीनों का यथार्थ ज्ञान करना—वह भेदज्ञान है। नमक का प्रवाह नमक की डली के अस्तित्व में बहता है, उसी प्रकार ज्ञान का प्रवाह अखण्ड ज्ञान की डली के अस्तित्व में बहता है। इन्द्रियों से, कर्म से अथवा परपदार्थ से वह ज्ञान बहता नहीं—ऐसे अपने शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सम्यग्मतिज्ञान है और वह चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

‘और उस ही ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से मन के अवलम्बन से किञ्चिन्मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा जाना जाये, उस ज्ञान का नाम श्रुतज्ञान है।’

अपने पुरुषार्थ द्वारा श्रुतज्ञान होता है, उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और मन निमित्त है। मन निमित्त है अथवा दूसरे पदार्थ हैं, इसलिए श्रुतज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। तथा अकेले शास्त्र के लक्ष्य से किया हुआ ज्ञान, वह भी श्रुतज्ञान नहीं। इस जगत में छह द्रव्य हैं। उनमें आत्मा द्रव्य है, उसका त्रिकाली ज्ञानगुण है, उसकी सम्यक् पाँच पर्यायें हैं, वे स्वयं से होती हैं और ऐसा पर्यायभेद पड़ता है, वह यथार्थ है, भ्रम नहीं। श्रुतज्ञान में कर्म का क्षयोपशम तथा बाह्य मन निमित्त है, तथापि निमित्त से वह

ज्ञान होता नहीं। ऐसे भेद को अथवा ज्ञान के अंश को स्वतन्त्र स्वीकार करके, उस अंश जितना भी आत्मा नहीं; आत्मा तो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, ऐसे त्रिकाल का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान प्रगट हो और विशेषता से अर्थात् भेद पाड़कर जाने, वह श्रुतज्ञान है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने तो मूल गाथा में ज्ञान के आठ भेद कहे हैं, उसमें से अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्टता करने के लिये कर्म तथा बाह्य इन्द्रिय अथवा मन निमित्त है, ऐसा बतलाया है। यहाँ जीव के पुरुषार्थ के कारण से ज्ञान का विकास हुआ, तब कर्म का क्षयोपशम कर्म के कारण से होता है, ऐसा स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाकर, निमित्त से भेद बतलाकर, ज्ञान के भेद जितना भी आत्मा नहीं, आत्मा तो अखण्ड परिपूर्ण है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से प्रगटता ज्ञान स्व तथा पर को दोनों को जान लेता है। साधकदशा में शुभाशुभ परिणाम होते हैं और जिस प्रकार का राग हुआ, वैसे ही प्रकार का ज्ञान करता है, परन्तु राग हुआ, इसलिए ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि जैसा राग, वैसा ज्ञान होता है, इसलिए राग से ज्ञान होता होना चाहिए। परन्तु यह भ्रमणा है। राग चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है, श्रुतज्ञान ज्ञानगुण की निर्मलपर्याय है। ज्ञानगुण चारित्रगुण के पराधीन नहीं परन्तु स्वतन्त्र है। आत्मा त्रिकाली ध्रुववस्तु है, उसके असंख्यप्रदेश में त्रिकाली ज्ञानगुण व्यापक है, ऐसे आत्मा का आश्रय लेकर जो श्रुतज्ञान की पर्याय खिलती है, वह ज्ञानपर्याय जिस-जिस प्रकार का राग हो, उस-उस प्रकार के चारित्रगुण की सहायता लिये बिना, कर्म की और मन की सहायता लिये बिना अपने सामर्थ्य से जान लेता है।

और ज्ञान में भिन्न-भिन्न पदार्थों के आकार का ज्ञान हो जाता है, परन्तु ज्ञान उतने आकारवाला हो नहीं जाता। नीम ३५ हाथ का हो, इससे ज्ञान ३५ हाथ का हो नहीं जाता। नीम ३५ हाथ का है, ऐसा ज्ञान स्व को जानते हुए पर को जान लेता है। इस प्रकार स्व और पर को जानने का स्वभाव है, इसलिए ज्ञान को साकार कहते हैं, परन्तु इससे परचीज ज्ञान में आ नहीं जाती। यह राग हुआ, यह द्वेष हुआ, यह शरीर है—ऐसे

परपदार्थ को तथा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद कर-करके जानना, वह ज्ञान का सामर्थ्य है; इसलिए वह साकार कहलाता है। दर्शन भेद पाड़े बिना मात्र सामान्य अस्तित्व को ग्रहण करता है, इसलिए दर्शन को निराकार कहते हैं।

आत्मा के असंख्यप्रदेश में ज्ञान व्याप्त है। अमुक में व्यापे और अमुक में न व्यापे, ऐसा होता नहीं। अखण्ड ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से जो विशेष ज्ञान प्रगट होता है, वह श्रुतज्ञान पर्याय है, वह उसका भेदधर्म है। अभेद में भेदधर्म है, एक में से अनेक होना, वह उसका अस्तिधर्म है, पर के कारण से नहीं। धर्मी जीव को पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक शुभ और अशुभराग होता है, परन्तु उस राग से और निमित्त से ज्ञान प्रगट नहीं होता। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव एकरूप की दृष्टि करने से अनेक भेदरूप ज्ञान की अवस्था होती है, वे तुझमें होती है। तेरे ज्ञानगुण के कारण से होती है। इन्द्रियों के कारण से, पर ज्ञेयों के कारण से, राग के कारण से या कर्म के क्षयोपशम के कारण से वह अवस्था होती नहीं। इस प्रकार जो सम्यगश्रुतज्ञान प्रगट होता है, वह मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों को जानता है परन्तु उन्हें आगे-पीछे नहीं कर सकता। वाणी, पुस्तक या मुख जड़ है। बोलने का राग होता है, वह चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है, वह सब अपने-अपने में है। ज्ञान ज्ञान में है। पर से और राग से ज्ञान होता नहीं, ऐसा ज्ञान जानता है।

यदि कोई यहाँ पूछता है कि श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को होता है, ऐसा कहा है तो—

उसका समाधान : वह मिथ्याज्ञान है। अपने आत्मद्रव्य में से ज्ञान बहता है, वैसा उसे भान नहीं है। निमित्त से तथा पर से ज्ञान मानता है, इसलिए वह मिथ्याज्ञान है। अक्षर सुनकर शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो भावश्रुतज्ञान होता है, वह यहाँ लेना, मन के निमित्त से जो परोक्ष भावश्रुतज्ञान होता है, वह यहाँ लेना।

जो जीव ऐसा मानता है कि पुस्तक के कारण से ज्ञान होता है, बाहर देशाटन घूमने से ज्ञान होता है। वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव का अभाव मानता है, और निमित्त में से ज्ञान आता है, ऐसा मानता है। जैसे पर्वत में पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार आत्मा

ज्ञानानन्दस्वभाव से भरपूर है, उसमें से ज्ञानजल बहता है। ऐसा मिथ्यादृष्टि को भान नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है। मेरा ज्ञानस्वभाव अन्तर में है और मैं अन्तर में झुक्ँ तो मेरा विकास होता है, ऐसी अज्ञानी को खबर नहीं है। अन्तर शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वभाव की लाईब्रेरी में एकाग्र होने से भावमति-श्रुतज्ञान प्रगटे, ऐसा है, और वह बढ़कर केवलज्ञान प्रगट होता है। उसके द्वारा पूरी दुनिया का ज्ञान हो जाता है।

कितने ही जीव सब होकर एक आत्मा मानते हैं, आत्मा को एकान्त कूटस्थ मानते हैं, ऐसे एकान्त माननेवालों के लिये अमृतचन्द्राचार्य सब स्पष्टता करते हैं। आत्मा तथा दूसरे द्रव्य हैं, आत्मा अभेद और असंख्यप्रदेशी है, उसमें त्रिकाल ज्ञानगुण है, उसमें आठ प्रकार की अवस्था होती है। संसारदशा के समय परोक्षता और अल्पज्ञता भी है, वह अपने कारण से है। कर्म का क्षयोपशम तथा इन्द्रियादि निमित्त है, तथापि निमित्त से ज्ञान का परिणमन नहीं है। सामने दूसरे पदार्थ भी हैं। ऐसे व्यवहार, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, कर्म, दूसरे पदार्थ, भेदरूप पर्याय तथा अभेद आत्मा—ऐसे सबका यथार्थ ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करके, अभेद आत्मा की ओर झुकने से सम्यग्ज्ञान होता है और वही धर्म है।

अवधिज्ञान : ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से रूपी पदार्थों को एकदेश जाना जा सके, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। किसी सम्यग्ज्ञानी जीव को अन्तर उपयोग लगाने से स्वर्ग-नरकादि का ज्ञान होता है, परन्तु वह स्वर्ग-नरकादि है, इसलिए अवधिज्ञान होता है, ऐसा नहीं। ज्ञेय तो सदा ही है। ज्ञेय के कारण से ज्ञान हो तो सबको होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है। त्रिकाल स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दृष्टि जीव में किसी जीव को रूपी पदार्थ को मर्यादा में जानने का ज्ञान होता है, वह चारों गति में होता है।

मनःपर्ययज्ञान : ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से दूसरे जीवों के मन में स्थित रूपी पदार्थों को मर्यादा में जाने, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। भावलिंगी मुनि में से किसी मुनि को यह ज्ञान होता है। तीर्थंकर दीक्षा लें कि तुरन्त ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है। मुनिपना लिया, इसलिए यह प्रगट होता है—ऐसा नहीं परन्तु अन्तर की सामर्थ्य के आधार से प्रगट होता है।

केवलज्ञान : सर्वथा प्रकार से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से जिस ज्ञान द्वारा जगत के समस्त मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायसहित प्रत्यक्ष जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानानन्द प्रभु है, उसमें लीनता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। दियासलाई में टोप घिसने से भड़का होता है, वह भड़का बॉक्स या नीचे की सफेद लकड़ी से होता नहीं। उसी प्रकार मजबूत संहनन, मन, वाणी और पुण्य-पाप के विकल्प सब लकड़ी के समान हैं, उन्हें घिसने से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, परन्तु चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने से केवलज्ञानरूपी भड़का (प्रकाश) होता है। वज्रवृषभनाराचसंहनन है, मनुष्य देह है, कर्म का अभाव है, इसलिए केवलज्ञान होता है, यह कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। और 'जिस सद्गुरु उपदेश से पाया केवलज्ञान' यह वाक्य सद्गुरु के उपदेश का निमित्त बतलाता है, परन्तु उपदेश से केवलज्ञान होता नहीं।

और कितने ही जीव ऐसा कहते हैं कि 'केवलज्ञानी ने सब जान लिया है तो फिर पुरुषार्थ कुछ रहता नहीं। केवली ने जितने भव देखे होंगे, उतने होंगे। हम उसमें फेरफार नहीं कर सकते।'—ऐसी अज्ञानी जीव दलील करते हैं। यह केवलज्ञानी भगवान है, यह किसके ज्ञान में निर्णय किया? अपने ज्ञान में निर्णय होता है कि जैसे केवलीभगवान परिपूर्ण दशा को प्राप्त हुए, उसी प्रकार मैं भी सर्वज्ञ शक्तिवान हूँ, मुझमें केवली होने की सामर्थ्य है, मेरे केवलज्ञान की पर्याय मेरे आश्रय से प्रगट होती है, परन्तु संहनन से, राग से या क्षेत्र से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता—ऐसा जिसने अपने द्रव्य के आश्रय से रुचिपूर्वक निर्णय किया है, उसे श्रुतज्ञान प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। प्रभु ने कहा है, इसलिए नहीं परन्तु अपने आश्रय से निर्णय करता है। इस प्रकार अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सर्वज्ञपना स्वीकार किया है, उस जीव को भव नहीं हो सकते, अर्थात् कि एक-दो भव में केवलज्ञान पानेवाला है। यही पुरुषार्थ है। जिसने केवलज्ञान का निर्णय किया, उसे भव होते नहीं।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १०, गुरुवार

यह जीवद्रव्य है, इसका त्रिकाल शुद्धस्वरूप है। जीवद्रव्य एक है और उसके गुण अनेक हैं। प्रत्येक गुण का परिणमन स्वतन्त्र हुआ करता है। द्रव्य, गुण और पर्याय की जो मर्यादा है, उसका ज्ञान हो तो पर्यायबुद्धि टालकर स्वभाव को उपादेय माननेरूप बुद्धि करे। परन्तु जिसे हेय माने, उसका ज्ञान तो करना पड़े न? पुण्य-पाप के विकारी भाव छोड़नेयोग्य हैं। क्षण-क्षण में जो पर्याय होती है, वह एक समय जितनी है, इसलिए उसकी रुचि भी छोड़ने जैसी है। परन्तु छोड़े कब? यथार्थ ज्ञान करे तो छूटे।

यहाँ बताते हैं कि आत्मा अखण्ड ज्ञानमूर्ति है, उसमें ज्ञानगुण त्रिकाल है और उसका परिणमन (सम्यक्) पाँच प्रकार से होता है और वहाँ कर्म का क्षयोपशम निमित्त है, निमित्त न हो, ऐसा होता नहीं, तथापि निमित्त द्वारा ज्ञान होता नहीं।

अब तीन अज्ञान की बात करते हैं।

आत्मा त्रिकाली शुद्ध क्या है—इत्यादि का जिसे ज्ञान नहीं और जो राग और विकार के साथ एकत्वबुद्धि करता है, उसका सब ज्ञान अज्ञान है। उस जीव का मतिज्ञान अज्ञान है। वह ज्ञान की विपरीतता कर्म के कारण या पर के कारण नहीं परन्तु अपने कारण से अपनी सत्ता में है। आत्मा के भान बिना ग्यारह अंग का पठन करे तो भी उसका सब ज्ञान कुमति और कुश्रुत है। वह आत्मा को लाभदायक नहीं। और किसी मिथ्यादृष्टि जीव को स्वर्ग तथा नरक के रूपी पदार्थ जानने का भी उघाड़ होता है, तथापि विपरीतबुद्धि से हुआ भाव होने से वह ज्ञान विभंगज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञान के विशेष भेद जैसे कि अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इत्यादि मतिज्ञान के भेद तत्त्वार्थसूत्र में से जान लेना। निमित्त, विकार और ज्ञान की पर्याय के भेद जानकर उन सबकी ओर का लक्ष्य छोड़नेयोग्य है और आत्मा शुद्धस्वरूपी एक ही उपादेय है, ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

●●

गाथा - ४२

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं॥४२॥

दर्शनमपि चक्षुर्युतमचक्षुर्युतमपि चावधिना सहितम्।
अनिधनमनन्तविषयं कैवल्यं चापि प्रज्ञप्तम्॥४२॥

दर्शनोपयोगविशेषाणां नामस्वरूपाभिधानमेतत् ।

चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनमिति नामाभिधानम् । आत्मा ह्यनन्तसर्वात्म-
प्रदेशव्यापिविशुद्धदर्शनसामान्यात्मा । स खल्वनादिदर्शनावरणकर्मावच्छन्नप्रदेशः सन्,
यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुरिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्,
यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं
सामान्येनावबुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते
तदवधिदर्शनम्, यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं सामान्येनावबुध्यते
तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम् ॥४२॥

चक्षु-अचक्षु अवधि केवल दर्श चार प्रकार हैं।

निराकार दर्श उपयोग में सामान्य का प्रतिभास है ॥४२॥

अन्वयार्थ :- [दर्शनम् अपि] दर्शन भी [चक्षुर्युतम्] चक्षुदर्शन, [अचक्षुर्युतम्
अपि च] अचक्षुदर्शन, [अवधिना सहितम्] अवधिदर्शन [च अपि] और [अनन्तविषयम्]
अनन्त जिसका विषय है ऐसा [अनिधनम्] अविनाशी [कैवल्यं] केवलदर्शन [प्रज्ञप्तम्]
- ऐसे चार भेदवाला कहा है।

टीका:- यह, दर्शनोपयोग के भेदों के नाम और स्वरूप का कथन है।

(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन - इस
प्रकार (दर्शनोपयोग के भेदों के) नाम का कथन है।

(अब, उसके स्वरूप का कथन किया जाता है:-) आत्मा वास्तव में अनन्त, सर्व
आत्मप्रदेशों में व्यापक, विशुद्ध दर्शनसामान्यस्वरूप है। वह (आत्मा) वास्तव में अनादि
दर्शनावरणकर्म से आच्छादित प्रदेशोंवाला वर्तता हुआ, (१) उस प्रकार के (अर्थात्

चक्षुदर्शन के) आवरण के क्षयोपशम से और चक्षु-इन्द्रिय के अवलम्बन से मूर्त द्रव्य को विकलरूप से 'सामान्यतः अवबोधन करता है, वह चक्षुदर्शन है,

(२) उस प्रकार के आवरण के क्षयोपशम से तथा चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और, मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य को विकलरूप से सामान्यतः अवबोधन करता है, वह अचक्षुदर्शन है,

(३) उस प्रकार के आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य को विकलरूप से सामान्यतः अवबोधन करता है, वह अवधिदर्शन है,

(४) समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से, केवल ही (-आत्मा अकेला ही), मूर्त-अमूर्त द्रव्य को सकलरूप से सामान्यतः अवबोधन करता है, वह स्वाभाविक केवलदर्शन है।-इस प्रकार (दर्शनोपयोग के भेदों के) स्वरूप का कथन है॥४२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १०, गुरुवार

आत्मा वस्तु त्रिकाल है, उसमें दर्शनगुण त्रिकाल है। वह असंख्यप्रदेश में अखण्ड व्यापकर रहा हुआ है। दर्शन का विषय सामान्य है। वह भेद करके जानता नहीं। उस दर्शन की चार पर्यायें हैं। उसमें चक्षुदर्शन की बात करते हैं। अपनी सत्ता से अपने में चक्षुदर्शन का उपयोग होता है, परन्तु हीन परिणमन होने से चक्षु निमित्त है, चक्षु से देखता है ऐसा नहीं, परन्तु चक्षुदर्शन का व्यापार जीव स्वतन्त्ररूप से अपने अस्तिकाय में करता है। जीव द्रव्य है, दर्शन गुण है और और चक्षुदर्शन, वह पर्याय है। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय होकर जीवास्तिकाय का स्वरूप पूरा होता है।

दर्शन का कार्य सामान्य अर्थात् कि भेद किये बिना देखना, वह है। एक ज्ञान का व्यापार होने के पश्चात् और दूसरे ज्ञान का व्यापार होने से पहले चेतना का सामान्य व्यापार कि जिसमें चक्षु निमित्त है, उस व्यापार को चक्षुदर्शन का व्यापार कहते हैं।

१. सामान्यतः अवबोधन करना = देखना। (सामान्य अवबोध अर्थात् सामान्य प्रतिभास वह दर्शन है।)

छद्मस्थ जीव को दर्शन-उपयोग के समय ज्ञान-उपयोग नहीं होता और ज्ञान-उपयोग के समय दर्शन-उपयोग नहीं होता। एक के बाद एक होता है। केवली भगवान को दोनों उपयोग एकसाथ होते हैं।

कर्म के उदय के कारण विकार माने और जीव की इच्छा के कारण शरीर चलता है, ऐसा माने, वह अज्ञानभाव है। एक-दूसरे के कारण से अवस्था कभी भी नहीं होती। निमित्त से कार्य होता नहीं परन्तु निमित्त की उपस्थिति है। स्वयं विकार करे तो कर्म निमित्त है। ऐसे निमित्त का, विकार का, भेद का यथार्थ ज्ञान करके, उन्हें हेय समझकर उस ओर का लक्ष्य छोड़ना चाहिए। उसी प्रकार यहाँ भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा अखण्ड दर्शनगुण से व्याप्त है, उसकी पर्याय में भेद पड़ता है। उसमें चक्षुदर्शनरूपी पर्याय के समय चक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है और बाह्य में चक्षु निमित्त है। परन्तु निमित्त के कारण से देखने का व्यापार नहीं होता।

आँख तो जड़ है। आँख में कहीं छिद्र नहीं कि जिस द्वारा आत्मा देख सके। जैसे दरवाजे की दरार में से पदार्थ दिखते हैं, उसी प्रकार शरीर में या आँख में कहीं दरार या छिद्र नहीं कि जिस द्वारा आत्मा देख सके, संघात नामकर्म की प्रकृति के कारण से औदारिकशरीर छिद्ररहितपने को प्राप्त है। औदारिक, कर्मण और तैजस तीन शरीरों की बड़ी वज्र जैसी दीवारें आत्मा के आड़े पड़ी है। अखण्ड तीन पर्दे आड़े होने पर भी जीव अपने दर्शन-उपयोग से देख रहा है। उसमें कर्म और चक्षु निमित्तमात्र हैं।

चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ और मन द्वारा पदार्थों का सामान्य अस्तित्व ख्याल में आना, वह अचक्षुदर्शन है। कान, नाक में कहीं छिद्र नहीं, अखण्डता है। अन्दर आत्मा अपनी शक्ति से देख रहा है। इन पाँच की उपस्थिति में पर्याय द्वारा भेद किये बिना छद्मस्थ जीव को जिस जाति का ज्ञान होनेवाला हो, उससे पहले के चेतना के सामान्य व्यापार को दर्शन उपयोग कहते हैं। एक वस्तु का ख्याल छोड़कर दूसरी वस्तु का ख्याल करने से पहले स्वभाव की ओर उन्मुखता व्यापार हो, उसे दर्शन कहते हैं।

अवधिज्ञान होने से पहले स्वर्ग-नरकादि को भेद किये बिना आत्मा से सीधे देखना हो, वह अवधिदर्शन है।

अनन्त पदार्थों को भेद किये बिना सामान्य प्रकार से देखना, वह केवलदर्शन है। सर्वज्ञ भगवान् अपने अतीन्द्रिय स्वभाव में स्थिर हुए और जो दर्शन प्रगट हो, वह केवलदर्शन है। केवली भगवान् को केवलदर्शन और केवलज्ञान एक ही समय में होते हैं। दोनों को भिन्न-भिन्न समय में माननेवाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं, वे वस्तुस्वभाव को समझते नहीं।

आत्मा वस्तु त्रिकाल है, उसका दर्शनगुण त्रिकाल है और पर्याय एक समय की है। केवलदर्शन पर्याय है। पहले समय में पहली, दूसरे समय में दूसरी—इस प्रकार से समय-समय में प्रगट होती है। वह स्वतन्त्र जीव के अस्तिकाय में असंख्यप्रदेश के समूह में होती है।

इस प्रकार से दर्शनगुण की पर्यायों के भेद का ज्ञान करके उनका लक्ष्य छोड़कर शुद्ध आत्मा उपादेय मानना चाहिए।

भावार्थ : चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन—इन चार भेदों द्वारा दर्शन-उपयोग जानना। दर्शन सामान्य रीति से देखता है। ज्ञान भेद करके जानता है। यह विकार है, यह निमित्त है, यह भी है, ऐसा विशेष करके जाने, वह ज्ञान है और दर्शन का लक्षण भेद किये बिना सामान्य देखना है। **भगवान् आत्मा स्वाभाविक भाव से असंख्यप्रदेशों में निर्मल दर्शनगुण से व्याप्त है।** ऐसा होने पर भी दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आत्मा ढँका हुआ है, यह निमित्त का कथन है। वास्तव में जड़ कर्म से ढँकता नहीं, स्वयं अपने कारण से ढँका हुआ है, उसमें दर्शनावरणीय कर्म निमित्त है, इसलिए दर्शनशक्ति हीन है। निमित्त से हीन दशा होती नहीं, स्वयं के कारण से हीन होती है, उसमें कर्म निमित्त है। वह हुए बिना रहता नहीं।

अन्तरंग चक्षुदर्शनावरणीयकर्म के क्षयोपशम के निमित्त से तथा नेत्र के निमित्त से मूर्तिक द्रव्यों का सामान्य देखना होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। कर्म का क्षयोपशम हुआ, इसलिए देखना हुआ, ऐसा नहीं और देखना हुआ, इसलिए कर्म को क्षयोपशम होना पड़ा, ऐसा भी नहीं है। स्वयं के कारण से उतना उघाड़ होता है, तब कर्म का क्षयोपशम अवश्य होता है, ऐसा मेल है।

कितने ही अज्ञानी जीव ऐसी दलील करते हैं कि घोड़ा चले, तब मनुष्य को चलना ही पड़ता है, उसी प्रकार कर्म का उदय आवे, तब जीव को राग करना ही पड़ता है—यह दलील अज्ञानभाव बतलाती है। कर्म के उदय से विकार होता हो तो कर्म का उदय सदा ही है तो विकार टालकर अविकारी होने का प्रसंग कभी आयेगा नहीं। दृष्टान्त में भी घोड़े के कारण मनुष्य नहीं चलता। घोड़े का मनुष्य में अभाव है। उसी प्रकार कर्म का आत्मा में अभाव है। स्वयं राग करे तो (कर्म) निमित्त कहलाते हैं। ऐसे अपने दृष्टा—सम्पूर्णरूप से देखने के—स्वभाव को चूकता है और स्वयं हीन दशा करता है तो कर्म के क्षयोपशम को तथा चक्षु को निमित्त कहा जाता है। चक्षुदर्शन पर्याय आत्मा के दर्शनगुण की है, वह पुद्गल की पर्याय नहीं, पुद्गल के कारण से नहीं। पुद्गलकर्म तथा चक्षु का आत्मा में अभाव है।

यहाँ पंचास्तिकाय में ज्ञान कराते हैं कि आत्मा त्रिकाली वस्तु है, दर्शनगुण है, उसकी चक्षुदर्शन हीन पर्याय है। उसमें चक्षुदर्शनावरणीयकर्म का क्षयोपशम तथा चक्षु निमित्त है, वह निमित्त न हो, ऐसा नहीं होता और वह निमित्त है, इसलिए दर्शन है, ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार निमित्त, पर्याय और द्रव्य—ऐसे सबका ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है। निमित्त परवस्तु है, पर्याय भेदरूप है, इसलिए उसके ऊपर का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान कर्तव्य है।

अचक्षुदर्शन : अन्तरंग अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के निमित्त से तथा चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, और मन के निमित्त से मूर्तिक तथा अमूर्तिक द्रव्य को सामान्य देखने सम्बन्धी व्यापार को अचक्षुदर्शन कहते हैं। कान इत्यादि इन्द्रियाँ निमित्त हैं, परन्तु उनके कारण से देखने का होता है, ऐसा नहीं। अचक्षुदर्शन कर्म के कारण से अथवा इन्द्रियों के कारण से माना जाये तो जीवास्तिकाय रहता नहीं। क्योंकि जीवद्रव्य, उसके दर्शनादि गुण और उसकी एक समय की पर्याय—ऐसे तीनों होकर जीवास्तिकाय का स्वरूप पूरा होता है। ज्ञान होने से पहले अचक्षुदर्शन का अभेद व्यापार जीवास्तिकाय की पर्याय में अपने कारण से होता है, निमित्त के कारण से होता नहीं; परन्तु उसमें अन्तरंग निमित्त अचक्षुदर्शनावरणीयकर्म का क्षयोपशम है और बाह्य निमित्त चार इन्द्रियाँ और मन है। वह निमित्त न हो, ऐसा भी नहीं होता।

अवधिदर्शन : अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से किंचित् मूर्तिक पदार्थों को सामान्यरूप से प्रत्यक्ष देखनेरूप व्यापार को अवधिदर्शन कहते हैं।

केवलदर्शन : सर्वथा प्रकार से दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से समस्त मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थों को सामान्यरूप से भेद किये बिना प्रत्यक्ष देखनेरूप व्यापार को केवलदर्शन कहते हैं।

आत्मा वस्तु ध्रुव है, उसका दर्शनगुण त्रिकाल है, तथा स्वरूपप्रत्यक्ष नाम का उपयोग—कारणदर्शन उपयोग—भी त्रिकाल है। जो एकरूप सदा ही रहा है, ऐसे आत्मा में सम्पूर्ण लीनता होने से केवलदर्शनरूप उपयोग उत्पाद होता है। वह उपयोग अपने कारण से प्रगट होता है। दर्शनावरणीय कर्म का अभाव हुआ, इसलिए दिखता है, ऐसा कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है परन्तु उससे कर्म का अभाव हुआ, इसलिए केवलदर्शन हुआ, ऐसा नहीं है तथा संहनन मजबूत हो तो केवलदर्शन होता है, ऐसा भी नहीं है। अपने कारण से होता है, तब संहनन तथा कर्म का अभाव होता है। और कोई कहता है कि पाँचवें काल के कारण से केवलदर्शन नहीं होता, तो वह भी भूल में है। अपनी उग्रता नहीं है, इसलिए केवलदर्शन नहीं होता। अपने में एकाग्र होकर परिपूर्ण पर्याय प्रगट नहीं करता, वह अपना दोष है। निमित्त की कमी के कारण या पाँचवें काल के कारण अटका है, ऐसा है ही नहीं।

इस जगत में भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र है। उसमें जीवद्रव्य है, उसमें प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। प्रत्येक आत्मा स्वयं द्रव्य है, उसके त्रिकाली दर्शनादि गुण हैं, उनका समय-समय में परिणमन होता है। हीन परिणमन में कर्म तथा इन्द्रियाँ निमित्त हैं। कर्म और इन्द्रियाँ इस जगत में वस्तु है, वह निमित्त होने पर भी वे दर्शनपर्याय को परिणमाते नहीं, क्योंकि गुण का परिणमन वह पर्याय है, निमित्त का परिणमन वह नहीं है। निमित्त का परिणमन निमित्त में है। ऐसे स्वतन्त्र पर्याय मानकर उस पर्याय जितना आत्मा नहीं। पर्याय एक समय की है, द्रव्य-गुण त्रिकाल है। इतना सब ज्ञान किये बिना द्रव्यदृष्टि होती नहीं। इस प्रकार ज्ञान करके निमित्त की, विकार की तथा पर्याय की रुचि छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की ओर ढले तो सम्यग्दर्शन और धर्म हो, ऐसा है।

प्रश्न : तिर्यच मेंढकादि जिन्हें सम्यग्दर्शन होता है, उन्हें इतना अधिक ज्ञान होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तिर्यच सम्यग्दृष्टि को प्रयोजनभूत ज्ञान सब होता है। या तो पूर्व में देशनालब्धि प्राप्त हुए होते हैं अथवा वर्तमान में भगवान के निकट समवसरण में देशना सुनते हैं और चैतन्यसत्ता का भान करते हैं। यह निमित्त है यह राग है, यह पर्याय है; मैं इनसे रहित त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा भान करके धर्म प्राप्त करते हैं। और स्व का ज्ञान होने पर निमित्त का, पर्याय इत्यादि का ज्ञान हो जाता है। तिर्यच को भिन्न-भिन्न नाम आवे, इतना विशेष उघाड़ न हो, परन्तु उसका भावभासन होकर प्रयोजनभूत बात का ज्ञान हो जाता है।

अज्ञानी मनुष्य ने मनुष्यपर्याय में आकर कुदेवादि की मान्यता करके, तत्त्व से विपरीत बहुत विपरीतता अपनी मान्यता में की है। इसलिए विरुद्ध मान्यता निकालने के लिये ज्ञान को बहुत दृढ़ करना पड़ता है। केसर लेने जाते समय बारदान बोरी नहीं होती परन्तु डिब्बा अथवा बरनी होती है, उसी प्रकार आत्मा में धर्मदशा प्रगट करने में निमित्तरूप से कुदेवादि नहीं होते, परन्तु सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग होता है। जगत में अस्तिकाय है। पर्याय में निमित्त कर्म और बाह्य इन्द्रियाँ हैं। वस्तुस्वरूप को बतलानेवाले सच्चे देवादि निमित्त हैं, तथापि आत्मा निमित्त से भिन्न है और पर्याय जितना नहीं। आत्मा त्रिकाल शुद्ध अखण्ड है, इत्यादि प्रकार से जैसा है, वैसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

प्रश्न : जातिस्मरण ज्ञान हो, वह पूर्व के संस्कार के कारण से होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्व के संस्कार के कारण से होता है, ऐसा कहना, वह उपचार कथन है। पूर्व पर्याय का वर्तमान पर्याय में अभाव है। पूर्व पर्याय तो व्यय हो गयी। जो व्यय हुई, वह वर्तमान को क्या मदद करे ? वर्तमान में पूर्व का याद आना, वह वर्तमान पर्याय की सामर्थ्यता बतलाता है। पूर्व के कारण से वर्तमान में काम नहीं होता। प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। केवलज्ञान की एक पर्याय के कारण दूसरी केवलज्ञान-पर्याय नहीं है, प्रत्येक स्वतन्त्ररूप से प्रगट होती है। पूर्व का याद आना, वह वर्तमान का सामर्थ्य बतलाता है।

कोई प्रश्न करे कि : प्राथमिक जीवों के लिये शुरुआत के लिये निसरणी के सोपान क्या ? प्रथम व्यवहार चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई ! व्यवहार अर्थात् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, इत्यादि प्रकार के शुभराग को व्यवहार कहते हैं। निश्चय के भान बिना व्यवहार नाम नहीं पाता। स्वभावदृष्टि बिना किसके ऊपर आरोप दिया जा सकता है ? निश्चय बिना व्यवहार होता नहीं। इसलिए पहले व्यवहार और फिर निश्चय, यह मान्यता अज्ञानी की है। आत्मा अखण्ड शुद्ध है, परिपूर्ण है। उसकी रुचि करना, वही प्रथम सोपान है। व्यवहार या राग वह सोपान ही नहीं है। आत्मद्रव्य, उसके गुण, उसकी पर्याय, उसमें निमित्त—ऐसे चारों का ज्ञान करके, भेद का ज्ञान करके, भेद की रुचि छोड़ना और त्रिकाली अभेद द्रव्य की रुचि करना, वह प्रथम सोपान है। ऐसे सच्चे ज्ञान के जोर से और सच्चे पुरुषार्थ के जोर से धर्म होता है। राग के काल में और राग के पुरुषार्थ से धर्म होता है, ऐसा नहीं है; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त, कर्म, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप का प्रथम ज्ञान करना चाहिए। ●●

मुनिराज का निज वैभव

सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आता है, परन्तु मुनि को उसका अतिप्रचुर आस्वादन होता है। समयसार की पाँचवी गाथा की टीका में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निजवैभव बतलाते हुए कहा है कि कैसा है निजवैभव? निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा अर्थात् छापवाला अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन से आचार्य भगवान् का निजवैभव उत्पन्न हुआ है। आत्मवस्तु स्वभाव से तो वीतरागस्वरूप है, परन्तु मुनिराज को पर्याय में भी अतिशय वीतरागता-समताभाव है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनमृत प्रवचन, पृष्ठ २५०

गाथा - ४३

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियं ति णाणीहिं॥४३॥

न विकल्प्यते ज्ञानात् ज्ञानी ज्ञानानि भवन्त्यनेकानि।
तस्मात्तु विश्वरूपं भणितं द्रव्यमिति ज्ञानिभिः॥४३॥

एकस्यात्मनोऽनेकज्ञानात्मकत्वसमर्थनमेतत् ।

न तावज्ज्ञानी ज्ञानात्पृथग्भवति, द्वयोरप्येकास्तित्वनिर्वृत्तत्वेनैकद्रव्यत्वात्, द्वयोरप्यभिन्न-प्रदेशत्वेनैकक्षेत्रत्वात्, द्वयोरप्येकसमयनिर्वृत्तत्वेनैककालत्वात्, द्वयोरप्येकस्वभावत्वेनैकभावत्वात्। न चैवमुच्यमानेप्येकस्मिन्नात्मन्याभिनिबोधिकादीन्यनेकानि ज्ञानानि विरुध्यन्ते, द्रव्यस्य विश्वरूपत्वात्। द्रव्यं हि सहक्रमप्रवृत्तानन्तगुणपर्याया-धारतयानन्तरूपत्वादेकमपि विश्वरूपम-भिधीयत इति ॥४३॥

ज्ञान से नहीं भिन्न ज्ञानी तदपि ज्ञान अनेक हैं।

ज्ञान की ही अनेकता से जीव विश्व स्वरूप है॥४३॥

अन्वयार्थ :- [ज्ञानात्] ज्ञान से [ज्ञानी न विकल्प्यते] ज्ञानी का (-आत्मा का) भेद नहीं किया जाता; [ज्ञानानि अनेकानि भवन्ति] तथापि ज्ञान अनेक है। [तस्मात् तु] इसलिए तो [ज्ञानिभिः] ज्ञानियों के [द्रव्यं] द्रव्य को [विश्वरूपम् इति भणितम्] विश्वरूप (-अनेकरूप) कहा है।

टीका:- एक आत्मा अनेक ज्ञानात्मक होने का यह समर्थन है।

प्रथम तो ज्ञानी (-आत्मा) ज्ञान से पृथक् नहीं है; क्योंकि दोनों एक अस्तित्व से रचित होने से दोनों को एकद्रव्यपना है, दोनों के अभिन्न प्रदेश होने से दोनों को एकक्षेत्रपना है, दोनों एक समय में रचे जाते होने से दोनों को एककालपना है, दोनों का एक स्वभाव होने से दोनों को एकभावपना है। किन्तु ऐसा कहा जाने पर भी, एक आत्मा में आभिनिबोधिक (-मति) आदि अनेक ज्ञान विरोध नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य

विश्वरूप है। द्रव्य वास्तव में सहवर्ती और क्रमवर्ती ऐसे अनन्त गुणों तथा पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्तरूपवाला होने से, एक होने पर भी, 'विश्वरूप कहा जाता है॥४३॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल ११, शुक्रवार

यह जीवास्तिकाय का वर्णन है। जीव एक है, तथापि ज्ञान की पर्याय द्वारा अनेक है। अनेक भेदरूप होना, वह उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। कर्म तथा दूसरे पदार्थों की निमित्तता है, इसलिए भेद पड़ते हैं, ऐसा नहीं है। कर्म पुद्गलास्तिकाय है, उसके कारण से ज्ञान में अनेकता आती नहीं। आत्मा अभेद होने पर भी भेद भी उसका स्वभाव है। यदि निमित्त से भेद माना जाये तो अस्तिकाय सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार आत्मा एक होने पर भी अनेक ज्ञानपर्यायों होने में कुछ भी दोष नहीं है।

आत्मवस्तु ज्ञानगुण से पृथक् नहीं। आत्मा के असंख्यप्रदेश में ज्ञानगुण व्यापकर रहा हुआ है। निमित्त दूसरी वस्तु होती है, परन्तु निमित्त से आत्मा में फेरफार नहीं होता, क्योंकि गुण-गुणी अभेद है। परमार्थ से गुण-गुणी में भेद नहीं है। क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से गुण-गुणी एक है, कर्म का क्षयोपशम हुआ, इसलिए ज्ञान का विकास हुआ, ऐसा नहीं और कर्म का नाश होता है, इसलिए केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा नहीं। अपने स्वभाव से ज्ञान होता है, निमित्त का स्व में अभाव है। निमित्त का ज्ञान, स्वतन्त्र पर्याय का ज्ञान, अभेद स्वभाव का ज्ञान—ऐसे तीनों का ज्ञान होने से द्रव्य उपादेय है, ऐसी बुद्धि होना, वह ज्ञान का फल है।

१. कर्मादि परपदार्थ निमित्त नहीं, यदि ऐसा माने तो खोटा है, क्योंकि निमित्त होता है।

१. विश्वरूप=अनेकरूप। (एक द्रव्य सहवर्ती अनन्त गुणों का और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्तरूपवाला भी है, इसलिए उसे विश्वरूप (अनेकरूप) भी कहा जाता है। इसलिए एक आत्मा अनेक ज्ञानात्मक होने में विरोध नहीं है।)

२. कर्मादि निमित्त है, इसलिए ज्ञान की पर्याय हीन परिणमती है, ऐसा माने तो खोटा है।

३. गुण का परिणमन स्वतन्त्र है। गुण और गुणी सर्वथा भेदस्वरूप ही माने तो खोटा है। गुण और गुणी अभेद है। ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

अब, इस गाथा में गुण-गुणी अभेद है, ऐसा बतलाते हैं। शरीर, कर्म, आहार, पानी के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा से अत्यन्त भिन्न पड़ते हैं। पर के चतुष्टय पर में और आत्मा के चतुष्टय आत्मा में हैं। आत्मा के तत्त्व में अनन्त वस्तुओं के अनन्त चतुष्टय अभावरूप है, इसलिए परचीज के कारण आत्मा की पर्याय में कुछ भी फेरफार होता है, ऐसा पर्याय का धर्म नहीं है। अब जैसे पर के चतुष्टय आत्मा से अभावरूप है, वैसे गुण के चतुष्टय गुणी आत्मा से अभावरूप नहीं, परन्तु एक है—ऐसा बताते हैं। जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव गुणी के हैं, वही गुण के हैं और जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव गुण के हैं, वे ही गुणी के हैं।

★ गुणी ऐसे आत्मा का जो द्रव्य है, वही ज्ञान-दर्शनादि गुणों का है।

★ आत्मा का जो असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है, वही ज्ञान-दर्शनादि गुणों का है।

★ आत्मा का जो काल है, वही ज्ञान-दर्शनादि गुणों का है।

★ आत्मा की जो शक्तियाँ हैं, वही ज्ञान-दर्शनादि गुणों की हैं।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, स्वच्छत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान इत्यादि गुण आत्मा से भिन्न नहीं हैं। ज्ञान बाहर से प्रगट होता है, ऐसा माननेवाला गुण-गुणी अभेद में से भेदरूप पर्याय आती है, ऐसा समझते नहीं। वे गुण और गुणी को सर्वथा भेदरूप मानते हैं, यह मान्यता खोटी है। इसलिए गुण-गुणी भेद है, ऐसा यहाँ समझाते हैं। इस प्रकार अभेद नय की अपेक्षा से एकता जानना।

अब, भेदनय से देखा जाये तो आत्मा में अनेकता भी है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, ऐसे पाँच प्रकार की ज्ञान की अवस्था है। जिसमें केवलज्ञानी को एक केवलज्ञान होता है। किसी जीव को मति-श्रुत, दो ज्ञान होते हैं; किसी जीव को मति, श्रुत, अवधि—ऐसे तीन अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय ऐसे तीन ज्ञान होते हैं

और किसी जीव को मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय—ऐसे चार ज्ञान होते हैं। गुण और गुणी में जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समान होते हैं, उसी प्रकार पर्याय में होता नहीं, थोड़ा अन्तर है। गुण-गुणी का द्रव्य, वही पर्याय का द्रव्य है। गुण-गुणी का क्षेत्र, वही पर्याय का क्षेत्र है। गुण-गुणी का काल त्रिकाल है, परन्तु पर्याय का काल एक समय का है। इतना अन्तर है।

इस प्रकार वस्तु एक है, तथापि अनेकरूप परिणमना, वह उसका स्वभाव है। एक और अनेकपना वह जीवास्तिकाय का स्वभाव है, वह पर के कारण से नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। कर्म का क्षयोपशम हुआ, इसलिए ज्ञान का विकास हुआ? नहीं। अलग-अलग उघाड़रूप की अनेक अवस्था होना, वह भेदधर्म जीवास्तिकाय का है, कर्म का नहीं।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कथन आता है कि केवलज्ञानावरणीय पुद्गलकर्म केवलज्ञान की अपूर्वशक्ति को रोकता है। वहाँ कर्म से केवलज्ञान रुका है, ऐसा कहना ही नहीं है। वहाँ पुद्गल की शक्ति का वर्णन है। केवलज्ञानावरणीय कर्म जो पुद्गल है, उसमें उत्कृष्ट निमित्तता कितनी है, यह बतलाने के लिये वह वर्णन है। परन्तु पुद्गलकर्म ने केवलज्ञान को रोक दिया, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। जीव केवलज्ञान की पर्यायरूप से परिणमे, वह जीवास्तिकाय का सामर्थ्य है और अटक जाये तो वैसा उसका सामर्थ्य है। वह अपनी सत्ता में अपने कारण से होता है। ज्ञान की पर्याय स्वतःसिद्ध होती है। निमित्त, परवस्तु इस जगत में है, परन्तु उसकी सामर्थ्य नहीं कि स्व-आत्मा को रोके, तथा आत्मा स्वपदार्थ की ऐसी सामर्थ्य नहीं कि पर निमित्त से रुक जाये।

इस गाथा ४३ में कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने कहा है—‘भवन्ति अनेकानि’ आत्मा स्वयं एकपने के स्वभाव को रखकर अनेकपने परिणमता है। अभेद स्वभाव रखकर स्वयं ही भेदरूप होता है। ‘विश्व’ शब्द है, इसका अर्थ भी अनेकरूप होता है, अर्थात् आत्मद्रव्य का या गुण का तो कोई कर्ता नहीं परन्तु भेदरूप अवस्थायें होती हैं, वे भी उसे स्वभाव है। उसका कर्ता कोई निमित्त अथवा परपदार्थ नहीं है। इस प्रकार एक-अनेक स्वभाव समझे तो अस्तिकाय का स्वरूप पूरा होता है।

भावार्थ : भगवान् आत्मा में गुण-गुणी की एकता है, भिन्नता नहीं, इसलिए तुझे ज्ञान को शोधना हो तो पुस्तक में से या पर में से ज्ञान मिलता है, ऐसा नहीं परन्तु गुण-गुणी अभेद है, ऐसी अन्तर एकता करे तो ज्ञान प्रगटे, ऐसा है। ऐसे एक होने पर भी अनेकता क्यों? भाई! अनेकता भी उसका स्वभाव है। अनेकरूप होने में विरोध नहीं है। क्योंकि द्रव्य कथंचित् प्रकार से भेद-अभेद स्वभाववाला है। गुण-गुणी प्रदेश अपेक्षा से अभेद है, तथापि पर्यायभेद से अनेक है। पर्याय-अपेक्षा से अनेक है, वही वस्तु-अपेक्षा से एक है परन्तु पर्याय-अपेक्षा से अनेक है, वही वस्तु-अपेक्षा से अनेक है, ऐसा नहीं है। अपेक्षा समझनी चाहिए।

कितने ही कहते हैं कि सिद्ध को 'काल' के कारण से परिणमना पड़ता है। यहाँ निषेध करते हैं। क्योंकि सिद्ध की पर्यायरूप से परिणमना, वह सिद्ध का भेदधर्म है, वह काल के कारण से नहीं है। वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। भेद बिना अभेद सधता नहीं और अभेद बिना भेद सधता नहीं। (दोनों) एक-दूसरे के साधक हैं, बाधक नहीं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप से परिणमना, वह जीवास्तिकाय का पर्याय—स्वभाव है। वह पर के कारण से नहीं है। गुण-गुणी की प्रदेश से अभेदता अर्थात् कि द्रव्य-अपेक्षा से अभेदता और पर्याय-अपेक्षा से भेदता है। इस प्रकार भेद-अभेद दोनों वस्तु का धर्म है। ऐसे अनेकान्त बिना द्रव्य की सिद्धि नहीं है।

इस कारण से अनेकान्त विद्या को जाननेवाले जीवों ने पदार्थ का स्वरूप अनेक प्रकार का कहा है। आत्मा वस्तु से अभेद है और पर्याय में भेद है, इसका नाम अनेकान्त है। स्वयं के कारण से है और पर के कारण से नहीं। अपना ज्ञान का उघाड़ हुआ, इसलिए ज्ञानावरणीयकर्म को क्षयोपशमरूप होना पड़ा, ऐसा नहीं है और केवलज्ञान हुआ, इसलिए केवलज्ञानावरणीयकर्म (को) जाना पड़ा, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो ज्ञान कर्ता और कर्म का टलना उसका कार्य होगा, परन्तु ऐसा है ही नहीं। पुद्गल में भेद-अभेदरूप होना, वह उसका स्वभाव है, वह आत्मा के कारण से नहीं है। अनेकान्त का जाननेवाला जानता है कि पर्याय के भेद मेरे कारण से हैं। शरीर, काल और कर्म के कारण से भेद है, ऐसा नहीं है।

द्रव्य-गुण तो शुद्ध है, परन्तु पर्याय में हीनता और विकार क्यों ? कर्म के निमित्त से वे होते हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। अनेकरूप होना, वह उसका धर्म है। छद्मस्थ को मतिज्ञान कैसे ? केवलज्ञानावरणीय कर्म है इसलिए ? नहीं, स्वयं का ऐसा ही भेदधर्म है।

केवलज्ञान का एक भेद, बाकी के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय में प्रत्येक-प्रत्येक के पर्याय में भी अनेक तारतम्यता दिखती है। किसी को मतिज्ञान अल्प, किसी को अधिक, किसी को श्रुत कम, किसी को अधिक—ऐसे मति, श्रुतादि में भी अनेक भेद पड़ते हैं। इतनी अधिक अनेकता का कारण ? कर्म के कारण से वह अनेकता है, ऐसा नहीं। गुण-गुणी एक होने पर भी पर्याय में अनेकता होने का धर्म है, इसलिए होता है। पर के कारण से अनेकता माने तो दो अस्तिकाय एक हो जाते हैं।

शब्द कान में पड़े, इसलिए ज्ञान नहीं होता। शब्द पुद्गलास्तिकाय है। शब्दों का ज्ञान में अभाव है। उसी प्रकार पंचम काल के कारण से केवलज्ञान रुका नहीं, परन्तु अपनी पर्याय की योग्यता के कारण से केवलज्ञान होता नहीं।

इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करना चाहिए, तथापि कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि कर्म प्रेरक होकर विकार कराता है और जितने प्रमाण में कर्म का उदय हो, उतने प्रमाण में विकार करना ही पड़ता है। निमित्त प्रेरक है, इसलिए नैमित्तिक को उसके प्रमाण में विकाररूप परिणमना ही पड़ता है। ऐसा सिद्धान्त हो तो निगोद में कर्म का तीव्र उदय है तो वहाँ से निकलकर त्रस होने का भी प्रसंग नहीं रहता। **विकार करे या न करे, ज्ञान बढ़े या घटे, वह सब पर्यायों की अनेकता होना, उस जीवास्तिकाय का भेदस्वभाव है। वह कर्म के कारण से नहीं है। (जो) ऐसा नहीं समझता, वह जीवास्तिकाय के भेदाभेद धर्म को नहीं समझता।**

पहले तीन प्रकार के समय के विषय में कहा गया है। शब्दसमय, ज्ञानसमय, अर्थसमय। शक्कर शब्द बोला गया; शक्कर का ज्ञान हुआ; शक्कर पदार्थ है। उसमें शब्द भिन्न है, ज्ञान भिन्न है, पदार्थ भिन्न है, तथापि जैसा शब्द, वैसा ज्ञान और वैसा पदार्थ है। ज्ञान का और अर्थसमय का स्वभाव एक और अनेक दोनों रूप से है। तत्प्रमाण यथार्थ ज्ञान करे और भेदस्वभाव पर से न जाने तो ज्ञान सच्चा है और उस ज्ञान

में जो पदार्थ ज्ञेयरूप से दिखाई दिया, वह अर्थसमय सच्चा है। परन्तु जो शास्त्र पर के कारण से अनेकता बतलाते हैं, वह शब्दसमय सच्चा नहीं है, उसका ज्ञान भी खोटा है और उसके ज्ञान का ज्ञेय जो अर्थसमय, वह भी खोटा है। कर्म मन्द पड़े तो वीतरागता होती है और कर्म की जोरावरी हो तो राग होता है, ऐसा कहनेवाले शास्त्र ही सच्चे नहीं हैं। परन्तु आत्मा का अभेद स्वभाव रखकर अनेकता होती है, ऐसा ज्ञान करे तो पर से भिन्न पड़कर, पर्याय की रुचि छोड़कर, अभेद स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करने का अवसर आवे।

भावार्थ : द्रव्य, अनन्त गुण और अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों की आधाररूप एक वस्तु है। अपने में विकार हो या अविकार हो, अधूरी दशा हो या पूर्ण विकासरूप दशा हो, चाहे जो दशा हो, परन्तु उसका आधार स्वयं है। परन्तु दूसरे के आधार से अपने में कुछ होता नहीं। पर की पर्याय के आधार से स्वयं नहीं है। इस प्रकार वस्तु एक अभेद होने पर भी पर्यायों से अनेक है। निगोद से सिद्ध सबका स्वभाव ऐसा है।

अज्ञानी जीव ऐसा कहते हैं कि असंज्ञी जीव कर्म के कारण से भटकते हैं, वहाँ बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ नहीं, इसलिए कर्म का जोर है, ऐसा कहते हैं तो वह बात खोटी है। कुमति, कुश्रुत ज्ञान का परिणमन अपने कारण से है, कर्म के कारण से नहीं। निगोद और सिद्ध, भव्य तथा अभव्य सब जीवों का स्वभाव द्रव्य से एकरूप और पर्याय से अनेकरूप होने का है।

क्षायिक समकित होना होता है, तब केवली की अथवा श्रुतकेवली की उपस्थिति होती है, परन्तु केवली से समकित होता नहीं। यदि पर्याय पराधीन माने तो पर्याय में सुधरने का रहता नहीं। इसलिए पर्याय का स्वतन्त्रपना और अनेकपना होना, वह जीवास्तिकाय का धर्म है। ऐसा ज्ञान करके, पर्याय की रुचि छोड़कर, अभेद स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्म है।

यदि गुण द्रव्य से सर्वथा प्रकार से भिन्न हों अथवा गुणों से द्रव्य भिन्न हों तो बहुत दोष लगता है। उष्णता कहीं और अग्नि कहीं मानी जाये तो दोष है, उसी प्रकार ज्ञान कहीं और आत्मा कहीं मानने से अर्थात् सर्वथा भिन्न मानने से दोष है, ऐसा अब कहेंगे।

गाथा - ४४

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंति यमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति॥४४॥

यदि भवति द्रव्यमन्यगुणतश्च गुणाश्च द्रव्यतोऽन्ये।
द्रव्यानन्त्यमथवा द्रव्याभावं प्रकुर्वन्ति॥४४॥

द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे, गुणानां च द्रव्याद्भेदे दोषोपन्यासोऽयम् ।

गुणा हि क्वचिदाश्रिताः। यत्राश्रितास्तद्रव्यम्। तच्चेदन्यद्गुणेभ्यः। पुनरपि गुणाः क्वचिदाश्रिताः। यत्राश्रितास्तद्रव्यम्। तदपि अन्यच्चेद्गुणेभ्यः। पुनरपि गुणाः क्वचिदाश्रिताः। यत्राश्रिताः तद्रव्यम् । तदप्यन्यदेव गुणेभ्यः । एवं द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे भवति द्रव्यानन्त्यम् । द्रव्यं हि गुणानां समुदायः । गुणाश्चेदन्ये समुदायात्, को नाम समुदायः । एवं गुणानां द्रव्याद्भेदे भवति द्रव्याभाव इति ॥४४॥

द्रव्य गुण से अन्य या गुण अन्य माने द्रव्य से।

तो द्रव्य होंय अनन्त या फिर नाश ठहरे द्रव्य का॥४४॥

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि [द्रव्यं] द्रव्य [गुणतः] गुणों से [अन्यत् च भवति] अन्य (भिन्न) हो [गुणाः च] और गुण [द्रव्यतः अन्ये] द्रव्य से अन्य हो तो [द्रव्यानन्त्यम्] द्रव्य की अनन्तता हो [अथवा] अथवा [द्रव्याभावं] द्रव्य का अभाव [प्रकुर्वन्ति] हो।

टीका:-द्रव्य का गुणों से भिन्नत्व हो और गुणों का द्रव्य से भिन्नत्व हो तो दोष आता है, उसका यह कथन है।

गुण वास्तव में किसी के आश्रय से होते हैं; (वे) जिसके आश्रित हों, वह द्रव्य होता है। वह (-द्रव्य) यदि गुणों से अन्य (-भिन्न) हो तो-फिर भी, गुण किसी के आश्रित होंगे; (वे) जिसके आश्रित हों, वह द्रव्य होता है। वह यदि गुणों से अन्य हो तो फिर भी गुण किसी के आश्रित होंगे; (वे) जिसके आश्रित हों, वह द्रव्य होता है। वह भी गुणों से अन्य ही हो।-इस प्रकार, यदि द्रव्य का गुणों से भिन्नत्व हो तो द्रव्य की अनन्तता हो।

वास्तव में द्रव्य अर्थात् गुणों का समुदाय। गुण यदि समुदाय से अन्य हो तो समुदाय कैसा ? (अर्थात् यदि गुणों को समुदाय से भिन्न माना जाये तो समुदाय कहाँ से घटित होगा ? अर्थात् द्रव्य ही कहाँ से घटित होगा ?) इस प्रकार, यदि गुणों का द्रव्य से भिन्नत्व हो तो, द्रव्य का अभाव हो॥४४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १२, शनिवार

यदि गुण द्रव्य से सर्वथा प्रकार से भिन्न हों अथवा गुणों से द्रव्य भिन्न हों तो बहुत दोष लगता है, ऐसा गाथा द्वारा कहते हैं।

जिसे धर्म करना है, उसे दूसरे पदार्थ से आत्मा भिन्न है, ऐसा निर्णय करना चाहिए। परन्तु जैसे आत्मा परवस्तु से अत्यन्त भिन्न है, वैसे उसके अपने गुणों से भिन्न होगा ? नहीं, गुणों से आत्मा भिन्न नहीं है। गुण-गुणी अभेद है। ऐसी अभेददृष्टि करने से धर्मदशा प्रगट होती है।

भावार्थ : आत्मा शरीर और कर्म से भिन्न है, वैसे आत्मा और उसके गुण भिन्न नहीं हैं। कथंचित् प्रकार से संज्ञाभेद से, लक्षणभेद से भेद है। परन्तु गुण-गुणी में सर्वथा प्रकार से भेद माना जाये तो एक द्रव्य के अनन्त भेद हो जाते हैं। अथवा गुण को भिन्न करने से द्रव्य का अभाव होता है, यह बताया जाता है।

आत्मा में गुण की अवस्था हो और द्रव्य भिन्न रह जाये अथवा द्रव्य की अवस्था हो और गुण भिन्न रह जाये, ऐसा नहीं होता। आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, उनमें नाम और लक्षणभेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भेद नहीं हैं। शक्कर और उसका मीठापन, ऐसे द्रव्य और उसका गुण नाम से भिन्न है, परन्तु जैसे शक्कर उसके डिब्बे से भिन्न है, वैसे शक्कर और मीठापन भिन्न नहीं परन्तु प्रदेश से अभेद है। शक्कर और मीठापन भिन्न नहीं रहते, उसी प्रकार शरीररूपी डिब्बा है, उससे तथा दूसरे जीवों से यह आत्मा अत्यन्त भिन्न है, वैसे आत्मा गुण से भिन्न हो, ऐसा नहीं होता परन्तु गुण-गुणी अभेद है।

आत्मा एक पदार्थ है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण अंशरूप हैं और गुणी आत्मा अंशी है। अर्थात् कि ज्ञान-दर्शन इत्यादि अंशों को धारण करनेवाला है। आत्मा शरीर को, कर्म को तथा दूसरी चीजों को धारण करनेवाला नहीं, उसी प्रकार अपने गुण को भी धारण करनेवाला नहीं, ऐसा नहीं है। जैसे आत्मा परवस्तु से भिन्न है, वैसे तेरे गुण को तेरे आत्मा से भिन्न मानेगा तो तुझे गुण-गुणी की अभेददृष्टि होगी नहीं।

शक्कर पदार्थ है और मीठापन और सफेदाई इत्यादि गुण वे उसके अंश हैं। वे गुण डिब्बे के आधार से नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, स्वच्छत्व, विभुत्व, कर्ता, करण इत्यादि अनन्त शक्तियाँ हैं, वे अंश हैं—भेद हैं—अनेक हैं और गुणी—अंशी—आत्मा एक है और वह आधार देनेवाला है। अपने गुण का आधार शरीर, कर्म, परवस्तु नहीं, परन्तु त्रिकाली आत्मा अपना आधार है, ऐसी अभेद श्रद्धा करे तो धर्म हो, ऐसा है।

देव-गुरु-शास्त्र की उपस्थिति हो, शरीर अच्छा हो, एकान्तमय जगह हो, दूसरे जीवों के भाव अनुकूल हो और बाहर का अनुकूल काल हो तो धर्म होता है, ऐसे बाहर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अपने में धर्म प्रगट होता है, ऐसा माननेवाला गुण का आधार परवस्तु को मानता है, परन्तु गुण का आधार आत्मा है, ऐसा नहीं मानता। घर में बहुत लोग हों और आवाज करे तो मुझे ध्यान किस प्रकार करना? वह जीव ध्यानरूपी शान्ति का आधार पर के कारण से मानता है, वह मान्यता झूठी है। शक्कर को अफीम के साथ रखने से शक्कर में कड़वाहट आ नहीं जाती। क्योंकि दोनों को अन्योन्य अभाव है। उसी प्रकार आत्मा और दूसरे आत्मा तथा जड़ पदार्थों के बीच अत्यन्त अभाव है, तथापि पर के कारण से लाभ या कलुषितता होती है, ऐसा नहीं होता। और कितने ही जीव देह को धर्म का साधन मानते हैं। बुखार आवे तो धर्म होगा? ऐसी दलील करते हैं। भाई! धीर हो। जड़ की पर्याय से तू भिन्न है, तेरे गुण प्रगटाने का आधार तेरा आत्मा है। शरीर पलटने से तेरी अवस्था पलट जाये, ऐसा नहीं होता।

अंशी से अंश भिन्न हो सकता नहीं और अंशी के आश्रय से अंश रहता है। भाव और भाववान भिन्न नहीं रह सकते। आत्मा द्रव्य है; ज्ञान, दर्शनादि उसके गुण हैं, वे कोई काल के आश्रय से नहीं, चौथे काल में गुण बढ़ जायें और पाँचवें काल में गुण घट

जायें, ऐसा नहीं है। अखण्ड द्रव्य के आश्रय से जो परिणमन होता है, वही गुण का परिणमन है और वही द्रव्य का परिणमन है।

मेरुपर्वत के बीच में बैठने की भी जगह नहीं। है, तो भी मेरु पर्वत की प्रत्येक कंकड़ी से अनन्त जीव मुक्ति को पाये हैं। एक अंगुल का असंख्यातवाँ भाग भी खाली नहीं कि जहाँ मुक्ति पाये न हों। किसी मुनि को छठवें गुणस्थान में उपसर्ग आवे और कोई देव आकर उन मुनि को उल्टा करके (जैसे) धोबी वस्त्र को पछाड़ता है, वैसे पर्वत के साथ पछाड़े। देव के इतने अधिक कलुषित परिणाम होते हैं, तो भी मुनि विकल्प टालकर अपने ध्यान में लीन होते हैं। अन्तर अखण्ड ज्ञाता की दृष्टि तो थी। मेरा केवलज्ञान मेरे अन्तर में से प्रगट होता है, ऐसी गुण-गुणी की एकता विशेष दृढ़ करके केवलज्ञान पाकर मुक्ति पाते हैं। बाहर से देव का उपसर्ग है और ध्यान के लिये बाहर से बैठने की जगह नहीं और शरीर तो उल्टा होकर पर्वत के साथ पछाड़ खाता है तो भी मुक्ति पाते हैं। ऐसे अनन्त मुनि वहाँ कंकड़ी-कंकड़ी से मोक्ष गये हैं। मुक्त होने के समय शरीर सुलटा होकर जीव समश्रेणी से ऊँचे जाता है, इसलिए गुण-गुणी की एकता की दृष्टि ही धर्म का और मोक्ष का कारण है।

यदि ऐसा कहा जाये कि अंश से भिन्न है तो अंश किस अंशी के आश्रय से रहता है ? जिस प्रकार शरीर, कर्म आदि आत्मा से भिन्न हैं, वैसे ज्ञान-दर्शनादि गुण आत्मा से भिन्न कहो तो ज्ञान-दर्शन गुण किसके आधार से रहते हैं ? अर्थात् कि आत्मा के आधार बिना गुण रह नहीं सकते। देखो, यह जीवास्तिकाय का वर्णन है। तू जीव है और कायवाला है अर्थात् असंख्यप्रदेश, वह तेरी काय है। पर की काया तो तेरी नहीं परन्तु औदारिक, कार्मण और तैजस, वह भी तेरी काया नहीं। एक परमाणु के एक प्रदेश के क्षेत्र के गज से मापा जाये तो प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी चौड़ा है और तेरा क्षेत्र है, वह तेरी काया है। अरूपी ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों से भरपूर तेरी काय है। वे गुण तुझसे कभी भिन्न नहीं पड़ते। ऐसी पहिचान कर।

सोना पदार्थ है, उसमें पीलापन, चिकनापन इत्यादि गुण हैं। गुण आधेय है और सोना आधार है। उसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुण आधेय है और आत्मा आधार है। देव-गुरु के कारण से समकित होता है, पुद्गल के कारण से जीव में फेरफार हो तो

जीवास्तिकाय रहता नहीं। क्योंकि गुणों का आधार परवस्तु को माना, यही भ्रमणा है। पैसा उसके परमाणु के आधार से है। उसका आधार आत्मा नहीं और एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु इकट्ठे दिखाई देते हैं, तथापि वहाँ भी एक परमाणु के गुण दूसरे परमाणु के आधार से नहीं हैं, परन्तु अपने द्रव्य के आधार से है। अच्छा आहार-पानी मिले तो लाभ हो, खराब आहार-पानी मिले तो नुकसान हो, यह मान्यता अज्ञानभाव है। जगत में पदार्थसमय ऐसा है कि उसमें गुण-गुणी भिन्न नहीं पड़ते, तत्प्रमाण ज्ञान करे तो ज्ञान सच्चा और तत्प्रमाण शब्द कहे तो शब्द सच्चे हैं। परन्तु पर से लाभ होता है अथवा धर्म की दशा होती है, ऐसा कहनेवाले शास्त्र सच्चे नहीं हैं। वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है और गुण को गुणी का आधार स्वीकार न करे तो पदार्थ का स्वरूप भी सच्चा मिला नहीं। अर्थसमय का स्वरूप ही ऐसा है कि गुण का आधार गुणी है। तुझे धर्मदशा प्रगट करनी है न? किसके सामने देखकर? तेरे गुण पर में से आते नहीं, इसलिए पर के सामने देखना नहीं है। परन्तु तेरे गुण का आधार गुणी आत्मा है, ऐसे गुण-गुणी की एकता करेगा तो धर्मदशा प्रगट हो, ऐसा है।

‘और जो यों कहिये कि अंश से अंशी जुदा होता है तो वे अंश आधार के बिना किस अंशी के आश्रय से रहे? उसके लिये अन्य कोई अंशी चाहिए कि जिसके आधार से अंश रहे। और जो कहो कि अन्य अंशी है, उसके आधार से रहते हैं तो उस अंशी से भी अंश जुदे कहने होंगे। और यदि कहोगे कि उससे भी अंश जुदे हैं तो फिर अन्य अंशी की कल्पना की जायेगी, इस प्रकार कल्पना करने से गुण-गुणी की स्थिति नहीं होयगी।’

ज्ञान-दर्शनगुण आत्मा से भिन्न हों तो आधार बिना वे गुण किस प्रकार रहे? इसलिए उनका आधार होना चाहिए। उनका आधार दूसरा मानेगा तो दूसरे पदार्थ में अंश भिन्न रहता है, इसलिए दूसरे आधार की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् कि तेरे ज्ञान-दर्शन गुण प्रगटाने के लिये बाहर में भिन्न-भिन्न पदार्थों का अवलम्बन लेने जायेगा तो गुण-गुणी एकता को कभी पायेगा नहीं और तुझे प्रमाणज्ञान होगा नहीं। तेरे गुण की दशा प्रगट करने के लिये तेरा आधार है, ऐसा माने बिना तेरा अन्त आयेगा नहीं।

इस जगत में अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल इत्यादि अनन्त द्रव्य हैं। उन प्रत्येक से

तेरा आत्मा भिन्न है। प्रत्येक से अन्यरूप है, ऐसे अनन्त अन्यत्वधर्म तुझमें रहे हुए हैं, उसके कारण तू कभी पररूप होता नहीं। और प्रभुत्व, स्वच्छत्व, ज्ञान, दर्शनादि अनन्त गुण हैं। आत्मा वस्तु एक है और गुण अनन्त हैं। अब गुणों को द्रव्य से भिन्न मान तो गुण अनन्त होने से द्रव्य अनन्त हो जायेंगे। द्रव्य एक होने पर भी द्रव्य अनन्त होंगे—यह दोष आयेगा। द्रव्य तो अनन्त होते नहीं परन्तु एकरूप अभेद द्रव्य के ऊपर दृष्टि नहीं रहने से भेददृष्टि रहेगी और तेरी खण्ड-खण्ड दृष्टि होने से तुझे धर्मदशा होगी नहीं।

यह लकड़ी है, वह हाथ के ऊपर रही हुई दिखती है। उसका आधार हाथ नहीं परन्तु उसे लकड़ी के परमाणुओं का आधार है। संयोग को देखनेवाला हाथ को देखता है परन्तु लकड़ी के स्वभाव को नहीं देखता। लकड़ी में स्पर्श आदि अनन्त गुण हैं, उनका द्रव्य वह परमाणु, ऐसे गुण-गुणी अभेद है, उसे देखता नहीं।

अज्ञानी जीव को पर की महिमा आती है, शक्कर में मिठास की शक्ति, नींबू में खटास की शक्ति, बम में जमीन को तोड़ डाले ऐसी शक्ति, दवा में कफ तोड़े ऐसी शक्ति—ऐसे पर की शक्ति की महिमा आती है, परन्तु तुझमें कुछ सामर्थ्य अथवा माल है या नहीं? अज्ञानी कहता है कि हम पामर प्राणी हैं, हमारे में कहाँ से सामर्थ्य हो? इस प्रकार अपनी सामर्थ्य की खबर नहीं। अधर्म का नाश करना है, धर्म का उत्पाद करना है और दोनों में कायम रहना है। ऐसे पर्याय की सामर्थ्य तथा गुण-गुणी की सामर्थ्य न समझे तो धर्म का परिणमन होता नहीं। जैसे सोना में पीलापन, चिकनापन आदि अनन्त गुण हैं, और सोना उनसे अभेद है; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। वह शक्ति और शक्तिवान अभेद है। तेरे ज्ञान और सुख के लिये बाहर में देखने का नहीं परन्तु अन्तर में देख तो अभेददृष्टि होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होकर सुखदशा-धर्मदशा प्रगट होगी और अधर्म का नाश होगा और तू कायम रहेगा।

यदि आत्मा और उसके गुण भिन्न माने जायें तो एक आत्मा अनन्त वस्तुरूप से हो जायेगा। वस्तु तो अनन्त होती नहीं, परन्तु तेरी मान्यता भेदभंग में रुकेगी, खण्ड-खण्ड होगी, अभेदता पायेगी नहीं।

यह एक दोष बताया। अब दूसरा दोष बतलाते हैं।

यदि आत्मा तथा उसके गुण भिन्न मानने में आवें तो दूसरा दोष बतलाते हैं। ऐसा मानने से द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है क्योंकि गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और यदि गुण द्रव्य से भिन्न हों तो द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि संहनन मजबूत हो, आहार अच्छा हो तो धर्म होता है, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। उसने बाहर से धर्म माना, इसलिए गुण और द्रव्य भिन्न माने, परन्तु द्रव्य गुण बिना होता नहीं, इसलिए यह मान्यता खोटी है। शरीर, मन, वाणी से और शत्रुंजय या सम्मेदशिखर जाने से धर्म माननेवाला गुण और गुणी भिन्न मानता है। गुण भिन्न मानने से द्रव्य का नाश होता है। (वास्तव में) द्रव्य का नाश होता नहीं, परन्तु अपने में सच्ची श्रद्धा का नाश होता है। तुझे धर्म करना हो तो यथार्थ स्वरूप को पहिचान। तू पूरा पदार्थ असंख्यप्रदेशी है, अनन्त गुण से भरपूर है। गुण भिन्न मानने से आत्मा का नाश होता है अर्थात् तुझमें श्रद्धा का नाश होता है।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है कि जो जीव मदिरा, माँस, मधु और उदम्बर फल खाने के तीव्र बुरे परिणाम करता है, वह जीव देशना का भी पात्र नहीं है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि इन चीजों के कारण से उसे बुरे परिणाम हुए हैं। ये चीजें हैं, इसलिए तीव्र कषाय है—ऐसा नहीं। तथा ये चीजें छूट गयी, इसलिए धर्म होता है—ऐसा भी नहीं है। ये चीजें तो पर है, इनका ग्रहण—त्याग आत्मा में नहीं परन्तु जिसे गुण-गुणी की एकता का भान नहीं और तीव्र लोलुपता वर्तती है, उसे ऐसे बुरे परिणाम होते हैं। वैसा जीव देशना सुनने के योग्य नहीं है। परन्तु इन चीजों के कारण से उसका नालायकपना नहीं, उसे नालायकपना अपने मिथ्याभाव और तीव्र कषाय के कारण से है। सामान्य आर्य हो, उसे भी माँसादि खाने के भाव होते ही नहीं और वे चीजें छूटी हैं, इसलिए धर्म अथवा सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा भी नहीं है। आठ मूलगुणों का पालन तो अनन्त बार जीव ने किया है, परन्तु उसके द्वारा धर्म हुआ नहीं। धर्म तो गुण-गुणी की एकतारूप दृष्टि अर्थात् कि द्रव्यदृष्टि से होता है।

जीव ने अनन्त बार शुभभाव किये, शुक्ललेश्या के परिणाम किये, बाहर से मुनिपना लिया, शरीर के खण्ड-खण्ड करे तो भी क्रोध न करे, परन्तु अन्तर परिणाम निमित्त के ऊपर और राग के ऊपर झुके हुए हैं। अपना गुण पर में से प्रगट होगा, ऐसा

वह मानता है परन्तु गुण-गुणी की एकता करके मेरे द्रव्य में से धर्म प्रगट होगा, यह बात उसे बैठती नहीं। ऐसा जीव पुण्य के कारण स्वर्ग में जाता है परन्तु उसे धर्म नहीं होता, इसलिए वह चार गति में भटकता है।

तुझे धर्म करना है न ? धर्म कहाँ होता है ? आत्मा में होता है। आत्मा कितना है ? आत्मा गुणों का समूह है। तेरे गुण-गुणी को भिन्न मानेगा तो धर्म होगा नहीं। निमित्त आवे तो गुण प्रगटे, ज्ञान का उघाड़ पुस्तक में से आता है, पहले ज्ञान नहीं था और वाणी सुनने के बाद ज्ञान प्रगट हुआ—इत्यादि प्रकार से माननेवाला अपने ज्ञानादि गुण पर से आते हैं, ऐसा मानता है, अपने आत्मा से उन्हें भिन्न मानता है, परन्तु स्वयं ज्ञानादि गुणों से अभेद स्वरूप है, ऐसा नहीं मानता। उसकी श्रद्धा खण्ड-खण्ड होती है अथवा मिथ्याश्रद्धा होती है।

नैयायिक भी गुण-गुणी को भिन्न मानते हैं। एक घड़ा कोरा—नया है, उसमें पानी डालो तो गन्ध दिखती है। प्रथम घड़े में गन्ध नहीं थी, परन्तु पानी डालने से गन्ध आयी, ऐसा नैयायिक दृष्टान्त देकर गुण-गुणी को भिन्न मानते हैं। घड़े में गन्ध नाम का गुण है, वह व्यक्त होता है, ऐसा नहीं मानकर गन्ध पानी में से आती है—ऐसा मानना, वह भूल है। उसी प्रकार जैन नाम धराकर ऐसा कहे कि पहले हमको ज्ञान नहीं था, परन्तु निमित्त मिला तो ज्ञान प्रगट हुआ और जैसा निमित्त आवे, वैसी पर्याय होती है (तो) ऐसा माननेवाला अपने गुण पर में से आते हैं, ऐसा मान रहा है। परन्तु अपने में गुण भरे हैं, उसमें से वे प्रगट होते हैं, ऐसा नहीं मानता। उसमें और नैयायिकों में परमार्थ से कोई अन्तर नहीं है। दोनों की श्रद्धा खोटी है।

अपने गुण अपने में से प्रगट होते हैं। ऐसे गुण-गुणी अभेद मानकर श्रद्धा करे तो धर्म होता है, ऐसा है।

गुण-गुणी भिन्न मानने से एक के अनेक द्रव्य होते हैं अथवा द्रव्य का नाश होता है। इसलिए गुण-गुणी प्रदेश से अभेद हैं। सर्वथा प्रकार से भेद नहीं, कथंचित् प्रकार से भेद है।



गाथा - ४५

अविभक्तमणणत्तं द्रव्यगुणाणं विभक्तमणणत्तं।
णिच्छन्ति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं॥४५॥

अविभक्तमनन्यत्वं द्रव्यगुणानां विभक्तमन्यत्वम्।
नेच्छन्ति निश्चयज्ञास्तद्विपरीतं हि वा तेषाम्॥४५॥

द्रव्यगुणानां स्वोचितानन्यत्वोक्तिरियम् ।

अविभक्तप्रदेशत्वलक्षणं द्रव्यगुणानामनन्यत्वमभ्युपगम्यते । विभक्तप्रदेशत्वलक्षणं त्वन्यत्वमनन्यत्वं च नाभ्युपगम्यते । तथाहि-यथैकस्य परमाणोरेकेनात्मप्रदेशेन सहाविभक्त-त्वादनन्यत्वं, तथैकस्य परमाणोस्तद्वर्तिनां स्पर्शरसगन्धवर्णादिगुणानां चाविभक्तप्रदेशत्वाद-नन्यत्वम् । यथा त्वत्यन्तविप्रकृष्टयोः सह्यविन्ध्ययोरत्यन्तसन्निकृष्टयोश्च मिश्रितयोस्तोयपयसो-र्विभक्तप्रदेशत्वलक्षणमनन्यत्वमनन्यत्वं च, न तथा द्रव्यगुणानां विभक्तप्रदेशत्वाभावादन्यत्व-मनन्यत्वं चेति ॥४५॥

द्रव्य अर गुण वस्तुतः अविभक्तपने अनन्य हैं।

विभक्तपन से अन्यता या अनन्यता नहीं मान्य है ॥४५॥

अन्वयार्थ :- [द्रव्यगुणानाम्] द्रव्य और गुणों को [अविभक्तम् अनन्यत्वम्] अविभक्तपनेरूप अनन्यपना है; [निश्चयज्ञाः हि] निश्चय के ज्ञाता [तेषाम्] उन्हें [विभक्तम् अन्यत्वम्] विभक्तपनेरूप अन्यपना [वा] या [तद्विपरीतं] (विभक्तपनेरूप) अनन्यपना [न इच्छन्ति] नहीं मानते।

टीका:-यह, द्रव्य और गुणों के स्वोचित अनन्यपने का कथन है (अर्थात् द्रव्य और गुणों को कैसा अनन्यपना घटित होता है, वह यहाँ कहा है।)

द्रव्य और गुणों को 'अविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना स्वीकार किया जाता है; परन्तु विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अन्यपना तथा (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना स्वीकार

१. अविभक्त=अभिन्न। (द्रव्य और गुणों के प्रदेश अभिन्न हैं, इसलिए द्रव्य और गुणों को अभिन्नप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है।)

नहीं किया जाता। वह स्पष्ट समझाया जाता है:—जिस प्रकार एक परमाणु को एक स्वप्रदेश के साथ अविभक्तपना होने से अनन्यपना है, उसी प्रकार एक परमाणु को तथा उसमें रहनेवाले स्पर्श-रस-गुध-वर्ण आदि गुणों को अविभक्त प्रदेश होने से (अविभक्त-प्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना है; परन्तु जिस प्रकार अत्यन्त दूर ऐसे 'सह्य और विंध्य को विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है तथा अत्यन्त निकट ऐसे मिश्रित 'क्षीर-नीर को विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है, उसी प्रकार द्रव्य और गुणों को विभक्त प्रदेश न होने से (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना तथा (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना नहीं है॥४५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १३, रविवार

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे परपदार्थ से मैं भिन्न हूँ, ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए। अपना धर्म परपदार्थ के अवलम्बन से या पर में नहीं होता, इसलिए पर से आत्मा भिन्न है और अपने गुणों से अभेद है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

द्रव्य और गुणों का भाव एक है। शरीर और कर्म एक क्षेत्र में दिखते हैं। दूध और पानी एक जगह में दिखते हैं, परन्तु वे एक नहीं हैं। उसी प्रकार से गुण और द्रव्य के नाम भिन्न हैं, परन्तु एकभावरूप से हैं। पानी और दूध के प्रदेश भिन्न हैं, कर्म और शरीर के प्रदेश भिन्न हैं; वैसे गुण और द्रव्य के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। दूध की सफेदाई में नामभेद से भेद है, तथापि दूध और सफेदाई के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार आत्मा और उसके ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों में नामभेद से भेद है, परन्तु उनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार गुण-गुणी अभेद है। ऐसी अन्तर्दृष्टि से धर्म हो, ऐसा है।

गुण-गुणी दोनों को भिन्न प्रदेशरहितपना है। द्रव्य का नाश होने से गुण का

१. अत्यन्त दूर स्थित सह्य और विंध्य नाम के पर्वतों को भिन्न प्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है।
२. अत्यन्त निकट स्थित मिश्रित दूध-जल को भिन्न प्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है। द्रव्य और गुणों को ऐसा अनन्यपना नहीं है, किन्तु अभिन्न प्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है।

अभाव अथवा गुणों का नाश होने से द्रव्य का अभाव हो जाये, ऐसा एक भाव है। दूध में से पानी का नाश होने से दूध का नाश नहीं होता क्योंकि दोनों भिन्न चीज़ हैं। उसी प्रकार शरीर, कर्मादि पदार्थों का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता क्योंकि शरीर, कर्मादि से आत्मा भिन्न है, परन्तु जैसे दूध में से सफेदाई निकाल जाने पर दूध का नाश होता है और दूध का नाश होने से सफेदी का नाश होता है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण नहीं, ऐसी मान्यता से आत्मा का नाश हो जाता है और आत्मा का नाश होने से ज्ञान-दर्शनादि गुणों का नाश होता है। जो कोई ऐसा मानता है कि मुझमें धर्मदशा तो संयोग अनुकूल आवे अथवा शरीर की क्रिया करें तो प्रगट होती है, वह जीव और शरीर जो प्रदेशभेदसहित है, उनके साथ एकत्वबुद्धि करता है। और अपने में ज्ञान-दर्शनादि गुण भरे हैं, उन्हें पर में मान रहा है; इसलिए गुण बिना का द्रव्य मान रहा है, यह मान्यता अज्ञानभाव है।

गुण-गुणी का एकभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है, यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

‘अर्थात् जैसे एक परमाणु की अपने एक प्रदेश से पृथक्ता नहीं है और जैसे उस ही परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणों की पृथक्ता नहीं है, तैसे ही समस्त द्रव्यों में प्रदेशभेदरहित गुण-पर्याय का अभेदभाव जानना। ऐसी प्रदेशभेदरहित द्रव्य गुणों की एकता आचार्यजी ने अंगीकार की है।’

एक परमाणु का दृष्टान्त देते हैं। परमाणु स्वयं द्रव्य है। उसका एक प्रदेश, वह उसका क्षेत्र है। स्पर्शादि उसके गुण हैं और स्पर्शादि की समय-समय की अवस्था, वह पर्याय है। ऐसे चार प्रकार से परमाणु को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एकता है। परमाणु उसके क्षेत्र से, गुणों से और पर्याय से भिन्न नहीं। यह अँगुली है, यह इसकी चौड़ाई से भिन्न नहीं, इसके स्पर्श (आदि) गुणों से और इसकी पर्याय से भिन्न नहीं। अँगुली हो और गुण, क्षेत्र और पर्याय न हो, ऐसा नहीं होता। गुण-पर्याय हो और अँगुली न हो, ऐसा नहीं होता। परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एकभाव है। उसी प्रकार से समस्त द्रव्यों में प्रदेशभेदरहित गुण-पर्याय का अभेद भाव जानना। आत्मा द्रव्य है। उसके असंख्य प्रदेश उसका क्षेत्र है, समय-समय की अवस्था उसका काल है और

ज्ञान-दर्शनादि उसका भाव है। इस प्रकार आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एकरूप है, भिन्न नहीं।

एक परमाणु दूसरे परमाणु से और आत्मा से भिन्न है, परन्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न नहीं। शरीर, वाणी, कर्म सब पदार्थ अपने-अपने चतुष्टय में हैं और आत्मा से भिन्न हैं। शरीर, कर्म और आत्मा भिन्न होने पर भी अज्ञानी जीव को एकपने की मान्यता हो गयी है। विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वत जैसे भिन्न हैं, वैसे शरीर और आत्मा भिन्न है।

इस जगत में छह द्रव्य हैं, वे अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एकमेक हैं और पर से तीनों काल भिन्न हैं। आत्मा अपने असंख्यप्रदेश में अपने गुण-पर्याय से एकमेक है। धर्मास्तिकाय अपने असंख्यप्रदेश में अपने गुण-पर्याय से एकमेक है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एकमेक है। ऐसी प्रदेशभेदरहित की एकता आचार्यों ने स्वीकार की है। परन्तु प्रदेशभेदसहित की एकता स्वीकारते नहीं। गुण के प्रदेश भिन्न और आत्मा के प्रदेश भिन्न, ऐसा ज्ञानी स्वीकार नहीं करते।

तीर्थकरदेव ने वस्तु का स्वरूप देखा है और वैसा वाणी में आया है। तेरा आत्मा तेरे गुण-पर्याय से भिन्न नहीं है। गुणों को कहाँ शोधने जायेगा ? धर्म कहाँ शोधना है ? धर्म तेरी चीज़ छोड़कर बाहर में है ? अपने धर्म के लिये जो बाहर शोधता है, वह अपने गुण-पर्याय से अपने को भिन्न मानता है, यह मान्यता झूठी है। जैसे दूध और सफेदी भिन्न नहीं हैं; उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण और उनकी पर्यायें तेरे आत्मा से भिन्न नहीं हैं। तू बाहर में शोधने जायेगा तो मिले, ऐसा नहीं है। इसलिए गुण-पर्याय की अन्तर एकता कर तो धर्मदशा प्रगटे, ऐसा है।

‘और गुण-गुणी में कथंचित् भेद से निजस्वरूप के जाननहारे हैं, वे द्रव्य-गुणों में भेदभाव प्रदेशभेद से नहीं चाहते हैं।’

गुण-गुणी में नामादि भेद से भेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं। आत्मा और ज्ञान—ऐसे नामभेद से भेद है, परन्तु गुण के प्रदेश कहीं और आत्मद्रव्य के प्रदेश (कहीं)—ऐसा भेद नहीं है।

भावार्थ : द्रव्य अथवा गुणों में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद है, तथापि ऐसा भेद नहीं कि जिससे प्रदेशों की पृथक्ता हो। देखो, यहाँ केवलीभगवान का वीतरागी विज्ञान बतलाते हैं।

संज्ञा : आत्मद्रव्य का नाम आत्मा है और गुण के ज्ञान-दर्शन आदि हैं। इस प्रकार द्रव्य और गुण के नाम में भेद है।

संख्या : प्रत्येक आत्मा संख्या से एक है और उसके गुण अनन्त हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, अन्यत्व आदि अनन्त गुण हैं। इस प्रकार द्रव्य तथा गुण को संख्याभेद है।

लक्षण : अनन्त गुणों का पिण्ड, वह द्रव्य का लक्षण है। ज्ञान का लक्षण जानना, दर्शन का लक्षण देखना। इस प्रकार द्रव्य और गुण के लक्षणभेद से भेद है।

प्रयोजन : द्रव्य का प्रयोजन अनन्त गुणों को तथा उनकी पर्यायों को धार रखना है और प्रत्येक गुण का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है।

इस प्रकार द्रव्य और गुण को संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनभेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है, तथा कालभेद नहीं है। द्रव्य और गुण दोनों त्रिकाल है। जहाँ द्रव्य है, वहाँ गुण हैं। आत्मा कहीं और गुण कहीं रह जाये, ऐसा होता नहीं। तू जीवास्तिकाय है। जीव अस्ति है और असंख्यप्रदेशरूपी समूह अथवा काय है। उसमें तेरे गुण रहे हुए हैं, बाहर में नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थकरनामकर्म का नाम पड़े, वहाँ प्रसन्न हो जाते हैं और इसके लिये सोलहकारणभावना भाते हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि को तो वह बँधता नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म को पर मानता है, शुभ को हेय मानकर स्वभाव को उपादेय समझता है। यहाँ कहते हैं कि भाई! कर्म का क्षेत्र भिन्न और तेरा क्षेत्र भिन्न, इसलिए भिन्न से लाभ या नुकसान हो, ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता नहीं, परन्तु अपने साथ गुण-गुणी की एकता करे तो लाभ होता है। शक्कर की डली और मिठास भिन्न हो—ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा वस्तु, उसके ज्ञानादि गुण और उनकी निर्मलपर्याय—ऐसे द्रव्य, गुण, पर्याय एकक्षेत्र में है, भिन्न क्षेत्र में नहीं। द्रव्य और पर्याय ऐसे नामभेद से भेद है। द्रव्य एक है और पर्याय अनन्त हैं, ऐसे संख्याभेद से भेद है। द्रव्य का लक्षण

अनन्त गुण का पिण्ड (नित्यपना) है। पर्याय का लक्षण पृथक्-पृथक्पना (अनित्यपना) है, ऐसे लक्षणभेद से भेद है। द्रव्य का प्रयोजन गुण-पर्याय को आधार देना वह है और पर्याय का प्रयोजन समय-समय का कार्य करना, वही है—ऐसे प्रयोजनभेद से भेद है। द्रव्य का काल त्रिकाली है और पर्याय का काल एक समय का है, ऐसे कालभेद से भेद है। ऐसा होने पर भी द्रव्य को और पर्याय को प्रदेशभेद नहीं है। गुण-गुणी की एकता करके अभेददृष्टि कर तो धर्म होता है, ऐसा है।

इसलिए यह बात निश्चित होती है कि गुण-गुणी में वस्तुरूप विचार से प्रदेशों की एकता है, प्रदेशों में भिन्नता नहीं, संज्ञामात्र से भिन्नपना है।

परमाणु परमाणु में है; वह आत्मा के कारण से नहीं है। आत्मा अपने गुण-पर्यायों से अपने क्षेत्र में है। गुड़ में से मिठास का नाश हो तो गुड़ का नाश हो, परन्तु गुड़ के साथ के डिब्बे का नाश होने पर गुड़ का नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीर, कर्म इत्यादि डिब्बे हैं, उनका नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता, परन्तु ज्ञान-दर्शनादि रहित माने तो आत्मा का नाश होता है। परचीज हो तो धर्म होता है, ऐसा माननेवाला अपने आत्मा को ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि रहित मानता है और गुण-गुणी को अत्यन्त भेदरूप मानता है। उस जीव को अनन्त गुण के पिण्डरूप अखण्ड आत्मा की श्रद्धा नहीं होती, इसलिए उसे धर्म नहीं होता। और मिथ्यादृष्टि जीव ने अपनी श्रद्धा में आत्मा का नाश किया, इसलिए शरीर जीर्ण हो जाये अथवा रोगी हो जाये, ऐसा नहीं होता क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं।

और कोई जीव को शरीर जीर्ण हुआ, तो क्या उससे आत्मा जीर्ण हो जाता है? नहीं; शरीर के परमाणु उनके गुण-पर्याय से एक हैं और आत्मा से भिन्न हैं। वे भिन्न परमाणु आत्मा को कुछ नहीं करते परन्तु जीव आत्मा की दृष्टि चूके तो आत्मा जीर्ण होता है और शरीर जीर्ण होने पर भी गुण-गुणी की एकता का भान करे तो धर्म होता है। शरीर जीर्ण होने से आत्मा जीर्ण नहीं होता और आत्मा जीर्ण होने से शरीर जीर्ण नहीं होता। इस प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न हैं, उसी प्रकार छह द्रव्य भिन्न हैं, परन्तु अपने-अपने गुण-पर्याय से भिन्न नहीं।

अब दूसरे प्रकार से कहते हैं।

‘एक द्रव्य में भेद-अभेद इसी प्रकार जानना अथवा निश्चय से उन द्रव्य-गुणों के उस पूर्वोक्त प्रकार भेद-अभेद से जो और प्रकार भेद-अभेद हैं, उसको जो तत्त्वस्वरूप के वेत्ता हैं, वे वस्तु में नहीं मानते।’

एक द्रव्य में भेद-अभेद इस प्रकार से जानना कि आत्मा को और उसके गुणों को संज्ञा, संख्याभेद से भेद है परन्तु प्रदेश से अभेद है। इस प्रकार भेदाभेद स्वरूप जानना। परन्तु इससे विपरीत प्रकार से भेद और अभेद का स्वरूप लोगों में कहता है, तत्प्रमाण तत्त्वज्ञानी मान्य रखते नहीं।

भावार्थ : आत्मा और परमाणु इत्यादि वस्तु में गुण-गुणी का भेद और अभेदपना बतलाया। वस्तु को साधने के लिये उसे मान्य रखा जाता है, क्योंकि उससे आत्मा का हित सधता है। परन्तु लोकव्यवहार में उपचारमात्र पदार्थों को भेद और अभेद का जो व्यवहार किया जाता है, उसे आचार्य भगवान मान्य नहीं रखते। जैसे कर्म और आत्मा एक है—अभेद है, ऐसा लोग कहते हैं, उसे आचार्य मान्य नहीं रखते, क्योंकि लोकव्यवहार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं होती और आत्मा का हित नहीं होता। जो अब दृष्टान्त द्वारा बतलाया जाता है।

लोकव्यवहार से विन्ध्याचल और हिमाचल में बड़ा भेद कहते हैं, क्योंकि हिमाचल कहीं और विन्ध्याचल कहीं रहा हुआ है, उसे लोक में भेद कहते हैं। ऐसा भेद गुण-गुणी में स्वीकार नहीं किया जाता। पर्वतों के नाम से भेद है, वैसे ही वस्तु से भी भिन्न हैं। उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय नाम से भिन्न हैं, इसलिए वस्तु से भी भिन्न हैं, ऐसा भेद स्वीकार नहीं किया जाता। इस शरीर की क्रिया आत्मा के कारण से होती है, ऐसा नहीं होता क्योंकि शरीर के परमाणु उसकी गुण-पर्याय से भेदरूप नहीं परन्तु अभेद है, इसलिए आत्मा से शरीर का कुछ नहीं होता। घास का एक पूला सुलगाने से पाँच कोस दूर दूसरा पूला हो, वह सुलगता नहीं क्योंकि वह भिन्न-भिन्न है। वे-वे परमाणु उनके गुण-पर्याय से अभेद है और दूसरे के गुण-पर्याय से भेदरूप है। अभी बाजार में मन्दी है, तब व्यापार में बहुत नुकसान होता है, तो वे पैसे जाने से अज्ञानी जीव रोने लगता है परन्तु भाई! पैसे उसके गुण-पर्याय-क्षेत्रान्तर होने की पर्याय के साथ अभेद है और तुझसे तीनों काल भेदरूप है, इसलिए सच्चा ज्ञान कर।

एक परमाणु एक समय में जीव के निमित्त बिना चौदह राजूलोकप्रमाण जाने की सामर्थ्य धराता है, उसकी क्षेत्रान्तररूपी पर्याय और दूसरे गुणों से वह भरपूर है और आत्मा से वह भेदरूप है। कितने ही कहते हैं कि इसे दवा करना नहीं आया, इसलिए वह मर गया, यही मूढ़ता है। वह पदार्थ उसके गुण-पर्याय से अभेद है, पर के कारण से उसकी पर्याय टिकती नहीं।

लोग कहते हैं कि हम छह द्रव्यों को मानते हैं। परन्तु यदि ऐसा माने कि पर से मुझमें कार्य होता है और मुझसे पर में कार्य होता है, तो उसने छह द्रव्य माने नहीं। परवस्तु से भेद माने और अपने गुण-पर्याय से अभेद माने तो छह द्रव्य सच्चे माने कहलाये।

अब लोग जिसे अभेद कहते हैं, वैसा अभेद भी हमको मान्य नहीं, यह समझाते हैं। लोग दूध को और पानी को अभेद कहते हैं, वह हमको स्वीकार नहीं। क्योंकि परमार्थ से दूध और पानी में प्रदेशों की भिन्नता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, शरीर और आत्मा को एक कहते हैं। कर्म और आत्मा को एक कहते हैं। शरीर और कर्म दोनों आत्मा से भिन्न होने पर भी वे मेरे हैं, ऐसी अज्ञानी जीव अभेदता करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी अभेदता मान्य नहीं। हम तो हमारे गुण-पर्याय से अभेद हैं, ऐसी अभेदता स्वीकारते हैं। ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो पर से भिन्न पड़कर, पर्याय जितना नहीं, मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ—ऐसी उपादेयबुद्धि होने पर धर्म होता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १४, सोमवार

यहाँ आत्मा और परमाणु प्रत्येक द्रव्य की पहिचान देते हैं।

लोक में पानी और दूध को एकपना कहते हैं परन्तु पानी के प्रदेश और दूध के प्रदेश भिन्न हैं, इसीलिए प्रदेशभेदसहित की एकता मान्य नहीं है। लोक में आत्मा और शरीर तथा कर्म का एकपना कहते हैं, परन्तु आत्मा के प्रदेश और शरीर के तथा कर्म के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए प्रदेशभेदसहित की एकता मान्य नहीं है। आत्मा राग करे और शरीर चले, ऐसी मान्यता मान्य नहीं है क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, परन्तु गुण

और गुणी, जैसे कि आत्मा और ज्ञान-दर्शन, उनकी प्रदेश से भिन्नता नहीं है, इसलिए उनकी एकता हमको मान्य है। पर के साथ अभेदता मान्य नहीं, परन्तु अपने गुण-गुणी की अभेदता हमको मान्य है।

अब भेद का दृष्टान्त : जैसे विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों भिन्न हैं, वह भेद प्रदेशभेदसहित का है, वैसा भेद द्रव्य और उसके गुणों के बीच नहीं है। आत्मा और उसके ज्ञान-दर्शनादि गुण, ऐसे नामभेद से भेद होने पर भी जहाँ आत्मा है, वहाँ ही उसके गुण हैं, उन्हें प्रदेशभेद नहीं, इसलिए वह मान्य है; परन्तु प्रदेशभेदसहित का भेद हमको मान्य नहीं है। इस प्रकार भेद और अभेदपना अपने में साधने का है। द्रव्य और गुण ऐसे नामभेद अपने में है, परन्तु प्रदेश से अभेदपना है। इस प्रकार भेद-अभेद अपने में कि जिसमें प्रदेशभेदरहितपना है, उसमें साधना और वह मान्य है, परन्तु प्रदेशभेदसहित का भेद और अभेदपना लोक में बोला जाता है, वह मान्य नहीं है।

पर की एकता पर में है, मुझे और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं इच्छा करूँ और शरीर चले, पदार्थों को ले और छोड़ सकूँ, ऐसी पर के साथ एकता नहीं है। उन पदार्थों की एकता उन पदार्थों में है और मेरी एकता मुझमें है। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय मुझसे भिन्न नहीं और मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय नामभेद होने पर भी मुझसे भिन्न नहीं, परन्तु एकरूप है।

जिस प्रकार एक पर्वत से दूसरा पर्वत भिन्न है, उसी प्रकार पैसे के प्रदेश और आत्मा के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा के कारण पैसे का अस्तित्व नहीं। पैसा पुद्गलास्तिकाय उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से एक है और जीव असंख्यप्रदेशी अपने गुण-पर्याय से एक है।

जीव राग करे, इसलिए शरीर ऊँचा-नीचा होता है, यह आँख से दिखता है, ऐसा अज्ञानी कहता है। भाई! शरीर और इन्द्रियाँ जड़ हैं, प्रदेशभेदवाली चीज़ें हैं। आत्मा और आँख दोनों भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी क्षेत्रभेदवाली चीज़ों को लक्ष्य में लेकर संयोग को देखता है, परन्तु प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव क्या है, उसे वह नहीं देखता। आत्मा और आँख के, आत्मा और शरीर के, आत्मा और खाने के पदार्थों के प्रदेश भिन्न हैं। प्रत्येक परमाणु उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद और एकमेक है और दूसरे परमाणु से और

आत्मा से सर्वथा भेदरूप है। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद है और दूसरे आत्मा और परमाणु से सर्वथा भेदरूप है। जो सर्वथा प्रदेशभेद से भेदरूप है, ऐसे पदार्थों को प्रदेशभेदरहित दृष्टि से देखना और एकता करना, वह संयोगों को देखनेवाला मिथ्यादृष्टि है। परन्तु प्रत्येक पदार्थ अपने गुण-पर्याय से एकाकार है, इस प्रकार जिसमें प्रदेशभेदरहितपना है, ऐसे प्रदेशभेदरहित पदार्थ के साथ अभेदता साधे तो यथार्थ है।

आटा में से रोटी हुई, उसमें पर्याय नयी दिखाई दी, परन्तु उस पर्याय को उसके द्रव्य-गुण से प्रदेशभेद नहीं परन्तु एकाकार है। ऐसे एकाकार वस्तु को प्रदेशभेदवाली मानना और पर के साथ एकाकारपना मानना, वह अज्ञान है। जैसे कि स्त्री के हाथ से और बेलन से रोटी की पर्याय हुई, ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। तीनों के प्रदेश भिन्न हैं, तथापि भिन्न से भिन्न चीज़ का एकाकारपना मानना, वह अज्ञान है।

राम ने लक्ष्मण के शरीर को छह महीने तक उठाया, परन्तु राम का जीव, राम का शरीर और लक्ष्मण का शरीर—तीनों के प्रदेश भिन्न हैं, प्रदेशभेदसहित है। तथापि राम के जीव के कारण शरीर उठाने की क्रिया हुई, ऐसा मानना वह अज्ञान है। लक्ष्मण का शरीर उसके गुण-पर्याय से एक है क्योंकि उसे प्रदेशभेद नहीं, वह हमको मान्य है परन्तु राम का जीव जो प्रदेशभेदसहित का है, उसके कारण से शरीर उठाने की क्रिया होती है, यही मान्य नहीं है।

कोई पूछे कि हमारे इसमें धर्म क्या करना ? भाई ! प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को धार रखता है—ऐसा ज्ञान करना, वह धर्म है। परन्तु अपने गुण-पर्याय को दूसरा धार रखे और दूसरे के गुण-पर्याय को स्वयं धार रखे, ऐसा माननेवाला वस्तुस्वरूप को समझता नहीं। अपने दर्शन-ज्ञानादि गुण और उनकी पर्यायें अपने में होती है, उन्हें प्रदेशभेद नहीं है, ऐसे प्रदेशभेदरहित ऐसे अपने आत्मा को अभेदता से देखे तो दूसरे पदार्थ कि जो उसके गुण-पर्याय से अभेद है, उन्हें उनकी अभेदता से देखे। यह प्रत्यक्ष दिखता है और यह सच्चा दार्शनिक प्रमाण है और उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं।

दो पर्वत भिन्न हैं, उस प्रकार गुण-गुणी भिन्न नहीं। दो पर्वत के नाम भिन्न हैं, वैसे गुण-गुणी के (नाम) भिन्न हैं, तथापि दो पर्वत को प्रदेशभेद है, वैसे प्रदेशभेद

गुण-गुणी के बीच नहीं, परन्तु प्रदेश से अभेदता है। दूध और पानी को एकता है, ऐसा लोग कहते हैं, वैसी एकता गुण-गुणी के बीच नहीं, क्योंकि दूध और पानी के प्रदेश भिन्न हैं, परन्तु गुण-गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं। ऐसा जो यथार्थ नहीं मानता, वह देव-गुरु-शास्त्र को मानता नहीं। वह अर्थसमय का सच्चा ज्ञान नहीं करता और अपने आत्मा को नहीं मानता और जो यथार्थ जाने, उसे पर से मुझमें कुछ भी होता है या मुझसे पर में कुछ भी होता है, ऐसी झूठी मान्यतायें नाश होकर सम्यग्दर्शन होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि मुनि को शुभराग आवे, तब ईर्यासमिति करनी पड़ती है न?

(समाधान) - भाई ! शरीर का चलना, वह ईर्यासमिति होगी ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसमें मुनि स्थिर नहीं हो सकते, तब शुभराग आता है परन्तु शुभराग से शरीर की क्रिया होती है, ऐसा नहीं है। सावधानीपूर्वक चलने का शुभराग, वह व्यवहार समिति है और उसका धर्मी जीव को निषेध वर्तता है। परन्तु शरीर की क्रिया समिति है ही नहीं। शरीर और आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं। भेदवाले पदार्थ के कारण आत्मा की धर्मपर्याय प्रगटे, ऐसा नहीं होता।

‘किन्तु प्रदेशभेदरहित जो गुण-गुणी में कथंचित् प्रकार भेद-अभेद परमार्थ दिखाने के लिये कृपावन्त आचार्यों ने दिखाया है, सो भले प्रकार जानना चाहिए।’

प्रदेशभेदरहित गुण-गुणी में कथंचित् भेद-अभेदपना है जो परमार्थ बतलाने के लिये कृपावन्त आचार्यों ने बतलाया है, उसे भले प्रकार से जानना चाहिए। द्रव्य, गुण और पर्याय प्रदेशभेदरहित है। उसमें नामभेद है, तथापि प्रदेश से अभेद है। ऐसा कथंचित् भेदाभेदस्वरूप जानना चाहिए।

आत्मा, वह द्रव्य है। उसके ज्ञानादि गुण और स्वभाव के आश्रय से प्रगट होने वाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय और अधूरी दशा में जो राग उत्पन्न होता है, उस राग की पर्याय—ऐसे द्रव्य, गुण, निर्मलपर्याय और राग—चारों का क्षेत्र एक ही है। जितने क्षेत्र में द्रव्य है, उतने में गुण है, उतने में निर्मलपर्याय है और उतने ही क्षेत्र में राग है।

एक परमाणु, उसके स्पर्शादि गुण, उसकी एक समय की पर्याय और स्कन्धरूप हो, तब विभावपर्याय—ऐसे चारों का क्षेत्र एक है। इस प्रकार प्रदेशभेदरहित द्रव्य, गुण, पर्याय की अभेदता स्वीकार की जाती है। यह चैतन्यसत्ता है। परमाणु अपनी सत्ता में है, उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, परन्तु वह अपने द्रव्य, गुण, पर्याय से भिन्न नहीं है। संसारदशा में कर्म, शरीर इत्यादि निमित्त है। वे निमित्त भिन्न पदार्थ हैं, ऐसा ज्ञान कराते हैं। विकारीपर्याय, अविकारीपर्याय, गुण और द्रव्य—ऐसा सबका यथार्थ प्रमाणज्ञान कराते हैं। जगत का स्वरूप जैसा है, वैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा, वैसा कहने का आचार्य भगवान को विकल्प उठा है और वाणी निकल गयी है। ‘कृपावन्त आचार्य’ यह शब्द विकल्प को सूचित करते हैं। अपने ऊपर करुणा करके उन्होंने जो वस्तुस्वरूप बतलाया, उसे भले प्रकार से जानना चाहिए।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि मन्दिर इत्यादि के अंश आत्मा से भिन्न हैं, तो राग करके उतावल करके बनवाया जा सकेगा ?

समाधान - भाई ! शान्त हो। जीव अपने में राग करे, परन्तु पर की पर्याय बदल सके या जल्दी-देरी से कर सके, ऐसा नहीं होता।

तेरे द्रव्य-गुण त्रिकाल हैं, राग की पर्याय एक समय की है—ऐसे कालभेद है और नामभेद है, परन्तु प्रदेशभेदरहित का भेद है, इसलिए वह स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार परमाणु के द्रव्य-गुण त्रिकाल है और उसके अस्तित्वादि गुणों की अविकारपर्याय और स्कन्धरूप विभावपर्याय एक समय की है—ऐसे नामभेद तथा कालभेद है, परन्तु क्षेत्रभेद नहीं, चारों की चौड़ाई समान है।

जिस प्रकार दीवार को सफेद करे, उस सफेदी की चौड़ाई उस क्षेत्र जितनी है और सफेदी किये पश्चात् दीवार मैली हो तो मैल की चौड़ाई उसके जितनी ही होती है। उसी प्रकार यहाँ आत्मा के घर की बात करते हैं। प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी चौड़ा है, उसके गुण, उसकी निर्विकारी पर्याय और उसकी विकारी पर्याय असंख्यप्रदेश जितने क्षेत्र में है। यहाँ अस्तिकाय सिद्ध करना है। संसार एक समय का है, दो समय का नहीं। द्रव्य-गुण त्रिकाल है। कालभेद है परन्तु संसार का कद द्रव्य जितना चौड़ा है।

उसी प्रकार कर्म के परमाणु उदय में आये, तो उनका द्रव्य, उनके गुण और उनकी उदय आनेरूप अवस्था का क्षेत्र एक है। कर्म के उदय की अवस्था का क्षेत्र चौड़ा होकर आत्मा की रागपर्याय में प्रविष्ट नहीं हो जाता। राग की चौड़ाई अपने असंख्यप्रदेश जितनी है। उसी प्रमाण शरीर, मन, वाणी इत्यादि के द्रव्य-गुण-पर्याय उनमें है। उनकी चौड़ाई उन्होंने धारण की है, आत्मा के प्रदेश उसमें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं।

आत्मा का भान करके, धर्मदशा प्रगट हो, वह एक समय की है। पहले समय में पहली, दूसरे समय में दूसरी। उसकी चौड़ाई द्रव्य-गुण जितनी है। कालभेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं।

कोई प्रश्न करे कि राग का माप असंख्यप्रदेश और धर्म का माप असंख्यप्रदेश—दोनों समान आया ?

(समाधान) भाई ! दोनों का माप समान होने पर भी राग, वह दुःखरूप है और वीतरागीपर्याय, वह सुखरूप है। और द्रव्य-गुण वह शक्तिरूप है, ऐसा अन्तर है।

इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में नामभेद, कालभेद, लक्षणभेद कहे, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। ऐसा आचार्य भगवन्तों ने करुणाबुद्धि से वस्तु का स्वरूप भेदाभेद बतलाया है। उसका भले प्रकार से ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है।

कोई कहे कि पुरुषप्रमाण से वचनप्रमाण कहा है, उसका क्या अर्थ है ? भाई ! वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, उसमें ज्ञानी निमित्त है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है, परन्तु ज्ञानी के कारण से वाणी है और वाणी में ज्ञानी है—ऐसा नहीं है। भाषा परमाणु की अस्तिकाय है। वह उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से एकरूप है; आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से एकरूप है, आत्मा भाषा को नहीं कर सकता। क्योंकि दोनों अस्तिकाय भिन्न हैं। ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

गाथा - ४६

ववदेसा संठाणा संख्या विसया य होंति ते बहुगा।

ते तेसिमणणत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते॥४६॥

व्यपदेशाः संस्थानानि संख्या विषयाश्च भवन्ति ते बहुकाः।

ते तेषामनन्यत्वे अन्यत्वे चापि विद्यन्ते॥४६॥

व्यपदेशादीनामेकान्तेन द्रव्यगुणान्यत्वनिबन्धनत्वमत्र प्रत्याख्यातम् ।

यथा देवदत्तस्य गौरित्यन्यत्वे षष्ठीव्यपदेशः, तथा वृक्षस्य शाखा द्रव्यस्य गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथा देवदत्तः फलमङ्कुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटिकायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारकव्यपदेशः, तथा मृत्तिका घटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्यात्मात्मान-मात्मनात्मने आत्मन आत्मनि जानातीत्यनन्यत्वेऽपि । यथा प्रांशोर्देवदत्तस्य प्रांशुर्गौरित्यन्यत्वे संस्थानं, तथा प्रांशोर्वृक्षस्य प्रांशुः शाखाभरो मूर्तद्रव्यस्य मूर्ता गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथैकस्य देवदत्तस्य दश गाव इत्यन्यत्वे संख्या, तथैकस्य वृक्षस्य दश शाखाः एकस्य द्रव्यस्यानन्ता गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथा गोष्ठे गाव इत्यनन्यत्वे विषयः, तथा वृक्षे शाखाः द्रव्ये गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । ततो न व्यपदेशादयो द्रव्यगुणानां वस्तुत्वेन भेदं साधयन्तीति ॥४६॥

संस्थान संख्या विषय बहुविध द्रव्य के व्यपदेश जो ।

वे अन्यता की भाँति ही, अनन्यपन में भी घटे॥४६॥

अन्वयार्थ :- [व्यपदेशाः] व्यपदेश, [संस्थानानि] संस्थान, [संख्याः] संख्याएँ [च] और [विषयाः] विषय [ते बहुकाः भवन्ति] अनेक होते हैं। [ते] वे (व्यपदेश आदि), [तेषाम्] द्रव्य-गुणों के [अन्यत्वे] अन्यपने में [अनन्यत्वे च अपि] तथा अनन्यपने में भी [विद्यन्ते] हो सकते हैं।

टीका:-यहाँ *व्यपदेश आदि एकान्त से द्रव्य-गुणों के अन्यपने का कारण होने का खण्डन किया है।

* व्यपदेश=कथन; अभिधान। (इस गाथा में ऐसा समझाया है कि-जहाँ भेद हो, वहीं व्यपदेश आदि घटित हों, ऐसा कुछ नहीं है; जहाँ अभेद हो, वहाँ भी वे घटित होते हैं। इसलिए द्रव्य-गुणों में जो व्यपदेश आदि होते हैं, वे कहीं एकान्त से द्रव्य-गुणों के भेद को सिद्ध नहीं करते।)

जिस प्रकार 'देवदत्त की गाय' इस प्रकार अन्यपने में षष्ठीव्यपदेश (-छठवीं विभक्ति का कथन) होता है, उसी प्रकार 'वृक्ष की शाखा', 'द्रव्य के गुण' ऐसे अनन्यपने में भी (षष्ठीव्यपदेश) होता है। जिस प्रकार 'देवदत्त फल को अंकुश द्वारा धनदत्त के लिये वृक्ष पर से बगीचे में तोड़ता है' ऐसे अन्यपने में कारकव्यपदेश होता है, उसी प्रकार 'मिट्टी स्वयं घटभाव को (-घड़ारूप परिणाम को) अपने द्वारा अपने लिये अपने में से अपने में करती है', 'आत्मा आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा के लिये आत्मा में से आत्मा में जानता है' ऐसे अनन्यपने में भी (कारकव्यपदेश) होता है। जिस प्रकार 'ऊँचे देवदत्त की ऊँची गाय' ऐसा अन्यपने में संस्थान होता है, उसी प्रकार 'विशाल वृक्ष का विशाल शाखासमुदाय', 'मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण' ऐसे अनन्यपने में भी (संस्थान) होता है। जिस प्रकार 'एक देवदत्त की दस गायें', ऐसे अन्यपने में संख्या होती है, उसी प्रकार 'एक वृक्ष की दस शाखायें', 'एक द्रव्य के अनन्त गुण' ऐसे अनन्यपने में भी (संख्या) होती है। जिस प्रकार 'बाड़े में गायें' ऐसे अन्यपने में विषय (-आधार) होता है, उसी प्रकार 'वृक्ष में शाखायें', 'द्रव्य में गुण' ऐसे अनन्यपने में भी (विषय) होता है। इसलिए (ऐसा समझना चाहिए कि) व्यपदेश आदि, द्रव्य-गुणों में वस्तुरूप से भेद सिद्ध नहीं करते॥४६॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १४, सोमवार

अब व्यपदेश = कथन, संस्थान = आकार, संख्या, विषय = आधार—ऐसे चार प्रकार से द्रव्य-गुण में भेद बतलाते हैं।

‘उन द्रव्य और गुणों के जिनसे गुण-गुणी में भेद होता है, वे कथन के भेद और आकारभेद गिनना और जिनमें रहे ऐसे आधारभाव ये चार प्रकार के भेद बहुत प्रकार के होते हैं और वे व्यपदेशादिक चार प्रकार के भेद कथंचित्प्रकार अभेदभाव में और कथंचित् प्रकार भेदभाव में प्रवर्तते हैं।’

भावार्थ : यह चार प्रकार के व्यपदेशादिक भाव अभेद तथा भेद में है। उसकी दो प्रकार से विवक्षा है। जब एक द्रव्य की अपेक्षा से कथन किया जाये, तब चारों भाव अभेद कथन की अपेक्षा से है और जब अनेक द्रव्य की अपेक्षा से कथन किया जाये,

तब व्यपदेशादिक चार भाव भेदकथन की अपेक्षा से कहे जाते हैं। अब दोनों भेद दृष्टान्त से बतलाये जाते हैं।

(१a) जिस प्रकार किसी पुरुष की गाय कहना, यह भेद कथन है। क्योंकि गाय भिन्न और पुरुष भिन्न है। इस मनुष्य के रुपये कहना, मनुष्य का मकान कहना, यह भेदकथन है, बोलनेमात्र है। मकान अथवा गाय का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। स्वयं मर जाये और गाय रहे, इसलिए दोनों भिन्न चीज़ है। आत्मा के कर्म कहना, वह कथनमात्र है। कर्म का नाश होने से आत्मा नाश नहीं होता, इसलिए आत्मा और कर्म भिन्न है। इसलिए ऐसे कथन आवें, तब आत्मा को पर से भेदरूप जानना, वह धर्म है।

(१b) 'वृक्ष की शाखा' ऐसा कहने पर वृक्ष और शाखा, ऐसा भेद पड़ता है तो भी वृक्ष और शाखा भिन्न नहीं है। वृक्ष के प्रदेश भिन्न और शाखा के प्रदेश भिन्न—ऐसा नहीं है। यह आम खट्टा है। आम और खटाश, ऐसा भेद पड़ा, परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के गुण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, ऐसा भेद पड़ा परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। जैसा मनुष्य और गाय में सर्वथा भेद है, वैसा आत्मा और उसके गुणों में सर्वथा भेद नहीं है, परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद है। इस प्रकार पर के द्रव्य-गुण-पर्याय से आत्मा को भिन्न जानना और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद जानना, वह सम्यक् ज्ञान है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन शुक्ल १५, मंगलवार

जीवद्रव्य और उसके गुणों को नामभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं। कथन दो प्रकार के हैं : एक व्यवहारकथन और दूसरा निश्चयकथन। भेद, वह व्यवहार और अभेद, वह वास्तविक है। जिस प्रकार इस पुरुष की यह गाय है परन्तु गाय वास्तव में पुरुष की नहीं।

यह वृक्ष की शाखा है। वृक्ष बिना शाखा नहीं। जहाँ शाखा है, वहाँ वृक्ष है और वृक्ष है, वहाँ शाखा है। उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र के गुणवाला है। परन्तु आत्मा और उसके गुण भिन्न नहीं हैं।

अब छह व्यवहारकारक और छह निश्चयकारक कहते हैं।

‘जैसे कोई पुरुष फल को अंकुसीकर धनवन्तपुरुष के निमित्त वृक्ष से वाड़ी में तोड़ें है, यह भेद में व्यपदेश है।’ यह भेद कारकों का कथन है।

(१) कर्ता : कोई पुरुष फल को तोड़ता है, उसमें पुरुष को कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। पुरुष और फल दोनों भिन्न हैं। पुरुष फल को तोड़ सकता नहीं, परन्तु फल टूटने की क्रिया फल के कारण से होती है, उसमें पुरुष निमित्त है, ऐसा बतलाने के लिये पुरुष तोड़ता है, ऐसा कहा जाता है।

(२) कर्म : फल का टूटना, वह कर्म अथवा कार्य है। वह कार्य स्वतन्त्र होता है। परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कहा जाता है।

(३) करण : पुरुष अंकुशी (हथियार) द्वारा फल को तोड़ता है। यह साधन का व्यवहार कथन है। अंकुशी अलग और फल अलग है, यह निमित्त सम्बन्ध बतलाते हैं।

(४) सम्प्रदान : धनवान पुरुष को देने के लिये फल तोड़ता है। यह सम्प्रदान व्यवहार से है। कोई किसी के लिये तोड़ता नहीं। तोड़नेवाला पुरुष भिन्न और धनवान पुरुष भिन्न है।

(५) अपादान : पुरुष वृक्ष में से फल तोड़ता है। यह अपादान व्यवहारकथन है। वृक्ष भिन्न और पुरुष भिन्न है।

(६) अधिकरण : पुरुष वाड़ी में फल तोड़ता है, यह अधिकरण व्यवहारकथन है। वाड़ी भिन्न और पुरुष भिन्न है। किसी को किसी का आधार नहीं है।

क्रिया : पुरुष फल तोड़ता है, यह क्रिया का कथन व्यवहार से है। पुरुष फल तोड़ने की क्रिया नहीं कर सकता, तथापि पुरुष फल तोड़ता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

इस प्रकार जहाँ व्यवहार के कथन आवें तो यथार्थ समझना। यहाँ जो कर्ता, कर्म, करण आदि छह कारक बतलाये, वे प्रत्येक भिन्न हैं। लड़के के लिये पिता पैसा कमाता है, यह व्यवहारकथन है। लड़का, पिता और पैसा तीनों भिन्न-भिन्न हैं, कोई किसी के लिये करता नहीं।

अब मिट्टी के दृष्टान्त से अभेद कारक कहते हैं।

‘और मृत्तिका जैसे अपने घटभाव को आपकर अपने निमित्त आपसे आपमें करै है।

(१) कर्ता : मिट्टी स्वयं घड़े का कर्ता है। दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं। कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं। अज्ञानी मानता है कि कुम्हार ने बनाया, वह अज्ञान है। क्योंकि कुम्हार और घड़ा भिन्न चीज़ है।

(२) कर्म : मिट्टी स्वयं परिणमकर घड़ारूपी कर्म अथवा कार्य हुआ है, वह स्वयं का कार्य है।

(३) साधन : मिट्टी अपने साधन से—अपने द्वारा घड़ा बनाती है। कुम्हार, चक्रादि को साधन कहना, वह व्यवहारकथन है।

(४) सम्प्रदान : मिट्टी स्वयं अपने को घड़ारूपी दान देती है।

(५) अपादान : मिट्टी अपने में से घड़ारूप होती है, पर में से होती नहीं।

(६) अधिकरण : अपने आधार से मिट्टी घड़ा करती है, पर के आधार से करती नहीं।

मिट्टी के कर्ता, कर्म, करण इत्यादि के प्रदेश भिन्न नहीं हैं, एक हैं।

‘तैसें ही आत्मा आपको अपने द्वारा अपने निमित्त आत्मा से आपमें जाने है’—इस प्रकार आत्मा में छह कारक अभेद हैं।

(१) कर्ता : आत्मा स्वयं अपने को जानने की क्रिया का कर्ता है, दूसरा कर्ता नहीं।

(२) कर्म : आत्मा अपने को जाननेरूपी कार्य करता है, पर का कार्य नहीं करता।

(३) साधन : आत्मा अपने द्वारा जानने का कार्य करता है; पर द्वारा, निमित्त द्वारा, गुरु द्वारा, पुस्तक द्वारा जानता नहीं, तथापि पर द्वारा जानता है—ऐसा कहना, वह उपचार कथन है। निमित्त की उपस्थिति बतलाते हैं।

(४) सम्प्रदान : आत्मा अपने लिये जानता है, दूसरे के लिये जानता नहीं। कितने ही कहते हैं कि हम जानते हैं, वह तुमको उपदेश देने के लिये है। ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। पर के लिये कोई करता नहीं। जाननेरूपी कार्य का दान स्वयं अपने को देता है।

(५) अपादान : आत्मा अपने में से जानने का कार्य करता है, पर में से जानता नहीं।

(६) अधिकरण : आत्मा अपने आधार से जानता है, पर के आधार से जानता नहीं।

इस प्रकार अभेद कथन जानना चाहिए।

समयसार मोक्ष अधिकार में इन छह अभेद कारकों को भी भेद कहा है और कारकों के भेद में रहेगा, तब तक समयदर्शन होगा नहीं, ऐसा जो कहा है, वह तो आत्मा वस्तु एक है और उसमें छह भेद मानकर भेद में और राग में नहीं रुकने के लिये कहा है। वहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है। छह कारक अपने अस्तिकाय में होते हैं, परन्तु पर में नहीं होते, ऐसा यहाँ बतलाना है।

इस प्रकार धर्म में घटित किये जा सकते हैं। धर्म—वीतरागीदशा का कर्ता आत्मा स्वयं है, वह कर्ता; वीतरागीदशारूप से आत्मा स्वयं परिणमता है, वह कार्य; वीतरागीदशा आत्मा के साधन से होती है, वह साधन, किसी विकल्प द्वारा या निमित्त के साधन से धर्म नहीं होता। वीतरागीदशा प्रगट करके उसका दान स्वयं को देता है, वह सम्प्रदान, पर को नहीं देता। वीतरागीदशा अपने में से होती है, वह अपादान। स्वाध्यायमन्दिर में से, शत्रुंजय में से, सम्मेदशिखर में से धर्म नहीं होता। वीतरागीदशा अपने आधार से होती है, वह अधिकरण, पर के आधार से नहीं होती।

इस प्रकार कर्ता, कर्म, करण इत्यादि कारकों के भेद पड़ने पर भी उसके प्रदेश और आत्मा के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। असंख्यप्रदेश में छह कारक परिणम रहे हैं, उनका समय एक है। कालभेद नहीं तथा प्रदेशभेद नहीं।

अज्ञानी जीव देह द्वारा, देह के आधार से अथवा पुण्य द्वारा धर्म मान रहा है, वह उसका अज्ञानभाव है।

कोई प्रश्न करे कि सद्गुरु के उपदेश बिना कैसे समझे ?

समाधान - सद्गुरु के उपदेश से समझा, ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है। आत्मा में ज्ञान नाम का गुण है, उस ज्ञान द्वारा समझता है, स्वयं अपने से समझता है तो गुरु को निमित्त कहा जाता है।

शब्दसमय किसे कहा जाता है ? जो शास्त्र यथार्थ वस्तु बतलावे और स्वयं अपने से अपने में धर्म करे, ऐसा जो कहे, वह शास्त्र सच्चे हैं। जो विकल्प से, निमित्त से, राग से, व्यवहार से धर्म बतलावें, वे शास्त्र सच्चे नहीं। तत्प्रमाण ज्ञान करे, वह ज्ञान सच्चा नहीं। उस पदार्थ का वैसा स्वरूप नहीं। स्वयं अपने से धर्म प्राप्त करता है, ऐसा निश्चय से बतलावे और तब कौन निमित्त था, ऐसा व्यवहार बतावे—ऐसा निश्चय-व्यवहार यथार्थ बतावे, वह शास्त्र है।

मनुष्ययत्न ईश्वरकृपा—ऐसा कहनेवाले खोटे हैं। आत्मा भिन्न और ईश्वर भिन्न। किसी की कृपा से कल्याण नहीं होता। गुरुकृपा से कल्याण हुआ, ऐसा कहना वह व्यवहारकथन है। जब किसी पदार्थ में कार्य हो, तब दूसरी चीज़ की उपस्थिति बतलाने के लिये ऐसा कथन किया जाता है।

यहाँ व्यपदेश अर्थात् कथन दो प्रकार से होता है, उसका ज्ञान कराते हैं। आत्मा कर्मवाला, शरीरवाला—ऐसा कहना, वह व्यवहार अथवा भेदकथन है। अर्थात् कि वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। परन्तु आत्मा ज्ञानादि गुणवाला—ऐसा कहना, वह अभेदकथन है। आत्मा और गुण—ऐसा नामभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए वह अभेदकथन है।

एक आत्मा स्वयं अपने लिये कार्य करता है, ऐसे छह कारक अपने में हैं, पर के कारण से नहीं। बाई अपने पति के लिये रसोई बनाती है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। कोई चीज़ किसी के लिये होती नहीं। किसी के लिये कोई करता नहीं। प्रत्येक आत्मा और परमाणु में छह कारक अभेद वर्तते हैं।

ऐसा वस्तुस्वरूप समझे बिना अज्ञानी जीव कहते हैं कि 'समझे बिना समाधि करो, स्वाध्याय-चर्चा करना बन्द करके निर्विकल्प हो जाओ। आत्मा का अज्ञान भले

हो, परन्तु अन्दर से कल्याण हो जायेगा।'—ऐसा माननेवाले को वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। शरीर क्या, आत्मा क्या, उसकी पृथक्ता जाने बिना धर्म नहीं होता।

‘और जैसे बड़े पुरुष की गाय बड़ी है, यह भेदसंस्थान है, तैसे ही बड़े वृक्ष की बड़ी शाखा, मूर्तिक द्रव्य के मूर्तिक गुण, यह अभेदसंस्थान जानना।’

(२) अब संस्थान अर्थात् आकार की बात करते हैं। बड़े पुरुष की बड़ी गाय, ऐसा कथन करे, वहाँ गाय का आकार और पुरुष का आकार भिन्न-भिन्न है। मनुष्य के कारण गाय का आकार नहीं और गाय के आकार के कारण मनुष्य का आकार नहीं। और कोई बड़ी स्त्री थी, इसलिए उसके पुत्र जाड़े और मोटे हों, ऐसा कहना वह उपचारकथन है। स्त्री का आकार भिन्न और पुत्र का आकार भिन्न है। कोई किसी के कारण से नहीं है।

अब अभेद कथन कहते हैं। बड़े वृक्ष की बड़ी शाखा। वड की शाखा वड से भिन्न नहीं, दोनों का आकार एक ही है। उसी प्रकार मूर्तिक द्रव्य का आकार भी मूर्तिक है, परमाणुद्रव्य मूर्तिक, उसके गुण मूर्तिक और उसकी पर्याय भी मूर्तिक है।

आत्मा अमूर्तिक है। उसके गुण-पर्याय भी अमूर्तिक हैं। ज्ञान साकार है। वह स्व-पर को जानता है, इसलिए साकार कहलाता है, परन्तु उसका आकार तो अमूर्तिक है। और आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार भी अमूर्तिक है। द्रव्य, गुण, निर्मलपर्याय और विकारीपर्याय अमूर्तिक है और असंख्यप्रदेश में सब व्याप्त हैं। पुण्य-पाप का तथा धर्मदशा का आकार कितना? आत्मा के असंख्यप्रदेश जितना उनका आकार है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि समयसार में राग-द्वेष को पुद्गल के परिणाम कहा है न?

समाधान : भाई! प्रथम सच्चा ज्ञान किया कि राग-द्वेष अपने असंख्य प्रदेश के आकार में अपने कारण से होते हैं, ऐसा निर्णय करने के पश्चात् उनके ऊपर का लक्ष्य छुड़ाने के लिये और द्रव्यदृष्टि कराने के लिये राग-द्वेष को पुद्गल के कहा है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से वीतरागता होती है परन्तु राग नहीं होता, यह बतलाने के लिये, राग पुद्गल के लक्ष्य से होता है; इसलिए राग-द्वेष को पुद्गल का कहा है। परन्तु इससे

उनका आकार रूपी पुद्गल का है, ऐसा समझना नहीं। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में पूरे अस्तिकाय का स्वरूप बतलाना है, इसलिए विकार को असंख्यप्रदेश जितना आकारवाला कहा है।

आत्मा और शरीर के भेदज्ञान बिना मात्र शब्द बोले और देह को स्थिर करे तो उससे कुछ धर्म होता नहीं।

और कोई प्रश्न करे कि आत्मा का आकार होता है? वह तो निरंजन निराकार है न?

समाधान - भाई! प्रत्येक वस्तु में प्रदेशत्वगुण है, उसके कारण से प्रत्येक वस्तु को आकार अवश्य होता है। आत्मा वस्तु है। अमूर्त है, इसलिए उसका आकार अमूर्तिक है। उसमें शरीर का और पर का आकार नहीं, इसलिए निराकार कहते हैं और राग-द्वेषरूपी अंजन नहीं, इसलिए निरंजन कहते हैं। इस प्रकार तपेला में पानी है, उसमें पानी का आकार पानी के कारण से और तपेला का आकार तपेला के कारण से है। वस्तु हो, उसे चौड़ाई अथवा व्यापना न हो, ऐसा नहीं होता। उसे क्षेत्र नहीं है, ऐसा कहो तो वस्तु रहती नहीं। शरीर का मूर्तिक आकार है और आत्मा का अमूर्तिक आकार है। आत्मा के गुणों को आकार है। दर्शनगुण आकारवाला है, अर्थात् कि उसका कद असंख्यप्रदेशी है। आत्मा की सम्यग्दर्शनपर्याय, मोक्षमार्गपर्याय, मोक्षपर्याय, विकारीपर्याय सभी पर्यायों को अपने असंख्यप्रदेशी आत्मा जितना आकार है। आत्मा वस्तु है, उसके गुण हैं और उनकी अनन्त पर्यायें हैं, उन सबका आकार असंख्यप्रदेशी, अमूर्तिक है, वह आकार अभेद है और पर के आकाररूप नहीं, ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १, बुधवार

जिसे धर्म करना हो, उसे सर्वप्रथम आत्मा को जानना चाहिए। देह से आत्मा भिन्न है, तथापि इस आत्मा का देह है, यह... भाई की लक्ष्मी है, आत्मा के कर्म हैं, इत्यादि प्रकार से कथन निमित्त का है। शरीर, कर्म, वाणी कोई भी चीज़ आत्मा की नहीं है।

(१) कथन : इस मनुष्य की गाय, आत्मा का शरीर, आत्मा के कर्म—ऐसा कहना, वह कथनमात्र है। शरीर, कर्म इत्यादि जड़ हैं। आत्मा चैतन्य उनसे भिन्न है। आत्मा और शरीर ऐसा नामभेद है, वैसे वह वस्तु भी भेदस्वरूप ही है, परन्तु आत्मा को ज्ञान-दर्शनवाला तथा पर्यायवाला कहना, उसमें आत्मा और उसके गुण अथवा पर्याय, ऐसा नामभेद पड़ा, परन्तु वस्तुभेद नहीं। आत्मा का ज्ञान, आत्मा का धर्म, आत्मा की पर्याय, आत्मा का क्रोध—ऐसा भले भेद से कथन किया जाता है, परन्तु आत्मा उसके गुण-पर्याय से भिन्न नहीं है। शरीर, कर्म आदि आत्मा के कहलाते हैं, तथापि उनसे तू सर्वथा भिन्न है—ऐसा ज्ञान कर; और गुण-पर्याय आत्मा के हैं, ऐसा भेद से कहा जाता है तो भी उनसे तू भिन्न नहीं, परन्तु अभेद है—ऐसा ज्ञान कर।

(२) संस्थान : बड़े पुरुष की बड़ी गाय, शरीर के आकार से आत्मा का आकार, स्थूल मनुष्य के स्थूल (जाड़ा) पुत्र, ऐसा कहा जाता है। परन्तु गाय का आकार भिन्न और पुरुष का आकार भिन्न, शरीर का आकार और आत्मा का आकार भिन्न है। शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है। रूपी के कारण से अरूपी का आकार कहना, वह नाममात्र है। केवलीसमुद्घात के समय कर्मण, तैजसशरीर आत्मा के आकार होता है और आत्मा का आकार उस शरीर जितना होता है, वह बोलनेमात्र है। जीव जो शरीर धारण करे, तदनु रूप उसका आकार होता है और कर्मण, तैजस भी उस आकार होता है, परन्तु देह के कारण से आत्मा का आकार नहीं है।

आत्मा असंख्यप्रदेशी है, उसके अनन्त गुण और पर्याय हैं। द्रव्य—गुणों-पर्याय के आकार हैं और पर्याय द्रव्य-गुण के आकार हैं। ज्ञान-दर्शन की निर्मल पर्याय का आकार अथवा क्रोध-मान की विकारी पर्याय का आकार आत्मा के आकार है। पर्याय का आकार और द्रव्य का आकार, ऐसा भेद पड़ता है परन्तु वास्तव में भेद नहीं है।

शरीर के आकार आत्मा कहना, वह कथनमात्र है। शरीर मूर्त है, उसका आकार मूर्त है; आत्मा अरूपी है, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अरूपी हैं। अरूपी आत्मा का आकार शरीर के कारण से नहीं। इस प्रकार शरीर से भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

शरीर चौड़ा हो, इसलिए आत्मा चौड़ा होता है, ऐसा नहीं है। शरीर भिन्न और

आत्मा भिन्न है। आत्मा, उसके गुण और उसकी विकारी या अविकारी दशा—ऐसा तीनों का आकार आत्मा प्रमाण है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान कराते हैं।

(३) संख्या : ‘ और जैसे किसी पुरुष की दश गौवें हैं। ऐसा कहना सो भेदसंख्या है। तैसे ही एक वृक्ष की दश शाखायें, एक द्रव्य के अनन्त गुण, यह अभेदसंख्या जाननी ।’

किसी पुरुष के दस गायें हैं, वहाँ पुरुष एक और गायें दस हैं, दोनों भिन्न चीज़ हैं, तथापि निमित्त का सम्बन्ध बतलाने के लिये एक पुरुष की दस गायें, ऐसा कहा जाता है। पुरुष मर जाता है और गायें रहती हैं अथवा गायें मर जाती हैं और पुरुष रहता है। उसी प्रकार आत्मा एक और आठ कर्मवाला, आत्मा एक और औदारिक, कर्मण, तैजस—ऐसे तीन शरीरवाला, आत्मा एक और दस प्राणवाला और पाँच इन्द्रियवाला कहना, वह कहनेमात्र है। कर्म, इन्द्रियाँ, प्राण इत्यादि जड़ हैं, तू चैतन्य है, इसलिए व्यवहार का कथन समझकर, उससे भेदज्ञान कर। इस मनुष्य को दस पुत्र-पुत्रियाँ हैं, चक्रवर्ती को ९६००० स्त्रीवाला कहना, वह मात्र उपचार है क्योंकि दोनों भिन्न चीज़ें हैं।

एक वृक्ष की दस शाखा कहना, वह अभेद का कथन है। वृक्ष एक और शाखा दस, ऐसा भेद पड़ने पर भी वृक्ष और शाखा भिन्न नहीं, एक ही क्षेत्र में है। उसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणवाला है। उसमें आत्मा एक और गुण अनन्त—ऐसे भेद पड़ने पर भी मनुष्य और गाय जैसा भेद नहीं है। आत्मा और गुणों में वस्तुभेद से भेद नहीं। आत्मा को अनन्त कर्मवाला कहा, वहाँ तो दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। परन्तु आत्मा को अनन्त गुणवाला कहा, उसमें वस्तुभेद नहीं। अनन्त गुण-पर्याय के साथ आत्मा एकाकार है।

तू जीवास्तिकाय है। यह शरीर की काया तेरी काया नहीं। असंख्यप्रदेशीपना वह तेरी काया है, उसमें तेरे गुण-पर्याय रहे हुए हैं। आत्मा एक और उसके असंख्यप्रदेश, आत्मा एक और गुण अनन्त, आत्मा एक और पर्यायें अनन्त, आत्मा और उसकी ज्ञानदशायें—ऐसे भेद पड़ते हैं। गुण-गुणी भेद होने पर भी परपदार्थ के साथ का जैसा भेद नहीं है, गुण-गुणी एकाकार है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान कराते हैं और अपने में गुण-गुणी की अभेदता कराते हैं।

इस जीव ने इतने जीवों की दया पालन की, ऐसा कथन आवे, उसमें जीव पर

की दया पाल सकता नहीं, परन्तु पर का सम्बन्ध बतलाने के लिये कहा है। इस जीव ने इतने रुपये खर्च किये। उसमें जीव रुपये खर्च कर सकता नहीं परन्तु निमित्त का कथन है, ऐसा समझना। आत्मा ने अपनी ज्ञान-दर्शनरूप पूँजी में एकाग्र होकर निर्मलपर्याय निकाली (प्रगट की), आत्मा ने अपने ज्ञानगुण का व्यापार किया। आत्मा और ज्ञानगुण, ऐसा भेद पड़ने पर भी वह व्यापार असंख्यप्रदेश में हो रहा है। आत्मा ने हीरा का व्यापार किया तो वह बात खोटी है। परन्तु अपने असंख्यप्रदेश में राग का व्यापार किया, यह बराबर है।

शक्कर में सफेदी, मिठास ऐसे गुणों का भेद पड़ता है, परन्तु वे पृथक् नहीं पड़ते, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण पृथक् नहीं पड़ते।

कोई कहता है कि आत्मा को आठ कर्म और उसकी १४८ प्रकृति लगी हुई है न? नहीं, एक भी कर्म लगा नहीं। कर्म भिन्न और आत्मा भिन्न है। आत्मा को तो अनन्त गुण लगे हैं, यह सच्ची बात है। आत्मा और उसके ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें, ऐसे संख्याभेद हैं, परन्तु वस्तुभेद नहीं। इस प्रकार पर से पृथक्ता और गुण से अभेदता कराते हैं। ऐसे ज्ञान बिना राग मन्द करे तो पुण्य होता है परन्तु धर्म नहीं होता। शरीर, कर्म इत्यादि से भेदज्ञान करके, गुणों और पर्यायों के साथ संख्याभेद होने पर भी तू उनके साथ अभेद एकाकार है—ऐसा ज्ञान करना, वह धर्म है।

(४) आधार : 'और जैसे गोकुल में गाय है, ऐसा कहना यह भेदविषय है, तैसे ही वृक्ष में शाखा, द्रव्य में गुण, यह अभेदविषय है।'

गोकुल में गाय है। वाड़ा में गाय है, यह भेद का कथन है। गाय मर जाये और क्षेत्र पड़ा रहता है। बँगले के आधार से मनुष्य, यह भेद का कथन है। बँगला नाश पाता है और मनुष्य जीवित रहता है। आत्मा के आधार से शरीर, शरीर के आधार से धर्म, गुरु के आधार से धर्म, ये सब कथन निमित्त के हैं। वे परपदार्थ हैं, उन्हें एक-दूसरे का आधार नहीं है। कर्म के आधार से विकार, वह निमित्त का कथन है। विकार भिन्न चीज़ है और कर्म भिन्न है, एक-दूसरे का एक-दूसरे को आधार नहीं।

वृक्ष के आधार से शाखा कहना, वह अभेदकथन है। वृक्ष और शाखा नाम

अलग पड़ने पर भी वस्तु एक है; उसी प्रकार आत्मा के आधार से अनन्त गुण रहे हुए हैं। आत्मा के आधार से धर्म, उसमें आत्मा और गुण, आत्मा और धर्म, ऐसे भेद पड़ते हैं परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। आत्मा के आधार से विकार, तो वह बराबर है क्योंकि कर्म तथा पर के कारण से विकार नहीं है। परन्तु तू करे तो होता है, ऐसा यहाँ जीवास्तिकाय का स्वरूप बतलाना है। आत्मा, उसके द्रव्य-गुण और विकारी और अविकारी पर्याय असंख्यप्रदेश में रहे हुए हैं। उन्हें प्रदेशभेद नहीं है।

परपदार्थ का तुझे आधार नहीं, तेरे गुण तेरे आधार से है, ऐसा निर्णय कर। ऐसी गुण-गुणी की एकता कर तो धर्म हो, ऐसा है। आत्मा के यथार्थ ज्ञान बिना त्यागी होकर, पाँच महाव्रत पालन किये, शुक्ल लेश्या के परिणाम किये, शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी क्रोध नहीं किया परन्तु आत्मा के भान बिना पर से धर्म मानकर संसार में भटका। या तो देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप में भूल करता है, या तो उन्हें समझने में भूल करता है, और पर से लाभ-नुकसान मानकर भटक रहा है, वह चाहे जितनी बाह्यक्रिया करे तो भी उसे धर्म नहीं होता।

लक्ष्मी से, देव-गुरु से, शरीर से अज्ञानी जीव धर्म मान बैठा है। पर के कारण से मैं, और मेरे कारण से पर, ऐसी मान्यता कर बैठा है। कर्म के कारण से विकार होता है, ऐसा मान बैठा है—यही अज्ञानभाव है। कर्म के आधार से विकार नहीं, तेरी भूल के आधार से विकार है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

और कोई कहे कि रोटियाँ बिना चले परन्तु मकान बिना चले ? भाई ! तेरा मकान तुझमें है। तेरा आश्रय तुझमें है। और अज्ञानी जीव रुपये तथा अनाज के आधार से जीवत्व है, ऐसा मानता है, वह भ्रान्ति है। और शरीर तथा प्राण के आधार से धर्म नहीं। केवलज्ञान महाविदेह के आधार से नहीं परन्तु आत्मा के आधार से है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति है, उसमें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करे तो केवलज्ञान होता है। विकार करे तो भी अपने आत्मा के आधार से होता है। यहाँ अस्तिकाय सिद्ध करना है। विकार करे तो भी अपने कारण से और धर्म करे तो भी अपने कारण से, ऐसा मानना चाहिए। पर के कारण से विकार या पर के कारण से धर्म मानना, वह मिथ्याभाव है। अपने से होता है, ऐसा माने तो पर से पृथक् पड़े और विकार होता है, वह मेरी कमजोरी से मेरी पर्याय

में एक समय जितना होता है और मैं त्रिकाली हूँ। अंश को अंश जितना जाने और अंशी को अंशी जितना जाने और स्वभावसन्मुख ढले तो प्रमाणज्ञान होता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण २, गुरुवार

(१) जीव अस्तिकाय है और पर से भिन्न है। इस पुरुष की यह गाय है, यह सर्वथा भेद है और पृथक् व्यवहार का कथन है। आत्मा के ज्ञानगुण और पर्याय उसमें कथन, संख्या, लक्षणभेद से भेद पड़ता है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञानसमय, इस प्रकार से जानता है और शब्दसमय ऐसा कहता है।

(२) गाय का आकार अलग और मनुष्य का आकार अलग, तथापि मोटे मनुष्य की मोटी गाय कहना, यह व्यवहारकथन है। आत्मा के ज्ञानगुण का आकार आत्मा जितना, आत्मा का आकार आत्मा की पर्याय जितना, विकार का आकार आत्मा जितना, यह एकत्व व्यवहार है, इसमें प्रदेशभेद नहीं हैं। विकार का आकार कितना? शरीर जितना? नहीं, अपने आत्मा के असंख्यप्रदेश जितना। ऐसा भेदज्ञान कराने के लिये कथन किया जाता है। जीव का संस्थान शरीर से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। गुण-पर्याय का आकार द्रव्य जितना है। द्रव्य, गुण, पर्याय—ऐसे तीन में नामभेद पड़ते हैं परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। और पर्याय विकारी अथवा अविकारी एक समय की है, और द्रव्य-गुण त्रिकाल है, ऐसा कालभेद है परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। इसलिए उसे संस्थान अभेद व्यपदेश कहा जाता है।

अमूर्त द्रव्य के गुण-पर्यायें अमूर्त हैं, विकार भी अमूर्त है। अमूर्त का आकार अमूर्त है। आत्मा का आकार असंख्यप्रदेशी है, तथापि उसे शरीरप्रमाण कहना या आत्मा प्रमाण कर्म का आकार कहना, वह पृथक् व्यवहार का कथन है।

शरीर, कर्म मूर्तद्रव्य है, उसके गुण मूर्त हैं और उसका विकार अर्थात् स्कन्धरूपी अवस्था भी मूर्त है। यह पुद्गल के अभेद एकत्व-व्यवहारकथन है।

शब्द जो कि पदार्थ को राग-द्वेषरहितरूप से बताता है, वह शब्दसमय है, जो

शब्दसमय का यथार्थ ज्ञान करे, वह ज्ञानसमय है और ज्ञान में जो ज्ञेय यथार्थ रीति से ज्ञात हो, वह ज्ञेय अर्थसमय है।

समयसार में दृष्टिप्रधान कथन में जीवस्थान, गुणस्थान, विकार इत्यादि परिणामों को शुद्ध चैतन्य की दृष्टि कराने के लिये और राग की दृष्टि छुड़ाने के लिये, कमजोरी पर के आश्रय से होती है, इसलिए पुद्गल का परिणाम कहा जाता है। परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीन होकर पूरे अस्तिकाय का ज्ञान कराना है। विकारी या अविकारी पर्याय का आकार असंख्यप्रदेश जितना है, द्रव्य-गुण जितना है। यह अभेद संस्थान है, ऐसा शब्दसमय कहता है।

(३) आत्मा को तीन शरीर कहना, वह पृथक् व्यवहार का कथन है। शरीर और आत्मा के अस्तिकाय भिन्न हैं। भिन्न पदार्थ होने पर भी एक-दूसरे के कहना, वह नजदीक उपस्थित चीज़ का ज्ञान कराने के लिये है। आत्मा को अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें हैं, उसमें आत्मा की संख्या एक और गुण-पर्याय की संख्या अनन्त, ऐसा संख्याभेद पड़ा, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा के प्रदेश भिन्न और गुण-पर्याय के प्रदेश भिन्न, ऐसा है नहीं।

यह पंचास्तिकाय का वर्णन है। पंचास्तिकाय शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों का वर्णन चलता है। जो ज्ञान पर से भेदज्ञान करे और अपने अस्तिकाय में जैसा है, वैसा ज्ञान करे, वह यथार्थज्ञान है। आत्मा के अतिरिक्त अनन्त द्रव्यों का होना आत्मा से भिन्न है। उसे अभावरूप सम्बन्ध है। ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है। त्रिकाली द्रव्य, गुण, विकारी और अविकारी पर्याय में द्रव्य और गुण-पर्याय और संख्याभेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए एकत्व-व्यवहार है।

(४) आत्मा के आधार से शरीर, आत्मा के आधार से कर्म, वह पृथक्व्यवहार का कथन है। शरीर, कर्म आत्मा के असंख्यप्रदेश में नहीं है। यहाँ विषय का अर्थ आधार है। एक अस्तिकाय को दूसरे अस्तिकाय का आधार कहना तो पृथक्व्यवहार है। जैसे कि गोकुल के आधार से गाय, कर्म के आधार से विकार, शरीर के आधार से आत्मा कहना, वह पृथक्व्यवहार है।

वृक्ष के आधार से शाखा कहना, वह पृथक् व्यवहार नहीं, परन्तु एकत्वव्यवहार है। वैसे आत्मा के आधार से गुण तथा पर्यायें हैं, ऐसा कहना, वह एकत्वव्यवहार है, वह एक अस्तिकाय में आता है। आत्मा के आधार से विकार, वह स्व अस्तिकाय में आता है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में विकार अपने में अपने से होता है, परन्तु पर के कारण से होता नहीं—ऐसा बताते हैं।

‘व्यपदेश, संस्थान, संख्या, विषय—ये चार प्रकार के भेद द्रव्य-गुण में अभेदरूप दिखाये जाते हैं, अन्यद्रव्य से भेदकर दिखाये जाते हैं। यद्यपि द्रव्य-गुण में व्यपदेशादिक कहे जाते हैं, तथापि वस्तु के विचार से नहीं हैं।’

ज्ञान, दर्शनादि आत्मा के गुण हैं। ऐसे आत्मा और गुण—ऐसा भेद कथन में (व्यपदेश में) पड़ा। आत्मा का आकार, वही गुण-पर्याय का आकार है, ऐसा भेद पड़ा। आत्मा एक है और गुण अनन्त हैं, ऐसा संख्या में भेद पड़ा, ज्ञान-दर्शनादि आत्मा के आधार से हैं, ऐसा (विषय) आधार में भेद पड़ा, तो भी द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए अभेद है। एक अभेद अस्तिकाय में भेद बताया जाता है। यह ज्ञानगुण, यह पर्याय विकारी है, यह अविकारी पर्याय है, यह द्रव्य है—ऐसे द्रव्य, गुण और पर्याय विकारी या अविकारी चारों होकर अस्तिकाय का पूरा होता है और परद्रव्य से वह भेदस्वरूप है। पर को पररूप जाने, अपने में भी पर्याय अंश को पर्याय जितना जाने और अंशी जितना नहीं, ऐसा जाने, द्रव्य-अंशी त्रिकाली है, उसे अंशी जाने, ऐसा ज्ञान करके पर से और अंश से दृष्टि उठाकर अंशी की दृष्टि करे तो प्रमाणज्ञान होता है।

●●

भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर! जो भीतर आनन्द के झूले में झूलते हों और पञ्च महाव्रत का राग उठे, उसे विष मानते हों, अहा! जिनके दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होते हों, जो आनन्द की खेती कर रहे हों ... वह धन्य दशा अलौकिक है। गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचता हो, उस दशा की क्या बात!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, १११३, पृष्ठ २४०

गाथा - ४७

णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हं ॥४७॥

ज्ञानं धनं च करोति धनिनं यथा ज्ञानिनं च द्विविधाभ्याम्।

भणन्ति तथा पृथक्त्वमेकत्वं चापि तत्त्वज्ञाः ॥४७॥

वस्तुभेदाभेदोदाहरणमेतत् ।

यथा धनं भिन्नास्तित्वनिर्वृत्तं भिन्नास्तित्वनिर्वृत्तस्य, भिन्नसंस्थानं भिन्नसंस्थानस्य, भिन्नसंख्यं भिन्नसंख्यस्य, भिन्नविषयलब्धवृत्तिकं भिन्नविषयलब्धवृत्तिकस्य पुरुषस्य धनीति व्यपदेशं पृथक्त्वप्रकारेण कुरुते, यथा च ज्ञानमभिन्नास्तित्वनिर्वृत्तमभिन्नास्तित्वनिर्वृत्तस्याभिन्न-संस्थानमभिन्नसंस्थानस्याभिन्नसंख्यमभिन्नसंख्यास्याभिन्नविषयलब्धवृत्तिकमभिन्नविषय-लब्धवृत्तिकस्य पुरुषस्य ज्ञानीति व्यपदेशमेकत्वप्रकारेण कुरुते; तथान्यत्रापि। यत्र द्रव्यस्य भेदेन व्यपदेशादिः तत्र पृथक्त्वं, यत्राभेदेन तत्रैकत्वमिति ॥४७॥

धन से धनी अरु ज्ञान से ज्ञानी द्विविध व्यपदेश है।

इस भाँति ही पृथक्त्व अरु एकत्व का व्यपदेश है ॥४७॥

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [धनं] धन [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [धनिनं] (पुरुष को) 'धनी' [च] और [ज्ञानिनं] 'ज्ञानी' [करोति] करते हैं- [द्विविधाभ्याम् भणन्ति] ऐसे दो प्रकार से कहा जाता है, (तथा) उसी प्रकार [तत्त्वज्ञाः] तत्त्वज्ञ [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व [च अपि] तथा [एकत्वम्] एकत्व को कहते हैं।

टीका:-यह, वस्तुरूप से भेद और (वस्तुरूप से) अभेद का उदाहरण है।

जिस प्रकार (१) भिन्न अस्तित्व से रचित, (२) भिन्न संस्थानवाला, (३) भिन्न संख्यावाला और (४) भिन्न विषय में स्थित ऐसा धन (१) भिन्न अस्तित्व से रचित, (२) भिन्न संस्थानवाले, (३) भिन्न संख्यावाले और (४) भिन्न विषय में स्थित ऐसे पुरुष को 'धनी' ऐसा व्यपदेश पृथक्त्वप्रकार से करता हैं, तथा जिस प्रकार (१) अभिन्न अस्तित्व से रचित, (२) अभिन्न संस्थानवाला, (३) अभिन्न संख्यावाला और (४) अभिन्न विषय में स्थित ऐसा ज्ञान (१) अभिन्न अस्तित्व से रचित, (२) अभिन्न संस्थानवाले,

(३) अभिन्न संख्यावाले और (४) अभिन्न विषय में स्थित ऐसे पुरुष को 'ज्ञानी' ऐसा व्यपदेश एकत्वप्रकार से करता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। जहाँ द्रव्य के भेद से व्यपदेश आदि हों, वहाँ पृथक्त्व है, जहाँ (द्रव्य के) अभेद से (व्यपदेश आदि) हों, वहाँ एकत्व है॥४७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण २, गुरुवार

अब भेद-अभेद कथन का स्वरूप मूल गाथा में बताया जाता है।

‘जैसे द्रव्य सो पुरुष को धनवान् करता है अर्थात् धन जुदा है पुरुष जुदा है परन्तु धन के सम्बन्ध से पुरुष धनी वा धनवान् ऐसा नाम पाता है और चैतन्यगुण जो है, सो आत्मा को ‘ज्ञानी’ ऐसा नाम कहलाता है, ज्ञान और आत्मा को प्रदेशभेदरहित एकता है। परन्तु गुण-गुणी के कथन की अपेक्षा ज्ञान-गुण के द्वारा आत्मा ‘ज्ञानी’ ऐसा नाम धारण करता है।’

धन के सम्बन्ध से पुरुष को धनवान् कहते हैं, परन्तु धन और पुरुष भिन्न हैं, दोनों एक होते नहीं। दोनों के अस्तिकाय भिन्न हैं। कर्म के कारण से आत्मा कर्मी, शरीर के कारण से आत्मा शरीरी, प्राण के कारण से प्राणवाला, ऐसा कहा जाता है। परन्तु कर्म, शरीर और प्राण से आत्मा का अस्तिकाय भिन्न है। दोनों के बीच अभाव की बड़ी वज्रशिला है। एक के कारण से दूसरा नहीं है। धन चला जाये और पुरुष रहे, पुरुष रहे और धन चला जाये। कर्म और शरीर भिन्न पड़ जायें और सिद्ध का आत्मा भिन्न रहे, यदि वे एक अस्तिकाय हों तो भिन्न नहीं पड़ना चाहिए। इसलिए कर्म से कर्मवाला इत्यादि कहनेरूप जो कथन है, वह व्यवहार से कहा जाता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं। शरीर, कर्म आदि के प्रदेश और आत्मा के प्रदेशों को भिन्नता है।

चैतन्यगुण से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं। क्योंकि ज्ञान को और आत्मा को प्रदेशभेदरहित एकता है। ज्ञान के कारण से ज्ञानी कहा जाता है। केवलज्ञान के कारण से

केवली, धर्म के कारण से धर्मी, सम्यग्दर्शन से सम्यग्दृष्टि, चारित्र से चारित्रवान कहा जाता है। परन्तु उनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं। जैसे धन से धनवान कहा जाता है, वैसा कथन नहीं है। धन और धनवान भिन्न हैं, वैसे चारित्र और चारित्रवान के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। विकार कहीं रहे और आत्मा कहीं रहे, ऐसा नहीं होता। धर्म कहीं रहे अर्थात् सम्मेदशिखर और स्वाध्यायमन्दिर में रहे और धर्मी आत्मा कहीं रहे, ऐसा नहीं होता। गुण-गुणी में संख्या, नाम, लक्षणभेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भेद नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अपने व्यापकपने में हैं। जीव 'है' कहने से अस्ति और उसके असंख्यप्रदेश, वे उसकी काय, ऐसा अस्तिकाय सिद्ध करना है। और अस्ति कहने से द्रव्य आया, काय कहने से क्षेत्र आया, पर्याय अस्तिकाय में आ जाती है, ऐसा कहने से काल आया और गुण अस्तिकाय में हैं, (ऐसा) कहने से उसमें भाव आ जाता है। ऐसे अस्तिकाय साबित करने पर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ऐसे चारों आ जाते हैं। यहाँ पंचास्तिकाय का वर्णन है, इसलिए कथनपद्धति में अन्तर है।

यहाँ अस्तिकाय का वर्णन है। जीव के ममता के परिणाम भी असंख्यप्रदेश के आकार है, वे पर के कारण से नहीं हैं तथा धर्म के परिणाम भी अपने में हैं। शब्दसमय, वह पुद्गलास्तिकाय है; ज्ञानसमय जीवास्तिकाय है; पदार्थसमय द्रव्य-गुण-पर्याय, संसारपर्याय सब पदार्थसमय है। शब्दसमय से ज्ञान नहीं क्योंकि शब्दसमय पुद्गलास्तिकाय है। शब्दसमय से ज्ञान होता है, ऐसा कहना वह कथनमात्र है। परन्तु आत्मा का ज्ञान कहना, दर्शन से दृष्टा कहना, ज्ञान से ज्ञाता कहना, धर्म से धर्मी कहना, पाप से पापी कहना, उसमें नामभेद पड़ता है, परन्तु वस्तुवृत्ति से अस्तिकायरूप से भेद नहीं है।

‘तैसे ही इन दो प्रकार के भेदाभेदकथन द्वारा वस्तुस्वरूप को जाननेवाले पुरुष हैं, वे प्रदेशभेद की पृथक्ता से जो सम्बन्ध है, उसको पृथक्त्व कहते हैं और निश्चय से प्रदेशों की एकता से सम्बन्ध है, उसका नाम एकत्व है, ऐसे दो भेदों को कहते हैं।’

इस प्रकार के भेदाभेद कथन द्वारा वस्तुस्वरूप को जाननेवाले पुरुष प्रदेशभेद की पृथक्तावाला जो सम्बन्ध है, उसे पृथक्त्व कहते हैं और निश्चय से प्रदेशों की एकता को एकत्व कहते हैं। आत्मा को कर्मवाला कहना, वह पृथक्त्व है और गुण से गुणी कहना, वह एकत्वसम्बन्ध है।

भावार्थ : व्यवहार दो प्रकार के हैं। एक पृथक्त्वव्यवहार और दूसरा एकत्वव्यवहार। जहाँ द्रव्यों के साथ एकता का सम्बन्ध बतलाया जाये, उसे पृथक्त्वव्यवहार कहा जाता है। लक्ष्मी और आत्मा का सम्बन्ध कहना, वह पृथक्त्वव्यवहार है और एक वस्तु में भेद बतलाया जाये, उसे एकत्वव्यवहार कहा जाता है। ज्ञान के कारण से ज्ञानी, धर्म के कारण से धर्मी, यह एकत्वव्यवहार है।

ये दोनों प्रकार के सम्बन्ध धन और धनी में तथा ज्ञान और ज्ञानी में व्यपदेशादिक चार प्रकार से बतलाये जाते हैं।

(१) धन का नाम धन, धनी का नाम धनी। दोनों के नाम अलग हैं और दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, एक नहीं परन्तु प्रदेशभेद है। धन कहीं रहता है और धनवान कहीं रहता है।

(२) धन का आकार, हीरा का आकार, गहने इत्यादि का आकार और आत्मा का आकार एक नहीं है। भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्य साढ़े तीन हाथ लम्बा हो और रुपये की थैलियाँ भरे। जीव की आकृति अलग और रुपये के थैलियों की आकृति अलग, इसलिए दोनों में भेद है, प्रदेशभेद है।

(३) यह मनुष्य करोड़पति है। मनुष्य एक और रुपये करोड़, यह पृथक्त्वव्यवहार है। आत्मा को १४८ प्रकृति कर्म की है, यह पृथक् अस्तिकाय बताता है। आत्मा भिन्न और कर्म भिन्न हैं।

(४) इस मनुष्य के आधार से लक्ष्मी रही है। पैसे के आधार से गुजारा चलता है, यह भेदकथन है। लक्ष्मी का आधार उन परमाणु के द्रव्य-गुण हैं। कोई व्यवस्था करनेवाले के आधार से पैसे रहते हैं, यह बात झूठी है। पैसे भिन्न और व्यवस्था करनेवाला भिन्न है।

धन का नाम, आकार, संख्या, आधार उसके द्रव्य-गुण हैं, ऐसे चार भेदों से धन धनवान से भिन्न है और धनवान पुरुष, उसका नाम, उसका आकार, उसकी संख्या, उसका आधार—ऐसे चार भेदों से धन से भिन्न है। इस प्रकार धन और धनवान भिन्न होने पर भी धन के सम्बन्ध से पुरुष को धनवान कहा जाता है, यह पृथक्त्वव्यवहार है।

इस प्रकार पर से भिन्न मानना और स्व का ज्ञान करना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ३, शुक्रवार

प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के व्यवहार का ज्ञान कराते हैं। आत्मा को कर्म का सम्बन्ध कहना, वह पृथक्त्वव्यवहार है और आत्मा को ज्ञान का सम्बन्ध कहना, वह एकत्वव्यवहार है। धन के कारण से धनवान कहना, वह पृथक्त्वव्यवहार है। लक्ष्मी के प्रदेश आत्मा में आते नहीं परन्तु जीव की ममता में धन निमित्त है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बतलाने के लिये कथन किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा को कर्मवाला, इज्जतवाला, स्त्रीवाला, शरीरवाला कहना, वह पृथक्त्वव्यवहार है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि लकड़ा जलते हुए आत्मा को दुःख नहीं होता परन्तु शरीर जलने पर दुःख होता है न ?

समाधान : स्वयं दुःख की कल्पना करता है। किसी मुनि का शरीर जलने पर भी वे अन्तर आनन्द में लीन हैं, इसलिए शरीर दुःख का कारण नहीं। विकार करते समय शरीर के ऊपर लक्ष्य जाता है, इसलिए निमित्त के ऊपर आरोप किया जाता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पृथक्त्वव्यवहार बतलाने के लिये है।

लक्ष्मी और पुरुष, दोनों नाम, आकार, संख्या और आधार—चारों प्रकार से भेदस्वरूप है। केवली और श्रुतकेवली के कारण से क्षायिक समकित होता है, वह पृथक्त्वव्यवहार का कथन है।

और कोई कहे कि आँख खुली हो तो ज्ञान-उपयोग होता है और आँख बन्द हो तो ज्ञान उपयोग होता नहीं, ऐसा कहनेवाला स्थूल भूल में है। आँख बन्द होने पर भी यह नहीं दिखाई दिया, ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह भी ज्ञान-उपयोग है। तथापि ज्ञान-उपयोग नहीं—ऐसा कहना वह भ्रम है। और निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध एक ही समय में है, उसका समयभेद नहीं है। ज्ञानपर्याय जिस समय में होती है, उस समय में जो निमित्त हो, उसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बतलाकर पृथक्त्वव्यवहार कहा जाता है। वह आगे-पीछे होता नहीं। और आँख है तो ज्ञान-उपयोग है और आँख नहीं तो ज्ञान-उपयोग नहीं, ऐसा ज्ञान-उपयोग पराधीन नहीं है। उसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध अथवा

पृथक्व्यवहार भी नहीं कहा जाता। निमित्त और नैमित्तिक अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र है।

‘ज्ञान और ज्ञानी में एकता है परन्तु नाम, संख्या, संस्थान विषयों से ज्ञान का भेद किया जाता है। वस्तुस्वरूप को भलीभाँति जानने के कारण उस ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञानी नाम पाता है। इसको एकत्वव्यवहार कहते हैं। ये दो प्रकार का सम्बन्ध समस्त द्रव्यों में चार प्रकार से जानना।’

ज्ञान का नाम ज्ञान और ज्ञानी का नाम आत्मा, ऐसा नामभेद; आत्मा एक और ज्ञान अधिक से अधिक चार हों (लब्ध तीन और एक उपयोगरूप) ऐसा संख्याभेद से भेद है। आत्मा और उसके असंख्यप्रदेश ऐसा भेद है; आत्मा के आधार से ज्ञानादि गुण हैं। ऐसा आधार में भेद है परन्तु वस्तुभेद से भेद नहीं, एक प्रदेश है। अपने क्षेत्र में भेद डालना, वह एकत्वव्यवहारकथन है।

आत्मा दूसरे जीव की दया पाले, ऐसा कहना, वह पृथक्व्यवहार है और अपनी दया पाले, वह एकत्वव्यवहार है। आकाश के आधार से पाँच द्रव्य कहना, वह पृथक्व्यवहार है। आकाश अपने आधार से है, ऐसा कहना वह एकत्वव्यवहार है। नाम, संस्थान, संख्या, आधार भिन्न और प्रदेश भिन्न, वह पृथक्व्यवहार है। नाम, संस्थान, संख्या, आधार भिन्न-भिन्न परन्तु प्रदेश एक, वह एकत्वव्यवहार है। इस प्रकार दो प्रकार का सम्बन्ध समस्त द्रव्यों में चार प्रकार से जानना।

अब ज्ञान और आत्मा में सर्वथा प्रकार से भेद माना जाये तो बड़ा दोष आता है, ऐसा कहा जाता है।

●●



गाथा - ४८

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदा दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं॥४८॥

ज्ञानी ज्ञानं च सदार्थान्तरिते त्वन्योऽन्यस्य।
द्वयोरचेतनत्वं प्रसजति सम्यग् जिनावमतम्॥४८॥

द्रव्यगुणानामर्थान्तरभूतत्वे दोषोऽयम् ।

ज्ञानी ज्ञानाद्यद्यर्थान्तरभूतस्यदा स्वकरणांशमन्तरेण परशुरहितदेवदत्तवत्करणव्यापारा-
समर्थत्वादचेतयमानोऽचेतन एव स्यात् । ज्ञानश्च यदि ज्ञानिनोऽर्थान्तरभूतं तदा तत्कर्त्रंशमन्तरेण
देवदत्तरहितपरशुवत्कर्तृत्वव्यापारासमर्थत्वादचेतयमानमचेतनमेव स्यात् । न च ज्ञानज्ञानि-
नोर्युतसिद्धयोस्संयोगेन चेतनत्वं द्रव्यस्य निर्विशेषस्य गुणानां निराश्रयाणां शून्यत्वादिति॥४८॥

यदि होय अर्थान्तरपना, अन्योन्य ज्ञानी-ज्ञान में।
दोनों अचेतनता लहें, संभव नहीं अतएव यह॥४८॥

अन्वयार्थ :- [ज्ञानी] यदि ज्ञानी (-आत्मा) [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [सदा]
सदा [अन्योऽन्यस्य] परस्पर [अर्थांतरिते तु] अर्थांतरभूत (भिन्नपदार्थभूत) हों तो
[द्वयोः] दोनों को [अचेतनत्वं प्रसजति] अचेतनपने का प्रसंग आये-[सम्यग्
जिनावमतम्] जो कि जिनों को सम्यक् प्रकार से असंमत है।

टीका:-द्रव्य और गुणों को अर्थान्तरपना हो तो यह (निम्नानुसार) दोष आयेगा।

यदि ज्ञानी (-आत्मा) ज्ञान से अर्थान्तरभूत हो तो (आत्मा) अपने करण-अंश
बिना, कुल्हाड़ी रहित देवदत्त की भाँति, ^१करण का व्यापार करने में असमर्थ होने से नहीं
चेतता (-ज्ञानता) हुआ अचेतन ही होगा। और यदि ज्ञान ज्ञानी से (-आत्मा से)
अर्थान्तरभूत हो तो ज्ञान अपने कर्तृ-अंश के बिना, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति,

१. करण का व्यापार=साधन का कार्य। (आत्मा कर्ता है और ज्ञान करण है। यदि आत्मा
ज्ञान से भिन्न ही हो तो आत्मा साधन का व्यापार अर्थात् ज्ञान का कार्य करने में असमर्थ
होने से जान नहीं सकेगा इसलिए आत्मा को अचेतनत्व आ जायेगा।)

अपने ^१कर्ता का व्यापार करने में असमर्थ होने से नहीं चेतता (-जानता) हुआ अचेतन ही होगा। पुनश्च, ^२युतसिद्ध ऐसे ज्ञान और ज्ञानी को (-ज्ञान और आत्मा को) संयोग से चेतनपना हो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि निर्विशेष द्रव्य और निराश्रय गुण शून्य होते हैं॥४८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ३, रविवार

‘आत्मा और चैतन्यगुण का सदाकाल सर्वथा प्रकार भेद हो तो परस्पर ज्ञानी और ज्ञान के जड़भाव होता है। यथार्थ में यह जिनेन्द्र भगवान का कथन है।’

ज्ञान इन्द्रिय के कारण और पुस्तक के कारण होता है, ऐसा माना जाये तो ज्ञान आत्मा से होता है, ऐसा नहीं माना। उसने ज्ञान और आत्मा को सर्वथा भिन्न माना, इससे ज्ञान जड़ हो गया और ज्ञान का अभाव मानने से आत्मा भी जड़ हो गया। इन्द्रियाँ और शरीर के कारण से धर्म माना जाये तो धर्म जड़ हो और धर्म का धारक आत्मा जड़ हो जाये। ऐसी मान्यतावाला जीव अभेद आत्मा के आश्रय से धर्म होता है, ऐसा मानता नहीं।

भावार्थ : अग्नि द्रव्य में उष्णता गुण है। यदि अग्नि और उष्णता में पृथक्ता हो

१. कर्ता का व्यापार=कर्ता का कार्य। (ज्ञान करण है और आत्मा कर्ता है। यदि ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो तो ज्ञान कर्ता का व्यापार अर्थात् आत्मा का कार्य करने में असमर्थ होने से जान नहीं सकेगा इसलिए ज्ञान को अचेतनपना आ जावेगा।)
२. युतसिद्ध=जुड़कर सिद्ध हुए; समवाय से-संयोग से सिद्ध हुए। (जिस प्रकार लकड़ी और मनुष्य पृथक् होने पर भी लकड़ी के योग से मनुष्य ‘लकड़ीवाला’ होता है, उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा पृथक् होने पर भी ज्ञान के साथ युक्त होकर आत्मा ‘ज्ञानवाला (-ज्ञानी)’ होता है, ऐसा भी नहीं है। लकड़ी और मनुष्य की भाँति ज्ञान और आत्मा कभी पृथक् होंगे ही कैसे? विशेषरहित द्रव्य हो ही नहीं सकता, इसलिए ज्ञान रहित आत्मा कैसा? और आश्रय बिना गुण हो ही नहीं सकता, इसलिए आत्मा के बिना ज्ञान कैसा? इसलिए ‘लकड़ी’ और ‘लकड़ीवाले’ की भाँति ‘ज्ञान’ और ‘ज्ञानी’ का युतसिद्धपना घटित नहीं होता।)

तो वह ईंधन को सुलगा नहीं सकती। यहाँ दृष्टान्त के लिये अग्नि परमाणु की वैभाविकपर्याय होने पर भी द्रव्यरूप से ली गयी है और उष्णता पर्याय होने पर भी गुण कहा है। उष्णतारहित अग्नि लकड़े को सुलगा नहीं सकती और अग्नि बिना की उष्णता लकड़े को सुलगा नहीं सकती। प्रथम से उष्णगुण पृथक् हो तो किस प्रकार सुलगावे ? और यदि अग्नि पृथक् हो तो उष्णगुण किसके आश्रय से रहे ? उष्णता को अग्नि का आश्रय न हो तो उष्णता नहीं रह सकती और जलाने की शक्तिरहित हो जाती है। गुण और गुणी परस्पर भिन्न हो तो कार्य करने को समर्थ नहीं होते। उष्णता और अग्नि भिन्न हों तो अग्नि उष्णता के गुण बिना कार्य न करे और उष्णतागुण अग्नि के आधार बिना कार्य न करे। इन दोनों में एकता हो तो जलाने में समर्थ हो।

उसी प्रकार आत्मा और उसका ज्ञानगुण और पर्याय भिन्न हों तो जानने की क्रिया में असमर्थता हो। ज्ञान की पर्याय पर से और इन्द्रियों से हो तो पर्याय नहीं रही, उस पर्याय का अभाव होने से पर्यायवान रहता नहीं। धर्म की पर्याय पर के कारण से मानी जाये तो धर्म का आधार पर होने से धर्म रहे नहीं, और धर्म का अभाव होने पर धर्म—आत्मा रहे नहीं। आँख से ज्ञान माना जाये तो ज्ञानपर्याय जड़ की हुई, और पर्याय बिना का द्रव्य मानने से द्रव्य रहता नहीं।

क्षायिकसमकित को आत्मा का अवलम्बन न हो और तीर्थकर से वह हो तो उस पर्याय को अपने द्रव्य का आधार रहा नहीं और द्रव्य, पर्याय बिना का रहा; इसलिए द्रव्य में और पर्याय में कार्य करने की समर्थता रहती नहीं। तीर्थकर के समीप जाने से तीर्थकरनामकर्म बँधता है, वहाँ यदि शुभराग निमित्त के अवलम्बन हो तो वह पर्याय द्रव्य बिना की हो गयी और पर्याय पर से होने पर द्रव्य पर्याय बिना का हुआ—इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों का नाश हो जाता है।

इसी प्रकार संहनन, मनुष्यदेह, महाविदेहक्षेत्र, चौथा काल इत्यादि हो तो केवलज्ञान हो, आस पुरुष की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन हो—इत्यादि प्रकार से माना जाये तो ज्ञान और श्रद्धा की पर्यायें पर से होने से वे पर्यायें जड़ की हो गयी और पर्याय बिना का द्रव्य भी रहता नहीं। दोनों काम करने को असमर्थ होते हैं। ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, वीर्य इत्यादि की पर्याय द्रव्य के आधार से है, ऐसा न माने तो समय-समय की पर्याय द्रव्य के साथ

एकता पाती नहीं। पर से पर्याय माने तो पर्याय द्रव्य बिना की हो और द्रव्य पर्याय बिना का होने पर किस प्रकार काम करे ? ज्ञान आत्मा बिना का होने से ज्ञान अचेतन हो जाता है और आत्मा ज्ञान बिना का होने से आत्मा अचेतन हो जाता है।

और यदि कोई ऐसा कहे कि पृथक् रूप दाँत द्वारा काटने से पुरुष को काटनेवाला कहा जाता है। परन्तु दाँत पृथक् और मनुष्य पृथक् है, दाँत गिर जाता है और मनुष्य रहता है, तथापि दाँत की क्रिया से मनुष्य को काटनेवाला कहा जाता है। उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा भिन्न मानो और आत्मा ज्ञान द्वारा जानने का काम करता है, और इसलिए आत्मा को जाननेवाला कहो तो क्या बाधा है ? जैसे जन्म के समय दाँत नहीं थे, परन्तु बाद में दाँत नये आये और दाँत द्वारा काटने की क्रिया होने से पुरुष को काटनेवाला कहते हो, उसी प्रकार ज्ञान नया आने से आत्मा को जाननेवाला कहो तो ?

प्रथम, आत्मा निगोद में था, वहाँ बहुत अल्पज्ञान था और यहाँ मनुष्यपर्याय में यह बात श्रवण करके विशेष ज्ञान हुआ तो श्रवण में से ज्ञान आया और उस ज्ञान से आत्मा को जाननेवाला कहो तो ?

जैसे दाँत भिन्न होने पर भी दाँत की क्रिया से पुरुष को काटनेवाला कहते हो, उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा भिन्न मानते हैं और भिन्न ज्ञान की क्रिया से आत्मा को जाननेवाला कहो तो क्या बाधा ?

समाधान : काटने की क्रिया में दाँत बाह्य निमित्त है। उपादानकारण तो पुरुष में वह चीज़ काटने की शक्ति है। यहाँ वह पुरुष पुद्गल-परवस्तु को काट सकता है, ऐसा सिद्ध नहीं करना है। कटनेरूप योग्यता तो उस पदार्थ की है। परन्तु यहाँ तो जीव के वीर्य का क्षयोपशम कार्य करता है, यह बतलाना है। वह शक्ति पुरुष में न होती तो वह किस प्रकार काम करता ? दाँत कुछ भी कार्यकारी नहीं होता। बीमार अशक्त मनुष्य को दाँत होते हैं, परन्तु स्वयं में शक्ति की न्यूनता होने से किसी चीज़ को वह काट नहीं सकता। उपादानशक्ति से काम हो तो दाँत को निमित्त कहा जाता है, इसलिए पुरुष की शक्ति प्रधान है। उस शक्ति को शक्तिवान पुरुष के साथ एकता है, परन्तु दाँत को शक्तिवान पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि दाँत भिन्न और शक्तिवान पुरुष भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञान को आत्मा के साथ सम्बन्ध है, एकतारूप सम्बन्ध है, पुरुष और

दाँत के जैसा सम्बन्ध नहीं है। पुरुष और दाँत के प्रदेश भिन्न है। ऐसी ज्ञान को और आत्मा को प्रदेश-भिन्नता नहीं, परन्तु प्रदेश-एकता है। शक्ति, शक्तिवान के आधार से काम करती है। ज्ञान पर के आधार से काम नहीं करता। कोई शरीर से मजबूत हो और मति अज्ञान हो, कोई शरीर से निर्बल हो और केवलज्ञान प्रगटावे। स्वयं राग-द्वेष करके उल्टा परिणमन करे तो अपने आधार से और सुलटा परिणमन करे तो भी अपने आधार से है, कर्म के कारण से वह नहीं है। कर्म के उदय के कारण राग करना पड़ता है, यह बात खोटी है। अपने उल्टे पुरुषार्थ से उल्टा पड़े तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और अपने गुण-पर्याय के साथ सम्बन्ध जोड़कर अपने में उग्र पुरुषार्थ करे तो कर्म के अभाव को निमित्त कहा जाता है। जैसे दाँत की क्रिया में शक्ति पुरुष की है, वहाँ शक्ति और शक्तिवान पुरुष की एकता है। उसी प्रकार अपने गुण और आत्मा की एकता है, ऐसी अभेदता करे तो धर्म हो, ऐसा है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ४, शनिवार

ज्ञान और आनन्द आत्मा के साथ सम्बन्ध धराते हैं, वे कैसे प्राप्त हों, उसका यहाँ कथन है। जैसे गुड़ और मिठास में नामभेद होने पर भी वे एकरूप हैं, उसी प्रकार ज्ञान-आनन्दस्वभाव स्वभाववान ऐसे आत्मा के साथ एकरूप है। स्वभाव स्वभाववान के बिना नहीं होता और स्वभाववान स्वभाव के बिना नहीं होता, शान्ति और आनन्द आत्मा से भिन्न चीज़ से प्राप्त नहीं होते। श्रद्धा और श्रद्धावान, ज्ञान और ज्ञानवान, चारित्र और चारित्रवान—ऐसे नामभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है, वस्तु एक है। इस प्रकार गुण और आत्मा अभेद है, ऐसी दृष्टि करके अन्तर एकाग्र हो तो धर्म और शान्ति होगी।

अज्ञानी कहते हैं कि इन्द्रियाँ, शब्द, पुस्तक इत्यादि निमित्त हैं, तो ज्ञान होता है, उसका समाधान—ज्ञान की सामर्थ्य स्व में है, निमित्त में नहीं। जानने-देखने की शक्ति आत्मा में न हो तो निमित्त क्या करे? निमित्त में जानने-देखने की सामर्थ्य नहीं है। अज्ञानी मानता है कि पर के कारण से ज्ञान बढ़ता है, ऐसा मानकर पर में अटक जाता है। परन्तु अन्तर ध्रुव स्वभाव में सामर्थ्य है और उसमें एकाग्र होने से शुद्धता होती है,

यह बात उसे बैठती नहीं। और चश्मा और आँख है तो ज्ञान होता है, ऐसा वह मान रहा है। परन्तु चश्मा और आँख तो जड़ है, वे क्या करे? वर्तमान पर्याय की योग्यतानुसार का उघाड़ अपने कारण से होता है तो चश्मे को निमित्त कहा जाता है। उपादान में काम हुए बिना निमित्त किसका? स्वसामर्थ्यरूप क्रिया और सामने निमित्त में कालभेद नहीं, स्वयं ज्ञान करे तो आँख को और चश्मा को निमित्त कहा जाता है।

किसी द्रव्य की एक समय की अवस्था पर से मानी जाये तो उसका वर्तमान नहीं रहा। एक समय का वर्तमान नहीं मानने से तीनों काल के वर्तमान बिना का द्रव्य होने से द्रव्य का नाश होता है। विद्यार्थी को अभ्यास में प्रकाश और उपाध्याय निमित्त है, परन्तु विद्यार्थी में पढ़ने की सामर्थ्य न हो तो उपाध्याय और प्रकाश क्या करे? लकड़े के पास उपाध्याय और प्रकाश रखो तो लकड़े को ज्ञान चढ़ेगा नहीं, क्योंकि लकड़े में ज्ञान नहीं, इसलिए ज्ञान प्रगट नहीं होता, इसलिए प्रकाश और उपाध्याय लकड़े को निमित्त नहीं कहलाते, परन्तु विद्यार्थी स्वयं के कारण से ज्ञान प्रगट करता है तो प्रकाश और उपाध्याय को निमित्त कहा जाता है। इसलिए निर्णय कर कि ज्ञान स्वयं से प्रगट होता है। ज्ञान का परिणमन अपने कारण से न हो, वह बाह्य शरीर अच्छा हो तो भी क्या करे? परन्तु यह अज्ञानी जीव अन्तर्मुख श्रद्धा करता नहीं और बहिर्मुख श्रद्धा छोड़ता नहीं।

थाली आधार और लड्डू आधेय है, इस प्रकार से द्रव्य और गुण नहीं है। थाली और लड्डू सर्वथा भिन्न है, वैसे द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं। शरीर, मन, वाणी आत्मा से सर्वथा भिन्न है, इसलिए शरीर, मन, वाणी धर्म के आधाररूप नहीं हैं। ज्ञान-दर्शन का आधार आत्मा है। आधार आत्मा और आधेय ज्ञान-दर्शन की पर्याय—ऐसा नामभेद पड़ा, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है।

‘गुण-गुणी वे ही कहाते हैं जिनके प्रदेशों की एकता होय। ज्ञान और ज्ञानी में संयोगसम्बन्ध नहीं है, तन्मयभाव है।’

जिनके प्रदेशों की एकता है, उसे गुण-गुणी की एकता कहते हैं। ज्ञान को और आत्मा को संयोगसम्बन्ध नहीं, तन्मयभाव है। गुड़ गुणी है और मिठास गुण है। नामभेद है, वस्तु भिन्न नहीं, प्रदेश भिन्न नहीं। उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान, आनन्द, वीर्य

इत्यादि शक्तियों के नाम भिन्न हैं, परन्तु शक्ति और शक्तिवान भिन्न नहीं, आत्मा और कर्म, वाणी भिन्न हैं, उन्हें पृथक्ता है—एकता नहीं, इस प्रकार पर से भेदज्ञान कराते हैं।

अज्ञानी जीव कहता है कि शरीर निरोगी हो, वाणी श्रवणरूप से हो तो धर्म होता है, परन्तु यह बराबर नहीं है। भिन्न चीज़ से धर्म होता नहीं। आत्मा और शरीर, ऐसा कहने से दो चीज़ साबित होती है। यह है, ऐसा कहना और वापस यह मेरा है, ऐसा कहना, वह विरोध है। 'मैं' ऐसा कहने से पर के कारण से मैं नहीं, पर कहने से पर, पर के कारण से है, मेरे कारण से नहीं; दो कहने से एक-दूसरे में अभाव साबित होता है। शरीर के कारण से मैं और मेरे कारण से शरीर, ऐसा माना जाये तो दो चीज़ें रहती नहीं। दोनों चीज़ें पृथक् हैं। जो वर्तमान पृथक् है, वह त्रिकाल पृथक् है और जो त्रिकाल पृथक् है, वह वर्तमान पृथक् है।

और कोई कहे कि संयोग अनुकूल हो तो स्वभाव को लाभ हो, तो ऐसा माननेवाला संयोग तथा स्वभाव को एकरूप मानता है। 'संयोगों में मुकाणो' ऐसा कहते हैं, इसका अर्थ क्या? संयोग वे पर हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। संयोग के साथ एकमेक हुआ नहीं, संयोग अर्थात् एकता नहीं परन्तु पृथक्ता है। स्वयं स्वभाव का कर्ता है। परन्तु संयोग का नहीं—ऐसी अन्तर समझण बिना पर से विमुख होता नहीं।

और कोई ऐसी **दलील** करता है कि जहाँ बैठना हो, वहाँ जगह साफ करनी चाहिए और व्यवस्था करनी चाहिए तो शान्ति से बैठा जाये, उसी प्रकार जिस क्षेत्र और समाज में स्वयं खड़ा है, वहाँ बराबर व्यवस्था रखे तो शान्ति रहे न?

समाधान : भाई, सुन। बाहर के संयोग तथा समाज और तू एक है या भिन्न? यदि उनसे तुझे शान्ति हो तो तू शान्तिरहित खाली हो गया और तेरी शान्ति पर संयोग के कारण से हो तो संयोग और तू एक हो गये, पृथक् रहते नहीं। परन्तु यह बराबर नहीं है।

पानी की तरंग और पवन अत्यन्त भिन्न हैं, पवन से पानी की तरंग नहीं। पानी की तरंग और पानी भिन्न नहीं; उसी प्रकार स्त्री-पुत्र, शरीर, बाहर के पदार्थ और तू अत्यन्त भिन्न है, इसलिए उस परचीज़ के कारण तेरी ज्ञानपर्याय हो, ऐसा होता नहीं, परन्तु तेरी ज्ञानपर्याय तेरे आधार से है।

शरीर अच्छा हो तो धर्म हो और श्रवण हो तो धर्म और ज्ञान बढ़े, ऐसी जगत को भ्रमणा है। भाई! श्रवण तुझे ज्ञान कराता है? यदि श्रवण के साथ आत्मा को एकता हो तो सबको समान ज्ञान होना चाहिए। जो जितनी एकाग्रता करे, उतना ज्ञान होता है तो श्रवण को निमित्त कहा जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि निमित्त होना है न?

समाधान : किसका निमित्त? नैमित्तिक में कार्य हुए बिना निमित्त के ऊपर आरोप नहीं होता, अभी ज्ञान की अवस्था हुई नहीं, वहाँ निमित्त किसका? और जब ज्ञान की अवस्था होती है, तब श्रवण को निमित्त कहा जाता है, तो निमित्त ने नैमित्तिक में क्या किया? आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, वह कायम रहकर समय-समय में ज्ञान का परिणामन हुआ करता है, प्रथम विश्वास नहीं था और श्रवण के बाद विश्वास आया, यह भी भ्रमणा है। ज्ञान और विश्वास की क्रिया अपने में अपने कारण से होती है, क्योंकि गुण को और आत्मा को एकता है।

जो जीव अपने ज्ञान और शान्ति बाहर से आते हैं, ऐसा मानता है, वह हमेशा पर के सन्मुख देखता है, उसे अन्तर में झुकने का अवकाश नहीं रहता, बाहर से शान्ति कभी नहीं आती और उसे कभी शान्ति नहीं होती।

ज्ञान को और आत्मा को संयोगसम्बन्ध नहीं परन्तु तन्मयभाव है। ज्ञान की भाँति सभी गुण-पर्याय को आत्मा के साथ तन्मयभाव है। कर्म, शरीर, और आत्मा के साथ तन्मयभाव नहीं। विकार को और आत्मा को एक समय का तन्मयभाव है, त्रिकाली तन्मयभाव नहीं, इस प्रकार पर से पृथक् पड़कर, क्षणिक विकार से पृथक् पड़कर त्रिकाली द्रव्य का आश्रय ले, तो धर्म होता है।

और कोई जीव कहता है कि अपने ध्यान करें और शान्ति प्राप्त करें। भाई! ध्यान किसमें करेगा? ध्यान अर्थात् ध्येय को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होना, वह (ध्यान) है। ध्येय क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं। अपनी शक्ति अपने से प्रगट होती है, ऐसी समझण बिना ध्यान होगा नहीं। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि शक्तियाँ शक्तिवान में से प्रगट होती हैं, ऐसा ज्ञान हुए बिना ज्ञान का विषय स्व होगा नहीं, ध्येय बिना ध्यान होगा नहीं।

स्वयंसिद्ध तत्त्व की स्वीकृति बिना ज्ञान का खोटापना नहीं (मिटता), खोटा ज्ञान सुख को नहीं देता।

छोटी पीपर में शक्ति है, वह व्यक्त होती है, पत्थर के कारण से वह व्यक्त नहीं होती। पत्थर और छोटी पीपर के बीच अभाव का बड़ा अन्तर है, पत्थर छोटी पीपर को स्पर्शा नहीं। अभाव क्या सहायता करे? पत्थर दूर हो, तब अभाव भासित होता है परन्तु पत्थर छोटी पीपर के नजदीक अर्थात् आकाश क्षेत्र में नजदीक आने पर पत्थर और छोटी पीपर का अभाव अज्ञानी को भासित नहीं होता, यह भ्रम है। अज्ञानी को संयोगदृष्टि है। पुस्तकादि बाहर के पदार्थ है, उनका तुझमें अभाव है, पुद्गल परमाणु भी तुझमें अभावरूप हैं। परन्तु वे पुद्गल परमाणु जब तक दूर थे, तब तक अभाव भासित होता था, परन्तु वे परमाणु पलटकर शरीर और कर्मरूप होकर जहाँ आत्मा के नजदीक आये अर्थात् कि आकाश के एक क्षेत्र में नजदीक आये, वहाँ अज्ञानी को एकता भासित होती है। नजदीक आने पर मानो कि आत्मा और शरीर एक हो गये हों, ऐसा उसे भासित होता है। दूर रहे तो दो पदार्थ भिन्न हैं और नजदीक रहे तो भी भिन्न हैं, दो होकर एक का काम करे तो पृथक् रहते नहीं, इसलिए शरीर और कर्मादि से आत्मा पृथक् है और ज्ञानादि गुणों से तन्मय है। ऐसा पर से अभावरूप रहकर स्व में एकत्वबुद्धि करना, वह धर्म है।



मुनिराज और सर्वज्ञ में भेद नहीं

मुनिराज इस प्रकार परिणमित हो गये हैं, मानो वीतरागता की मूर्ति हों! राग-द्वेष के अंशरहित मात्र वीतरागता की मूर्ति हैं मुनिराज! मुनि को तो तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, उन मुनिराज को शान्ति का सागर उछलता है। भगवान् आत्मा स्वभाव से वीतरागमूर्ति है और मुनिराज तो पर्याय में वीतराग की मूर्ति हैं। श्री नियमसार के कलश में तो कहा है कि अरेरे! हम जड़मति हैं कि मुनिराज में और सर्वज्ञ में भेद मानते हैं। अहाहा! मुनिराज तो मानों साक्षात् वीतराग की मूर्ति हों, इस प्रकार परिणमित हो गये हैं; उन्हें मुनि कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ८९२, पृष्ठ २०४

गाथा - ४९

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणी त्ति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि॥४९॥

न हि सः समवायादार्थान्तरितस्तु ज्ञानतो ज्ञानी।
अज्ञानीति च वचनमेकत्वप्रसाधकं भवति॥४९॥

ज्ञानज्ञानिनोः समवायसम्बन्धनिरासोऽयम् ।

न खलु ज्ञानादर्थान्तरभूतः पुरुषो ज्ञानसमवायात् ज्ञानी भवतीत्युपपन्नम् । स खलु ज्ञानसमवायात्पूर्वं किं ज्ञानी किमज्ञानी? यदि ज्ञानी तदा ज्ञानसमवायो निष्फलः । अथाज्ञानी तदा किमज्ञानसमवायात्, किमज्ञानेन सहैकत्वात्? न तावदज्ञानसमवायात्; अज्ञानिनो ह्यज्ञानसमवायो निष्फलः, ज्ञानित्वं तु ज्ञानसमवायाभावान्नास्त्येव । ततोऽज्ञानीति वचनमज्ञानेन सहैकत्वमवश्यं साधयत्येव । सिद्धे चैवमज्ञानेन सहैकत्वे ज्ञानेनापि सहैकत्वमवश्यं सिध्यतीति॥४९॥

प्रथक् चेतन ज्ञान से समवाय से ज्ञानी बने ।

यह मान्यता नैयायिकी जो युक्तिसंगत है नहीं॥४९॥

अन्वयार्थ :- [ज्ञानतः अर्थान्तरितः तु] ज्ञान से अर्थान्तरभूत [सः] ऐसा वह (-आत्मा) [समवायात्] समवाय से [ज्ञानी] ज्ञानी होता है [न हि] ऐसा वास्तव में नहीं है। [अज्ञानी] 'अज्ञानी' [इति च वचनम्] ऐसा वचन [एकत्वप्रसाधकं भवति] (गुण-गुणी के) एकत्व को सिद्ध करता है।

टीका:- यह, ज्ञान और ज्ञानी को समवायसम्बन्ध होने का निराकरण (खण्डन) है।

ज्ञान से अर्थान्तरभूत आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होता है, ऐसा मानना वास्तव में योग्य नहीं है। (आत्मा को ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होना माना जाये तो हम पूछते हैं कि) वह (-आत्मा) ज्ञान का समवाय होने से पहले वास्तव में ज्ञानी है कि अज्ञानी है? यदि ज्ञानी है, (ऐसा कहा जाये) तो ज्ञान का समवाय निष्फल है। अब यदि अज्ञानी है, (ऐसा कहा जाये) तो (पूछते हैं कि) अज्ञान के समवाय से अज्ञानी है कि अज्ञान के साथ एकत्व से अज्ञानी है? प्रथम, अज्ञान के समवाय से अज्ञानी हो नहीं सकता; क्योंकि अज्ञानी को अज्ञान का समवाय निष्फल है और ज्ञानीपना तो ज्ञान के समवाय का अभाव

होने से है ही नहीं। इसलिए 'अज्ञानी' ऐसा वचन अज्ञान के साथ एकत्व को अवश्य सिद्ध करता ही है। और इस प्रकार अज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध होने से ज्ञान के साथ भी एकत्व अवश्य सिद्ध होता है।

भावार्थ :- आत्मा को और ज्ञान को एकत्व है, ऐसा यहाँ युक्ति से समझाया है।

प्रश्न :- छद्मस्थदशा में जीव को मात्र अल्पज्ञान ही होता है और केवलीदशा में तो परिपूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान होता है; इसलिए वहाँ तो केवलीभगवान को ज्ञान का समवाय (-केवलज्ञान का संयोग) हुआ न?

उत्तर :- नहीं, ऐसा नहीं है। जीव को और ज्ञानगुण को सदैव एकत्व है, अभिन्नता है। छद्मस्थदशा में भी उस अभिन्न ज्ञानगुण में शक्तिरूप से केवलज्ञान होता है। केवलीदशा में, उस अभिन्न ज्ञानगुण में शक्तिरूप से स्थित केवलज्ञान व्यक्त होता है; केवलज्ञान कहीं बाहर से आकर केवली भगवान के आत्मा के साथ समवाय को प्राप्त होता हो, ऐसा नहीं है। छद्मस्थदशा में और केवलीदशा में जो ज्ञान का अन्तर दिखाई देता है, वह मात्र शक्ति-व्यक्तिरूप अन्तर समझना चाहिए॥४९॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ५, रविवार

जिसे धर्म करना हो, उसे गुणी आत्मा कहाँ है, वह शोधना चाहिए। गुण और गुणी जैसे नाम से पृथक् हैं, वैसे उनके प्रदेश पृथक् होंगे? जैसे कर्म, मन, वाणी का क्षेत्र भिन्न है, वैसे आत्मा और गुणों का क्षेत्र भिन्न होगा और फिर वे इकट्ठे हुए होंगे? लकड़ा और लाख जैसे इकट्ठे होते हैं, वैसे ज्ञान और आत्मा बाद में इकट्ठे हुए होंगे? ऐसी जो मान्यता धराता है, उसका निषेध इस गाथा में करते हैं।

‘यह निश्चय से चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने मिलाप से ज्ञानगुण से भिन्न स्वरूप तो नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञानगुणसंयुक्त है, यह कथन गुण-गुणी में एकता का साधनहारा होता है।’

आत्मा वास्तव में चैतन्यस्वरूप है, वह उसके ज्ञानादि गुणों से भिन्न नहीं है।

शरीर, कर्म इत्यादि से पृथक् है। आत्मा जिनसे पृथक् है, उन्हें अज्ञानी इकट्ठा मानता है और ज्ञान-दर्शनादि बाहर से प्रगट होते हैं, ऐसा मानकर ज्ञान को भिन्न मानता है, यह भ्रान्ति है। परन्तु ज्ञानादि अपने से भिन्न नहीं। और कोई कहे कि ज्ञानादि भिन्न थे और बाद में इकट्ठे हुए तो ऐसा भी नहीं, क्योंकि जब ज्ञान नहीं था, तब अज्ञान था। वह अज्ञान भी उसका भाव था। दुःखरूप भाव, उल्टी श्रद्धा इत्यादि भाव भी आत्मा का भाव है। परन्तु वह भाव पर के कारण से सिद्ध नहीं होता। गुणसहित का भाव या गुणरहित का भाव आत्मा का है, ऐसा निर्णय करने से गुण-गुणी की एकता साबित होती है।

भावार्थ : आत्मा को और ज्ञानगुण को प्रदेशभेदरहित की एकता है। आत्मा असंख्यप्रदेशी है और गुण भी वहाँ रहे हुए हैं। उनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं। जो जीव शरीर से धर्म मानता है, ज्ञान संयोग से प्रगट होता है, ऐसा मानता है, उसने ज्ञान और धर्म अपने आत्मा से भिन्न माने, गुण-गुणी को एक माना नहीं। अपने धर्म के लिये बाहर में शोध करनी पड़े—ऐसा नहीं, परन्तु अपने में ही धर्म होता है।

अब कोई कहे कि 'ज्ञान और आत्मा भिन्न है'—तो उसे पूछा जाता है कि ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा को पूर्व में नहीं था, तब आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि तुम कहो कि आत्मा ज्ञानी था तो फिर ज्ञान और आत्मा भिन्न है, ऐसा कथन करने की आवश्यकता नहीं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप ही है और ऐसी दृष्टि करो तो धर्म होता है।

अथवा तुम कहो कि 'पहले अज्ञानी था और बाद में ज्ञान का सम्बन्ध होने से ज्ञानी हुआ। जैसे लकड़ी को लाख चिपकाई जाती है, वैसे ज्ञान का सम्बन्ध बाद में हुआ, इसलिए ज्ञानी हुआ।'

—तो पूछता जाता है कि आत्मा जब अज्ञानी था, तब अज्ञानगुण के सम्बन्ध से अज्ञानी था या अज्ञानगुण से एकमेक था? यदि तुम उसका जवाब ऐसा दो कि 'अज्ञानगुण के सम्बन्ध से अज्ञानी था' तो कहा जाता है कि वह पहले से तो अज्ञानी था ही। अज्ञान के सम्बन्ध से कोई प्रयोजन नहीं, इसलिए वह स्वभाव से ही अज्ञानी हुआ। शरीर, कर्मादि परपदार्थ मेरे मानकर स्वयं अज्ञानी हुआ है। वह अज्ञान कोई पर के कारण से नहीं है, परन्तु अपनी भूल के कारण से है।

इसलिए यह बात निश्चित होती है कि ज्ञानगुण को आत्मा के साथ प्रदेशभेदरहित

एकता मानी जाये तो आत्मा को अज्ञानभाव के साथ एकभाव मानने में आवे, और तब अज्ञानीपद निश्चित होता है। ज्ञान अथवा अज्ञान अपने में रहता है, वह बाहर के कारण से नहीं है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द, परिपूर्ण है, ऐसी दृष्टि चूकता है तो अज्ञान अपने में होता है और आत्मा का भान करे तो ज्ञान भी अपने में होता है, पर से नहीं होता, पर में से नहीं आता। इस कारण ज्ञान और आत्मा को अनादि से एकता है, वे कभी पृथक् होते नहीं।

ज्ञान को और आत्मा को ऐसी एकता है कि ज्ञान के अभाव से आत्मा का अभाव हो जाये। जैसे मिठास के नाश से गुड़ का नाश होता है, वैसे ज्ञान के नाश से आत्मा का नाश होता है, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा का नाश कभी नहीं होता, परन्तु अज्ञानी को अपनी दृष्टि में आत्मा नहीं आता।

अथवा यदि ऐसा माना जाये तो आत्मा अज्ञानभाव की एकता से अवश्यमेव अज्ञानी होता है। यदि आत्मा सम्यग्दर्शन से एकमेक नहीं तो मिथ्यादर्शन से एकमेक है। यदि आत्मा सम्यग्ज्ञान से एकमेक नहीं तो मिथ्याज्ञान से एकमेक है। यदि आत्मा चारित्र से एकमेक नहीं तो मिथ्याचारित्र से एकमेक है। यदि आत्मा पण्डितवीर्य से एकमेक नहीं तो बालवीर्य से एकमेक है। आत्मा त्रिकाली है, उसके गुण शुद्ध हैं और उसकी पर्याय में भान करे तो निर्मलपर्याय से एकमेक है और भान न करे तो अज्ञानादि विपरीतपर्याय से एकमेक है।

अथवा ऐसा कहे कि अज्ञान का नाश करके आत्मा ज्ञानी हुआ है तो यह कथन कर्म का निमित्त-सम्बन्ध बतलाकर व्यवहारनय से जानना। आत्मा का भान करके, अज्ञान का नाश किया और कर्म का अभाव हुआ, यह निमित्त से कथन है। परन्तु इससे अज्ञानभाव आत्मा से भिन्न है, ऐसी बात आती नहीं। अज्ञान टला और ज्ञान नया आकर चिपटा, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। ज्ञान की विपरीत अवस्था टली और कर्म भी निमित्तरूप से टल गया और ज्ञान की सुलटी अवस्था प्रगट हुई और कर्म टल गया। परन्तु ज्ञान नया आता है, ऐसा साबित नहीं होता। जीव विकार करे तो अपने भाव में है और ज्ञान करे तो भी अपने में करता है। चिन्ता का स्थान भी अपने में है और चिन्ता का अभाव भी अपने में होता है, पर में और पर के अवलम्बन से होता नहीं।

अब दृष्टान्त से समझाते हैं। जिस प्रकार सूर्य बादलों से आच्छादित होने से प्रभारहित कहा जाता है, परन्तु सूर्य अपने स्वभाव से उस प्रभा से किसी काल पृथक् होता नहीं। बादलों के हीनाधिक होने से उसकी प्रभा में हीनाधिकपना कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा अनादि से पुद्गलकर्म की ओर के झुकावभाव से अज्ञानी हो रहा है, परन्तु वह अपनी स्वाभाविक अखण्ड केवलज्ञानशक्ति से किसी काल में भिन्न नहीं है। कर्म की निमित्तता से ज्ञान की हीनता-अधिकता कही जाती है।

दृष्टान्त एकदेश लागू होता है, सब प्रकार से लागू नहीं होता। यह दृष्टान्त देकर एकमतवाले केवलज्ञान को सत्तारूप अर्थात् प्रगटरूप मानते हैं। 'जिस प्रकार सूर्य प्रगट ज्वाजल्यमान है परन्तु ऊपर बादल आ जाने से उसकी कान्ति कम-ज्यादा दिखाई देती है, उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञानज्योति प्रगटरूप-सत्तारूप है, परन्तु उसके ऊपर कर्मरूपी बादल आ जाने से ज्ञान कम-ज्यादा दिखाई देता है'—ऐसा कितने ही मानते हैं, परन्तु यह बात खोटी है। 'जैसे अग्नि भड़कारूप और ऊपर राख ढँकी हुई है अथवा दीपक प्रगट पड़ा हुआ हो और ऊपर टोकरा ढँक देने से दीपक दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार केवलज्ञानरूपी दीपक प्रगट है, उसके ऊपर कर्मरूपी राख अथवा टोकरा ढँका हुआ है और जिस प्रकार राख अथवा टोकरा ले लेने से (हटा देने से) अग्नि अथवा दीपक ज्वाजल्यमान दिखता है अथवा बादल हट जाने से सूर्य प्रगट दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म हटाने से अथवा नाश करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। इसलिए कर्म का नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए और उन कर्मों का नाश करने के लिये व्रत, तप, पूजा इत्यादि साधन है'—ऐसा एक सम्प्रदाय मानता है, परन्तु यह सब बात खोटी है।

इसका समाधान : वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। यहाँ बादल का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह ज्ञान की हीन पर्याय में कर्म निमित्त है और ज्ञान पूर्ण हो जाने से कर्म का अभाव होता है, ऐसे बादल के ऊपर से कर्म का निमित्तपना बताकर ज्ञान की हीन पर्याय या पूर्ण पर्याय होती है, वह आत्मा का अपना भाव है, यह बताने के लिये है। हीन पर्याय पर के कारण से नहीं और अज्ञान का नाश होकर ज्ञान प्रगटे तो ज्ञान बाहर से आता नहीं परन्तु अपनी श्रद्धा सच्ची होने पर अपने में से प्रगट होता है, ऐसा बतलाना है। अज्ञानभाव या ज्ञानभाव अपना भाव है, ऐसा बतलाकर जीवास्तिकाय का स्वरूप तथा

गुण-गुणी की एकता बतलानी है। केवलज्ञान अन्दर भड़कारूप से प्रगट है और ऊपर कर्म का टोकरा आड़े आ गया है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है। जैसे दियासलाई की टोप में भड़का होने की शक्ति है, उसे घिसने से भड़का होता है, उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान टोप की भाँति शक्तिरूप से है। आत्मा में श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक एकाग्र होने से केवलज्ञानरूपी भड़का (प्रकाश) होता है। यहाँ वर्तमान ज्ञानपर्याय कम-ज्यादा होती है, उसमें कर्म का निमित्त है, ऐसा समझाने के लिये कहा है। परन्तु कर्म का नाश करो तो अन्दर केवलज्ञान प्रगटरूप ही है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है।

और अज्ञानी कहता है कि 'जैसे कमल खिला हुआ हो और ऊपर टोकरा बाँध दिया हो, वह टोकरा हटा लेने से खिला हुआ कमल दिखता है, उसी प्रकार केवलज्ञान अन्दर व्यक्त खिला हुआ है और ऊपर कर्म का टोकरा है, वह कर्म का टोकरा हट जाने से केवलज्ञान दिखता है' परन्तु यह बात सच्ची नहीं है। जैसे कमल की कली संकुचित होती है और वह कली अपनी खिलने की सामर्थ्य से पूर्ण कमलरूप खिलती है, उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है परन्तु पर्याय में कली की भाँति संकुचित है और अपने आत्मा में एकाग्र होने से जो शक्तिरूप है, वह पर्याय में केवलज्ञानरूप से खिले हुए कमल की भाँति प्रगट होता है। अज्ञानरूप पर्याय करे या केवलज्ञानरूप पर्याय करे, वह अपने स्वभाव के साथ एकमेक है, ऐसा यहाँ पूरा अस्तिकाय सिद्ध करना है।

देखो, यह मुद्दे की बात है, इसलिए ध्यान रखना।

(१) एक सम्प्रदाय कहता है कि केवलज्ञान सत्तारूप से है, परन्तु यह बात खोटी है। केवलज्ञान प्रगटरूप नहीं, परन्तु दियासलाई की टोप की भाँति शक्तिरूप है।

(२) एक सम्प्रदाय कहता है कि कर्मों के आवरण टलें तो केवलज्ञान प्रगट हो, परन्तु यह बात खोटी है। कर्म जड़ हैं, उन्हें हटा नहीं सकते, परन्तु अपने आत्मा में एकाग्र होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है और कर्म स्वयं टल जाते हैं।

(३) एक सम्प्रदाय कहता है कि कर्मों को टालने के लिये तपश्चर्या करो, पूजा करो। जैसे बर्तन मलिन हो तो उसका मैल निकालने के लिये काथी द्वारा उसे घिसना

पड़ता है, उसी प्रकार कर्मरूपी मैल निकालने के लिये पूजा, तपश्चर्यादि करना, परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। अपने आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से राग-द्वेष और अज्ञान का नाश होकर कर्म स्वयं टल जाते हैं।

(४) इस प्रकार एक सम्प्रदाय कर्म टालने की बात करता है, अर्थात् कि निमित्त से अथवा व्यवहार से शुरुआत करता है, जबकि सच्ची वस्तु ऐसी है कि अपने आत्मा का पुरुषार्थ करने से कर्म अपने आप टल जाते हैं। इस प्रकार उपादानसहित निमित्त को मानना, वह यथार्थ है।

(५) निश्चय बिना का व्यवहार खोटा है और उपादान बिना निमित्त, निमित्त नाम पाता नहीं।

(६) और कर्म टले तो केवलज्ञान होता है, ऐसा माना जाये तो आत्मा से केवलज्ञान होता है, यह बात नहीं रहती। इसलिए व्यवहार ने निश्चय का काम किया अथवा निमित्त ने उपादान का काम किया। ऐसा माननेवाले को निश्चय तो है ही नहीं, परन्तु उसका व्यवहार अथवा निमित्त भी सच्चा नहीं है, अर्थात् कि उसके निश्चय और व्यवहार दोनों खोटे हैं।

(७) इसलिए सत्य बात यह है कि आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है। आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और लीनता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है, यह निश्चय है और कर्म का उसके कारण से स्वयं अभाव होता है, यह व्यवहार है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का स्वरूप है अथवा उपादान और निमित्त का स्वरूप है। ऐसी जीवों को यथार्थ श्रद्धा करनी चाहिए।

इसलिए यहाँ जीव अज्ञानरूप से परिणमे अथवा हीनाधिक ज्ञानरूप से परिणमे, उसमें कर्म का निमित्त बतलाया और केवलज्ञानरूप से परिणमे तो कर्म का अभाव कहा। परन्तु अल्प ज्ञानरूप से परिणमना या केवलज्ञानरूप से परिणमना, वह अपना भाव है, वह कर्म के कारण से नहीं है। इस प्रकार अपना ज्ञान अपने में से प्रगट होता है, ऐसा ज्ञान करके, गुण-गुणी की एकता करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म प्रगट होता है और विशेष एकाग्र होने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ६, सोमवार

आत्मा गुणी और उसके गुण एकमेक हैं, गुण भिन्न थे और बाद में जुड़ गये, ऐसा नहीं है। ज्ञानादि गुण आत्मा से भिन्न हों तो ज्ञान बिना का आत्मा अचेतन हो जाये और अकेले गुण आत्मा के बिना अचेतन हो जाये। इसलिए यहाँ गुण-गुणी की एकता बतलाते हैं। प्रथम दृष्टान्त से समझाते हैं।

सूर्य उसकी प्रभा से भिन्न नहीं है। प्रभा शक्ति है और सूर्य शक्तिवान है। बादलों की उपाधि के निमित्त से प्रभा का हीनाधिकपना कहा जाता है, परन्तु प्रभा का भाव न रहे, ऐसा नहीं होता। यहाँ भाव और भाववान भिन्न नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। इस दृष्टान्त से शुद्ध चैतन्य वह स्वभाव और आत्मा स्वभाववान—ये दोनों एकमेक हैं। अज्ञानी मानता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। वह अज्ञानभाव कहीं पर में नहीं, परन्तु अपने जीवास्तिकाय में है। हीन परिणमन हो, वह भी जीव का भाव है। केवलज्ञान शक्तिरूप से है, परन्तु अपनी निर्बलता से हीन परिणमन है।

कितने ही कहते हैं कि जैसे बाल को खींचकर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार कर्म को खींचकर निकालो! भाई! कर्म तो पुद्गलास्तिकाय है, उस अस्तिकाय को तू निकाल नहीं सकता। वे मुझे हैरान करते हैं, ऐसा अज्ञानभाव तुझमें है। पर्याय में अज्ञानभाव निश्चय से अपना है और कर्म से अज्ञान कहना, वह व्यवहार है।

यहाँ सूर्य का दृष्टान्त दिया है, इसका स्पष्टीकरण मोक्षमार्गप्रकाशक में भी है कि यह दृष्टान्त एक पक्ष से लेना कि जैसे बादल सूर्य की प्रभा को रोकने में निमित्त हैं, उसी प्रकार ज्ञान की दशा हीन होने में कर्म निमित्त है। कर्म की निमित्तता बतलाने का दृष्टान्त है, परन्तु जैसे सूर्य अन्दर सोलह कला से प्रगट हुआ है, वैसे आत्मा पूर्ण प्रगट है, ऐसा नहीं समझना।

आत्मा में केवलज्ञान सत्तारूप से नहीं, परन्तु शक्तिरूप से है, इसलिए दृष्टान्त एकदेश समझना। छोटी पीपर में ६४ पहरी चरपराई सत्तारूप से नहीं है, परन्तु शक्तिरूप से है, दियासलाई के टोप में अग्नि सत्तारूप से नहीं, परन्तु शक्तिरूप से है, मोर के अण्डे में सीधा मोर नहीं, परन्तु मोर होने की शक्ति है। उसी प्रकार केवलज्ञान शक्तिरूप से है।

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है और निमित्तरूप से कर्म का अभाव होता है। वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न माने तो अज्ञान—राग—द्वेष होने से कर्म निमित्तरूप से बढ़ते हैं और जैसा है, वैसा समझे तो कर्म निमित्तरूप से घटते हैं और केवलज्ञान होने पर कर्म सर्वथा नाश पाते हैं। 'प्रगटरूप केवलज्ञान आत्मा में पड़ा है और कर्म के टोकरे ने उसे ढँक रखा है' ऐसी मान्यता बराबर नहीं है। ऐसा माननेवाला देव-गुरु-शास्त्र का अवर्णवाद करता है।

और कितने ही जीव पर जीव की दया के शुभभाव से संसारपरित हुआ, ऐसा कहते हैं, वह बराबर नहीं है। शुभभाव से तो सातावेदनीय बँधती है, परन्तु उससे संसार घटता नहीं। राग और पुण्य से संसार नहीं टूटता और कर्म से पर्याय हीन नहीं होती, तथापि जो शास्त्र दया के शुभभाव से संसारपरित होने का कहे, वे शास्त्र सच्चे नहीं, उन्होंने तो भगवान के नाम से शास्त्र में कल्पित बातें डाली हैं।

इस गाथा में ऐसा कहना है कि ज्ञानादि गुण अपने आत्मा से भिन्न नहीं, परन्तु एकमेक हैं। कर्म के निमित्त से हीनाधिकता होती है, परन्तु हीनाधिकरूप से होना, वह अपना भाव है। इस कारण से वास्तव में आत्मा ज्ञानगुण से भिन्न नहीं। आनन्द होना या दुःख होना, ज्ञान होना या अज्ञान होना, सम्यक् श्रद्धा होना या खोटी श्रद्धा होना, वह सब भाव तुझसे है, वह तेरे अस्तिकाय में एकाकार है। कर्म के सद्भाव से दुःख कहना और कर्म के अभाव से सुख कहना, यह निमित्त बतलाने के लिये है, परन्तु हीनाधिकभाव जीवास्तिकाय में होते हैं।

कर्म उपाधि के वश से जीव को अज्ञानी कहा जाता है, अर्थात् कि जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आधीन होता नहीं, वह पर के आधीन होता है, वह कर्म के वश हुआ, ऐसा कहा जाता है और अपने में समझण करके सुख और ज्ञान प्रगट करे तो सुखी और ज्ञानी होता है और कर्म के अभाव से वह सुखी और ज्ञानी हुआ, ऐसा निमित्त से कहा जाता है। कर्म तो पर है, कर्म होने में दुःख नहीं, कर्म के न होने में सुख नहीं। दुःख और सुख का अस्तित्व तेरे अस्तिकाय में है। भाव और भाववान एक है। कर्म के उदय के कारण अज्ञानी और कर्म के अभाव से ज्ञानी—यह व्यवहारनय का कथन है।

गाथा - ५०

समवर्त्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।

तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धि ति णिदिट्ठा॥५०॥

समवर्तित्वं समवायः अपृथग्भूतत्वमयुतसिद्धत्वं च।

तस्माद्रव्यगुणानां अयुता सिद्धिरिति निर्दिष्टा॥५०॥

समवायस्य पदार्थान्तरत्वनिरासोऽयम् ।

द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तित्वादनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्; स एव समवायो जैनानाम्; तदेव संज्ञादिभ्यो भेदेऽपि वस्तुत्वेनाभेदादपृथग्भूतत्वम्; तदेव युतसिद्धिनिबन्धन-स्यास्तित्वान्तरस्याभावादयुतसिद्धत्वम्। ततो द्रव्यगुणानां समवर्तित्वलक्षणसमवाय-भाजामयुतसिद्धिरेव, न पृथग्भूतत्वमिति ॥५०॥

समवर्तिता या अयुतता अप्रथकत्व या समवाय है।

सब एक ही है - सिद्ध इससे अयुतता गुण-द्रव्य में ॥५०॥

अन्वयार्थ :- [समवर्तित्वं समवायः] समवर्तीपना वह समवाय है; [अपृथग्भूतत्वम्] वही, अपृथक्पना [च] और [अयुतसिद्धत्वम्] अयुतसिद्धपना है। [तस्मात्] इसलिए [द्रव्यगुणानाम्] द्रव्य और गुणों की [अयुता सिद्धिः इति] अयुतसिद्धि [निर्दिष्टाः] (जिनों ने) कही है।

टीका:-यह, समवाय में पदार्थान्तरपना होने का निराकरण (खण्डन) है।

द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित है, इसलिए उनकी जो अनादि-अनन्त सहवृत्ति (-एक साथ रहना) वह वास्तव में समवर्तीपना है; वही, जैनों के मत में समवाय है; वही, संज्ञादि भेद होने पर भी (-द्रव्य और गुणों को संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद होने पर भी) वस्तुरूप से अभेद होने से अपृथक्पना है; वही, युतसिद्धि के कारणभूत^१ अस्तित्वान्तर का अभाव होने से अयुतसिद्धपना है। इसलिए^२ समवर्तित्वस्वरूप समवायवाले द्रव्य और गुणों को अयुतसिद्धि ही है, पृथक्पना नहीं है ॥५०॥

१. अस्तित्वान्तर=भिन्न अस्तित्व। (युतसिद्धि का कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व है। लकड़ी और लकड़ीवाले की भाँति गुण और द्रव्य के अस्तित्व कभी भिन्न न होने से उन्हें युतसिद्धपना नहीं हो सकता।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ६, सोमवार

अब गुणगुणी में एकभाव के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार का सम्बन्ध नहीं, यह बतलाते हैं।

‘द्रव्य और गुणों के एक अस्तित्वकर अनादि-अनन्त धारावाहीरूप जो प्रवृत्ति है, तिसका नाम जिनमत में समवाय है।’

सभी द्रव्यों में समवाय है, ऐसा समझना। दृष्टान्त आत्मा का लेंगे। आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञान, आनन्द, वीर्य, स्वच्छत्व, प्रभुत्व आदि अनन्त गुण हैं। भाववान द्रव्य और उसका भाव एक अस्तिरूप है। उसकी अनादि-अनन्त धारावाही प्रवृत्ति को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध अथवा संयोगसम्बन्ध दो द्रव्यों की पृथक्ता बतलाता है। आत्मा और उसके गुणों को संयोगसम्बन्ध नहीं परन्तु समवाय अथवा तादात्म्यसम्बन्ध है। अन्यमत में गुण-गुणी भिन्न कहकर बाद में इकट्ठे हुए, ऐसा कहकर समवायसम्बन्ध कहते हैं, परन्तु वह यथार्थ नहीं है। अनादि-अनन्त आत्मा और गुण एकरूप तादात्म्यभाव से है, उसे जैनमत में समवायसम्बन्ध कहते हैं।

भावार्थ : सम्बन्ध दो प्रकार के हैं। एक संयोगसम्बन्ध अथवा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध जैसे कि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध। जीव और कर्म का सम्बन्ध, वह संयोगसम्बन्ध है। संयोग कहने पर चीज पृथक् निश्चित होती है।

कार्मणवर्गणा के परमाणु जब तक दूर हों, तब तक आत्मा को कुछ नहीं करते, परन्तु कर्मरूप से परिणमकर आत्मा के निकट आवें तो आत्मा के परिणाम में फेरफार पड़ता है न? भाई! दूर हो या नजदीक हो तो भी पृथक्-पृथक् अपने-अपने में सक्रियपना हो रहा है। कर्म आत्मा में कुछ क्रिया करता नहीं, दोनों पृथक् काम करते हैं, उसे संयोगसम्बन्ध कहते हैं।

अब समवायसम्बन्ध अथवा तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं। जहाँ द्रव्य का भाव, उसके अनन्त गुणों के भाव, उसकी अनन्त पर्याय के भाव—ऐसे जहाँ अनेक भाव एकरूप रहते हैं, उसे समवायसम्बन्ध कहते हैं। गुण और पर्याय और द्रव्य एक ओर परिणमे बिना

रह जाये, ऐसा होता नहीं। आत्मा, उसके ज्ञान-दर्शनादि गुण और उनकी पर्यायों के भावों का एक अस्तित्व है। परमाणु, उसके स्पर्शादि गुण और उसकी पर्यायों के भावों का एक अस्तित्व है। ज्ञानादि गुणों का नाश होने से आत्मा का नाश होता है और आत्मा का नाश होने से ज्ञानादि गुणों का नाश होता है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय इत्यादि अनेक भावों का जहाँ सम्बन्ध है, उसे समवायसम्बन्ध अथवा तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं।

‘और वही गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध प्रदेशभेदरहित जानना।’

द्रव्य-गुण-पर्याय का सम्बन्ध प्रदेशभेदरहित का जानना। यद्यपि गुण-गुणी में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनभेद से भेद है, तथापि जैसे सोना और उसके पीलापन आदि गुणों का नामादि भेद से भेद है, तथापि सोना को पीलापन के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है।

ऐसा बतलाकर कहते हैं कि तुझे पर के सामने देखना नहीं है। छोटा लड़के हों तो क्या करना? लड़के कलह करे तो आत्मा का ध्यान कैसे हो? ऐसा अज्ञानी प्रश्न करता है, उसे कहते हैं कि भाई! तेरे सन्मुख देख। तेरी शान्ति और सुख तुझमें है। जैसे आयुष्य पूरा होने पर उसे कोई रोकने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार अपने आत्मा की शान्ति को कोई संयोग रोकने में समर्थ नहीं है, इसलिए गुण-गुणी की एकता करके शान्ति तुझमें है, ऐसा भान कर।

‘और वह गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध मिलकर नहीं हुआ है, अनादि सिद्ध एक ही है, तिस कारण से गुण-गुणी में वह समवायसम्बन्ध अनादिसिद्ध इस प्रकार भगवन्त देव ने दिखाया है, ऐसा गुण-गुणी विषै समवायसम्बन्ध जानना।’

वह गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध मिलकर हुआ नहीं। पहले आत्मा और ज्ञान भिन्न थे और बाद में ज्ञान आकर आत्मा के साथ इकट्ठा हुआ—ऐसा सम्बन्ध नहीं है, परन्तु अनादि से आत्मा को और ज्ञानादि गुणों को तादात्म्यसम्बन्ध है, इस कारण से गुण-गुणी में समवायसम्बन्ध अथवा तादात्म्यसम्बन्ध अनादि से सिद्ध है। इस प्रकार भगवन्तों ने बतलाया हुआ है। इस प्रकार गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध जानना। इस प्रकार गुण-गुणी की एकता बतलायी। अब दृष्टान्तसहित गुण-गुणी का कथन संक्षेप से करते हैं।

गाथा - ५१-५२

वर्णरसगंधफासा परमाणुप्ररूपविदा विसेसेहिं।
 द्रव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति॥५१॥
 दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
 ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो॥५२॥

वर्णरसगन्धस्पर्शाः परमाणुप्ररूपिता विशेषैः।
 द्रव्याच्च अनन्याः अन्यत्वप्रकाशका भवन्ति॥५१॥
 दर्शनज्ञाने तथा जीवनिबद्धे अनन्यभूते।
 व्यपदेशतः पृथक्त्वं कुरुतः हि नो स्वभावात्॥५२॥

द्रष्टान्तदार्ष्टान्तिकार्थपुरस्सरो द्रव्यगुणानामनर्थान्तरत्वव्याख्योपसंहारोऽयम् ।

वर्णरसगन्धस्पर्शा हि परमाणोः प्ररूप्यन्ते; ते च परमाणोरविभक्तप्रदेशत्वेनानन्येऽपि संज्ञादिव्यपदेशनिबन्धनैर्विशेषैरन्यत्वं प्रकाशयन्ति । एवं ज्ञानदर्शने अप्यात्मनि सम्बद्धे आत्मद्रव्यादविभक्तप्रदेशत्वेनानन्येऽपि संज्ञादिव्यपदेशनिबन्धनैर्विशेषैः पृथक्त्वमासादयतः, स्वभावतस्तु नित्यमपृथक्त्वमेव बिभ्रतः ॥५१-५२॥

— इति उपयोगगुणव्याख्यानं समाप्तम् ।

ज्यों वर्ण आदिक बीस गुण परमाणु से अप्रथक हैं।
 विशेष के व्यपदेश से वे अन्यत्व को द्योतित करें॥५१॥
 त्यों जीव से संबद्ध दर्शन-ज्ञान जीव अनन्य हैं।
 विशेष के व्यपदेश से वे अन्यत्व को घोषित करें॥५२॥

अन्वयार्थ :- [परमाणुप्ररूपिताः] परमाणु में प्ररूपित किये जानेवाले ऐसे [वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण-रस-गंध-स्पर्श [द्रव्यात् अनन्याः च] द्रव्य से अनन्य वर्तते हुए [विशेषैः] (व्यपदेश के कारणभूत) विशेषों द्वारा [अन्यत्वप्रकाशकाः भवन्ति] अन्यत्व को प्रकाशित करनेवाले होते हैं (-स्वभाव से अन्यरूप नहीं है); [तथा] इस प्रकार [जीवनिबद्धे] जीव में सम्बद्ध ऐसे [दर्शनज्ञाने] दर्शन-ज्ञान [अनन्यभूते]

(जीवद्रव्य से) अनन्य वर्तते हुए [व्यपदेशतः] व्यपदेश द्वारा [पृथक्त्वं कुरुते हि] पृथक्त्व करते हैं। [नो स्वभावात्] स्वभाव से नहीं।

टीका:—दृष्टान्तरूप और *दृष्टान्तरूप पदार्थपूर्वक, द्रव्य तथा गुणों के अभिन्न-पदार्थपने के व्याख्यान का यह उपसंहार है।

वर्ण-रस-गंध-स्पर्श वास्तव में परमाणु में प्ररूपित किये जाते हैं; वे परमाणु से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादि व्यपदेश के कारणभूत विशेषों द्वारा अन्यत्व को प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार आत्मा में सम्बद्ध ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्य से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादि व्यपदेश के कारणभूत विशेषों द्वारा पृथक्पने को प्राप्त होते हैं, परन्तु स्वभाव से सदैव अपृथक्पने को ही धारण करते हैं। ॥५१-५२॥

इस प्रकार उपयोगगुण का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ६, सोमवार

‘निश्चय से परमाणुओं में कहे जो वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श—ऐसे चार गुण पुद्गलद्रव्य से पृथक् नहीं हैं।’

निश्चय से परमाणु के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार गुण परमाणु से भिन्न नहीं हैं। आम का मीठापन आम से भिन्न नहीं है। प्रत्येक परमाणु उसके गुण से भिन्न नहीं, परन्तु दूसरे परमाणु के गुणों से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा से भिन्न है। आत्मा की इच्छा के कारण शरीर में फेरफार नहीं होता, क्योंकि शरीर के परमाणु उसके भावों में रहे हुए हैं।

भावार्थ : निश्चयनय से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णादि गुण पुद्गलद्रव्य से भिन्न

* दृष्टान्त=दृष्टान्त द्वारा समझाना हो वह बात; उपमेय। (यहाँ परमाणु और वर्णादिक दृष्टान्तरूप पदार्थ हैं तथा जीव और ज्ञानादिक दृष्टान्तरूप पदार्थ हैं।)

नहीं, उनको प्रदेशभेद नहीं। परन्तु दूसरे परमाणु के साथ अथवा जीव के साथ उन्हें संयोगसम्बन्ध है। संयोग कहने से पृथक् है, ऐसा निश्चित होता है। पैसे का या शरीर का रहना, वह आत्मा के आधीन नहीं, परन्तु वे परमाणु उनके गुणों के साथ समवायसम्बन्ध—एकत्वसम्बन्ध धराते हैं।

‘और ये ही चारों वर्णादिकगुण व्यवहार की अपेक्षा से पुद्गलद्रव्य से पृथक्ता को भी प्रगट करते हैं।’

एक परमाणु के एक प्रदेश में वर्ण-गन्धादि के प्रदेश भिन्न नहीं हैं, एकमेक हैं तथापि उसमें गुण-गुणी के भेद की अपेक्षा से भेद भी है।

भावार्थ : यद्यपि वर्णादि गुण पुद्गलद्रव्य में एकमेक हैं। गुणभाव और गुणीभाव एकरूप है, तथापि व्यवहारनय से संज्ञादि भेद पड़ते हैं। परमाणु का नाम परमाणु है और स्पर्शादि गुण का नाम स्पर्श इत्यादि गुण है। परमाणु एक है और गुण अनेक है। अनेक गुणों का पिण्ड तथा रूपीपना, वह परमाणु का लक्षण है और गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न है। गुणों को धार रखना, वह द्रव्य का प्रयोजन है और प्रत्येक गुण का प्रयोजन अलग-अलग है। इस प्रकार परमाणु और उसके गुणों में संज्ञादि भेद से भेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं, अभेद एकरूप है।

‘और जैसे पुद्गलद्रव्य से वर्णादिक गुण अभिन्न हैं, तैसे ही निश्चयनय से जीव से समवायसम्बन्ध लिये दर्शन ज्ञान असाधारण गुण भी जुड़े नहीं हैं, संज्ञादि भेद के कथन से आचार्य आत्मा और ज्ञान दर्शन में भेदभाव को करते हैं, तथापि निश्चय से निजस्वरूप से भेद सम्भवता नहीं है।’

परमाणु के दृष्टान्त से आत्मा की बात करते हैं। जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य में वर्णादिक गुण अभिन्न हैं, उसी प्रकार निश्चयनय से जीव में दर्शन-ज्ञानादि असाधारण गुण समवायसम्बन्धरूप से हैं, एकमेक हैं, भिन्न नहीं। आत्मा और उसके गुणों को नाम, संख्या इत्यादि भेद से भेद है, परन्तु एक आत्मा को दूसरे आत्मा के साथ जैसा भेद है, एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ जैसा भेद है; वैसा भेद आत्मा और उसके दर्शनादि गुणों को नहीं। प्रत्येक वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। प्रदेश से अभेदपना, वह

निश्चय है और संज्ञादि भेद से भेदपना, वह व्यवहार। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो होकर अनेकान्त होता है। इसलिए परवस्तु का अस्तित्व तुझसे भिन्न है। पर की पर्याय पर से बदलती, तुझसे बदलती नहीं, ऐसे पर से पृथक् करके अपने में भेदाभेदस्वरूप का ज्ञान कराते हैं। यह समझण बिना मिथ्यात्व टलता नहीं, इसलिए यथार्थ समझण करके, अनेकान्त स्वरूप समझना।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ७, मंगलवार

‘भगवन्त का मत अनेकान्त है। दोय नयों से सधाता है। इस कारण निश्चयव्यवहार से भेद-अभेद गुण-गुणी का स्वरूप परमागम से विशेषरूप जानना। यह चार प्रकार दर्शनोपयोग, आठ प्रकार ज्ञानोपयोग शुद्ध-अशुद्ध भेद कथन से सामान्यस्वरूप पूर्वोक्त प्रकार से जानना, यह उपयोग गुण का व्याख्यान पूर्ण हुवा।’

भगवान के मत में अनेकान्त स्वरूप कहा है। वह दो नय द्वारा साधा जाता है। इसलिए निश्चय-व्यवहार से, भेद-अभेद गुण-गुणी का स्वरूप परमागम से विशेषरूप से जानना। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन—ऐसे चार प्रकार के दर्शन उपयोग और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत, और विभंगज्ञान—ऐसे आठ प्रकार के ज्ञानउपयोग हैं। स्वयं अपने कारण से ज्ञान अथवा दर्शनउपयोग करता है, वह निश्चय है, और उसमें इन्द्रियादि निमित्त है, ऐसा जानना, वह व्यवहार है। पर से भेदज्ञान कराकर, अपने में भेद है, उसका ज्ञान करके, स्वयं एकस्वरूप अखण्ड है—ऐसी प्रतीति करना, वह धर्म है।

आत्मा दर्शनपर्याय से देखता है और ज्ञानपर्याय से जानता है—ऐसा भेद पड़ता है, वह व्यवहार है। ज्ञान-दर्शन गुणों को आत्मा के साथ संज्ञादिभेद से भेद है, परन्तु प्रदेश भेद नहीं, प्रदेश से एकस्वरूप है, ऐसे अखण्ड की श्रद्धा करना।

इन सबका विस्तार तत्त्वार्थसूत्र से जान लेना। मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ऐसे भेद हैं। अवग्रह होता है, वह स्वयं से होता है, पर के कारण से नहीं होता। जीव विचार करता है, वह स्वयं से करता है, उसमें पुस्तक, मन, इन्द्रियाँ

निमित्तमात्र हैं। दूसरी चीजें हैं अथवा इन्द्रियाँ इत्यादि हैं, इसलिए अवग्रहादि होते हैं, ऐसा नहीं है। मतिज्ञान के अवग्रहादि भेद तथा श्रुतज्ञान अपने स्व-अस्तिकाय में होते हैं, पर के कारण से नहीं होते। शास्त्र में कथन आता है कि मन से विचारणा होती है, इन्द्रिय के कारण ज्ञान होता है, परन्तु वह कथन निमित्त के हैं। इन्द्रियादि पुद्गलास्तिकाय है, जीव से भिन्न है। दर्शन के चार उपयोग और ज्ञान के आठ उपयोग, ऐसे बारह उपयोग जीव में जीव के कारण से होते हैं, उनका आकार आत्मा जितना है। नामभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन शुद्ध है, बाकी के दस ज्ञान-दर्शन उपयोग अशुद्ध हैं। इस प्रकार सामान्य प्रकार से स्वरूप जानना चाहिए।

प्रश्न : यह चश्मा है, इसलिए ज्ञान हुआ है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान स्वयं से होता है, तब चश्मा निमित्त है—ऐसा ज्ञान कराते हैं।

प्रश्न : तो चश्मा किसलिए चढ़ाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव की इच्छा के कारण चश्मा चढ़ता नहीं। चश्मा चश्मे के कारण से चढ़ता है और ज्ञान ज्ञाता के कारण से होता है। रागी जीव के राग को तथा चश्मे को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है।

ज्ञान का उपयोग अपने कारण से होता है, ऐसा ज्ञान करके, ज्ञान उपयोग के भेदों का भी लक्ष्य छोड़कर अनाकुल लक्षणवाले चैतन्य अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा करना, वह धर्म है।

अब कर्तृत्व अधिकार कहते हैं।

यह पंचास्तिकाय की गाथा २७ में जीव चेतयिता है, उपयोगवाला है, ऐसी जो बात आयी थी, उसका वर्णन हो गया। तत्पश्चात् आत्मा प्रभु है, ऐसा कहा है, परन्तु वह बात बाद में आयेगी।

आत्मा कर्ता है, यह अधिकार अब कहते हैं।

जीव निश्चयनय से शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थों का कर्ता नहीं। जीव इन्द्रियों को ऊँची-नीची कर नहीं सकता, चश्मा ला नहीं सकता, आँखें उघाड़ नहीं

सकता, इच्छा से शरीर चला नहीं सकता, निमित्त के पास जा नहीं सकता। इच्छा हो और शरीर चले, ऐसा तो है ही नहीं परन्तु इच्छा हो और आत्मा गति करे, ऐसा भी नहीं है क्योंकि इच्छा चारित्रगुण की विपरीतपर्याय है और क्षेत्रान्तर होना, वह क्रियावतीशक्ति की पर्याय है। दोनों स्वतन्त्र हैं। जीव पर का कर्ता नहीं, अपने शुद्धभाव अथवा अशुद्धभाव (शुभ या अशुभ) का कर्ता है। स्वयं समय-समय में अनादि-अनन्त एकरूप परिणाम करता है, उस पारिणामिकभाव का कर्ता है। वह अनादि-अनन्त है अथवा औदयिकादि भाव समय-समय में नये होते हैं और अन्त आता है, ऐसे सादि-सान्त परिणाम का कर्ता है और क्षायिकभाव कि जिसकी शुरुआत होती है, परन्तु अन्त नहीं आता, इसलिए सादि-अनन्त है, उसका कर्ता है। इस प्रकार अपने भावों को पलटाता है, परन्तु पर को पलटाता नहीं, पररूप परिणमता नहीं। अब आत्मा अपने इन भावों में परिणमता होगा या नहीं परिणमता होगा, ऐसी आशंका का आचार्य भगवान समाधान करते हैं। ●●

भगवान को भी मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

देखो! इन्द्र भी जिनका जन्मोत्सव मनाते हैं, ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी रागरहित दशा आत्मा की हो तो बाहर में जैसा माता ने जन्म दिया है, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हो गया हो और बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादि का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल और तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज उन्होंने वह दशा अङ्गीकार की है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २४

गाथा - ५३

अथ कर्तृत्वगुणव्याख्यानम् । तत्रादिगाथात्रयेण तदुपोद्धातः -

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो।

सब्भावदो अणंता पंचगुणप्रधाना य॥५३॥

जीवा अनादिनिधनाः सान्ता अनन्ताश्च जीवभावात्।

सद्भावतोऽनन्ताः पञ्चाग्रगुणप्रधानाः च॥५३॥

जीवा हि निश्चयेन परभावानामकरणात्स्वभावानां कर्तारो भविष्यन्ति । तांश्च कुर्वाणाः किमनादिनिधनाः, किं सादिसनिधनाः, किं साद्यनिधनाः, किं तदाकारेण परिणताः, किमपरिणताः भविष्यन्तीत्याशङ्क्येदमुक्तम् ।

जीवा हि सहजचैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेनानादिनिधनाः । त एवौदयिक क्षायोपशमिकौपशमिकभावैः सादिसनिधनाः । त एव क्षायिकभावेन साद्यनिधनाः । न च सादित्वात्सनिधनत्वं क्षायिकभावस्याशङ्क्यम् । स खलूपाधिनिवृत्तौ प्रवर्तमानः सिद्धभाव इव सद्भाव एव जीवस्य; सद्भावेन चानन्ता एव जीवाः प्रतिज्ञायन्ते । न च तेषामनादिनिधनसहजचैतन्यलक्षणैकभावानां सादिसनिधनानि साद्यनिधनानि भावान्तराणि नोपपद्यन्त इति वक्तव्यम्; ते खल्वनादिकर्ममलीसाः पङ्कसम्पृक्ततोयवत्तदाकारेण परिणतत्वापञ्चप्रधानगुणप्रधानत्वेनैवानुभूयन्त इति ॥५३॥

अब, कर्तृत्वगुण का व्याख्यान है। उसमें, प्रारम्भ की तीन गाथाओं से उसका उपोद्धात किया जाता है।

है अनादि-अनन्त आतम पारिणामिक भाव से।

सादि-सान्त के भेद पड़ते उदय मिश्र विभाव से ॥५३॥

अन्वयार्थ :- [जीवाः] जीव [अनादिनिधनाः] (पारिणामिकभाव से) अनादि-अनन्त है, [सांताः] (तीन भावों से) सांत (अर्थात् सादि-सांत) है [च] और [जीवभावात् अनंताः] जीवभाव से अनंत है (अर्थात् जीव के सद्भावरूप क्षायिकभाव से सादि-अनन्त है) (सद्भावतः अनंताः) क्योंकि सद्भाव से जीव अनन्त ही होते हैं। [पंचाग्रगुणप्रधानाः च] वे पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाले हैं।

टीका:—निश्चय से पर-भावों का कर्तृत्व न होने से जीव स्व-भावों के कर्ता होते हैं; और उन्हें (-अपने भावों को) करते हुए, क्या वे अनादि-अनन्त हैं? क्या सादि-सांत हैं? क्या सादि-अनन्त हैं? क्या तदाकाररूप (उस-रूप) परिणत है? क्या (तदाकाररूप) अपरिणत हैं?—ऐसी आशंका करके यह कहा गया है (अर्थात् उन आशंकाओं के समाधानरूप से यह गाथा कही गई हैं)।

जीव वास्तव में *सहजचैतन्यलक्षण पारिणामिकभाव से अनादि-अनन्त है। वे ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिकभावों से सादि-सान्त हैं। वे ही क्षायिकभाव से सादि-अनन्त हैं।

‘क्षायिकभाव सादि होने से वह सांत होगा’ ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है। (कारण इस प्रकार है:—) वास्तव में उपाधि की निवृत्ति होने पर प्रवर्तता हुआ, सिद्धभाव की भाँति, जीव का सद्भाव ही है (अर्थात् कर्मोपाधि के क्षय में प्रवर्तता है, इसलिए क्षायिकभाव जीव का सद्भाव ही है); और सद्भाव से तो जीव अनन्त ही स्वीकार किये जाते हैं। (इसलिए क्षायिकभाव से जीव अनन्त ही अर्थात् विनाशरहित ही है।)

पुनश्च, ‘अनादि-अनन्त सहजचैतन्यलक्षण एक भाववाले उन्हें सादि-सांत और सादि-अनन्त भावान्तर घटित नहीं होते (अर्थात् जीवों को एक पारिणामिकभाव के अतिरिक्त अन्य भाव घटित नहीं होते)’ ऐसा कहना योग्य नहीं है; (क्योंकि) वे वास्तव में अनादि कर्म से मलिन वर्तते हुए कादव से ‘संपृक्त जल की भाँति तदाकाररूप परिणत होने के कारण, पाँच प्रधान गुणों से प्रधानतावाले ही अनुभव में आते हैं॥५३॥

* जीव के पारिणामिकभाव का लक्षण अर्थात् स्वरूप सहज-चैतन्य है। यह पारिणामिकभाव अनादि अनन्त होने से इस भाव की अपेक्षा से जीव अनादि-अनन्त है।

१. कादव से संपृक्त=कादव का सम्पर्क प्राप्त; कादव के संसर्गवाला। (यद्यपि जीव द्रव्यस्वभाव से शुद्ध है, तथापि व्यवहार से अनादि कर्मबंधन के वश, कादववाले जल की भाँति, औदयिक आदि भावरूप परिणत हैं।)

२. औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक इन पाँच भावों को जीव के पाँच प्रधान गुण कहा गया है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ७, मंगलवार

‘आत्मद्रव्य जो हैं ते सहजशुद्धचेतन पारिणामिकभावों से अनादि-अनन्त हैं, स्वाभाविक भाव की अपेक्षा जीव तीनों कालों में टंकोत्कीर्ण अविनाशी हैं और वे ही जीव सादि-सान्त हैं और सादि-अनन्त भी हैं।’

(१) कैसा है आत्मा ? अपने स्वाभाविक त्रिकाल एकरूप भाव से सहजरूप से परिणमता है। वह स्वस्वभावभाव से टंकोत्कीर्ण एकरूप है। यहाँ जीवास्तिकाय का वर्णन करते हैं। ध्रुवरूप ऐसा का ऐसा सहज स्वभाव है, उसे कर्म की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती। अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्य परिणामों से ऐसा का ऐसा वह अनादि-अनन्त है।

(२) वह जीव सादि-सान्त है। उदय, क्षयोपशम और उपशम भावों की अपेक्षा से सादि-सान्त है। ये तीनों भाव कर्म के निमित्त की अपेक्षा रखते हैं, समय-समय में जीव के परिणाम का निमित्त पाकर कर्म बँधते हैं और छूटते हैं, उन कर्म के निमित्त की अपेक्षा से उन परिणाम को सादि-सान्त कहते हैं।

(a) **औदयिकभाव** : कर्मजनित का अर्थ कर्म ने राग-द्वेष कराया, ऐसा नहीं परन्तु जीव की विकारी होने की योग्यता है, उसमें कर्म निमित्त है—ऐसे कर्म के निमित्तपने का ज्ञान कराते हैं। मिथ्यात्व, राग-द्वेष, प्रमाद, कषाय, योग—यह परिणाम अपनी पर्याय में होते हैं, इन्हें औदयिकभाव कहते हैं। नये-नये राग-द्वेष करता है और छूट जाता है, उसमें कर्म निमित्त है। यह भाव क्षण-क्षण में नया होता है और अन्त आता है और सिद्धदशा होने पर भी अन्त आता है, इसलिए सादि-सान्त है।

(b) **क्षयोपशमिकभाव** : जीव की पर्याय में किंचित् विकास और किंचित् अविकास होना, उसे क्षयोपशमभाव कहते हैं। जैसे कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य का क्षयोपशम होता है, उसकी शुरुआत होती है और अन्त आता है, और केवलज्ञान होने पर भी अन्त आता है, इसलिए सादि-सान्त है।

(c) **उपशमभाव** : जीव की पर्याय में शुद्धता का प्रगट होना और अशुद्धता का

दबना, उसे उपशमभाव कहते हैं। श्रद्धा और चारित्र में उपशमभाव होता है। समय-समय में नया होता है और अन्त आता है और केवलज्ञान होने पर भी अन्त आता है। इसलिए सादि-सान्त है।

ये तीनों भाव कर्म की अपेक्षा रखते हैं। आत्मा अपनी योग्यतानुसार जो भाव प्रगटावे, वे नैमित्तिक हैं और द्रव्यकर्म निमित्त है। इस प्रकार ये तीन भाव कर्म के सम्बन्धवाले होने से कर्मजनित कहे हैं। परन्तु कर्म के कारण से ये भाव नहीं हैं, कर्म तो निमित्तमात्र है। ऐसा जीवास्तिकाय का धर्म है।

(३) क्षायिकभाव : आत्मा के पुरुषार्थ से अशुद्धता नाश होकर शुद्धता प्रगट हो, ऐसे भाव को क्षायिकभाव कहते हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य इत्यादि क्षायिकभाव हैं। कर्म का नाश होकर पूर्ण शुद्धता की शुरुआत होती है, परन्तु प्रगट होने के पश्चात् ऐसी की ऐसी शुद्ध रहती है, इसलिए इस भाव को सादि-अनन्त कहा गया है। राग-द्वेष और अल्पज्ञता का नाश होकर सिद्ध भगवान को अविनाशी निश्चलरूप प्रगट हुआ, वह ऐसा का ऐसा रहेगा, इसलिए इसे क्षायिकभाव कहते हैं।

अभव्य को औदयिकभाव अनादि-अनन्त रहता है, वह यहाँ नहीं लिया और भव्य को औदयिकभाव अनादि-सान्त होता है, वह यहाँ नहीं लिया, परन्तु वे सब समय-समय में नये प्रगट होते हैं और नाश पाते हैं, इस अपेक्षा से दोनों टुकड़ों को सादि-सान्त में समाहित कर दिया है। पारिणामिकभाव द्रव्य में है, वह अनादि-अनन्त एकरूप है। समय-समय में जीव एकरूप शुद्ध चेतनभाव से परिणमा करता है, वह अनादि-अनन्त है।

‘सत्तास्वरूप से जीवद्रव्य अनन्त हैं।’

अब, अस्तिरूप से जीव अनन्त हैं। सब होकर एक जीव नहीं। अभव्य अनन्त हैं और भव्य उन अभव्य की अपेक्षा अनन्तगुने हैं।

अब यदि कोई प्रश्न करे कि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव से तो अनादि-अनन्त है, उसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया तथा उसका कोई नाश करता नहीं, वस्तु त्रिकाल है। तो फिर उसे ‘शुरुआत और अन्त’ ऐसा ‘सादि-सान्त का टुकड़ा’ और शुरुआत तथा

अन्त नहीं, ऐसा 'सादि-अनन्त का टुकड़ा' कैसे लागू पड़ा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा अनादि से कर्म की ओर के झुकाव के कारण से अशुद्धभावरूप से परिणमता है। जीव राग-द्वेषरूप से परिणमता है। ज्ञानादिक में कुछ विकास और कुछ अविकाररूप से परिणमता है और किसी समय उपशमभावरूप से परिणमता है। परन्तु उस परिणाम की शुरुआत है और अन्त आता है, इसलिए सादि-सान्तभावरूप से परिणमा कहा जाता है और स्वयं सम्पूर्ण शुद्धतारूप से परिणमता है, उस शुद्धता का अन्त नहीं आता, इसलिए सादि-अनन्तभावरूप से परिणमा कहा जाता है। इन भावों में कर्म के संयोग की अथवा वियोग की अपेक्षा आती है।

★ कर्म के निमित्त से स्वयं राग-द्वेषादि के परिणाम करता है, उसे औदयिकभाव कहते हैं,

★ कर्म के निमित्तों में आंशिक जुड़ना और आंशिक न जुड़ना, उसे क्षयोपशमभाव कहते हैं,

★ कर्म के निमित्त में न जुड़े और उपशम करे, उसे उपशमभाव कहते हैं,

★ कर्म के निमित्तों में सर्वथा न जुड़े, उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

इस अधिकार में जीव अपने परिणाम का कर्ता है, यह बताते हैं। जीव विकाररूप अथवा अविकाररूप स्वयं परिणमता है। कर्म के कारण से विकाररूप होता नहीं, ऐसा बतलाना है। प्रत्येक परिणाम स्वयं करता है। स्वयं औदयिकभाव, क्षयोपशमभाव और उपशमभाव अपनी योग्यता से करता है, उसमें कर्म निमित्त है और स्वयं क्षायिकभाव करता है, उसमें कर्म के अभावरूप निमित्त है। आत्मा स्वयं कायम रहकर—पारिणामिकभावरूप से रहकर उदय, उपशम और क्षयोपशमभावरूप से होकर रहता है, वह सादि-सान्त रहता है, क्षायिकभावरूप से होकर रहता है तो सादि-अनन्त है। स्वयं अनादि-अनन्त रहकर सादि-सान्त रहता है अथवा स्वयं अनादि-अनन्त रहकर सादि-अनन्त रहता है, ऐसा स्वभाव है। इस प्रकार त्रिकाल रहना (१), नया होना और अन्त आना (२), नया होकर अनन्त काल तक रहना (३)—ऐसे तीन प्रकार से होना, वह जीवास्तिकाय का स्वभाव है। वह पर के कारण से नहीं है, स्वयं पारिणामिकभावरूप

से एकरूप रहा करता है। स्वयं कर्ता होकर कायम एकरूप शुद्ध चेतनारूप से समय-समय में परिणमता है। पारिणामिकभाव एकरूप अनादि-अनन्त शुद्ध है। और स्वयं कर्ता होकर औदयिक, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभावरूप से परिणमता है, वह भी स्वयं के कारण से है, पर के कारण से नहीं।

औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक—ऐसे पाँच भावों की जीव में प्रधानता से प्रवृत्ति है।

औदयिकभाव : राग-द्वेषादि के परिणाम होना। आठ कर्मों के उदय के निमित्त से औदयिकभाव होता है, वह सादि-सान्त है।

उपशमभाव : अपने परिणाम में स्थिर हो जाना। जो सम्यग्दर्शन और चारित्र में होता है, वह सादि-सान्त है।

क्षयोपशमभाव : चारों घातिकर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य में आंशिक विकास दिखना, वह सादि-सान्त है।

क्षायिकभाव : आठों कर्मों में क्षय होता है। कर्मों के क्षय होने से जो भाव उपजे, वह क्षायिकभाव है। वह सादि-अनन्त है।

पारिणामिकभाव : अपना स्वभाव त्रिकाल एकरूप है। समय-समय में एकरूप शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमता है। उसे किसी कर्म की अपेक्षा नहीं है। वह अनादि-अनन्त है।

जैसे आत्मा का कोई कर्ता नहीं, उसी प्रकार आत्मा के इन पाँच भावों का भी कोई कर्ता नहीं। औदयिकभाव को तत्त्वार्थसूत्र में स्वतत्त्व कहा गया है। विकार होने की अपनी योग्यता है, ऐसा कहकर कर्म की दृष्टि छुड़ाते हैं और अपने में दृष्टि कर, ऐसा कहते हैं।

(१) निगोद का जीव भी अनादि-अनन्त एकरूप शुद्ध चेतनाभाव से परिणम रहा है, वह पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त है। वह भाव न हो तो जीव का अभाव हो जाये।

(२) निगोद के जीव को ज्ञान, दर्शन और वीर्य का किञ्चित् विकास है। अनादि

से होने पर भी समय-समय में नया विकास करता है और पुराना नाश होता है। वह क्षयोपशमभाव सादि-सान्त है। वह क्षयोपशमभाव (विकास) न हो तो जीव जड़ हो जाये।

(३) निगोद का जीव राग-द्वेषादि विकारी भावों में जुड़ता है। अनादि से होने पर भी समय-समय में नया करता है और वह सादि-सान्त है। औदयिकभाव न हो तो जीव सिद्ध हो जाये। निगोद के जीव को उपशम और क्षायिकभाव नहीं होते। कोई संज्ञी, पंचेन्द्रिय को उपशम और क्षयोपशम समकित और चारित्र होते हैं।

(१) अनादि-अनन्त आत्मा कायम रहता है और उसमें औदयिकादि भाव की शुरुआत होती है और अन्त आता है।

(२) अनादि-अनन्त आत्मा कायम रहता है और उसमें क्षायिकभाव की शुरुआत होती है और अन्त नहीं आता। यह क्या! विरोध होगा? नहीं, यह विरोध नहीं है। वस्तु का ऐसा स्वरूप है, वह यथार्थ समझना।

●●

दीक्षा के लिए तैयार भगवान शान्तिनाथ की भावना

‘जिस मार्ग पर अनन्त तीर्थङ्कर चले, उसी पथ का मैं पथिक बनूँगा। हमारे पुरुषार्थ की धारा टूटेगी नहीं, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं; अब हम अपने स्वभाव में ही ढलते हैं। जिस निर्विकल्प स्वभाव के गीत हम गाते थे, उसे प्रगट करने को अब हम तैयार हैं, अब हमारे स्वरूप में ठहरने का समय आ गया है। अब स्वभाव में लीन होने का भाव जागा है, उसे हम शिथिल नहीं होने देंगे। अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के सिवाय अब हमें पुण्य-पाप का भाव नहीं आयेगा।’ – दीक्षा के लिए तैयार शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३१

गाथा - ५४

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स हवदि उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं॥५४॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य भवत्युत्पादः।
इति जिनवरैर्भणितमन्योऽन्यविरुद्धमविरुद्धम्॥५४॥

जीवस्य भाववशात्सादिसनिधनत्वेऽनाद्यनिधनत्वे च विरोधपरिहारोऽयम्।

एवं हि पञ्चभिर्भावैः स्वयं परिणममानस्यास्य जीवस्य कदाचिदौदयिकेनैकेन मनुष्यत्वादि-
लक्षणेन भावेन सतो विनाशस्तथापरेणौदयिकेनैव देवत्वादिलक्षणेन भावेन असत उत्पादो
भवत्येव। एतच्च 'न सतो विनाशो नासत उत्पाद' इति पूर्वोक्तसूत्रेण सह विरुद्धमपि न
विरुद्धम्; यतो जीवस्य द्रव्यार्थिकनयादेशेन न सत्प्रणाशो नासदुत्पादः, तस्यैव पर्यायार्थिक-
नयादेशेन सत्प्रणाशोऽसदुत्पादश्च। न चैतदनुपपन्नम्, नित्ये जले कल्लोलानामनित्यत्व-
दर्शनादिति॥५४॥

इस भाँति सत-व्यय अर असत उत्पाद होता जीव के।

लगता विरोधाभास सा पर वस्तुतः अविरुद्ध है॥५४॥

अन्वयार्थ :- [एवं] इस प्रकार [जीवस्य] जीव को [सतः विनाशः] सत् का
विनाश और [असतः उत्पादः] असत् का उत्पाद [भवति] होता है- [इति] ऐसा
[जिनवरैः भणितम्] जिनवरों ने कहा है, [अन्योन्यविरुद्धम्] जो कि अन्योन्य विरुद्ध
(१९वीं गाथा के कथन के साथ विरोधवाला), तथापि [अविरुद्धम्] अविरुद्ध है।

टीका:-यह, जीव को भाववशात् (औदयिक आदि भावों के कारण) सादि-
सांतपना और अनादि-अनंतपना होने में विरोध का परिहार है।

इस प्रकार वास्तव में पाँच भावरूप से स्वयं परिणमित होनेवाले इस जीव को
कदाचित् औदयिक ऐसे एक मनुष्यत्वादिस्वरूप भाव की अपेक्षा से सत् का विनाश और
औदयिक ही ऐसे दूसरे देवत्वादिस्वरूप भाव की अपेक्षा से असत् का उत्पाद होता ही
है। और यह (कथन) 'सत् का विनाश नहीं है तथा असत् का उत्पाद नहीं है' ऐसे पूर्वोक्त
सूत्र के (१९वीं गाथा के) साथ विरोधवाला होने पर भी (वास्तव में) विरोधवाला नहीं

है; क्योंकि जीव को द्रव्यार्थिकनय के कथन से सत् का नाश नहीं है और असत् का उत्पाद नहीं है तथा उसी को पर्यायार्थिकनय के कथन से सत् का नाश है और असत् का उत्पाद है। और यह ^१अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि नित्य ऐसे जल में कल्लोलों का अनित्यपना दिखाई देता है।

भावार्थः-५३वीं गाथा में जीव को सादि-सान्तपना तथा अनादि-अनन्तपना कहा गया है। वहाँ प्रश्न सम्भव है कि-सादि-सान्तपना और अनादि-अनन्तपना परस्पर विरुद्ध है; परस्पर विरुद्ध भाव एक साथ जीव को कैसे घटित होते हैं? उसका समाधान इस प्रकार है-जीव, द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है। उसे सादि-सान्तपना और अनादि-अनन्तपना दोनों एक ही अपेक्षा से नहीं कहे गये हैं, भिन्न-भिन्न अपेक्षा से कहे गये हैं; सादि-सान्तपना कहा गया है, वह पर्याय-अपेक्षा से है और अनादि-अनन्तपना द्रव्य-अपेक्षा से है। इसलिए इस प्रकार जीव को सादि-सान्तपना तथा अनादि-अनन्तपना एकसाथ बराबर घटित होता है।

(यहाँ यद्यपि जीव को अनादि-अनन्त तथा सादि-सान्त कहा गया है, तथापि ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि पर्यायार्थिकनय के विषयभूत सादि-सान्त जीव का आश्रय करनेयोग्य नहीं है किन्तु द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ऐसा जो अनादि-अनन्त, टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी, निर्विकार, नित्यानन्दस्वरूप जीवद्रव्य उसी का आश्रय करनेयोग्य है)॥५४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ८, बुधवार

जीवों को पाँच भावों में अनादि-अनन्त, सादि-सान्त और सादि-अनन्तपना कहा तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनय से विरोध नहीं, ऐसा कथन करते हैं।

‘इस पूर्वोक्त प्रकार के भावों से परिणये जो जीव हैं, उनके जब उत्पाद-व्यय की अपेक्षा कीजे, तब विद्यमान जो मनुष्यादिकपर्याय उसका तो विनाश होना और अविद्यमान

१. अनुपपन्न=अयुक्त; असंगत; अघटित; न हो सके ऐसा।

जीव की देवादिकपर्याय की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा यद्यपि परस्पर विरुद्ध है, तथापि विरोधरहित कहा गया है ।’

पूर्व में कहे गये भावोंरूप जीव स्वयं परिणमता है, उसे उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से देखा जाये तो विद्यमान मनुष्यादि पर्याय का नाश होता है और अविद्यमान देवादिक पर्याय का उत्पाद होता है । इस प्रकार से विरुद्ध लगता है, तथापि विरोधरहित है ।

भावार्थ : भगवान के मत में दो नय कहे गये हैं—(१) द्रव्यार्थिकनय, (२) पर्यायार्थिकनय ।

(१) **द्रव्यार्थिकनय :** द्रव्यार्थिकनय से वस्तु उपजती नहीं तथा नाश पाती नहीं । अनादि-अनन्त एकरूप वह की वह रहती है । वस्तु कायम न हो तो वस्तु वह की वह दिखती है वह न हो, इसलिए द्रव्यार्थिकनय से वस्तु कायम रहती है ।

(२) **पर्यायार्थिकनय :** पर्यायार्थिकनय से वस्तु में उत्पाद-व्यय होता है । आत्मा त्रिकाल रहकर पूर्व अवस्था का नाश होता है और नयी अवस्था का उत्पाद होता है ।

जिस प्रकार पानी नित्य-अनित्य स्वरूप है, द्रव्य की अपेक्षा से पानी नित्य है और एक पानी की लहर उपजती है और एक नाश पाती है, इस अपेक्षा से अनित्य है ।

उसी प्रकार द्रव्य कायम रहने की अपेक्षा से नित्य है और पूर्व अवस्था का नाश होकर नयी अवस्था का उत्पाद होने की अपेक्षा से अनित्य है । आत्मा कायम रहता है, वह नित्य है और मनुष्यपने का व्यय होकर देवरूप से उपजा, इस अपेक्षा से अनित्य है, स्वयं उसरूप परिणमनेवाला है, ऐसा सिद्ध करना है । पर के कारण से नहीं, नयी अवस्थारूप उपजना, पुरानी अवस्थारूप से व्यय होना और स्वयं कायम रहना, ऐसा वस्तु का स्वरूप है ।

अब जीव के उत्पाद-व्यय में कर्म का निमित्त है, ऐसे निमित्त की मुख्यता से कथन करके निमित्त साबित करते हैं । निमित्त से उपजता है या विनशता है, ऐसा है ही नहीं, स्वयं अपने कारण से उपजता है और विनशता है, यह निश्चय है, उसमें कर्म निमित्त है, यह व्यवहार है, ऐसी प्रमाणज्ञान की बात चलती है ।

गाथा - ५५

णेरइयतिरियमणुया देवा इदि णामसंजुदा पयडी।

कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं॥५५॥

नारकतिर्यङ्मनुष्या देवा इति नामसंयुताः प्रकृतयः।

कुर्वन्ति सतो नाशमसतो भावस्योत्पादम्॥५५॥

जीवस्य सदसद्भावोच्छित्युत्पत्तिनिमित्तोपाधिप्रतिपादनमेतत्।

यथा हि जलराशेर्जलराशित्वेनासदुत्पादं सदुच्छेदं चाननुभवतश्चतुर्भ्यः ककुब्बिभागेभ्यः क्रमेण वहमानाः पवमानाः कल्लोलानामसदुत्पादं सदुच्छेदं च कुर्वन्ति, तथा जीवस्यापि जीवत्वेन सदुच्छेदमसदुत्पत्तिं चाननुभवतः क्रमेणोदीयमानाः नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवनामप्रकृतयः सदुच्छेदमसदुत्पादं च कुर्वन्तीति॥५५॥

तिर्यच नारक देव मानुष नाम की जो प्रकृति हैं।

सद्भाव का कर नाश वे ही असत् का उद्भव करें॥५५॥

अन्वयार्थ :- [नारकतिर्यङ्मनुष्याः देवाः] नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव [इति नामसंयुताः] ऐसे नामोंवाली [प्रकृतयः] (नामकर्म की) प्रकृतियाँ [सतः नाशम्] सत् भाव का नाश और [असत् भावस्य उत्पादम्] असत् भाव का उत्पाद [कुर्वन्ति] करती हैं।

टीका:-जीव को सत् भाव के उच्छेद और असत् भाव के उत्पाद में निमित्तभूत उपाधि का यह प्रतिपादन है।

जिस प्रकार समुद्ररूप से असत् के उत्पाद और सत् के उच्छेद का अनुभव न करनेवाले ऐसे समुद्र को चारों दिशाओं में से क्रमशः बहती हुई हवाएँ कल्लोलों सम्बन्धी असत् का उत्पाद और सत् का उच्छेद करती हैं (अर्थात् अविद्यमान तरंग के उत्पाद में और विद्यमान तरंग के नाश में निमित्त बनती हैं), उसी प्रकार जीवरूप से सत् के उच्छेद और असत् के उत्पाद अनुभव न करनेवाले ऐसे जीव को क्रमशः उदय को प्राप्त होनेवाली नारक-तिर्यच-मनुष्य-देव नाम की (नामकर्म की) प्रकृतियाँ (भावोंसम्बन्धी, पर्यायों-सम्बन्धी) सत् का उच्छेद तथा असत् का उत्पाद करती हैं (अर्थात् विद्यमान पर्याय के नाश में और अविद्यमान पर्याय के उत्पाद में निमित्त बनती हैं)॥५५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ८, बुधवार

‘नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव—इन नामोंकर संयुक्त नामकर्मसम्बन्धी की प्रकृतियाँ विद्यमान पर्याय के विनाश को करती हैं और अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति को करती हैं।’

नामकर्म के कारण से मनुष्यपने का नाश होकर देवादि हो, नारकी का नाश होकर ढोर आदि हो, ढोर नाश पाकर नरकादि में जाये, इस प्रकार नामकर्म विद्यमान पर्याय का नाश करता है और अविद्यमान पर्याय उत्पन्न करता है। यहाँ निमित्त से कथन किया गया है। कर्म जीव को गति में ले नहीं जाता, जीव अपने निर्विकल्पस्वरूप से चूक जाता है और अपने में गति की योग्यता के परिणाम करता है, तब नामकर्म के निमित्त से देव मरकर मनुष्य हुआ, ऐसा कथन किया जाता है। पंचास्तिकाय गाथा ५९ पृष्ठ १०२ में कहा गया है कि जीव अपने कारण से परिणाम करे, वह उपादान कारण है, वहाँ निश्चयनय समझना और कर्म के कारण से परिणाम करे, इस कथन में कर्म निमित्त कारण है, वहाँ व्यवहारनय समझना।

यह विवक्षा सर्वत्र लागू करना।

भावार्थ : जिस प्रकार समुद्र अपने स्वरूप से स्थिर है। अपनी उत्पाद-व्यय अवस्था को प्राप्त नहीं होता। परन्तु चारों दिशा का पवन आने से समुद्र में लहरों का उत्पाद-व्यय होता है। पवन के कारण से लहरें होती नहीं। पवन के कारण से होती हो तो आकाश में लहरें होनी चाहिए। पानी में लहरों रूप से उत्पाद-व्यय होने की योग्यता है तो पवन को निमित्त कहा जाता है। इस प्रमाण जीवद्रव्य अपने त्रिकाली शुद्धस्वभाव से उपजता नहीं तथा विनाश पाता नहीं, सदा ही टंकोत्कीर्ण चैतन्यमूर्ति है। परन्तु अनादि कर्मों की उपाधि के निमित्त से चार गति नामकर्म के उदय से नयी अवस्था को करता है और पुरानी अवस्था का नाश करता है।

यहाँ कर्म के वश अर्थात् कि परद्रव्य के निमित्त से, ऐसा कहने पर व्यवहार

हुआ; स्वयं अपने शुद्धस्वभाव को चूकता है और देवपने में उपजने की योग्यता उत्पन्न करे तो देव नामकर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी जीव को भ्रम होता है कि कर्म का उदय आया, इसलिए हुआ। श्रेणिक राजा को नरक में जाने का भाव था? नरकगति नामकर्म का उदय आया, इसलिए उनकी इच्छा न होने पर भी बलजोरी से नरक में कर्म के कारण से जाना पड़ा। ऐसी अज्ञानी दलील करता है।

(इसका) **समाधान** : (यह है कि) भाई! अपनी नरक में जाने की योग्यता उस समय की है, इसलिए नरक में जाता है। उसकी योग्यता बिना कोई जीव जाता नहीं। उसकी योग्यता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है।

यह जीव के कर्तापने का अधिकार है, स्वयं नरक, मनुष्यादि गति के औदयिकभावों को करता है, तब कौनसा कर्म निमित्त है, यह साबित करते हैं। जीव विद्यमान पर्याय का नाश करता है और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद करता है, यह निश्चय है और उसमें कर्म निमित्त है। कर्म के कारण से उत्पाद-विनाश कहना, ऐसा निमित्त से कथन करने में विरोध नहीं तथा जीव कर्म के कारण से भटकता है, यह व्यवहारकथन है। और अपने अपराध के कारण से भटकता है, यह निश्चयकथन है। इन दोनों में विरोध नहीं परन्तु विरोध का परिहार है।

कर्म तुझे राग-द्वेष कराता नहीं परन्तु तू स्वयं करे तो विकार होता है। आत्मा में १४८ प्रकृतियाँ हैं ही नहीं, इसलिए कर्म का लक्ष्य छोड़नेयोग्य है और आत्मा वीतरागस्वरूप परम आह्लादस्वरूप एकरूप चैतन्य प्रकाशवाला है, उसे उपादेय माननेयोग्य है। तू ज्ञाता है, ऐसी दृष्टि कर और एकाग्र हो, ऐसा कहने का भाव है।

अब जीव के पाँच भावों का वर्णन करते हैं।

●●



गाथा - ५६

उदएण उवसमेव य खएण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।

जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा॥५६॥

उदयेनोपशमेन च क्षयेण द्वाभ्यां मिश्रिताभ्यां परिणामेन।

युक्तास्ते जीवगुणा बहुषु चार्थेषु विस्तीर्णाः॥५६॥

जीवस्य भावोदयवर्णनमेतत् ।

कर्मणां फलदानसमर्थतयोद्भूतिरुदयः, अनुद्भूतिरुपशमः, उद्भूत्यनुद्भूती क्षयोपशमः, अत्यन्तविश्लेषः क्षयः, द्रव्यात्मलाभहेतुकः परिणामः । तत्रोदयेन युक्त औदयिकः, उपशमेन युक्त औपशमिकः, क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः, क्षयेन युक्तः क्षायिकः, परिणामेन युक्तः पारिणामिकः । त एते पञ्च जीवगुणाः । तत्रोपाधिचतुर्विधत्वनिबन्धनाश्रित्वारः, स्वभावनिबन्धन एकः । एते चोपाधिभेदात्स्वरूपभेदाच्च भिद्यमाना बहुष्वर्थेषु विस्तार्यन्त इति ॥५६॥

उदय उपशम क्षय क्षयोपशम पारिणामिक भाव जो ।

संक्षेप में ये पाँच हैं विस्तार से बहुविध कहे ॥५६॥

अन्वयार्थ :- [उदयेन] उदय से युक्त, [उपशमेन] उपशम से युक्त, [क्षयेण] क्षय से युक्त, [द्वाभ्यां मिश्रिताभ्यां] क्षयोपशम से युक्त [च] और [परिणामेन युक्ताः] परिणाम से युक्त-[ते] ऐसे [जीवगुणाः] (पाँच) जीवगुण (-जीव के भाव) हैं; [च] और [बहुषु अर्थेषु विस्तीर्णाः] उन्हें अनेक प्रकारों से विस्तृत किया जाता है।

टीका:-जीव को भावों के उदय का (-पाँच भावों की प्रगटता का) यह वर्णन है।

कर्मों का 'फलदानसमर्थरूप से उद्भव, सो 'उदय' है; अनुद्भव, सो 'उपशम' है; उद्भव तथा अनुद्भव, सो 'क्षयोपशम' है; 'अत्यन्त विश्लेष, सो 'क्षय' है; द्रव्य का 'आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है, वह 'परिणाम' है। वहाँ, उदय से युक्त, वह १. फलदानसमर्थ=फल देने में समर्थ। २. अत्यन्त विश्लेष=अत्यन्त वियोग; आत्यंतिक निवृत्ति। ३. आत्मलाभ=स्वरूपप्राप्ति; स्वरूप को धारण कर रखना; अपने को धारण कर रखना; अस्तित्व। (द्रव्य अपने को धारण कर रखता है अर्थात् स्वयं बना रहता है, इसलिए उसे 'परिणाम' है।)

‘औदयिक’ है; उपशम से युक्त, वह ‘औपशमिक’ है; क्षयोपशम से युक्त, वह ‘क्षायोपशमिक’ है; क्षय से युक्त, वह ‘क्षायिक’ है; ^१ परिणाम से युक्त, वह ‘पारिणामिक’ है।—ऐसे यह पाँच जीवगुण हैं। उनमें (—इन पाँच गुणों में) ^३उपाधि का चतुर्विधपना जिनका कारण (निमित्त) है, ऐसे चार हैं, स्वभाव जिसका कारण है, ऐसा एक है। उपाधि के भेद से और स्वरूप के भेद से भेद करने पर, उन्हें अनेक प्रकारों में विस्तृत किया जाता है।।५६।।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ८, बुधवार

‘जो भाव, कर्म के उदयकर और कर्मों के उपशम होनेकर तथा कर्मों के क्षयकर, उपशम और क्षय इन दोनों जाति के मिले हुए कर्मपरिणामोंकर और आत्मीक निजभावोंकर संयुक्त हैं, वे भाव जीव के सामान्यता से पाँच भाव जानने। कैसे हैं वे भाव ? नाना प्रकार के भेदों में विस्तार लिये हुए हैं।’

भावार्थ : जीव के पाँच भाव तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में कहे हैं। (१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायिक, (४) क्षायोपशमिक, (५) पारिणामिक।

(१) औदयिक : शुभाशुभ कर्म के उदय में जीव जुड़ता है और अपने में विकारादि भाव करता है, उसे औदयिकभाव कहते हैं। कर्म के उदय को उदय कहते हैं और जीव उसमें जुड़े तो औदयिकभाव कहलाता है और न जुड़े तो औदयिकभाव कहलाता नहीं। इसलिए कर्म के कारण से जीव में राग-द्वेष हो, यह बात रहती नहीं। स्वयं शुभाशुभभाव करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। जिस भाव से तीर्थंकर

१. क्षय से युक्त=क्षय सहित; क्षय के साथ सम्बन्धवाला। (व्यवहार से कर्मों के क्षय की अपेक्षा जीव के जिस भाव में आये वह ‘क्षायिक’ भाव है।)

२. परिणाम से युक्त=परिणाममय; परिणामात्मक; परिणामस्वरूप।

३. कर्मोपाधि की चार प्रकार की दशा (—उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय) जिनका निमित्त है, ऐसे चार भाव हैं; जिनमें कर्मोपाधिरूप निमित्त बिलकुल नहीं है, मात्र द्रव्यस्वभाव ही जिसका कारण है, ऐसा एक पारिणामिकभाव है।

नामकर्म बंधता है, वह औदयिकभाव है। सभी प्रकार के औदयिकभाव संसार का कारण है परन्तु धर्म का कारण नहीं।

(२) औपशमिक : कर्म में उपशम हो, उसे उपशम कहते हैं, कर्मों के उपशम के निमित्त से जीव में अपने पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन और चारित्र में उपशम हो, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। जिस प्रकार कचरा नीचे बैठ जाने से पानी निर्मल होता है, उसी प्रकार कर्म का उपशम होने से जीव में उपशम होता है। पानी निर्मल अपनी योग्यता से होता है, उसमें कचरा बैठ जाना निमित्त है, उसी प्रकार जीव अपने पुरुषार्थ से दर्शन अथवा चारित्र में उपशमभाव प्रगट करे तो कर्म के निमित्त से प्रगट होता है, ऐसा कहा जाता है।

(३) क्षायोपशमिक : कर्म का किंचित् उदय हो और किंचित् उदय न हो, उसे कर्म का क्षायोपशम कहते हैं। उसमें जीव जुड़ता है और अपने में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अमुक उधाड़ दिखाई दे और अमुक दिखाई न दे। जितना पुरुषार्थ, उतना उधाड़ दिखाई देता है और जितना पुरुषार्थ नहीं, उतना उधाड़ दिखाई नहीं देता। अपनी योग्यतानुसार उधाड़ दिखता है, तब कर्म के कारण से क्षायोपशमिकभाव हुआ, ऐसा कहा जाता है।

(४) क्षायिकभाव : कर्म का नाश होना, उसे क्षय कहते हैं। उसके निमित्त से जो भाव उत्पन्न हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं। केवलज्ञानादि क्षायिकभाव से है। अपने में एकाग्र होकर सर्वथा शुद्धता प्रगट होना और अशुद्धता का नाश होना, उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

(५) पारिणामिकभाव : जीव अपने शुद्ध चैतन्यादि भावों से एकरूप है, अस्तिस्वरूप है, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। इस भाव को कर्म की अपेक्षा नहीं। कर्म हीन हो, उसे भव्य कहना और कर्म अधिक हो, उसे अभव्य कहना, ऐसा नहीं है। अपने एकरूप परिणाम अनुसार होना, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

ये पाँचों भाव जीव के हैं। भावों को अपेक्षा से गुण कहा है। उसमें औदयिक, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक चार पर्याय में है और पारिणामिकभाव त्रिकाली स्वभावभाव है। प्रत्येक के बहुत भेद हैं। यहाँ मुख्य पाँच कहे हैं।

कर्म का उदय आवे और जीव उसमें जुड़े तो जीव में औदयिकभाव हुआ कहलाये और कर्म का उदय होने पर भी जीव उसमें न जुड़े तो जीव में औदयिकभाव हुआ नहीं, ऐसा शास्त्रों में कथन आता है। उसका आधार इस ४६वीं गाथा में है। मूल गाथा में 'जुत्ता' शब्द है तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका में 'तत्रोदयेन युक्त औदयिकः' 'उपशमेन युक्त औपशमिकः' इत्यादि। इसका अर्थ :

- ★ पुद्गलकर्म का उदय, वह उदय है और उससे सहित, वह औदयिकभाव है।
- ★ पुद्गलकर्म का उपशम, वह उपशम है और उससे सहित, वह औपशमिकभाव है।
- ★ पुद्गलकर्म का क्षयोपशम, वह क्षयोपशम है और उससे सहित, वह क्षयोपशमभाव है।

★ पुद्गलकर्म का क्षय, वह क्षय है और उससे सहित, वह क्षायिकभाव है। (कर्म के अभाव को अनुसरकर होनेवाला भाव) चार भावों में 'इक' प्रत्यय है। कर्म के साथ सम्बन्ध करके अपने से उत्पन्न हुआ भाव, ऐसा इसका अर्थ समझना। पारिणामिकभाव में कर्म की अपेक्षा नहीं। जीव के अपने त्रिकाली एकरूप परिणाम को अनुसरकर होनेवाला भाव अर्थात् स्वयं अपने में त्रिकाल जुड़ानरूप है, ऐसे भाव को पारिणामिकभाव कहते हैं। इस प्रकार पाँचों भाव जीव में होते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्म पर के आधार से नहीं है, स्व के आधार से है तो चाहे जैसा निमित्त हो तो क्या बाधा है ?

(इसका समाधान इस प्रकार है) धर्म तो स्व के ही आधार से है, पर के आधार से नहीं। परन्तु वीतरागता के समय निमित्त कैसा होता है, उसका भी यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। केसर लेने जाते समय बारदान-थैला नहीं होता परन्तु टीन का डिब्बा होता है, उसी प्रकार शुद्ध धर्म प्रगटाने के समय कुदेवादि निमित्त नहीं होते, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, वीतरागी प्रतिमा निमित्त होती है, लौकिक प्रसंग में राजादि को नमन करे, वह अलग बात है, परन्तु धार्मिक दृष्टि से अन्य को वन्दन करना मिथ्याभाव है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ९, गुरुवार

भावार्थ : 'ये पाँच भाव जीव के होते हैं।' यह पाँच भाव जीवों के हैं। उसमें से चार भाव कर्मों के निमित्त से होते हैं। लेश्या, गति आदि के भाव जीव करता है, उसमें कर्म निमित्त है, औदयिकभाव बन्ध का कारण है, इसलिए हेय है। उपशम, क्षयोपशमभाव (समकित का तथा चारित्र का) तथा क्षायिकभाव पर्याय होने से मोक्ष का उपचारकारण है। वास्तव में निश्चयकारण तो द्रव्य है, इसलिए चारों भाव हेय हैं। त्रिकाली स्वभाव—परमपारिणामिकभाव जो कर्म की अपेक्षा बिना का है, वह उपादेय है। औदयिकभाव में कर्म के उदय की, औपशमिक में कर्म के उपशम की, क्षयोपशमिक में कर्म के क्षयोपशम की, क्षायिक में कर्म के क्षय की निमित्तता आती है और पारिणामिकभाव में कर्म की अपेक्षा नहीं। इस प्रकार कर्म के निमित्त की अपेक्षा से तथा स्वरूप के भेद की अपेक्षा से पाँच में अनेक प्रकार पड़ते हैं। औदयिक में गति, लेश्या, कषाय, आदि भेद हैं; औपशमिक में समकित, चारित्र भेद है। क्षयोपशम में भी प्रकार पड़ते हैं। क्षायिक में क्षायिकज्ञान-दर्शनादि प्रकार पड़ते हैं और पारिणामिक में भी प्रकार पड़ते हैं।

औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक तीन भाव कर्मजनित हैं। जीव अपने स्वभाव को चूककर विकार करता है तो कर्म के उदय को निमित्त कहते हैं। चिदानन्द आत्मा के आश्रय से उपशम समकित अथवा चारित्र प्रगट करता है, तब कर्म का उपशम होता है। जीव अपने में क्षयोपशम समकित अथवा चारित्र प्रगट करता है, तब कर्म का क्षयोपशम होता है; इसलिए इन भावों को कर्मजनित कहा गया है। कर्म औदयिकादिभाव कराते हैं, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। शास्त्रकार का आशय समझना चाहिए।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख-वीर्य इत्यादि क्षायिकभाव से है, वे शुद्ध हैं। एक समय की पर्याय होने पर भी सादि-अनन्त काल तक रहते हैं, इसलिए अविनाशी कहा गया है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव के उग्र अवलम्बन से प्रगट होते हैं, परन्तु वे प्रगट होते हैं, तब कर्म का अभाव होता है। कर्म के अभाव की निमित्तता बतलाने के

लिये उन्हें कर्मजनित कहा गया है। केवलज्ञानावरणीय कर्म टला, इसलिए केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा पराधीन नहीं है। आत्मा त्रिकाली होने पर भी पर्याय में क्षायिकभाव का कर्ता स्वतन्त्र है और उसमें निमित्त बतलाकर प्रमाणज्ञान कराते हैं।

पारिणामिकभाव—परम स्वभावभाव को कर्म के निमित्त की अपेक्षा नहीं। शुद्ध पारिणामिकभाव जीव का स्वभाव है; इसलिए वह कर्मजनित नहीं। उस पारिणामिकभाव में भव्य और अभव्य दो भेद हैं। वे भी कर्मजनित नहीं। सम्यक् श्रद्धा प्रगटावे, वह भव्य और श्रद्धा न प्रगटावे, वह अभव्य; इस प्रकार का भेद नहीं है। कितने ही ऐसे भव्य हैं जो अनन्त काल तक सम्यक् श्रद्धा प्रगटायेंगे नहीं, तथापि भव्य हैं। भव्य और अभव्य ऐसा ही जीव का स्वभाव है। जैसे घोरडू मूंग लाखों मण पानी में पकाया जाने पर भी पकता नहीं, उसी प्रकार अभव्य भी कभी धर्म प्राप्त नहीं करते। अभव्य जीव कदाचित् राजपाट छोड़े, ब्रह्मचर्य पाले, दया पालन करे, मुनियों की सेवा करे, स्वयं मुनि हो, महाव्रत पालन करे, नौ कोटि से संधारा करे, तो भी अभव्य मिटकर भव्य नहीं होता। जैसे जड़ चेतन नहीं होता, उसी प्रकार वे सम्यग्दर्शन नहीं पाते और मोक्ष नहीं होता। और भव्य जीव कोई कदाचित् तीर्थंकर का विरोध करे, कसाईखाना लगाने जैसा पाप करे, तो भी भव्य मिटकर अभव्य नहीं होता। वे आत्मा का ज्ञान कर सकते हैं और मोक्ष जा सकते हैं।

यद्यपि कर्म की अपेक्षा से भव्य-अभव्य स्वभाव जाना जा सकता है। जिसे कर्म का नाश होता है, उसे भव्य कहा जाता है। यह व्यवहार से, अपेक्षा से बात की है। ऐसे भव्य पड़े हैं कि जो अभव्य की भाँति कभी भी धर्म प्राप्त करनेवाले नहीं हैं, तथापि भव्य हैं। और जिसे कर्म का नाश कभी नहीं होता, उसे अभव्य जानना, तो भी कर्म के कारण से भव्य-अभव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भव्य-अभव्य नाम का कोई कर्म नहीं है, इस कारण से वे कर्मजनित नहीं हैं।

भगवान ने केवलज्ञान में देखा है कि अभव्य को संसार में से कभी निकलने का होगा नहीं, उसका संसार अनादि-अनन्त है, वैसा उसका स्वभाव है। भव्य को अनादि-सान्त संसार की योग्यतावाला स्वभाव भगवान ने देखा है, और वैसा वाणी द्वारा आया है।

‘स्वरूपभेदात्’ शब्द टीका में है। पारिणामिकभाव में स्वरूप से तीन प्रकार के भेद हैं—शुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। शुद्ध जीवत्व के साथ भव्य जीव जो मोक्ष के योग्य हैं और शुद्ध जीवत्व के साथ अभव्य जीव जो मोक्ष के योग्य नहीं, ऐसा उनका स्वभाव है। अभव्य जीव व्यवहार श्रद्धा करे, परन्तु अन्तररुचि करते नहीं और इसलिए वे कभी मोक्ष नहीं जायेंगे। जैसे लकड़े का स्वभाव तैरने का है, उसी प्रकार भव्य जीव का स्वभाव तैरने का है, तथापि बहुत से भव्य ऐसे हैं कि अनन्त काल तक मोक्ष में नहीं जायेंगे। संसार में किसी समय भव्य न हो, ऐसा नहीं होता। भव्य सब मोक्ष में जायें तो नौ तत्त्व रहे नहीं। नौ तत्त्व अनादि-अनन्त रहनेवाले हैं। भव्य जीव सब मोक्ष में जायें तो संवर-निर्जरातत्त्व अर्थात् साधु, श्रावकपना रहे नहीं। संसार सदा ही रहेगा और समझनेवाले मोक्ष जायेंगे। इस प्रकार जिसका जैसा स्वभाव है, वैसा ही रहता है। इसलिए भव्य-अभव्य अपने स्वभाव की योग्यता के ऊपर है, कर्मजनित नहीं। इस प्रकार तीन प्रकार के पारिणामिकभाव स्वभावजनित कहे।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने प्रवचनसार गाथा ६२ में कहा है कि ‘केवलज्ञानी परिपूर्ण सुखी हैं, ऐसी जो श्रद्धा नहीं करता, वह अभव्य है।’ कोई कहे कि इतनी अधिक कठोरता से क्यों कहा? भाई! यह उनके पुरुषार्थ की उग्रता बतलाता है। जो जीव केवली को सुखी नहीं मानते, परन्तु केवली को आहार और दवा लेना ठहराकर दुःखी ठहराते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। केवली को रोग होना मानना, खूनी दस्त मानना, दवा लेना मानना और दवा लेने के बाद भगवान को ठीक हुआ और इसलिए सब प्रसन्न हुए—इत्यादि प्रकार से जो मान्यता है, वह वस्तुदृष्टि का घात करनेवाली है। केवली को दुःखी मानते हैं, वे केवलज्ञान की पर्याय का विरोध करते हैं, वे अभव्य हैं। अनन्त चतुष्टय प्रगट हो गये हों, उन्हें आहार नहीं होता, रोग नहीं होता। उग्र पुरुषार्थ करनेवाले केवलज्ञान तथा मोक्ष की तैयारीवाले मुनियों के सामने केवली भगवान की ऐसी हीन बात करनेवाला भी अभव्य है—नालायक है।

पारिणामिकभाव में भव्य और अभव्य दो भेद कहे, वे जानने के लिये हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि में भव ही नहीं है, राग-द्वेष विकार त्रिकाल में नहीं,

ऐसा भान करनेवाला जीव स्व का ज्ञान होने पर, परजीवों को जान लेता है कि अभव्य संसार की पेढ़ी माँढ़कर बैठा है, धर्म को समझता नहीं। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, मुझमें भव है ही नहीं, ऐसी दृढ़ प्रतीति और ज्ञान करनेवाले को पर का ज्ञान यथार्थ होता है। वह जान लेता है कि ऐसे अभव्य जीव जगत में हैं कि जो कभी मोक्ष जानेवाले नहीं हैं। अपना ज्ञानस्वभाव है, उसमें पर को जानने की मुख्यता नहीं, स्व को जानने की मुख्यता होनी चाहिए, अपनी ओर रुचि करना चाहिए। स्व का ज्ञान होने से जगत के ज्ञेय, भव्य-अभव्य के प्रकार यथार्थ ज्ञात हो जाते हैं।

●●



वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। 'मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ी – वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है – ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनमृत प्रवचन, २/१९८

गाथा - ५७

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।

सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पठितं॥५७॥

कर्म वेदयमानो जीवो भावं करोति यादशकम्।

स तस्य तेन कर्ता भवतीति च शासने पठितम्॥५७॥

जीवस्यौदयिकादिभावानां कर्तृत्वप्रकारोक्तिरियम् ।

जीवेन हि द्रव्यकर्म व्यवहारनयेनानुभूयते; तच्चानुभूयमानं जीवभावनां निमित्तमात्रमुपवर्ण्यते। तस्मिन्निमित्तमात्रभूते जीवेन कर्तृभूतेनात्मनः कर्मभूतो भावः क्रियते । अमुना यो येन प्रकारेण जीवेन भावः क्रियते, स जीवस्तस्य भावस्य तेन प्रकारेण कर्ता भवतीति ॥५७॥

पुद्गल करम को वेदते आतम करे जिस भाव को ।

उस भाव का वह जीव कर्ता कहा जिनवर देव ने ॥५७॥

अन्वयार्थ :- [कर्म वेदयमानः] कर्म को वेदता हुआ [जीवः] जीव [यादृश-कम् भावं] जैसे भाव को [करोति] करता है, [तस्य] उस भाव का [तेन] उस प्रकार से [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता है- [इति च] ऐसा [शासने पठितम्] शासन में कहा है।

टीका:-यह, जीव के औदयिकादि भावों के कर्तृत्वप्रकार का कथन है।

जीव द्वारा द्रव्यकर्म व्यवहारनय से अनुभव में आता है; और वह अनुभव में आता हुआ जीवभावों का निमित्तमात्र कहलाता है। वह (द्रव्यकर्म) निमित्तमात्र होने से, जीव द्वारा कर्तारूप से अपना कर्मरूप (कार्यरूप) भाव किया जाता है। इसलिए जो भाव जिस प्रकार से जीव द्वारा किया जाता है, उस भाव का उस प्रकार से वह जीव कर्ता है॥५७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ९, गुरुवार

अब औदयिकादि पाँच भावों का जीव कर्ता है, ऐसा बताते हैं।

‘उदय अवस्था को प्राप्त हुए द्रव्यकर्म को अनुभवकर्ता आत्मा जैसा अपने

परिणाम को करता है, वह आत्मा तिस परिणाम को उसकारणकर करनेहारा होता है, इस प्रकार कथन जिनेन्द्र भगवान के मत में तत्त्व के जाननेवाले पुरुषों ने कहा है।'

जिनेन्द्र भगवान के मत में कहा है कि जड़ कर्म के परमाणु सत्ता में पड़े हैं, वे सत्ता में से उदय आने पर फल देने की योग्यतावाले होते हैं, तब जीव यदि उनमें जुड़े और विकार करे तो विकार का अनुभव करनेवाला आत्मा स्वयं है। कर्म जड़ है, उन्हें आत्मा अनुभवता नहीं, परन्तु विकार को अनुभव करता है। कर्म की प्रकृतियाँ चार प्रकार की हैं—क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। उसके उदय के समय जीव अपनी योग्यता से जुड़े तो विकार का अनुभव करता है। कर्म के उदय प्रमाण जीव को राग-द्वेष करना पड़े, यह मान्यता खोटी है। यदि ऐसा हो तो जीव कभी धर्म प्राप्त न कर सके। और कोई कहता है कि जीव कर्म के उदय के समय उसमें न जुड़े तो कर्म का प्रेरकपना नहीं रहता, तो यह बात भी खोटी है। कर्म जीव में राग की प्रेरणा नहीं कराता। यहाँ पाठ में 'यादृशकं' भावं' लिखा है। कर्म के उदय प्रमाण भाव हो, ऐसी बात नहीं ली है परन्तु जैसे अपने परिणाम करे, वैसे परिणाम का कर्ता होता है—ऐसा भगवान के मत में, तत्त्व के जाननेवाले पुरुष कहते हैं।

भावार्थ : संसारी जीव को द्रव्यकर्म का अनादि से सम्बन्ध है। उस कर्म के उदय के समय हर्ष-शोक के परिणाम करे तो कर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे कि रोटी, दाल, भात को जीव भोगता है अर्थात् कि उस प्रकार के विकारी परिणाम को जीव भोगता है। वह अशुद्ध निश्चयनय है और उसमें वे पदार्थ निमित्त हैं, इसलिए पदार्थों को भोगता है—ऐसा व्यवहार से कथन किया जाता है। उसी प्रकार जीव हर्ष-शोक को भोगता है, यह निश्चय है और कर्म को भोगता है, यह उपचार कथन है। परन्तु कोई कहे कि विकारी परिणाम को निश्चय से भोगता है और कर्म को व्यवहार से भोगता है, ऐसा व्यवहार का अर्थ नहीं है। कर्म तथा परपदार्थ जड़ हैं, उन्हें आत्मा व्यवहार से भी भोगता नहीं।

जब जिस द्रव्यकर्म को आत्मा भोगता है, ऐसा कहा जाता है, तब उस कर्म का निमित्त पाकर जीव में जीवमयी चिद्विकाररूप परिणाम होते हैं, वे परिणाम जीव के किये हुए हैं; इस कारण से जीव को उन परिणामों का कर्ता कहा जाता है। जीव अपने

ज्ञानस्वभाव का विरोध करके वैसे विराधकभाव को भोगता है, तब ज्ञानावरणीयकर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। शरीर के रोग का कोई जीव अनुभव नहीं करता, परन्तु अपने में शोक और द्वेष के परिणाम को भोगता है। उसका उपचार रोग के ऊपर किया जाता है।

जीव अपना ज्ञानस्वभाव चूकता है और पर में एकाकार होकर अनुकूलता में राग को और प्रतिकूल में द्वेष को भोगता है। वह जीव की पर्याय है, जीव उसका कर्ता है। कर्म ने वह भाव कराये नहीं। 'कर्म का निमित्त पाकर' इसका अर्थ ऐसा है कि जीव में हर्ष-शोकरूपी नैमित्तिक पर्याय होती है तो कर्म निमित्त कहलाते हैं।

इसलिए यह बात निश्चित है कि जिन भावोंरूप आत्मा परिणमता है, उदयभावरूप से परिणमता है, उन भावों का जीव को अवश्य कर्ता जानना। कर्म राग-द्वेष कराता नहीं, राग-द्वेष विकाररूप स्वयं होता है।

समयसार में राग-द्वेष के परिणाम को पुद्गल के कहा है। जीव के नहीं कहा। क्योंकि वहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। दर्शन विकार को और अपूर्णता को स्वीकार नहीं करता। मात्र शुद्ध द्रव्य को ही स्वीकार करता है। विकार शुद्ध द्रव्य में से नहीं आता, परन्तु विकार परलक्ष्य से पर में अटककर होते परिणाम होने से पुद्गल के परिणाम कहा है, वहाँ द्रव्यदृष्टि का कथन है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। दृष्टिपूर्वक हुआ ज्ञान जानता है कि अभी राग मेरी कमजोरी से होता है। दर्शन, राग को स्वीकार नहीं करता होने पर भी ज्ञान जानता है कि जितना राग बाकी है, वह मेरा कर्तव्य है। मैं करता हूँ तो होता है, परन्तु कर्म उसे नहीं कराता, इसलिए यहाँ कर्ता, कर्म, क्रिया—ऐसे तीन प्रकार से कर्तृत्व की सिद्धि जानना।

(१) जो स्वतन्त्ररूप से परिणमे अथवा करे, उसे कर्ता कहा जाता है। काम, क्रोध, दया, दान के परिणाम अपने में अपने कारण से होते हैं, पर से होते नहीं, जड़ कर्म कराते नहीं।

(२) जो परिणाम होते हैं, वह कर्म है। कर्ता का इष्ट, वह कार्य। दृष्टि के विषय में इष्ट तो वीतरागी परिणाम है, वहाँ कर्ता का इष्ट विकार नहीं। परन्तु यहाँ अभेददृष्टि

होने पर भी निर्बलता से राग-द्वेष के जो परिणाम होते हैं, वह भी कर्म है, इतनी अस्थिरता सम्यग्दृष्टि को वर्तती है, इसलिए वह उसका कार्य है।

(३) पूर्व अवस्था से पलटकर नयी अवस्था हो, वह क्रिया है। आत्मा से आत्मा में क्रिया होती है, जड़ के कारण से होती नहीं। इस प्रकार कर्ता, कर्म और क्रिया जीव में अपने में होते हैं। आत्मा राग को कैसे वेदता है, इसका उत्तर जयसेनाचार्य कहते हैं कि निराग, निर्भर आनन्दलक्षणवाले आत्मा में प्रचण्ड, अखण्ड ज्ञानकाण्ड द्वारा परिणत नहीं होकर, मन-वचन-काया के लक्ष्य से, पुण्य-पापरूपी परिणाम उपजाता है, उससे ज्ञानावरणीयादि कर्म उपजाता है और उनका उदय आने पर हर्ष-शोकादि के परिणाम को वेदता है, अर्थात् कर्मों को वेदता है, ऐसा कथन किया जाता है। जीव विकार स्वतन्त्र करता है, परन्तु वह विकार अपना स्वरूप नहीं है। त्रिकाली शुद्धस्वरूप, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, ऐसा समझकर, उसे उपादेय मानकर यथार्थ दृष्टि करे तो धर्म होता है।

●●

साक्षात् मोक्षतत्त्व! त्रिलोक के मुकुटमणि!!

जो श्रमण त्रिलोक के मुकुटमणि समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने के लिए निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हों, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का / अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं-चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं। अभी है तो साधकदशा, तथापि स्वरूप में ही अभिमुखरूप से वर्तते श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

अहाहा! पञ्चमकाल के सन्त मुनि, पञ्चमकाल के श्रोता से यह कहते हैं। स्वरूप में वर्तते सन्त को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहा है, क्योंकि उन्हें अल्पकाल में मोक्ष होना है, इसलिए उस अल्पकाल को गौण करके साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ४८४

गाथा - ५८

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।

खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं॥५८॥

कर्मणा विनोदयो जीवस्य न विद्यत उपशमो वा।

क्षायिकः क्षायोपशमिकस्तस्माद्भावस्तु कर्मकृतः॥५८॥

द्रव्यकर्मणां निमित्तमात्रत्वेनौदयिकादिभावकर्तृत्वमत्रोक्तम् ।

न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षयोपशमावपि विद्येते; ततः क्षायिकक्षायोप-
शमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावः कर्मकृतोऽनुमन्तव्यः । पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः
स्वाभाविक एव । क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्तिरूपत्वादनन्तोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमान-
त्वात्सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः । औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वादनुपशमे
समुच्छिद्यमानत्वात् कर्मकृत एवेति ।

अथवा उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः, न पुनः
परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य; तत उदयादिसञ्जातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूत
तथाविधावस्थत्वेन स्वयं परिणमनाद्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत
इति ॥५८॥

पुद्गलकरम विन जीव के उदयादि भाव होते नहीं ।

इससे करम कृत कहा उनको वे जीव के निजभाव हैं॥५८॥

अन्वयार्थ :- [कर्मणा विना] कर्म बिना [जीवस्य] जीव को [उदयः] उदय,
[उपशमः] उपशम, [क्षायिकः] क्षायिक [वा] अथवा [क्षायोपशमिकः] क्षायोपशमिक
[न विद्यते] नहीं होता, [तस्मात् तु] इसलिए [भावः] भाव (-चतुर्विध जीवभाव)
[कर्मकृतः] कर्मकृत हैं।

टीका:-यहाँ, (औदयिकादि भावों के) निमित्तमात्र रूप से द्रव्यकर्माँ को
औदयिकादि भावों का कर्तापना कहा है।

(एक प्रकार से व्याख्या करने पर-) कर्म के बिना जीव को उदय-उपशम तथा
क्षय-क्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदयिकादि चार भाव
नहीं होते); इसलिए क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक या औपशमिकभाव कर्मकृत

सम्मत करना। पारिणामिकभाव तो अनादि-अनन्त, *निरुपाधि, स्वाभाविक ही हैं। (औदयिक और क्षायोपशमिकभाव कर्म के बिना नहीं होते, इसलिए कर्मकृत कहे जा सकते हैं-यह बात तो स्पष्ट समझ में आ सकती है; क्षायिक और औपशमिकभावों के सम्बन्ध में निम्नोक्तानुसार स्पष्टता की जाती है) क्षायिकभाव, यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (-प्रगटतारूप) होने से अनन्त (-अन्त रहित) है तथापि, कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है, इसलिए कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिकभाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्मकृत ही है। (इस प्रकार औदयिकादि चार भावों को कर्मकृत सम्मत करना।)

अथवा (दूसरे प्रकार से व्याख्या करने पर)-उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ हैं, परिणामस्वरूप एक अवस्थावाले जीव की नहीं है (अर्थात् उदय आदि अवस्थाएँ द्रव्यकर्म ही है, 'परिणाम' जिसका स्वरूप है, ऐसी एक अवस्थारूप से अवस्थित जीव की-पारिणामिकभावरूप स्थित जीव की-वे चार अवस्थाएँ नहीं हैं); इसलिए उदयादिक द्वारा उत्पन्न होनेवाले आत्मा के भावों को निमित्तमात्रभूत ऐसी उस प्रकार की अवस्थाओंरूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणमित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होता है।॥५८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १०, शुक्रवार

द्रव्यकर्मों का निमित्त पाकर औदयिकादि भावों का कर्ता आत्मा है, यह कथन किया जाता है।

‘द्रव्यकर्म के बिना आत्मा के रागादि विभावों का उदय अथवा द्रव्यकर्म के बिना उपशमभाव भी नहीं है अथवा क्षायिकभाव भी द्रव्यकर्म के बिना नहीं होय अथवा द्रव्यकर्म के बिना क्षायोपशमिकभाव भी नहीं होते। तिस कारण से ये चार प्रकार के

* निरुपाधि=उपाधि रहित; औपाधिक न हो ऐसा। (जीव का पारिणामिकभाव सर्व कर्मोपाधि से निरपेक्ष होने के कारण निरुपाधि है।)

जीव के भाव हैं, सो कर्म ने ही किये हैं।’

गाथा ५७ में जीव को पाँच भावों का कर्ता कहा, विकारी परिणाम, धर्म और धर्मफल की बात कही। आत्मा वस्तु है, उसे चूककर जीव विकार करता है, उसका कर्ता आत्मा है और आत्मा का भान करके उपशम और क्षयोपशमभाव करता है, तो उसका कर्ता आत्मा है और उसके फलरूप से क्षायिकभाव का कर्ता आत्मा है। परमपारिणामिकभाव जो त्रिकाल है, जो एकरूप रहता है, वह शरण लेनेयोग्य है, ऐसा बतलाया। निश्चय से स्वयं अपने परिणाम का कर्ता है, दूसरा कर्ता नहीं—ऐसा ५७वीं गाथा में बताकर, इस ५८वीं गाथा में निमित्त की बात सिद्ध करते हैं।

द्रव्यकर्म के निमित्त बिना आत्मा में रागादि उदयभाव होते नहीं। वस्तुस्वभाव में विकार नहीं, वैसा भान न करे तो विकार होता है। कोई कहे कि अशुभ करने की इच्छा नहीं है और अशुभ हो जाता है तो वह बात खोटी है। जो भाव होता है, वह जीव का कर्तव्य है। उसमें कर्म निमित्त हैं। कर्म है, इसलिए विकार होता है, ऐसा अर्थ नहीं परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

आत्मा में उपशमसमकित और उपशमचारित्र होता है, वह भी द्रव्यकर्म के उपशम बिना नहीं होता, इसका अर्थ यह है कि वहाँ निमित्त साबित करना है। आत्मा में उपशमभाव की योग्यता हुई, इसलिए कर्म उपशम हुए, ऐसा नहीं तथा कर्म उपशम हुए, इसलिए जीव में उपशमभाव हुआ, ऐसा भी नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसे भानपूर्वक शुद्धता का भाव स्वयं करता है, तब कर्म उपशम होने की योग्यतावाले हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

आत्मा में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य की अवस्था होती है, तब कर्म की क्षयरूप अवस्था होती है। जीव अपने आत्मा के उग्र पुरुषार्थ से केवलज्ञानरूप से परिणमता है, तब कर्मों में अभावरूप होने की योग्यता होती ही है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इसी प्रकार आत्मा में क्षयोपशमभाव द्रव्यकर्म के क्षयोपशम बिना होता नहीं। यदि निमित्त नहीं तो नैमित्तिकता किसकी? और नैमित्तिकरूप से अपनी योग्यता न हो तो निमित्त किसका? दोनों स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार चारों भावों में कर्मों की अपेक्षा आती

है, इसलिए कर्मकृत कहा है। पृष्ठ २६८, गाथा ५८ के उपोद्घात में 'द्रव्यकर्मणां निमित्तमात्रत्वेन औदयिकादिभावकर्तृत्वम् अत्र उक्तम्' संस्कृत में लिखा हुआ है, उसका अर्थ यह है कि औदयिकादिभावों में कर्म निमित्त है, इसलिए कर्म को उन भावों का व्यवहारकर्ता अथवा कारण कहा जाता है।

भावार्थ : औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक—ये चार भाव कर्मजनित जानना। जीव विकारभाव करे, तब कर्म का उदय है; उपशमसम्यग्दर्शन करे, तब कर्म का उपशम है; क्षायोपशमिकज्ञानादि प्रगट करे, तब कर्म का क्षयोपशम है और केवलज्ञानादि प्रगट करे, तब कर्म का क्षय है। उमसें निमित्तरूप से कर्म की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति बताते हैं, इसलिए कर्मजनित कहा है। कर्म विकार करावे अथवा समकित करावे, यह बात तो है ही नहीं, परन्तु कर्म की उपस्थिति बताते हैं। पाँचवाँ पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त निरुपाधिक स्वभावभाव है, उसे कर्म की अपेक्षा नहीं है, इसलिए वह आत्मा का स्वाभाविकभाव जानना। इस प्रकार पाँच भाव का स्वरूप बतलाकर ऐसा कहते हैं कि विकारी परिणाम या अविकारी परिणाम तुझसे होते हैं, इसलिए निमित्त की रुचि छोड़कर, विकार को अशुद्ध जानकर, तेरे स्वाभाविकभाव—परमपारिणामिकभाव का श्रद्धा-ज्ञान कर तो धर्म हो ऐसा है।

औदयिकादि चारों भावों का कर्ता आत्मा है। अपने स्वभाव को चूककर राग-द्वेषरूपी भावकर्म का होना, उसका आत्मा कर्ता है। स्वभाव के अवलम्बन से उपशमसमकित और चारित्र हो, वह भी आत्मा का भावकर्म है। अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकास होना, वह भी आत्मा का भावकर्म है, और केवलज्ञानादि दशारूप भावकर्म भी आत्मा का भावकर्म है, वह जीव का कर्तव्य है। जड़ का कर्तव्य नहीं, तो भी द्रव्यकर्म उन भावों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। आत्मा अनादि-अनन्त है। उसकी पर्याय में ऐसे भाव होते हैं, तब कर्म में कर्म के कारण से उदयादि का होना होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध प्रसिद्ध करने के लिये कर्म को उन भावों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। केवलज्ञान हुआ, इसलिए केवलज्ञानावरणीय को हटना पड़ा, ऐसा नहीं है और केवलज्ञानावरणीय हटा, इसलिए केवलज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है, एक-दूसरे के पराधीन नहीं हैं। (इस प्रकार यहाँ दोनों की) स्वतन्त्र प्रसिद्धि करते हैं।

परन्तु जहाँ व्यवहारकर्ता की बात करे, वहाँ अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण से घोड़ा हो बैठता है। कर्म राग का व्यवहार से कर्ता तो है न ? भाई ! तुझे गुलामी सुहाती लगती है। तू स्वतन्त्र है। तुझे भटकना हो तो कर्म में तेरे साथ रहने की योग्यता है और तुझे मोक्ष जाना हो तो कर्म में अभाव होने की योग्यता है। जीव के परिणाम का कर्ता उपादानकारण स्वयं, वह निश्चय और निमित्तकारण कर्म, वह व्यवहार—ऐसा प्रमाणज्ञान कराते हैं।

जो जीव यथार्थ ज्ञान करता है, उसे स्वभावदृष्टि होती है। स्वभावदृष्टि में कर्म की मुख्यता तो नहीं, परन्तु राग की भी मुख्यता नहीं है। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसी भावना में वीतरागता की मुख्यता है, उस समय राग और निर्बलता का ज्ञान होता नहीं, ऐसा नहीं है, परन्तु यथार्थ ज्ञान होता है।

अनन्त काल पहले सिद्ध हो, उसकी अपेक्षा अभी सिद्ध हो, उसे भूतकाल के संसार का काल अधिक है और सुख का काल कम है—यह बात बराबर है ? ऐसा रात्रिचर्चा के समय प्रश्न हुआ, उसका समाधान (पूज्य गुरुदेवश्री ने किया, उसके अनुसंधान में आज व्याख्यान में भी बात आयी थी कि) मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा जिसे अवलम्बन वर्तता है, वह अपने में रहकर पर आत्मा का जैसा है, वैसा यथार्थ ज्ञान कर लेता है, तथापि पर को जानने की उसमें प्रधानता नहीं है। धर्मी जीव को ऐसी आकुलता नहीं कि जो सिद्ध मुझसे पहले हुए, उनकी अपेक्षा मुझे सुख देरी से प्रगट होगा, ऐसी विषमता तो नहीं ही, परन्तु उस प्रकार का ज्ञान वर्तता है, उसे भी वह प्रधानता नहीं देता। पूर्व के सिद्ध को सुख का काल अधिक और मुझे सुख का काल थोड़ा, ऐसी विषमता धर्मी को नहीं होती, परन्तु स्वात्मज्ञान की प्रधानता वर्तती है और उस समय पर सहज ज्ञात हो जाता है।

प्रमाणज्ञान यथार्थ कब कहलाये ? मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसी दृष्टि होने पर जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिलता है, वह ज्ञान विषमता तथा भेद का लक्ष्य नहीं करता—भेद का ज्ञान करने को तत्पर नहीं होता। मैं चैतन्यस्वभावी हूँ। मेरे स्वभाव में भव नहीं, ऐसी अन्तररुचि के झुकाव में इतने भव हुए, इतने होंगे, यह तो प्रश्न है ही नहीं, परन्तु भूतकाल में इतनी संसार की पर्याय गयी, उस सम्बन्ध के ज्ञान की भी मुख्यता नहीं है।

स्व का ज्ञान होने पर अपने सामर्थ्य से जैसा है, वैसा जान लेता है।

जीव अपने में विकार करे, तब कर्म का उदय निमित्त है; उपशमसमकित प्रगट करे तो कर्म का उपशम निमित्त है; क्षयोपशमभाव प्रगट करे तो कर्म का क्षयोपशम निमित्त है; क्षायिकभाव प्रगटावे, तब कर्म का क्षय निमित्त है, यह ज्ञान सच्चा किया कब कहलाये?—कि पर्याय के लक्ष्य से और निमित्त के लक्ष्य से यथार्थ ज्ञान नहीं होता, ध्रुवस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला ज्ञान, राग को और निर्मल ज्ञान को तथा उसके यथायोग्य निमित्त को जान लेता है।

और इससे पहले सिद्ध हुए और यह बाद में सिद्ध हुए, यह सब व्यवहार का विषय है।

**बढ़े न सिद्ध अनन्तता, घटे न राश निगोद;
जैसे के तैसे रहें, यह जिनवचन विनोद।**

सिद्ध जीव बढ़ते नहीं और निगोद के जीव घटते नहीं, अनन्त रहते हैं। अनन्त उनका निश्चय है। इतने जीव निगोद में से निकलकर मोक्ष में गये, वह तो व्यवहार का अंक है। बढ़ना-घटना, वह व्यवहार है। अनन्त रहते हैं, वह निश्चय है। व्यवहार के ज्ञान से निश्चय का ज्ञान नहीं होता, परन्तु निश्चय के ज्ञान में व्यवहार का ज्ञान आ जाता है। निचली भूमिकावाले जीव ने निर्णय किया कि मैं ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, ऐसी अभेद दृष्टिवन्त को 'मुझे वर्तमान अपूर्णता है और परिपूर्णता होगी, सिद्ध होऊँगा और संसार टलेगा' ऐसी भेददृष्टि है ही नहीं। निगोद में से इतने जीव घटे और सिद्ध में बढ़े, ऐसा व्यवहार अभेद में लागू नहीं पड़ता। अभेद के आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह व्यवहार को जान लेता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, वह स्वभाव निमित्त, राग और द्वेष के कारण से नहीं है, तथा जगत में इतने जीव हैं, इसलिए स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, ऐसा भी नहीं है। स्वयं ही ज्ञायकवस्तु परिपूर्ण है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है। अभी सिद्ध होऊँ या बाद में होऊँ, ऐसा वस्तुस्वभाव में नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा परिणमन है और तब सामने कर्म का उपशम है, (उपशमभाव होवे तो) और वह परिणमनेवाला निमित्त के कारण से नहीं, तथा उस पर्याय जितना

नहीं। मैं स्वभाव के साथ एकाकार हूँ, ऐसे भान में भेद, पर्याय, राग, कर्म, निमित्त सब गौण हो जाते हैं और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ऐसे जीव को पर के कारण से ज्ञान नहीं होता और तो भी पर का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि 'धर्म के लिये राग की पर्याय का और पर का आश्रय नहीं, परन्तु अकेले अभेद स्वभाव के लक्ष्य से धर्म होता है'—ऐसा एक ओर से आप कहते हो। दूसरी ओर से कहते हो कि वस्त्र हो तो मुनिपना नहीं, तो इसका मिलान किस प्रकार? वस्त्र तो परवस्तु है। तो फिर मुनि को वस्त्र हो तो क्या दिक्कत है?

समाधान - स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला ज्ञान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का भी यथार्थ ज्ञान करता है। जीव स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगट करे, तब कर्म का उदय हो, ऐसा होता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के आश्रय से मुनिपना प्रगट करे और तीन कषाय (चौकड़ी) टले, तब वस्त्र की ओर का राग रहे, ऐसा नहीं होता, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसे जो नहीं जानता, वह देव-गुरु-शास्त्र को भी यथार्थ नहीं समझता।

जीव को एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध से एक समय में आठों कर्म उदयरूप है, तथापि जीव राग-द्वेष करे तो मोह के उदय को निमित्त कहा जाता है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म को राग में निमित्त नहीं कहा जाता। ज्ञान की हीनता करे, तब ज्ञानावरणीय निमित्त कहलाता है, परन्तु दूसरे कर्म को निमित्त नहीं कहा जाता। जो अनुकूल निमित्त हो, उसके ऊपर आरोप आता है।

कोई प्रश्न करे कि 'निमित्त न हो तो?'

समाधान : तू वस्तुस्वरूप को समझता नहीं। जहाँ नैमित्तिक पर्याय की योग्यता हुई, वहाँ उसे अनुकूल निमित्त, निमित्त के कारण से होता है और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण से नहीं, परन्तु मैं ज्ञाता हूँ, परिपूर्ण हूँ—ऐसी दृष्टि और ज्ञान होने पर वह ज्ञान हो जाता है।

जो जीव राग का, पर्याय का और निमित्त का आश्रय लेता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। केवली को आहार माने, मुनि को वस्त्र माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी

भगवान को आहार नहीं होता, मुनिपना अन्तर में प्रगटे, तब बाह्य में वस्त्र नहीं होते, ऐसी उपादान की योग्यता के समय निमित्त कैसा होता है, यह बताते हैं, परन्तु निश्चय आत्मस्वरूप के ज्ञान बिना व्यवहार का ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

मुनिदशारूपी चारित्र का कर्ता आत्मा स्वयं है, तब शरीर की नग्नदशा—वस्त्र के अभावरूपी दशा चारित्र का व्यवहार से कर्ता कहलाती है। किसी के कारण से कोई नहीं है। नग्नदशा हुई, इसलिए चारित्र हुआ, ऐसा नहीं। परन्तु मुनि हुए, तब देह की नग्नदशा हुए बिना रहती नहीं। आत्मा का भान होने पर स्व-पर का विवेक करता हुआ जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह स्व को, राग को, पर्याय को, कर्म इत्यादि सबको शृंखलाबद्ध जैसा है, वैसा जान लेता है। एक सांकल १०० मकोड़ा की हो, उसमें से एक मकोड़ा टूट जाने पर सांकल की अखण्डता टूट जाती है; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव अखण्ड है। उसके गुण, विकार, अधूरी पर्याय, निमित्त—सद्भाव या अभाव इत्यादि प्रकार से जिस भूमिका में जैसा है, वैसा न जाने और एक बोल का भी अन्तर करे तो सांकल की भाँति द्रव्य की अखण्डता टूट जाती है अर्थात् कि प्रमाणज्ञान नहीं होता।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पृथक्ता बतलाता है। पृथक्ता कैसी होती है, उसका ज्ञान कराता है। जैसे कि सिद्ध की पर्याय का कर्ता उसका आत्मा है और कालद्रव्य निमित्तकर्ता है—हेतु है। परन्तु काल के कारण से सिद्ध का परिणमन माने तो द्रव्य पराधीन होता है।

अभी आत्मा के नाम से बहुत बातें करते हैं। साधारण मनुष्य को सब समान लगता है। जैसे तालाब का पानी सपाटी के ऊपर से समान लगता है, परन्तु किनारे दो अंगुल गहरा हो और मध्य में दो बाँस गहरा हो, उसी प्रकार बहुत से आत्मा की बातें करने लगे, वह अज्ञानी को समान लगती है परन्तु उसमें बड़ा अन्तर है। गहरा उतरे तो ख्याल आवे, ऐसा है। स्वयं कहाँ दुमेल करता है, उसकी उपदेशक को भी खबर नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभावों का आत्मा स्वयं कर्ता है, तब व्यवहार दूसरी चीज़ है। व्यवहार अथवा निमित्त को उड़ावे तो उपादान भी उड़ जाता है और निमित्त के कारण से उपादान में कार्य माने तो दो वस्तुएँ एक हो जाती हैं। चारित्रदशा के समय नग्नदशा निमित्त होती है, तथापि नग्नदशा के कारण से चारित्र

नहीं है। तथा चारित्र के समय नग्नदशा हुए बिना रहती नहीं। केवलज्ञान पावे, तब केवलज्ञानावरणीय कर्म को हटना पड़े, ऐसा नहीं, तो भी अपने कारण से वह हटे बिना रहता भी नहीं।

जीव को राग होता है, उसमें राग के अस्तित्व का जोर है ? राग के ज्ञान का जोर है ? या त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का जोर है ? दृष्टि एक समय की ज्ञानपर्याय को भी स्वीकारत नहीं करती तो फिर राग को तो कहाँ से स्वीकारे ? निमित्त के कारण से राग होता है, राग के कारण से ज्ञान होता है, अंश-पर्याय से लाभ होता है, यह सब विपरीत मान्यतायें हैं। मैं त्रिकाल ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा भान होने पर एक समय की पर्याय में जो राग वर्तता है, जो निमित्त होते हैं, उन सबका ज्ञान यथार्थ हो जाता है।

यहाँ गाथा में कहते हैं कि कर्म को राग-द्वेषादि परिणाम का कर्ता व्यवहार से कहते हैं। कर्म में भी कर्म के कारण से उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय अवस्था होती है। द्रव्यकर्म अपनी शक्ति से उसरूप परिणमता है। आत्मा उसका निमित्त पाकर अपने में परिणाम करता है। 'निमित्त पाकर' निमित्त कराता नहीं परन्तु निमित्त के ऊपर लक्ष्य करके राग-द्वेष करता है। निमित्त तथा नैमित्तिक को समयभेद नहीं है। जीव की उसरूप होने की योग्यता है और सामने कर्म का वैसा ही निमित्त है। यहाँ उपादान-निमित्त की व्याख्या की है। (इस प्रकार) व्यवहारनय से चार भावों का कर्ता द्रव्यकर्म को जानना।

कोई पूछता है—व्यवहारनय अभूतार्थ है न ?

समाधान : त्रिकाल दृष्टि से व्यवहार अभूतार्थ है, यह बराबर है परन्तु व्यवहारनय का विषय ही नहीं—ऐसा नहीं है। एक समय की पर्याय है, राग है, निमित्त है, उसे व्यवहारनय जानता है। आत्मा निश्चय से राग-द्वेष का कर्ता है, व्यवहार से कर्म राग-द्वेष का कर्ता है, परन्तु कर्म है; इसलिए राग-द्वेष होते हैं—ऐसा माने तो व्यवहार स्वयं निश्चय हो जाता है तो वह खोटा है। अपनी पर्याय का निश्चयकर्ता स्वयं है। उस समय निमित्त में कर्म की पर्याय उसके अनुकूल होती है। समयभेद नहीं है। ऐसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। इसलिए निमित्तबुद्धि छोड़ना, रागबुद्धि छोड़ना और अभेददृष्टि से ज्ञान करके भेदज्ञान करना, यह इसका फल है। ●●

गाथा - ५९

भावो यदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।

ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं॥५९॥

भावो यदि कर्मकृत आत्मा कर्मणो भवति कथं कर्ता।

न करोत्यात्मा किञ्चिदपि मुक्त्वान्यत् स्वकं भावम्॥५९॥

जीवभावस्य कर्मकर्तृत्वे पूर्वपक्षोऽयम् ।

यदि खल्वौदयिकादिरूपो जीवस्य भावः कर्मणा क्रियते, तदा जीवस्तस्य कर्ता न भवति। न च जीवस्याकर्तृत्वमिष्यते । ततः पारिशेष्येण द्रव्यकर्मणः कर्तापद्यते । तत्तु कथम्? यता निश्चयनयेनात्मा स्वं भावमुज्झित्वा नान्यत्किमपि करोतीति ॥५९॥

यदि कर्मकृत हैं जीव भाव तो कर्म ठहरे जीव कृत ।

पर जीव तो कर्त्ता नहीं निज छोड़ किसी पर भाव का ॥५९॥

अन्वयार्थ :- [यदि भावः कर्मकृतः] यदि भाव (-जीवभाव) कर्मकृत हों तो [आत्मा कर्मणाः कर्ता भवति] आत्मा कर्म का (-द्रव्यकर्म का) कर्ता होना चाहिए। [कथं] वह तो कैसे हो सकता है? (आत्मा) क्योंकि आत्मा तो [स्वकं भावं मुक्त्वा] अपने भाव को छोड़कर [अन्यत् किञ्चित् अपि] अन्य कुछ भी [न करोति] नहीं करता।

टीका:-कर्म को जीवभाव का कर्तृत्व होने के सम्बन्ध में यह *पूर्वपक्ष है।

यदि औदयिकादिरूप जीव का भाव कर्म द्वारा किया जाता हो, तो जीव उसका (-औदयिकादिरूप जीवभाव का) कर्ता नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। और जीव का अकर्तृत्व तो इष्ट (-मान्य) नहीं है। इसलिए, शेष यह रहा कि जीव द्रव्यकर्म का कर्ता होना चाहिए। लेकिन वह तो कैसे हो सकता है? क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

(इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया)॥५९॥

* पूर्वपक्ष=चर्चा या निर्णय के लिये किसी शास्त्रीय विषय के सम्बन्ध में उपस्थित किया हुआ पक्ष का प्रश्न।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण ११, रविवार

गाथा ५८ में चारों भावों को कर्मकृत कहा था। वहाँ कर्म का निमित्त बतलाने के लिये ऐसा कहा था, परन्तु सर्वथा प्रकार से कर्म को जीव के भावों का कर्ता कहो तो दूषण आता है, ऐसा कथन किया जाता है।

‘जो सर्वथा प्रकार भावकर्म द्रव्यकर्म के द्वारा किया हो तो जीव, भावकर्म का कैसे करनेहारा होता है।’

आत्मा में राग-द्वेष के विकारभाव हों अथवा आत्मा का ज्ञान करके उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव हो, वह आत्मा का कर्तव्य है। वह आत्मा का भावकर्म है, वह आत्मा की पर्याय में होता है। उसमें कर्म निमित्त है। विकार के समय कर्म के उदयरूप निमित्त; उपशम के समय कर्म का उपशम निमित्त इत्यादि प्रकार से निमित्त होते हैं, इसलिए कर्म को राग-द्वेष की पर्याय का तथा सम्यग्दर्शनरूपी धर्मपर्याय का अर्थात् भावकर्म का कर्ता कहा जाता है। परन्तु कोई ऐसा कहे कि वह द्रव्यकर्म भावकर्म का कर्ता सर्वथा प्रकार से है, तो रागरूपी विकारी भावकर्म अथवा धर्मरूपी निर्विकारी भावकर्म का कर्ता आत्मा रहा नहीं।

भावार्थ : अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म के उदय प्रमाण राग-द्वेष करना पड़ता है अथवा कर्म कम हों तो धर्म होता है। यदि सर्वथा द्रव्यकर्म को औदयिकादि भावों का कर्ता कहा जाये तो विकार करनेवाला आत्मा रहा नहीं। द्रव्यकर्म विकार का कर्ता हो तो आत्मा की पर्याय में संसार साबित नहीं होता और कर्म आत्मा में समकित और चारित्र (उपशम और क्षयोपशमभाव) प्रगटावे तो साधकभाव रहता नहीं और कर्म क्षायिकभाव को प्रगटावे तो मोक्ष रहता नहीं। इसलिए यह बात खोटी है।

अथवा कहे कि आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होता, तो उसे कहा जाता है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म जड़ की पर्याय है। जड़ की दशा आत्मा कैसे करे? जड़ तो आत्मा से भिन्न है, इसलिए आत्मा कर्म को करता नहीं।

‘क्योंकि जीवद्रव्य है, सो अपने भावकर्म को छोड़कर अन्य कुछ भी परद्रव्यसम्बन्धी भाव को नहीं करता है।’

क्योंकि जीव अपने में राग-द्वेषरूपी भावकर्म, उपशम सम्यग्दर्शनरूपी भावकर्म, क्षयोपशमज्ञानादिरूप भावकर्म अथवा क्षायिक केवलज्ञानादिरूप भावकर्म को करे, परन्तु परद्रव्य की अवस्था को नहीं करता। आत्मा शरीर को करे और कर्म को बाँधे, ऐसा नहीं होता। अपने में शुभ-अशुभभाव करे या आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे और केवलज्ञान को और योग का कम्पन करे, परन्तु आत्मा देह, मन, वाणी की क्रिया नहीं कर सकता।

गाथा ५८ में कर्म का निमित्त बतलाने के लिये कहा था कि कर्म राग-द्वेषादि भावों का कर्ता है। वह निमित्त बतलाने के लिये कहा है, इसलिए यहाँ ५९ में स्पष्टता करते हैं कि औदयिक, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभावरूपी कर्म आत्मा का है। आत्मा पर का नहीं करता तथा परपदार्थ आत्मा का नहीं करता।

भावार्थ : यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। भगवान के शास्त्र में कार्य के दो कारण कहे हैं। आत्मा में द्रव्य और गुण तो त्रिकाल है, उसमें कार्य नहीं, परन्तु समय-समय में पर्याय उत्पन्न होती है, वह कार्य है और उस कार्य की उत्पत्ति के लिये दो कारण हैं। एक उपादानकारण और एक निमित्तकारण। द्रव्य की शक्ति का नाम उपादान है। द्रव्य की वर्तमान पर्याय, वही वास्तविक क्षणिक उपादान है। आटा में रोटी होने की शक्ति तो कायम है, परन्तु रोटी होने की शक्ति जिस समय पर्याय में होती है, उसी समय रोटीरूप अवस्था होती है, परन्तु स्त्री तथा बेलन से रोटी नहीं होती। स्त्री और बेलन निमित्तमात्र हैं। जिस प्रकार घड़ा होने में मिट्टी के पिण्ड की शक्ति उपादानकारण है और कुम्हार, चक्रादि निमित्तकारण है। कुम्हार के कारण घड़ा नहीं होता। कोई कहे कि : तो फिर कुम्हार के बदले वीतराग निमित्त क्यों नहीं? भाई! वीतरागी आत्मा घड़ा का राग करे, दुकान का राग करे, ऐसा नहीं होता। घड़ा में कुम्हार का राग निमित्त है। वीतराग के लिये ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

जो जीव केवली भगवान जो कि वीतराग हैं, उनका स्वरूप रागी ठहरावे,

तीर्थकर भगवान घर में रहते हैं ऐसा कहे, स्त्री को केवलज्ञान ठहरावे, शुभराग से केवलज्ञान पाते हैं, ऐसा कहे और केवलज्ञान होने के बाद वापस राग करे, ऐसा माननेवाला केवलज्ञानी के स्वरूप को समझता नहीं। भाई! केवलज्ञान तो अन्तर के आश्रय से रागरहितरूप से आत्मा में लीन होने से प्रगट होता है, और केवलज्ञान होने के बाद भगवान को राग नहीं होता, वे जमीन के ऊपर नहीं चलते, परन्तु ऊँचे विहार करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि घड़ा होने में मूल कारण मिट्टी है और कुम्हार, चक्रादि साथ में उपस्थित हैं, वे निमित्तकारण हैं, इसलिए वास्तव में मिट्टी घड़े का कर्ता है। क्योंकि पिण्ड पलटकर घड़ा होता है। कुम्हार पलटकर घड़ा नहीं होता। व्यवहार से कुम्हार कर्ता कहलाता है। सहकारीकारण अर्थात् साथ में रहनेवाला, परन्तु वे एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते। कोई पूछे कि व्यवहार अभूतार्थ है, अर्थात् खोटा है? घड़ा कुम्हार ने किया, यह बात खोटी है, परन्तु घड़ा होने के समय कुम्हार की उपस्थिति है, यह बात सच्ची है।

वास्तव में कुम्हार ने तो अपनी पर्याय में घड़ा बनाने के परिणाम किये हैं। इसलिए वह परिणाम का वास्तव में कर्ता है। लिखने के लिये कलम चले, उसमें लिखने के राग का कर्ता जीव कर्ता है, कलम निमित्तमात्र है। अगली गाथा में कर्म को राग का कर्ता कहा है, उसके साथ सन्धि करके स्पष्टीकरण करते हैं कि भाई! वहाँ कर्ता कहा है, वह निमित्त की अपेक्षा से कहा था।

अँगुली के कारण लकड़ी ऊँची होती है, ऐसा अज्ञानी मानता है। लकड़ी लकड़ी के कारण से ऊँची होती है, अँगुली के कारण से नहीं होती। दोनों चीजें भिन्न हैं। अज्ञानी संयोगों को देखता है, परन्तु स्वभाव को देखता नहीं। संयोगी चीज को देखनेवाला और स्वभाव को नहीं देखनेवाला अपनी पर्याय में भी कर्म के कारण विकार और पुण्य के कारण धर्म माने बिना नहीं रह सकता।

कुम्हार राग अथवा इच्छा करे, वह उदयभाव है। उसमें वह परिणमता है। उसका वह कर्ता है, पर का कर्ता नहीं। घड़े के परिणाम का कर्ता नहीं। यदि कुम्हार ने घड़े को बनाया हो तो क्या घड़े का काल नहीं था और कुम्हार ने आकर कर दिया?

भाई! उस समय में घड़े का काल था। कोई कहे—तो फिर इतने वर्ष मिट्टी पड़ी रही, वह कुम्हार के बिना घड़ारूप क्यों नहीं हुई? भाई! मिट्टी को मिट्टीरूप रहने की अवस्था का काल था। घड़े का काल आया, तब घड़ा हुआ और घड़ा हो, उस समय कुम्हार न हो, ऐसा नहीं होता और कुम्हार घड़े को बना दे, ऐसा भी नहीं होता। इसलिए वास्तव में कुम्हार अपने परिणाम का कर्ता है, और व्यवहार से घड़े का कर्ता है।

जहाँ उपादानकारण है, वहाँ निश्चयनय है और जहाँ निमित्तकारण है, वहाँ व्यवहारनय है। मिट्टी से घड़ा हुआ, आत्मा से राग हुआ, शरीर शरीर के कारण से चलता है, यह उपादानकारण है और यह निश्चयनय का कथन है। कुम्हार से घड़ा हुआ, गुरु से ज्ञान हुआ, यह निमित्तकारण बतलाते हैं और वह व्यवहारनय का कथन है।

कोई प्रश्न करे कि—आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता, ऐसा कहते हो और यह स्वाध्यायमन्दिर, जिनमन्दिर सब होता दिखता है न?

(इसका समाधान इस प्रकार है)—भाई! उन पुद्गल परमाणुओं में स्कन्धरूप की अवस्था पुद्गल परावर्तन के काल में होती है। जीव के शुभराग से वह अवस्था नहीं होती। मन्दिर हुआ, उसमें जीव का राग निमित्तमात्र है। दोनों भिन्न-भिन्न परिणामते हैं। जीव अपने में शुभराग करता है, यह निश्चय है परन्तु जीव मन्दिर को करता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वह निमित्त का कथन है। रोग के समय जीव द्वेष करता है, वे द्वेष के परिणाम जीव ने किये, इसलिए वह निश्चय है। शरीर निमित्तमात्र है। शरीर में शरीर की अवस्था होना, वह निश्चय है, उसमें आत्मा निमित्तमात्र है। आत्मा अपने में धर्म और अधर्म के परिणाम करे, यह निश्चय है; कर्म ने परिणाम कराये, ऐसा कहना व्यवहार है। कर्म के परमाणु कर्मरूप से परिणामे, यह निश्चय है और आत्मा ने कर्म बाँधे—ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

कोई ऐसा कहे कि घड़े को बनाने के कुम्हार के राग के परिणाम का कर्ता सर्वथा प्रकार से निश्चयनय से घड़ा है और कुम्हार नहीं तो अचेतन घड़ा आत्मा के परिणाम का कर्ता कैसे होगा? घड़ा होने का था, इसलिए राग करना पड़ा, यह बात खोटी है। घड़ा अचेतन है और राग चेतन के परिणाम हैं। अनाज के व्यापार में भाव घट जाने से

द्वेष हो तो क्या अनाज ने द्वेष कराया ? नहीं, अनाज तो अचेतन है, राग चेतन है। अचेतन अनाज से जीव में द्वेष नहीं होता। जीव स्वयं द्वेष के परिणाम करता है। कोई हथियार से मारने आवे, उसमें वह जीव द्वेष के परिणाम का कर्ता है, परन्तु हथियार का कर्ता नहीं, तथा जड़ के कारण से द्वेष हुआ, ऐसा भी नहीं। चेतनद्रव्य अर्थात् आत्मा अपने चेतन परिणाम—औदयिक, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक परिणामों का कर्ता है, परन्तु अचेतन परवस्तु जो जड़ है, वह आत्मा के चेतन परिणाम का कर्ता नहीं। उसी प्रकार आत्मा और कर्मों के बीच भी उपादान-निमित्त का कथन समझना। जीव अपने में विकारी परिणाम करे, वह उपादानकारण है और उसमें कर्म निमित्तकारण है। कर्म स्वयं अपने कारण से बँधते हैं, वह उपादानकारण है और आत्मा का राग उसमें निमित्तकारण है। यहाँ ५८-५९ गाथा की सन्धि करते हैं कि अपने परिणामों का कर्ता कहना, वह निश्चय से है और कर्म को कर्ता कहना, वह व्यवहार से है।

द्रव्यकर्म को भावकर्म का सर्वथा प्रकार से कर्ता माना जाये तो आत्मा भावकर्म का अकर्ता हो जाये। जड़ कर्म के कारण विकार होता है और कर्म हटे तो धर्म हो, ऐसा माना जाये तो आत्मा अकर्ता होता है और तब द्रव्यकर्म में निमित्त कौन होगा ? इसलिए कर्म के कारण से राग-द्वेष नहीं होते, परन्तु अपने कारण से होते हैं, उसमें द्रव्यकर्म निमित्तमात्र है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १३, रविवार

आत्मा में होनेवाले विकारीभाव अथवा धर्मभाव का कर्ता जड़ कर्म ही हो तो जो कर्म नये बँधते हैं, उसे निमित्त रहता नहीं और आत्मा अकर्ता ठहरता है। गाथा ५८ में औदयिकादि भावों को कर्मकृत कहा था, वह कर्म की उपस्थिति बतलाने के लिये कहा था, परन्तु इससे कर्म राग-द्वेष कराते हैं, ऐसा अर्थ नहीं है। गाथा ५९ की समय (व्याख्या) टीका में कहा है। ‘यतो निश्चयनयेनात्मा स्वभावमुज्झित्वा नान्यत्किमपि करोतीति’—निश्चयनय से आत्मा अपने स्वभाव को चूककर दूसरा कुछ करता नहीं।

चारों भावों को यहाँ स्वभाव कहा है। 'स्वस्य भवनम् इति स्वभावः'—अपने में होनेवाले परिणाम को स्वभाव कहा है। अज्ञान, मिथ्यात्व, राग-द्वेषरूपी औदयिकभाव स्वयं करता है, आत्मा का भान करके उपशमभाव या क्षयोपशमभाव दर्शन या चारित्र को करे, वह अपना कर्तव्य है और परिपूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगटावे तो वह भी अपना कार्य है। चारों भाव अपना स्वभाव है। कर्म उन भावों को करता नहीं। विकार करे तो कर्म का उदय निमित्त, धर्मदर्शा करे तो कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम निमित्त और केवलज्ञान प्रगट करे तो कर्म के अभाव का निमित्त है। इस प्रकार नैमित्तिक स्वपर्याय है, उसमें कर्म निमित्त है, ऐसा बतलाया था। परन्तु एक-दूसरे को कुछ करते नहीं। यदि कर्म उनका कर्ता हो तो आत्मा अकर्ता हो जाये और द्रव्यकर्म में निमित्त रहता नहीं। इसलिए आत्मा स्वयं भावकर्म करता है, उसके निमित्त से द्रव्यकर्म बँधते हैं और द्रव्यकर्म से संसार होता है, परन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता आत्मा नहीं। क्योंकि आत्मा अपनी पर्याय को छोड़कर जड़ में जाता नहीं।

मति-श्रुत का लब्धरूप ज्ञान पूरे आत्मा में है, परन्तु आँख बन्द करे तो दिखता नहीं और उघाड़े तो दिखता है, ऐसा अज्ञानी कहता है, उसका समाधान :— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञानरूपी भावकर्म का कर्ता आत्मा है। आत्मा आँख के कारण से देखता नहीं, स्वतः देखनेरूप परिणमता है। ज्ञानरूप या अज्ञानरूप, विकाररूप या अविकाररूप स्वयं परिणमता है। पर का कुछ करता नहीं और परपदार्थ आत्मा में कुछ करते नहीं।

अब इसका उत्तर कुन्दकुन्दाचार्य भगवान गाथा ६० में कहते हैं।

●●



गाथा - ६०

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।

ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं॥६०॥

भावः कर्मनिमित्तः कर्म पुनर्भावकारणं भवति।

न तु तेषां खलु कर्ता न विना भूतास्तु कर्तारम्॥६०॥

पूर्वसूत्रोदितपूर्वपक्षसिद्धान्तोऽयम् ।

व्यवहारेण निमित्तमात्रत्वाज्जीवभावस्य कर्म कर्तृ, कर्मणोऽपि जीवभावः कर्ता; निश्चयेन तु न जीवभावनां कर्म कर्तृ, न कर्मणो जीवभावः । न च ते कर्तारमन्तरेण सम्भूयेते; यतो निश्चयेन जीवपरिणामानां जीवः कर्ता, कर्म परिणामानां कर्म कर्तृ इति ॥६०॥

कर्मनिमित्तिक भाव होते अर कर्म भावनिमित्त से।

अन्योन्य नहि कर्ता तदपि, कर्ता बिना नहि कर्म है॥६०॥

अन्वयार्थ :- [भावः कर्मनिमित्तः] जीवभाव का कर्म निमित्त है [पुनः] और [कर्म भावकारणं भवति] कर्म का जीवभाव निमित्त है, [न तु तेषां खलु कर्ता] परन्तु वास्तव में एक दूसरे के कर्ता नहीं है; [न तु कर्तारम् विना भूताः] कर्ता के बिना होते हैं, ऐसा भी नहीं है।

टीका:-यह, पूर्व सूत्र में (५९वीं गाथा में) कहे हुए पूर्वपक्ष के समाधानरूप सिद्धान्त है।

व्यवहार से निमित्तमात्रपने के कारण जीवभाव का कर्म कर्ता है (-औदयिकादि जीवभाव का कर्ता द्रव्यकर्म है), कर्म का भी जीवभाव कर्ता है; निश्चय से तो जीवभावों का न तो कर्म कर्ता है और न कर्म का जीवभाव कर्ता है। वे (जीवभाव और द्रव्यकर्म) कर्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि निश्चय से जीवपरिणामों का जीव कर्ता है और कर्मपरिणामों का कर्म (-पुद्गल) कर्ता है॥६०॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १३, रविवार

‘औदयिकादिभाव कर्म के निमित्त पाकर होते हैं फिर ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म जो हैं, सो औदयिकादिभावकर्मों का निमित्त होता है और तिन द्रव्यकर्म भावकर्मों का निश्चय करके आपस में द्रव्य कर्ता नहीं है। न पुद्गल भावकर्म का कर्ता है और न जीव द्रव्यकर्म का कर्ता है और वे द्रव्यकर्म भावकर्म कर्ता के बिना निश्चय करके नहीं हुए हैं।’

जीव अपने में राग-द्वेषादि औदयिकभाव करता है तो कर्म के उत्पाद का निमित्त है, जीव अपने में क्षयोपशमभाव करता है तो अमुक कर्म का उत्पाद और किसी के व्यय का निमित्त है। जीव अपने में उपशमभाव करता है तो अमुक कर्म के व्यय का निमित्त है। जीव अपने में क्षायिकभाव करता है तो अमुक कर्म के क्षय का निमित्त है। अपने परिणाम अपने कारण से होते हैं, निमित्त के कारण से होते नहीं और जीव ने भाव किये, इसलिए कर्म को पलटना पड़े, ऐसा भी नहीं है परन्तु जीव भाव करे, तब निमित्त में निमित्त के कारण से पलटा हुआ बिना नहीं रहता। क्षायिकसमकित करे, तब दर्शनमोह का व्यय होता है। केवलज्ञान प्रगटावे, तब केवलज्ञानावरणीय का नाश होता है और केवलज्ञान प्रगट न करे तो केवलज्ञानावरणीय का उदय निमित्त है।

कोई प्रश्न करे कि मनुष्य हँसता है, तब दर्पण में मनुष्य हँसता हुआ दिखता है परन्तु रोता हुआ नहीं दिखता। (—ऐसा क्यों) ?

समाधान - भाई! दर्पण की पर्याय का उसरूप से होने का काल है, इसलिए होता है। हँसते हुए मनुष्य के कारण से वह पर्याय हुई नहीं। दर्पण सुलगने से मनुष्य सुलग नहीं जाता और मनुष्य सुलगने से दर्पण सुलगता नहीं, क्योंकि दोनों भिन्न चीज़ हैं। तथापि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है। उसी प्रकार आत्मा राग करे, तब कर्म का उदय न हो, ऐसा नहीं होता और वीतरागदशारूपी धर्म प्रगट करे, तब उस-उस कर्म का अभाव न हो, ऐसा नहीं होता। यहाँ ‘निमित्त पाकर’ शब्द लिखा है, उसका अर्थ ऐसा है कि नैमित्तिक पर्याय हुई, तब निमित्त है, कालभेद नहीं है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताता है।

जीव में औदयिकादि भाव कर्म का निमित्त पाकर होते हैं, और उन ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म औदयिकादि भावकर्म में निमित्त होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का उदय ज्ञान की हीन दशा को निमित्त, ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ज्ञान के क्षयोपशम को निमित्त और ज्ञान क्षायिक करे तो कर्म के अभावरूप निमित्त कहलाता है, तथापि (कोई) एक-दूसरे के कारण से नहीं है। श्रेणिक राजा नरक में गये हैं, वे नरक-आयुर्कर्म अथवा गतिनामकर्म के कारण से गये नहीं, परन्तु अपनी योग्यता के कारण से गये हैं। उसमें कर्म निमित्तमात्र है। जीव विकार करे तो कर्म का आना कर्म के कारण से होता है। धर्मदशा करे तो कर्म कर्म के कारण से हट जाते हैं। और सम्पूर्ण निर्मलदशा प्रगटावे तो सभी कर्म हट जाते हैं, तथापि पुद्गलकर्म भावकर्म का कर्ता नहीं तथा जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है।

आत्मा कर्म को खींचकर उदय में लावे, ऐसा होता नहीं। कर्म की उदीरणा, अपकर्षण इत्यादि जीव ने किया, ऐसा कथन शास्त्र में आवे, तब जीव का उस प्रकार का पुरुषार्थ बतलाने के लिये है परन्तु जीव उन कर्म की अवस्था को करता है, ऐसा नहीं होता। करण द्वारा दर्शनमोह को उपशम करके जो सम्यक्त्व उपजे, उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं—ऐसी जो व्याख्या आती है, उसमें आत्मा का पुरुषार्थ बतलाने का हेतु है। उपशमसम्यग्दर्शन होने पर कर्मों की स्थिति आगे-पीछे होती है, ऐसा जो कथन आता है, वह व्यवहारकथन है। वह कर्म उसरूप उस समय होनेयोग्य था, और जीव का उस समय वैसा ही पुरुषार्थ था, ऐसा केवली ने देखा है।

जीव शुभ का पुरुषार्थ करे तो पाप की स्थिति घट जाती है और पुण्य की स्थिति बढ़ जाती है और अशुभ करे तो पुण्य की स्थिति घट जाती है और पाप की स्थिति बढ़ जाती है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। परन्तु वह तो ऐसी ही होने की थी, परन्तु जीव का उस-उस जाति का पुरुषार्थ बतलाने के लिये ऐसा कथन किया जाता है। 'जीव राग-द्वेष करे तो कर्म बँधते हैं और कर्म का उदय आवे तो जीव को राग-द्वेष करना पड़ते हैं'—तो दोनों एक हो जाते हैं, तब तो वस्तुस्थिति का नाश हो जाता है, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

अज्ञानी जीवों को पर को दुःखी देखकर करुणा आती है और सामने प्रतिकार करूँ और उसका दुःख मिटाऊँ, ऐसा होता है, परन्तु वह अज्ञानभाव है। इस सन्दर्भ में

गाथा १३७ में कहा है कि दयाभाव अज्ञानी को भी होता है और ज्ञानी को भी होता है, परन्तु विशेषता यह है कि अज्ञानी को जो दयाभाव है, वह कोई पुरुष को दुःखित देखकर उसका दुःख दूर करने के उपाय में अहंबुद्धि से आकुल चित्तवाला होकर प्रवर्तता है। भाई! कोई जीव दूसरे की पर्याय को बदल नहीं सकता। दुःख की पर्याय तो सामने जीव ने अपने अज्ञान के कारण से खड़ी की है और वह अपना अज्ञान टाले तो दुःख टले ऐसा है, परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं समझकर पर की क्रिया करने का अभिमान करता है और आकुल-व्याकुल होता है।

निचलीदशावाले ज्ञानी को खेद होता है, परन्तु परजीव दुःखी हैं, इसलिए खेद नहीं होता। अहो! संसारी जीव जन्म-मरण में डूब रहे हैं—ऐसा विचारने से किसी समय स्वयं के कारण से खेद आता है और प्रतिकार की क्रिया तो उसके कारण से होती है। और पुत्र बीमार पड़े और गुजर जाये तो अज्ञानी बहुत खदबदाहट करता है, डॉक्टर को शीघ्र बुलाया होता तो अन्तर पड़ जाता, इत्यादि प्रकार से पर की क्रिया अपने आधीन मानकर आकुल-व्याकुल होता है। उसे धीरज नहीं रहती। ज्ञानी धीरज नहीं खोता। वैसा प्रसंग ज्ञानी को होने पर भी अन्तर शान्ति है। उपाय करने की भाषा निकले, तो भी अन्तर में धीरज खोता नहीं। इस प्रकार अज्ञानी पर की क्रिया का स्वामी होता है और ज्ञानी पर की क्रिया का स्वामी नहीं होता, किन्तु ज्ञाता रहता है।

यहाँ यही कहते हैं कि जीव पुद्गल की पर्याय का कर्ता नहीं तथा पुद्गलकर्म जीव की पर्याय का कर्ता नहीं। कर्म में अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमणादि होते हैं, वे कर्म के कारण से होते हैं, जीव के कारण से नहीं। और वह द्रव्यकर्म और भावकर्म कर्ता बिना हुआ नहीं। अर्थात् कि पुद्गल परमाणु कर्ता होकर द्रव्यकर्मरूप हुए हैं और जीव ने कर्ता होकर भावकर्म को किया है। जीव के परिणाम का कर्ता जीव और पुद्गल के परिणाम का कर्ता पुद्गल है, इस प्रकार अपने-अपने कर्तापन बिना वे हुए नहीं।

भावार्थ : निश्चयनय से जीवद्रव्य अपने चेतनभावकर्म—राग-द्वेष विकार या अविकारी भावकर्मों का कर्ता है, और पुद्गलद्रव्य निश्चय से अपनी द्रव्यकर्मरूप अवस्था का कर्ता है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से देखा जाये तो जीव द्रव्यकर्म की अवस्था का कर्ता है

और द्रव्यकर्म जीव के विभावभाव का कर्ता है। यहाँ जो व्यवहार से कर्ता कहा, वह निमित्त बतलाने के लिये है। जीव राग-द्वेष करता है, तब पुद्गलकर्म स्वयं वहाँ बँधता है, यह बतलाने के लिये 'जीव ने कर्म बाँधे', ऐसा कथन किया और जीव राग-द्वेष करता है, तब कर्म का उदय होता है, यह बतलाने के लिये 'कर्म के उदय से जीव में विभाव हुआ', ऐसा कथन किया है। कर्म में आत्मा के राग का निमित्त और आत्मा के राग में कर्म का निमित्त बतलाने के लिये ऐसा कथन करते हैं।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५५ नीचे की अन्तिम तीन लाईनों में कहा है कि 'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को और कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना। और निश्चयनय उन्हें ही यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में मिलाता नहीं, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना।' जीव राग-द्वेष करता है तो भी व्यवहारनय कहता है कि कर्म के कारण से राग-द्वेष होते हैं, क्योंकि (व्यवहारनय) स्व-परद्रव्य को किसी को किसी में मिलाकर बात करता है, वहाँ जीव ऐसा समझे कि कर्म के कारण से ही राग-द्वेष होता है, तो उसे मिथ्यात्व होता है। व्यवहारनय के कथन के पीछे आशय समझना चाहिए। निमित्त बतलाने का हेतु नहीं समझकर जड़ के भाव जीव ने किये और जीव के भाव को जड़ ने किये, ऐसा अज्ञानी माने तो वह जीव उपदेश के भी योग्य नहीं है।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा ६ का आधार मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५८ में देकर कहा है—'मुनिराज अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश करते हैं परन्तु जो केवल व्यवहार को ही जानता है, उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं।'।

इस प्रकार उपादान-निमित्तकारण के भेद से जीव का कर्तृत्व और कर्म का कर्तृत्व निश्चय और व्यवहारनय द्वारा आगमप्रमाण जानना। जीव राग करे, वह निश्चय है और जीव भाषा करे, वह व्यवहार है। भाषा की पर्याय पुद्गल से होती है, यह निश्चय है; भाषा से ज्ञान होता है, यह व्यवहार है, अपने से ज्ञान होता है, यह निश्चय है। एक-दूसरे से एक-दूसरे में कार्य होता है, ऐसा मानना, वह अज्ञान और संसार है। शिष्य ने जो प्रश्न किया था, उसका इस प्रकार समाधान किया।

गाथा - ६१

कुर्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।

ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेदव्वं॥६१॥

कुर्वन् स्वकं स्वभावं आत्मा कर्ता स्वकस्य भावस्य।

न हि पुद्गलकर्मणामिति जिनवचनं ज्ञातव्यम्॥६१॥

निश्चयेन जीवस्य स्वभावानां कर्तृत्वं पुद्गलकर्मणामकर्तृत्वं चागमेनोपदर्शितमत्र इति ॥६१॥

निजभाव परिणत आत्मा कर्ता स्वयं के भाव का।

कर्ता न पुद्गल कर्म का यह कथन है जिनदेव का ॥६१॥

अन्वयार्थ :- [स्वकं स्वभावं] अपने *स्वभाव को [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तव में [स्वकस्य भावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्ता है, [न पुद्गलकर्मणाम्] पुद्गलकर्मों का नहीं; [इति] ऐसा [जिनवचनं] जिनवचन [ज्ञातव्यम्] जानना।

टीका:-निश्चय से जीव को अपने भावों का कर्तृत्व है और पुद्गलकर्मों का अकर्तृत्व है, ऐसा यहाँ आगम द्वारा दर्शाया गया है॥६१॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १४, सोमवार

गाथा ६० में कहा था कि जीव जड़ की पर्याय को करता नहीं तथा जड़ जीव की पर्याय को करता नहीं और वे कार्य अपने-अपने कर्ता बिना होते नहीं। अब इसी कथन को दृढ़ करने के लिये आगमप्रमाण बताते हैं। और निश्चय से जीव अपने भावकर्म का कर्ता है, परन्तु पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं।

* यद्यपि शुद्धनिश्चय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव 'स्वभाव' कहलाते हैं, तथापि अशुद्धनिश्चय से रागादिक भी 'स्वभाव' कहलाते हैं।

‘आत्मिक परिणाम को करता हुआ जीवद्रव्य अपने परिणामों का करनहारा होता है। पुद्गलमयी द्रव्यकर्मों का कर्ता निश्चयकरके नहीं है, इस प्रकार जिनेन्द्रभगवान की वाणी जाननी।’

यहाँ मूल गाथा में तथा जयसेन आचार्य की टीका में राग-द्वेषादि परिणामों को स्वभाव कहा है, क्योंकि आत्मा स्वयं उस भाव को कर्ता है। स्वतन्त्ररूप से उस भाव को करता है, इसलिए आत्मा कर्ता है। कर्म के कारण से जीव विकार करता है, यह निमित्त का कथन है। और जीव जितने प्रमाण में राग-द्वेष करे, उतने प्रमाण में जड़कर्म बँधते हैं, तथापि जड़कर्म की अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है। जड़ की अवस्था जड़ के कारण से होती है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की वाणी जानना।

‘कर्म बिना किसी को विकार होता है ? इसलिए कर्म के कारण से विकार होता है’—ऐसा अज्ञानी मान रहा है। भाई! आत्मवस्तु त्रिकाल स्वतन्त्र है और उसकी समय-समय की विकारी या अविकारी पर्याय भी स्वतन्त्र है। यदि एक पर्याय को पराधीन माना जाये तो द्रव्य भी पराधीन हो जाता है, वैसी दृष्टिवाले को कभी धर्म नहीं होता।

भावार्थ : जीव को अनादि से संसार के कार्य में भी दूसरे के ऊपर दोष डालने की आदत पड़ गयी है। स्वयं दोष करे और दूसरे के ऊपर डाले, उसी प्रकार यहाँ भी दोष अपना है तो भी कर्म के ऊपर दोष डालता है। कर्म एकक्षेत्र में है, इसलिए विकार कराते हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है, यही भ्रमणा है। जीव निश्चय से अपने भाव का कर्ता है और परद्रव्य का कर्ता नहीं। पर की अवस्था होना, वह तेरे आधीन नहीं और तेरा भाव होना, वह पर के आधीन नहीं।

निश्चयनय से उपादानकारण की अपेक्षा से कर्म अपने स्वरूप का कर्ता है, ऐसा कथन करते हैं।



गाथा - ६२

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।

जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण॥६२॥

कर्मापि स्वकं करोति स्वेन स्वभावेन सम्यगात्मानम्।

जीवोऽपि च तादृशकः कर्मस्वभावेन भावेन॥६२॥

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम् ।

कर्म खलु कर्मत्वप्रवर्तमानपुद्गलस्कन्धरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणं, कर्मत्वगमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वत्, प्राप्यकर्मत्वपरिणामरूपेण कर्मतां कलयत्, पूर्वभावव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालम्बनादुपात्तापादानत्वम्, उपजायमानपरिणामरूपकर्मणाश्रीयमाणत्वादुपोढसम्प्रदानत्वम्, आधीयमानपरिणामाधारत्वादगृहीताधिकरणत्वं, स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकान्तरमपेक्षते । एवं जीवोऽपि भावपर्यायेण प्रवर्तमानात्मद्रव्यरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणो, भावपर्यायगमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वन्, प्राप्यभावपर्यायरूपेण कर्मतां कलयन्, पूर्वभावपर्यायव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालम्बनादुपात्तापादानत्वः, उपजायमान भावपर्यायरूपकर्मणा-श्रीयमाणत्वादुपोढसम्प्रदानत्वः, आधीयमानभावपर्यायाधारत्वादगृहीताधि करणत्वः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते । अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तुं निश्चयेनेति ॥६२॥

कर्मण अणु निज कारकों से करम पर्यय परिणमें ।

जीव भी निज कारकों से विभाव पर्यय परिणमें ॥६२॥

अन्वयार्थ :- [कर्म अपि] कर्म भी [स्वेन स्वभावेन] अपने स्वभाव से [स्वकं करोति] अपने को करते हैं [च] और [तादृशकः जीवः अपि] वैसा जीव भी [कर्मस्वभावेन भावेन] कर्मस्वभाव भाव से (-औदयिकादि भाव से) [सम्यक् आत्मानम्] बराबर अपने को करता है।

टीका:-निश्चयनय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (-अपने-अपने रूप के) कर्ता है, ऐसा यहाँ कहा है।

कर्म वास्तव में (१) कर्मरूप से प्रवर्तमान पुद्गलस्कन्धरूप से कर्तृत्व को धारण

करता हुआ, (२) कर्मपना प्राप्त करने की शक्तिरूप करणपने को अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसे कर्मत्वपरिणामरूप से कर्मपने का अनुभव करता हुआ, (४) पूर्व भाव का नाश हो जाने पर भी ध्रुवत्व को अवलम्बन करने से जिसने अपादानपने को प्राप्त किया है ऐसा, (५) उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से (अर्थात् उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कार्य अपने को दिया जाने से) सम्प्रदानपने को प्राप्त और (६) धारण किये हुए परिणाम का आधार होने से जिसने अधिकरणपने को ग्रहण किया है ऐसा – स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।

इसी प्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूप से प्रवर्तमान आत्मद्रव्यरूप से कर्तृत्व को धारण करता हुआ, (२) भावपर्याय प्राप्त करने की शक्तिरूप से करणपने को अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसी भावपर्यायरूप से कर्मपने का अनुभव करता हुआ, (४) पूर्व भावपर्याय का नाश होने पर ध्रुवत्व का अवलम्बन करने से जिसने अपादानपने को प्राप्त किया है ऐसा, (५) उत्पन्न होनेवाले भावपर्यायरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से (अर्थात् उत्पन्न होनेवाला भावपर्यायरूप कार्य अपने को दिया जाने से) सम्प्रदानपने को प्राप्त और (६) धारण की हुई भावपर्याय का आधार होने से जिसने अधिकरणपने को ग्रहण किया है ऐसा – स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।

इसलिए निश्चय से कर्मरूप कर्ता को जीव कर्ता नहीं है और जीवरूप कर्ता को कर्म कर्ता नहीं है। (जहाँ कर्म कर्ता है, वहाँ जीव कर्ता नहीं है और जहाँ जीव कर्ता है, वहाँ कर्म कर्ता नहीं है।)

भावार्थ :—(१) पुद्गल स्वतन्त्ररूप से द्रव्यकर्म को करता होने से पुद्गल स्वयं ही कर्ता है; (२) स्वयं द्रव्यकर्मरूप से परिणमित होने की शक्तिवाला होने से पुद्गल स्वयं ही करण है; (३) द्रव्यकर्म को प्राप्त करता – पहुँचता होने से द्रव्यकर्म कर्म है, अथवा द्रव्यकर्म से स्वयं अभिन्न होने से पुद्गल स्वयं ही कर्म (—कार्य) है; (४) अपने में से पूर्व परिणाम का व्यय करके द्रव्यकर्मरूप परिणाम करता होने से और पुद्गलद्रव्यरूप से ध्रुव रहता होने से पुद्गल स्वयं ही अपादान है; (५) अपने को द्रव्यकर्मरूप परिणाम देता होने से पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से द्रव्यकर्म करता होने से पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है।

इसी प्रकार (१) जीव स्वतन्त्ररूप से जीवभाव को करता होने से जीव स्वयं ही कर्ता है; (२) स्वयं जीवभावरूप से परिणमित होने की शक्तिवाला होने से जीव स्वयं ही करण है; (३) जीवभाव को प्राप्त करता-पहुँचता होने से जीवभाव कर्म है, अथवा जीवभाव से स्वयं अभिन्न होने से जीव स्वयं ही कर्म है; (४) अपने में से पूर्व भाव का व्यय करके (नवीन) जीवभाव करता होने से और जीवद्रव्यरूप से ध्रुव रहने से जीव स्वयं ही अपादान है; (५) अपने को जीवभाव देता होने से जीव स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से जीवभाव करता होने से जीव स्वयं ही अधिकरण है।

इस प्रकार, पुद्गल की कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह कारकरूप से वर्तता है, इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है, इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की और जीव की उपरोक्त क्रियाएँ एक ही काल में वर्तती है, तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गलकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती॥६२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण १४, सोमवार

‘कर्मरूप परिणये पुद्गलस्कन्ध निश्चय से अपने स्वभाव से यथार्थ जैसे का तैसा अपने स्वरूप को करता है, फिर जीव पदार्थ भी कर्मरूप भावों से जैसे द्रव्यकर्म आप अपने स्वरूप के द्वारा अपना ही कर्ता है, तैसें ही आप अपने स्वरूप द्वारा आपको करता है।’

आत्मा दया, दानादि के भाव करे या भ्रान्ति करे और उसके निमित्त से जड़कर्म बँधे, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्ता होकर कार्यरूप होता है और जीव भी अपने कार्य का कर्ता होता है।

भावार्थ : जीव तथा पुद्गल में अभेद छह कारक बतलाये जाते हैं ।

(१) **कर्ता :** कर्मयोग्य पुद्गलस्कन्ध कर्म को करते हैं, इसलिए पुद्गल द्रव्यकर्म का कर्ता है, जीव उन्हें करता नहीं । यह हाथ है, उसकी क्षेत्रान्तर होने की क्रिया का कर्ता, वे पुद्गलस्कन्ध हैं, परन्तु आत्मा उनका कर्ता नहीं ।

प्रश्न : जीव न हो तब ऐसा क्षेत्रान्तर नहीं होता न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुर्दा के समय भी स्थिर रहनेरूप और परमाणु के पृथक् पड़नेरूप अवस्था हो रही है । उसके कर्ता वे पुद्गल हैं । प्रत्येक समय पर्याय एकसरीखी नहीं रहती, बदला करती है और जीव एकक्षेत्र में होने पर भी पक्षघात के समय हाथ-पैर चल नहीं सकते । जीव से शरीर का क्षेत्रान्तर होता हो तो उस समय क्यों नहीं होता ? भाई ! शरीर अजीव है । उसकी क्रिया का कर्ता वे पुद्गल हैं । जीव के परिणाम का निमित्त पाकर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि पुद्गलकर्म बँधते हैं, उनका कर्ता जीव नहीं, परन्तु पुद्गल हैं । यह मकान बँधता है । इसकी नयी-नयी अवस्था का कर्ता वे परमाणु हैं । कारीगर इत्यादि इसके कर्ता नहीं । पुद्गल का कार्य जीव से नहीं होता और स्व से हुए बिना नहीं रहता । पुद्गल अस्ति हैं, वे स्वयं से परिणमते हुए उस-उस अवस्था के कर्ता होते हैं । इस प्रकार अनन्त पुद्गलों से स्वयं भिन्न है । उनका कार्य, वह मेरा कार्य नहीं—ऐसा निर्णय करे तो स्वयं को भेदज्ञान हो ।

(२) **कर्म :** ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीयादि कर्मरूप से पुद्गल स्वयं परिणमते हैं । वह उसका कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं । परमाणु ने कर्म बाँधे हैं, आत्मा ने बाँधे नहीं । इस आत्मा ने ज्ञानावरणीय कर्म बाँधा, ऐसा जो कथन आता है, वह कर्म बँधते समय कौन सा जीव निमित्त था, यह बतलाने के लिये कहा जाता है । ज्ञानावरणीय नाम है, इसलिए वह कर्म ज्ञान को आवृत्त नहीं करता, परन्तु जीव अपने ज्ञान को आवरण करनेरूपी कार्य करता है, उसका आरोप कर्म के ऊपर दिया है । बाईं रोटी बनाती है, उसमें रोटी का कार्य परमाणु ने किया है । बाईं का और बेलन का वह कार्य नहीं है ।

(३) **करण :** कर्मरूपी परिणमन में साधन पुद्गलद्रव्य है । अपनी शक्ति के

साधन से वह कर्मरूप परिणमता है। जिसके द्वारा हो, उसे करण कहते हैं। नामा लिखने के अक्षरों का साधन परमाणु स्वयं है, कलम नहीं। ज्ञानावरणीयकर्म बँधे, उसका साधन परमाणु है। घन द्वारा पत्थर टूटता है, वहाँ पत्थर की स्वशक्ति से वह टूटता है। स्त्री-पुत्र निभते हैं, वे स्वयं के द्वारा निभ रहे हैं, उनका तू साधन नहीं है। ऐसा भेदज्ञान न करे, उसे मुक्ति चाहिए नहीं। मुझसे पर में होता है और पर से मुझमें कार्य होता है, ऐसा माननेवाले को पर के साथ एकत्वबुद्धि से पृथक् नहीं पड़ना है।

(४) सम्प्रदान : जड़ की पर्याय परिणमकर जड़ में रहती है। सम्प्रदान = सम्यक् प्रकार से दान देना। परमाणु स्वयं अपने को दान देते हैं। लोग कहते हैं कि इतने पैसे दान में दिये। परन्तु परमाणु को जीव दे नहीं सकता। जीव अपने में राग का या अज्ञान का दान दे और भान करे तो शुद्धता का दान दे, परन्तु जड़ को नहीं दे सकता। शरीर के परमाणु शरीर की पर्यायरूपी दान अपने में देते हैं, कर्म अपनी पर्याय को अपने में रखे, वह सम्प्रदान है।

(५) अपादान : पुद्गल परमाणुओं ने कर्म की पर्याय पुद्गल में से निकाली है। विकार में से कर्मपर्याय आती नहीं। जड़ में से आती है, इसलिए स्वयं अपादान है।

(६) अधिकरण : पुद्गल परमाणु अपने आधार से कर्म को करते हैं, इसलिए स्वयं अपना अधिकरण है। आत्मा के आधार से कर्म नहीं है। गहने का आधार सोनी और हथौड़ी नहीं, परन्तु पुद्गल परमाणु अपने आधार से परिणमकर गहनेरूप हुए हैं।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य छह कारकोंरूप एक समय में परिणमते हैं। दूसरे द्रव्य के कारण से उसरूप होते नहीं। कलम, पुस्तक, शरीर प्रत्येक में ऐसा समझना। यह अभेद छह कारक कहे, क्योंकि वे पर में नहीं तथा पर ऐसे आत्मा से हुए नहीं, परन्तु अपने में होते हैं, इसलिए अभेद कहे हैं।

यह शरीर है, वह शरीर के आधार से रहा है, आत्मा के आधार से रहा नहीं। कोई पूछे कि तो फिर मर जाने के बाद शरीर इस प्रकार से रहता नहीं न? भाई! वे परमाणु उसरूप रहने की अवस्था की योग्यतावाले हैं, इसलिए ऐसा होता है। वह वस्तु

है या नहीं ? वस्तु हो, वह शक्तिवाली होगी या शक्ति बिना की ? प्रत्येक वस्तु अनन्त शक्ति से भरपूर है। वह स्वयं से रही हुई है।

जीव राग-द्वेष करता है, तब राग-द्वेष प्रमाण द्रव्यकर्म बँधते हैं—ऐसा जीव को तथा कर्म को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, तथापि जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं तो फिर जीव शरीर, पुस्तक, अनाज इत्यादि बाहर के पदार्थों का कर्ता हो, ऐसा कभी नहीं होता। जीव राग करे और शरीर चले अथवा न चले, पुस्तक की क्रिया हो अथवा न हो, परन्तु राग करे, तब कर्म तो अवश्य बँधते हैं, तथापि आत्मा उनका कर्ता नहीं, तो फिर शरीरादि बाह्य पदार्थ कि जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सर्वथा घटित नहीं होता, उनका आत्मा किस प्रकार से कर्ता होगा ? नहीं होता। इसलिए पुद्गल की जो-जो क्रिया होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। पुद्गलकर्म अपने कारण से परिणम रहे हैं, वे जीव के विकार की अपेक्षा नहीं रखते। शरीर निरोगी हो, वह दवा की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

इसमें धर्म क्या आया ? तुझे शान्ति चाहिए है न ? शान्ति स्वतन्त्रता से आती है या परतन्त्रता से ? जड़ को स्वतन्त्र जान, तू भी स्वतन्त्र है, ऐसा जान, तुझे पर से भिन्न जान तो शान्ति आवे, ऐसा है।

अब जीव में छह कारक घटित करते हैं। इस प्रकार जीवद्रव्य भी अपने औदयिकादि भावों में भी छह कारकरूप परिणाम करता है। उसमें दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं है।

● पुण्य के छह कारक :

(१) कर्ता : दया-दानादि शुभभाव का कर्ता आत्मा है, वह भावकर्म की अपेक्षा नहीं रखता।

(२) कर्म : शुभभावरूपी कार्य जीव का अपना है। दूसरे का वह कार्य नहीं है।

(३) करण : शुभभाव का साधन आत्मा स्वयं है। पाँच हजार रुपये दिये, वह साधन नहीं। यदि पैसा पुण्य का साधन हो तो गरीब मनुष्य शुभभाव नहीं कर सकेगा। धर्मशाला, मन्दिर, पुण्य के साधन व्यवहार से कहलाते हैं। वास्तव में जीव स्वयं शुभभाव करता है, उसका उपचार मन्दिर इत्यादि को दिया जाता है। पद्मनन्दि आचार्य

ने दानअधिकार में जो बात की है, वह निमित्त से कथन है। इतनी प्रतिमा बनावे तो ऐसा पुण्य होता है, इत्यादि प्रकार से। वहाँ जो शुभभाव जीव ने किया, उसका साधन स्वयं है, उस समय जिस पदार्थ के ऊपर लक्ष्य होता है, उसके ऊपर आरोप देकर कथन किया है।

(४) सम्प्रदान : जीव शुभभाव के परिणाम अपने में रखता है। दूसरे को देता नहीं।

(५) अपादान : जीव शुभपरिणाम अपने में से करता है।

(६) अधिकरण : जीव अपने आधार से शुभभाव करता है, दूसरे के आधार से शुभ करता नहीं।

● पाप के छह कारक :

(a) हिंसा :

(१) कर्ता : हिंसा के भाव का जीव स्वयं कर्ता है। दूसरा कर्ता नहीं।

(२) कर्म : हिंसा के परिणाम का कार्य स्वयं ने किया है; जीव मरा, इसलिए नहीं हुआ।

(३) करण : हिंसा का साधन स्वयं है। अमुक साधन से जीवों को मारा, यह कथन निमित्त से है। जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

(४) सम्प्रदान : पाप के परिणाम जीव स्वयं अपने को देता है।

(५) अपादान : पाप के परिणाम जीव अपने में से करता है।

(६) अधिकरण : जीव पाप के परिणाम अपने आधार से करता है। अपना आत्मा निश्चय से अधिकरण है, तब दूसरे को निमित्त कहा जाता है।

(b) झूठ : जीव स्वयं असत्य भाव का कर्ता है; वह जीव का कार्य है, वाणी का कार्य नहीं; स्वयं साधन है, भाषा साधन नहीं; स्वयं अपने में असत्य का भाव रखा, वह सम्प्रदान; अपने में से वह भाव हुआ, वह अपादान; अपने आधार से हुआ, वह अधिकरण।

(c) चोरी : चोरी का कर्ता स्वयं है; चोरी स्वयं का कार्य है; चोरी का साधन स्वयं है, पर नहीं; अपने में भाव रखा, वह सम्प्रदान; अपने में से हुआ, वह अपादान और अपने आधार से हुआ, वह अधिकरण।

(d) अब्रह्मचर्य : विषयभोग के परिणाम का कर्ता जीव है; वह परिणाम स्वयं का कार्य है; उसका साधन स्वयं है, शरीर साधन नहीं; स्वयं ने अपने में भाव रखा, वह सम्प्रदान है; अपने में से वह भाव हुआ, वह अपादान; अपने आधार से भाव हुआ, वह अधिकरण, दूसरे के आधार से वह भाव नहीं होता। शरीर की क्रिया को आत्मा के साथ बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है।

(e) परिग्रह : परिग्रह के भाव का कर्ता आत्मा है; वह भाव अपना कार्य है; परिग्रह का साधन स्वयं है।

(प्रश्न) - लक्ष्मी के प्रमाण में पाप के परिणाम होते हैं न ?

(समाधान) : नहीं, स्वयं साधन है।

परिग्रह के परिणाम का दान स्वयं स्वयं को देता है, वह सम्प्रदान। स्त्री-पुत्र को रुपये, मकान इत्यादि वसीयत में लिख देता है, वह निमित्त का कथन है, पर को कोई दान दे नहीं सकता। परिग्रह के परिणाम अपने में से करता है और अपने आधार से करता है। लक्ष्मी के आधार से ममता के परिणाम किये नहीं।

इस प्रकार पाँचों पाप के छह कारक स्वयं से हैं।

इस प्रकार जीव पर से भेदज्ञान करे तो स्वसन्मुख झुकने का और धर्म प्रगट करने का अवसर रहता है।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण अमावस्या, मंगलवार

आत्मा और जड़ शरीर, वाणी, कर्म भिन्न-भिन्न हैं। इस जगत में अनेक वस्तुएँ हैं, वे अनन्त कब रहे ? यदि एक-दूसरे में अभाव वर्ते तो अनन्त रहती है, परन्तु एक-दूसरे के भाव में प्रविष्ट हो जाये तो वस्तुएँ अनन्त रहती नहीं। यह दो अँगुलियाँ अलग-

अलग हैं, एक-दूसरे में अभाव है। दूर-नजदीक का प्रश्न नहीं। आकाश के क्षेत्र में दूर हो या नजदीक हो, प्रत्येक पदार्थ पर के अभावरूप से परिणम रहा है और अपने भावरूप से परिणम रहा है। एक परमाणु है, उसमें अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अस्तित्व इत्यादि की प्रत्येक पर्याय में छह कारक उतरते हैं। परमाणु का वर्ण हरा हुआ, उसका कर्ता परमाणु है। हरारूप कार्य परमाणु का है, उसका साधन परमाणु है। हरेरूप अवस्था का दान स्वयं को दिया है। अवस्था स्वयं में से होती है और स्वयं के आधार से होती है। दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं है।

यह लकड़ी ऊँची होती है, वह स्वयं से होती है, अँगुली से होती नहीं। शरीर के प्रत्येक परमाणु, रोटी इत्यादि के परमाणु प्रत्येक स्वयं से पलटते हैं। प्रत्येक में छह कारक स्वयं से हो रहे हैं।

औदयिकभाव में छह कारक : अब जीव के भाव की बात करते हैं। पुण्य-पाप के छह कारक कहे जा चुके हैं। औदयिक में गति, जाति आदि भाव हैं। नरकगति के भाव का कर्ता जीव है; वह जीव का कार्य है; गति का साधन आत्मा है; गतिरूप परिणाम का दान स्वयं को देता है। अपने में से वे परिणाम होते हैं; अपने आधार से होते हैं, कर्म के कारण से नरगति के परिणाम नहीं होते। गति के, जाति के, क्रोध, मान, माया, लोभ और असिद्धत्व इत्यादि इक्कीस बोल औदयिकभाव के हैं। प्रत्येक में छह कारक घटित होते हैं। राग का कर्ता जीव है, राग जीव का कर्म है, राग का साधन जीव है, राग अपने में रखता है, इसलिए स्वयं सम्प्रदान है, राग अपने में से और अपने आधार से होता है। इस प्रकार प्रत्येक में समझ लेना।

उपशमभाव में छह कारक : आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान करके प्रथम उपशम-सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसका कर्ता जीव है; वह जीव का कार्य है, कर्म का कार्य नहीं; उसका साधन आत्मा है; उपशमभाव स्वयं अपने को देता है; मिथ्यात्व का नाश होकर उपशमसमकित प्रगट हुआ, वह अपने में से होता है और अपने आधार से होता है। दया-दान के आधार से उपशमसमकित होता नहीं अथवा जड़कर्म हटा, इसलिए वह भाव हुआ, ऐसा नहीं। इसी प्रकार उपशमचारित्र में समझ

लेना। यह सब भाव निमित्त-कर्म की अपेक्षा रखते हैं, तथापि कर्म के कारण से नहीं होते, परन्तु स्व से प्रगट होते हैं, यह बात साबित करनी है।

क्षयोपशमभाव के छह कारक : क्षयोपशमभाव के अठारह भेद हैं। ज्ञान, अज्ञान इत्यादि प्रत्येक में छह कारक लागू पड़ते हैं। यह मतिज्ञान होता है, उसका कर्ता आत्मा है, मतिज्ञान आत्मा का कार्य है; उसका साधन आत्मा है, चश्मा से या आँख से ज्ञान नहीं होता; ज्ञान स्वयं रखता है, वह सम्प्रदान स्वयं से होकर रहा है और अपने आधार से रहा है। संयोग अनुकूल हो, शरीर ठीक हो तो ज्ञान होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। पाँच ज्ञान, तीन दर्शन इत्यादि सब भावों की अवस्था स्वयं से है होती है।

प्रश्न : व्यंजन अवग्रह तो दूसरी चीजें छूती है तो होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक चीज़ दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करती। एक-दूसरे में एक-दूसरे का अभाव है। प्रत्येक पदार्थ में एक समय में छह कारक हैं।

क्षायिकभाव के छह कारक : केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि नौ भेद क्षायिकभाव के हैं। केवलज्ञान का कर्ता आत्मा स्वयं है, वह स्वयं का कार्य है, आत्मा के साधन से होता है, आत्मा अपने को केवलज्ञान का दान देता है, अपने में से और अपने आधार से होता है। मजबूत शरीर और मनुष्यपने के आधार से वह प्रगट नहीं होता।

इस प्रकार औदयिकभाव के २१, उपशम के २, क्षयोपशम के १८, क्षायिक के ९, इस प्रकार कुल पचास बोल में छह कारक लेना। अस्तित्व इत्यादि लेना नहीं क्योंकि उनमें कर्म का निमित्त नहीं है।

अज्ञानी जीव मानता है कि 'शरीर धर्म का साधन है। बोरडी पर आम नहीं पकते, उसी प्रकार शरीर जीर्ण हो, वहाँ धर्म नहीं पकता, शरीर अच्छा हो तो ज्ञान बढ़ता है। मनुष्य बीमार हो और बुखार आता हो तो किस प्रकार धर्म कर सकेगा?'—ऐसा अज्ञानी जीव मान रहा है। भाई! यह सब परवस्तु आत्मा में अभावरूप है। किसी से किसी में कुछ नहीं होता, इसलिए तुझे पर के सन्मुख देखने का नहीं रहता। क्षायिकसमकित तीर्थकर के समीप में होता है, यह निमित्त का कथन है। आत्मा के समीप में क्षायिकसमकित होता है। पर के आधार से होता नहीं। निमित्तपने का ज्ञान कराने के लिय वह कथन है।

‘जीव को अजीव माने, मार्ग को कुमार्ग माने, कुमार्ग को मार्ग माने तो मिथ्यात्व लगे’ ऐसा अज्ञानी शब्द बोलता है, परन्तु उसका अर्थ समझता नहीं। कर्म, शरीर इत्यादि जड़ की पर्याय है। उसे आत्मा नहीं करता, भोगता नहीं। और कहे कि ‘कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं’, वह भी निमित्त से कथन है। जीव अपने विकारीभाव को भोगता है, जड़ को भोगता नहीं।

शास्त्र में कथन आता है कि जीव छह भाव से ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है। जैसे कि कोई ज्ञान प्राप्त करता हो, उसमें अन्तराय करे, जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसका नाम छिपाये, ज्ञानी का द्वेष करे, ज्ञान की आसातना करे—इत्यादि प्रकार से ज्ञानावरणीयकर्म बाँधता है, वहाँ जीव ने अपने ज्ञान के अन्तराय का भाव किया है। ज्ञानावरणीयकर्म बाँधा, यह निमित्त से कथन है।

अज्ञानी कहता है कि कर्म तो मानधाता को भी भोगने पड़ते हैं। भाई! आत्मा अरूपी; कर्म, शरीर रूपी है। अरूपी रूपी को भोगे, यह तीन काल में होता नहीं। इस जगत में अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ऐसे छह द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र है, तथापि जो जीव एक के कारण दूसरे में कार्य मानता है, वह ईश्वरकर्ता मान्यता जैसा मिथ्यादृष्टि है। समयसार में कहा है कि जैसे लोग कहते हैं कि जगत को ईश्वर ने बनाया, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, उसी प्रकार जैन में जन्मकर कहे कि आत्मा शरीर को, कर्म को तथा परद्रव्य को करता है और भोगता है तो ऐसा माननेवाला उनके जैसा ही मिथ्यादृष्टि है। इसलिए यहाँ कहा कि प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में छह कारक स्वतन्त्र हैं, ऐसा सच्चा ज्ञान करना चाहिए।

कर्म तथा जीवों का कोई कर्ता होगा अथवा कोई फल देनेवाला होगा अथवा जड़कर्म का फल आत्मा में आता होगा, ऐसी बात शिष्य के प्रश्नरूप से रखते हैं।

●●



गाथा - ६३

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।
 किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६३॥
 कर्म कर्म करोति यदि स आत्मा करोत्यात्मानम् ।
 कथं तस्य फलं भुङ्क्ते आत्मा कर्म च ददाति फलम् ॥६३॥

कर्म जीवयोरन्योन्याकर्तृत्वेऽन्यदत्तफलान्योपभोगलक्षणदूषणपुरःसरः
 पूर्वपक्षोऽयम् ॥६३॥

यदि करम करते करम को आत्म करे निज आत्म को ।

क्यों करम फल दे जीव को क्यों जीव भोगे करम फल ॥६३॥

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कर्म करोति] कर्म को करे और [सः
 आत्मा] आत्मा [आत्मानम् करोति] आत्मा को करे तो [कर्म] कर्म [फलम् कथं
 ददाति] आत्मा को फल क्यों देगा [च] और [आत्मा] आत्मा [तस्य फलं भुङ्क्ते]
 उसका फल क्यों भोगेगा ?

टीका:-यदि कर्म और जीव को अन्योन्य अकर्तापना हो तो 'अन्य का दिया हुआ
 फल अन्य भोगे' ऐसा प्रसंग आयेगा-ऐसा दोष बतलाकर यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया
 गया है।

भावार्थ:-शास्त्रों में कहा है कि (पौद्गलिक) कर्म जीव को फल देते हैं और जीव
 (पौद्गलिक) कर्म का फल भोगत है। अब यदि जीव कर्म को करता ही न हो तो जीव
 से नहीं किया गया कर्म जीव को फल क्यों देगा और जीव अपने से नहीं किये गये कर्म
 के फल को क्यों भोगेगा ? जीव से नहीं किया कर्म जीव को फल दे और जीव उस फल
 को भोगे, यह किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं है। इस प्रकार, 'कर्म, कर्म को ही करता है
 और आत्मा, आत्मा को ही करता है', इस बात में पूर्वोक्त दोष आने से यह बात घटित
 नहीं होती-इस प्रकार यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है ॥६३॥

अब सिद्धान्तसूत्र है (अर्थात् अब ६३वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के
 निराकरणपूर्वक सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाली गाथाएँ कही जाती हैं)।

वीर संवत् २४७८, फाल्गुन कृष्ण अमावस्या, मंगलवार

जो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का कर्मसमूह है, वह अपने परिणाम को करता है और जो वह संसारी जीवद्रव्य अपने स्वरूप को करता है, तब उस कर्म का उदय अवस्था को प्राप्त हुआ जो फल, उसको जीवद्रव्य किस प्रकार भोगता है और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का कर्म अपने विपाक को कैसे देता है ?

इस गाथा में शिष्य प्रश्न करता है कि आप कहते हो कि जीव अपने भाव को करता है और जीव की दशा पर में नहीं जाती और जड़कर्म की अवस्था भी जड़ से होती है, कर्म जीव को कुछ नहीं करता तो फिर हमारा प्रश्न है कि कर्म का उदय आने से कर्म का फल जीव किस प्रकार भोगे और जड़कर्म ज्ञानावरणादि अपना फल जीव को किस प्रकार दे ?

देखो ! यहाँ शिष्य को उलझन हुई है कि आत्मा तो अरूपी-अमूर्त है, कर्म रूपी-मूर्त है। शरीर, वाणी इत्यादि सब रूपी हैं। जैसे पानी और कंकड़ एक क्षेत्र में हजारों वर्ष रहते हैं, तथापि पानी कंकड़रूप नहीं होता और कंकड़ पानीरूप नहीं होते; उसी प्रकार चैतन्य आत्मा जल समान कभी भी शरीर, वाणी, मन, कर्मरूप नहीं होता और उनका कुछ नहीं कर सकता। तो फिर अरूपी आत्मा बाँधे हुए रूपी कर्मों को किस प्रकार भोगता है और रूपी कर्म उसके रूपी फल को अरूपी आत्मा को किस प्रकार दे ? ऐसा शिष्य प्रश्न करता है।

भावार्थ - रूपी कर्म तो अपने रूपी स्वरूप का कर्ता है और आत्मा अपने विकारी अथवा अविकारीभाव का कर्ता है। वह अरूपी आत्मा जड़स्वरूप कर्मों को किस प्रकार भोगता है और जड़कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा को किस प्रकार फल देते हैं ? जड़कर्म आत्मा को फल देता होगा ?

समाधान - निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा किसी भी प्रकार से कर्म को भोगता नहीं तथा कर्म भी आत्मा को फल नहीं देता। परन्तु आत्मा अपने अज्ञान के कारण से राग-द्वेष के परिणाम करता है, तब परपदार्थों में सुख-दुःख मान लेता है और कर्म ने फल दिया, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी जीव को आत्मा और परपदार्थ के भेदज्ञान की खबर नहीं है, इसलिए वह मानता है कि मैं इस जड़पदार्थ को भोगता हूँ। जैसे कि बँगला, लड्डू, दाल, भात, ठण्डे पानी इत्यादि को भोगता हूँ, ऐसा वह मानता है। अरूपी आत्मा खाने-पीने के रूपी पदार्थ को खाता होगा ? नहीं। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परपदार्थ का भोक्ता है ही नहीं। अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह मानता है कि मैंने शक्कर खायी, ठण्डा पानी पीया, परन्तु वह अपनी उल्टी मान्यता और विकार का अनुभव करता है; जड़ को अनुभव नहीं करता। छुरा लगने पर छुरे का अनुभव नहीं करता परन्तु द्वेष का अनुभव करता है। अग्नि में हाथ पड़े, तब जीव अग्नि का अनुभव नहीं करता, परन्तु द्वेष का अनुभव करता है, निगोद का जीव भी समय-समय में अपने परिणाम को अनुभव करता है। कर्म या परपदार्थ को अनुभव नहीं करता।

यदि पर के कारण दुःख हो तो केवली भगवान सबको जानते हैं और समुद्घात के समय नरक में भी उनके प्रदेश फैलते हैं, तथापि उन्हें दुःख नहीं है, क्योंकि उन्हें राग-द्वेष नहीं है। इससे साबित होता है कि ज्ञानी जीव को भी पर का दुःख नहीं है।

रोग आना, वह दुःख नहीं, शरीर में रोग आने पर मुझे (आत्मा को) रोग आया, ऐसा मानकर द्वेष का अनुभव करता है। पर से भिन्न माने और विकार क्षणिक है, मैं तो शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ, ऐसा भान करे तो धर्म हो, परन्तु अज्ञानी को शुद्ध चैतन्य का भान नहीं है, इसलिए वह विपरीत मान्यता करता है। बिच्छू काटने पर उसके डंक का अनुभव नहीं करता परन्तु द्वेष का अनुभव करता है। इस प्रकार अपने में राग-द्वेष के परिणाम करना, तथापि पर के कारण राग-द्वेष मानकर पर को अनुभव करता है, ऐसा मानता है, परन्तु जड़पदार्थ से आत्मा भिन्न है, ऐसा नहीं मानता; इसलिए अज्ञान और राग-द्वेष का अनुभव करता होने पर भी मानता है कि मैं परपदार्थों को भोगता हूँ। कर्म ने मुझे फल दिया और उस फल को मैं भोगता हूँ, ऐसा मान रहा है। उस समय उल्टे परिणाम करता है, वे भी स्वयं से करता है, कर्म के कारण नहीं करता। परन्तु कर्मों ने फल दिया और मैंने उसे भोगा—ऐसा मानकर परद्रव्य सम्बन्धी दुःख-दुःख मान लेता है।

गाथा - ६४

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।

सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥६४॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः।

सूक्ष्मैर्बादरैश्चानंतानंतैर्विविधैः ॥६४॥

कर्मयोग्यपुद्गला अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक-व्यापित्वाद्यत्रात्मा तत्रानानीता एवावतिष्ठंत इत्यत्रोक्तम् ॥६४॥

करम पुद्गल वर्गणायें अनन्त विविध प्रकार कीं।

अवगाढ-गाढ-प्रगाढ हैं सर्वत्र व्यापक लोक में ॥६४॥

अन्वयार्थ :- [लोकः] लोक [सर्वतः] सर्वतः [विविधैः] विविध प्रकार के, [अनंतानंतैः] अनन्तानन्त [सूक्ष्मैः बादरैः च] सूक्ष्म तथा बादर [पुद्गलकायैः] पुद्गलकायों (पुद्गलस्कन्धों) द्वारा [अवगाढगाढनिचितः] (विशिष्ट रीति से) अवगाहित होकर गाढ भरा हुआ है।

टीका:-यहाँ ऐसा कहा है कि-कर्मयोग्य पुद्गल (कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध) अंजनचूर्ण से (अंजन के बारीक चूर्ण से) भरी हुई डिब्बी के न्याय से समस्त लोक में व्याप्त है; इसलिए जहाँ आत्मा है वहाँ, बिना लाये ही (कहीं से लाये बिना ही), वे स्थित हैं ॥६४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १, बुधवार

अज्ञानी कहता है कि 'जड़ जड़ के कारण से परिणमता है और आत्मा आत्मा के कारण से परिणमता है, ऐसे छह कारक कहे तो फिर कर्म न हो तो शरीर किस प्रकार मिला? यह सब भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के आत्मा दिखते हैं न! यदि कर्म आत्मा में कुछ नहीं करता हो तो इस विचित्रता का कारण क्या है? और शरीर तथा कर्म आत्मा में न हो तो आत्मा की अभी मुक्ति होनी चाहिए! वर्तमान मुक्ति नहीं है, इसलिए शरीर और कर्म आत्मा के हों, ऐसा लगता है। किसी को स्त्री-पुत्र मर जाये, किसी को व्यापार

में नुकसान आवे - यह सब कर्म का फल इसका है। यदि आत्मा और शरीर अथवा कर्म भिन्न हों तो भिन्न, भिन्न को फल किस प्रकार दे और फल न दे तो भिन्न आत्मा किस प्रकार फल भोगे ?'— ऐसा प्रश्न शिष्य ने गाथा ६३ में किया था। उसका जवाब मूल गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं।

समस्त त्रैलोक्य सब जगह पुद्गलस्कन्धों के द्वारा अतिशय भरपूर गाड़ा भरा हुआ है। जैसे काजल की काजलदानी अंजन से भरी होती है, उसी प्रकार सर्वत्र पुद्गलों से लोक भरपूर तिष्ठता है। कैसे हैं पुद्गल ? अतिशय सूक्ष्म है तथा अतिशय बादर है। फिर कैसे हैं पुद्गल ? अपरिमाणसंख्या लिये हुए हैं। फिर कैसे हैं पुद्गल ? निश्चय करके कर्म परमाणु स्कन्ध आदि अनेक प्रकार के हैं।

तीन लोक में जीव भरे हुए हैं। कोई भी जगह जीवों से खाली नहीं है, उसी प्रकार सम्पूर्ण लोक में पुद्गलस्कन्ध अतिशय गाढ़ भरपूर हैं। जिस प्रकार काजल की काजलदानी पूरी अंजन से भरपूर है। उसी प्रकार से सर्वत्र ऊर्ध्व, मध्य और अधो-ऐसे तीन लोक में पुद्गल ठसाठस भरे हुए हैं। वे अतिशय सूक्ष्म हैं और स्थूल भी हैं। जिनकी संख्या का माप नहीं। दो परमाणु के स्कन्ध से लेकर अनन्त परमाणु के स्कन्धवाले-अनेक विचित्रतावाले हैं। औदारिक, कर्मण, तैजसशरीर के परमाणु के स्कन्ध भी ठसाठस भरे हुए हैं। जिस प्रकार जगत में भिन्न-भिन्न प्रकार के मकानों में प्लास्टर होता है और वह अपने-अपने कारण से होता है, कारीगर से नहीं होता; उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्रतावाले कर्म परमाणुओं के स्कन्ध अपने कारण से होते हैं। निगोद का जीव नीचे हो तो भी कर्म बाँधता है और सिद्धशिला के ऊपर हो तो भी कर्म बाँधता है और वहाँ रहे हुए सिद्ध कर्म नहीं बाँधते। केवली समुदघात करे, तब जहाँ केवली हैं, वहाँ निगोद के जीव हैं। केवली भगवान को योग के कारण एक समय में कर्म आते हैं और दूसरे समय में खिर जाते हैं और उस जगह रहा हुआ निगोद का जीव मोहनीयादि कर्म बाँधता है। मुनि अमुक कर्म बाँधते हैं, अज्ञानी अमुक कर्म बाँधता है, तो एक क्षेत्र में होने पर भी आत्मा के अन्तर से कर्म बाँधने में अन्तर पड़ता है तो वह कर्म बाँधने में आत्मा आधार है या नहीं ? और यदि आत्मा आधार नहीं तो पुद्गलस्कन्ध भिन्न-भिन्न जीवों के पास भिन्न-भिन्नरूप से कैसे परिणमते हैं ? इसका उत्तर अब बाद की गाथा में देते हैं।

दूसरे कोई कारण से कर्म की उत्पत्ति नहीं है, जब रागादि भावोंरूप आत्मा परिणमित होता है, तब उनका निमित्त पाकर पुद्गलकर्म स्वयं बँधते हैं। ●●

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
 गच्छन्ति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥
 आत्मा करोति स्वभावं तत्र गताः पुद्गलाः स्वभावैः ।
 गच्छन्ति कर्मभावमन्योन्यावगाहावगाढाः ॥६५॥

अन्याकृतकर्मसंभूतिप्रकारोक्तिरियम् । आत्मा हि संसारावस्थायां पारिणामिक-
 चैतन्यस्वभावमपरित्यजन्नेवानादिबंधनबद्धत्वादनादिमोहरागद्वेषस्निग्धैरविशुद्धैरेव भावैर्विवर्तते ।
 स खलु यत्र यदा मोहरूपं रागरूपं द्वेषरूपं वा स्वस्य भावमारभते, तत्र तदा तमेव
 निमित्तीकृत्य जीवप्रदेशेषु परस्परावगाहेनानुप्रविष्टाः स्वभावैरेव पुद्गलाः कर्मभावमापद्यन्त
 इति ॥६५॥

आतम करे क्रोधादि तब पुद्गल अणु निजभाव से ।

करमत्व परिणत होय अर अन्योन्य अवगाहन करें ॥६५॥

अन्वयार्थ :- [आत्मा] आत्मा [स्वभावं] (मोहरागद्वेषरूप) अपने भाव को
 [करोति] करता है; [तत्र गताः पुद्गलाः] (तब) वहाँ रहनेवाले पुद्गल [स्वभावैः]
 अपने भावों से [अन्योन्यावगाहावगाढाः] जीव में (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-
 अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए [कर्मभावम् गच्छन्ति] कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

टीका:-अन्य द्वारा किये गये बिना कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसका
 यह कथन है।

आत्मा वास्तव में संसार-अवस्था में पारिणामिक चैतन्यस्वभाव को छोड़े बिना
 ही अनादि बन्धन द्वारा बद्ध होने से अनादि मोहरागद्वेष द्वारा *स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावोंरूप
 से ही विवर्तन को प्राप्त होता है (-परिणमित होता है)। वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तव
 में जहाँ और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भाव को करता है, वहाँ और

* स्निग्ध=चीकने; चीकनाईवाले। (मोहरागद्वेष कर्मबन्ध में निमित्तभूत होने के कारण उन्हें
 स्निग्धता की उपमा दी जाती है। इसलिए यहाँ अविशुद्ध भावों को 'मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध'
 कहा है।)

उस समय उसी भाव को निमित्त बनाकर पुद्गल अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में (विशिष्टतापूर्वक) परस्पर अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ:—आत्मा जिस क्षेत्र में और जिस काल में अशुद्ध भावरूप परिणमित होता है, उसी क्षेत्र में स्थित कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध उसी काल में स्वयं अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में विशेष प्रकार से परस्पर—अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मपने को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार, जीव से किये गये बिना ही पुद्गल स्वयं कर्मरूप से परिणमित होते हैं॥६५॥

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १, बुधवार

जीव अशुद्ध रागादि विभावपरिणामों को करता है। जहाँ जीवद्रव्य तिष्ठता है, तहाँ वर्गणारूप पुद्गल तिष्ठता है, वह अपने परिणामों के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप भाव को प्राप्त होता है। कैसे हैं वे पुद्गल ? परस्पर एकक्षेत्र अवगाहना करके अतिशय गाड़े भर रहे हैं।

जीव के शुभाशुभभावों को, अभव्य के मिथ्यात्व के भाव को, तीर्थकर तथा ज्ञानी की असातना के भावों को यहाँ स्वभाव कहा है क्योंकि जीव स्वयं वे भाव पर्याय में करता है। अपने चैतन्यस्वभाव की जिन्हें खबर नहीं और जो विरुद्ध मान्यता करते हैं, वे केवली की असातना कर रहे हैं। उन असातना के भाव तथा कसाईखाने में पशु काटने के भावों को यहाँ स्वभावभाव कहा है।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने में मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि के अशुद्धभाव करता है। जहाँ जीवद्रव्य है, वहाँ कार्माणवर्गणारूप परमाणु रहे हुए हैं, वे परमाणु कर्मरूप परिणमते हैं। कोई कहता है कि कर्म बाहर से आते होंगे ? नहीं; वहाँ की वर्गणा कर्मरूप परिणमित होती है। जीव उसे कर्ता नहीं। जीव कर्मों को करे तो जीव-पुद्गल एक हो जायें। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न तत्त्व हैं। अज्ञानी मानता है कि शरीर और कर्म मेरे हैं और मैं उनका हूँ, ऐसा अज्ञानभाव प्रगट करता है, तब पुद्गल स्वयं

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप परिणमते हैं। कर्म से पृथक्ता तूने नहीं मानी और तू मिथ्याभावरूप हुआ, तब कर्म मिथ्यात्व की प्रकृतिरूप परिणमते हैं, उन्हें तू परिणमाता नहीं है। जड़ परमाणुओं का ज्ञानावरणीयादि कर्मरूप परिणमने का स्वभाव है। मूल में 'स्वभावैः' शब्द है। अपने पर्यायस्वभाव से कर्मरूप अवस्थारूप परिणमता है। और 'गच्छन्ति' शब्द का अर्थ 'प्राप्त होता है'—स्वयं कर्मरूप अवस्था को प्राप्त होता है। कोई प्राप्त कराता नहीं।

अब औदारिक, कार्मण, तैजस और भाषा इत्यादि के परमाणु पूरे लोक में भरे हुए हैं। कोई ईश्वर ने या आत्मा ने उन्हें बनाया नहीं है। वे आत्मा से भिन्न हैं, ऐसी खबर बिना का—बेखबर जीव पर से अपना कार्य मानकर अज्ञानभाव करता है, तब जड़ परमाणु कर्मरूप बँधकर एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ परस्पर एक क्षेत्र में अति गाढ़रूप से पुद्गल परमाणु रहे हुए हैं, वे पुद्गल परमाणु कर्मरूप से बँधते हैं।

कोई प्रश्न करे कि इसमें धर्म क्या आया ?

समाधान : जीव और अजीव दो तत्त्व स्वतन्त्र हैं। उनकी सात पर्यायें मिलकर नौ तत्त्व होते हैं। नौ स्वतन्त्र न मानकर एक-दूसरे में एक-दूसरे का कार्य माने तो मिथ्यात्व होता है। जीव, अजीव नहीं होता; अजीव, जीव नहीं होता; पुण्य, वह पाप नहीं; पाप, वह पुण्य नहीं; पुण्य से धर्म नहीं होता; पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बन्ध है, वे संवर-निर्जरा नहीं हैं। संवर-निर्जरा आंशिक शुद्धता है और मोक्ष पूर्ण शुद्धता है। इस प्रकार नौ को नौ पृथक् माने तो उसे अभी व्यवहार श्रद्धा अर्थात् पुण्य का कारण है। जो नौ को पृथक् नहीं जानता और एक-दूसरे को पराधीन मानता है, उसे धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य भी नहीं है। जैसे कंकड़ और पानी साथ में होने पर भी कंकड़ पानी नहीं होते, उसी प्रकार आत्मा और जड़कर्म इकट्ठे होने पर भी एक-दूसरेरूप नहीं होते। ऐसे अपने आत्मा को पर से भिन्न मानकर, विकार जितना भी नहीं; मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करे तो धर्म होता है।

भावार्थ - यह आत्मा संसार अवस्था में अनादि काल से परद्रव्य के निमित्त से

मिथ्यात्व-रागादि अशुद्धभावोंरूप परिणमता है। जीव मुनिपना लेकर नौवें ग्रैवेयक गया, परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भान नहीं किया। इसलिए अशुद्ध भावोंरूप से परिणमता है। आत्मा अरूपी शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, कर्मरूपी जड़ स्वभावी है। शरीर भी रूपी है, दोनों भिन्न हैं, तथापि शरीर, कर्म, परिवार मेरे हैं—ऐसा मिथ्यात्वभाव अपने चैतन्यस्वभाव को चूककर करता है। वह निमित्त के लक्ष्य से करता है। स्त्री-पुत्र कर्म और शरीर संसार नहीं है, परन्तु वे मेरे हैं और मैं उनका, ऐसे अज्ञानभाव से मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमता है। आत्मा कर्म और विकार से भिन्न है, ऐसा ज्ञान नहीं किया। अनादि से निगोद से लेकर सभी संसारी जीव अपने कारण से विभावरूप परिणमते हैं, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु अपनी उपादान शक्ति से आठ कर्मोंरूप परिणमते हैं। अर्थात् कि निश्चय से अपने कारण से कर्मरूप होते हैं।

आत्मा और कर्म भिन्न है, ऐसा अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए मानता है कि आत्मा कर्म करता है और कर्म आत्मा को रागादि कराते हैं - ऐसा अज्ञानी मानता होने पर भी अज्ञानी का आत्मा स्वतन्त्ररूप से विभावरूप परिणम रहा है और कर्म भी स्वतन्त्र बँधते हैं। ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्ता है, अज्ञानी अज्ञानभाव का कर्ता है और जड़ जड़भाव का कर्ता है।

अज्ञानी जीव ने अज्ञान बहुत किया है, इसलिए वहाँ चिकने कर्मरूप बँधाऊँ, ऐसी क्या पुद्गल परमाणु को खबर है? शरीर को कुछ खबर है? खबर नहीं होने पर भी कैसे बँधता है? भाई! उसमें खबर की कोई आवश्यकता नहीं है। जड़ में शक्ति है। जड़ भी ईश्वर है। जैसे चेतन, चेतन के भाव को करता है; वैसे जड़ अपने जड़भाव को करे, ऐसी सामर्थ्य है। किसी के कारण कुछ नहीं होता। कोई ईश्वर जड़ को करे या कोई आत्मा जड़ की अवस्था करे, ऐसा माननेवाले को पर से पृथक् पड़ना रुचता नहीं है, उसे तीव्र एकत्वबुद्धि वर्तती है। उसकी त्रस की स्थिति पूरी होने आयी है और वह निगोद में जाने की तैयारीवाला है।

अज्ञानी जीव जितने प्रमाण में अज्ञानभाव करता है, उतने ही प्रमाण में पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमकर एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तथापि आत्मा कर्म में प्रविष्ट

नहीं हो जाता है। दोनों की क्रिया स्वतन्त्र है, इसलिए निश्चित होता है कि पूर्व में बँधे हुए कर्म के उदय के समय जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव को चूककर अपनी पर्याय की योग्यता के कारण से मिथ्यात्व, राग, द्वेषादि भावों का कर्ता होता है। पूर्व में छह निरपेक्ष कारक कहे गये थे, वह बात रखकर यह बात करते हैं। जड़कर्म ने इसे अशुद्ध नहीं किया है, परन्तु 'कर्म मुझे हैरान करते हैं', इस प्रकार जड़कर्म पर दोष डालता हुआ, अपने स्वभाव को चूकता हुआ अज्ञानभावरूप से परिणमता है। जड़कर्म आत्मा के कर्ता नहीं और आत्मा जड़ का कर्ता नहीं। तथापि आत्मा के कर्ता बिना राग-द्वेष नहीं होते और जड़ के कर्ता बिना उसका कर्मरूप कार्य नहीं होता। कर्म, कर्म में है; कर्म, आत्मा से पर है; विकार, विकार में है, वह क्षणिक है। इसके अतिरिक्त आत्मा शुद्ध है, ऐसे द्रव्य, विकार और निमित्त—ऐसा तीनों का प्रमाणज्ञान कराते हैं। जो इस प्रकार सच्चा ज्ञान नहीं करता, वह रागादिरूप परिणमता है।

अज्ञानी मानता है कि मेरी होशियार से पैसा मिला, उसे तो पुण्य की भी श्रद्धा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं, दया, दानादि के भाव होते हैं, वे विकार, कर्म के कारण से नहीं, परन्तु तेरे अपराध के कारण से होते हैं। वह तेरा पर्यायधर्म है और उस विकार से तुझे द्रव्यकर्म नहीं बँधता, द्रव्यकर्म पुद्गल के कारण से बँधता है। इस प्रकार कर्म और विकार की स्वतन्त्रता बतलाते हैं।

ऐसी स्वतन्त्रता की खबर नहीं, ऐसा अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ तो शरीर चलता है और शरीर से आत्मा में कार्य होता है। उसे रागादिभाव होते हैं, उनका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणु अपनी उपादानशक्ति से आठ कर्मोंरूप होते हैं और वे परमाणु उन कर्मों के कर्ता होते हैं। जीव उन कर्मों का कर्ता नहीं होता। इस जीव ने अज्ञानभाव किया, इसलिए मैं वहाँ कर्मरूप परिणमित होऊँ, ऐसी पुद्गल को खबर नहीं है। कर्म, कर्म के कारण से परिणमता है, वह उपादानकारण है। जीव के राग-द्वेष उसमें निमित्तमात्र है।

प्रश्न : राग-द्वेष जीव करे तो कर्म को आना पड़े न?

समाधान : नहीं, पुद्गल परमाणु में कर्मरूप होने की योग्यता है, तो होते हैं,

किसी के कारण नहीं होते। अज्ञानी कहता है कि जगत का कर्ता ईश्वर है और ईश्वर की इच्छा बिना पत्ता भी नहीं हिलता। ऐसी मान्यतावाला जैसे मिथ्यादृष्टि है, वैसे जैन नाम धरानेवाला कहे कि आत्मा के बिना शरीर और कर्म नहीं चलता तो वह भी उसके जैसा ही मिथ्यादृष्टि है। वह ऐसी उल्टी दृष्टि से भटक रहा है। छहों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। कोई किसी का काम नहीं करते। आत्मा पुद्गल का कर्ता नहीं और पुद्गल आत्मा का कर्ता नहीं। पुद्गल अपने कारण से कर्मरूप होता है, उसमें उपादान स्वयं ही है, परद्रव्य से मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ●●



बाघ-सिंह तो हमारे मित्र हैं

‘जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों - ऐसे जङ्गल में मैं अकेले आत्मस्वरूप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जाएँगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरूप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान् आत्मा हूँ... मुझे कौन खाएगा? यदि बाघ आकर शरीर को खा जाएँ तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।’

— यह मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए किया गया कथन है, लेकिन मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं होते, उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह-सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते। - पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३४

गाथा - ६६

जह पुगलदव्याणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
 अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥
 यथा पुद्गलद्रव्याणां बहुप्रकारैः स्कंधनिर्वृत्तिः।
 अकृता परैदृष्टा तथा कर्मणां विजानीहि ॥६६॥

अनन्यकृतत्वं कर्मणां वैचित्र्यस्यात्रोक्तम्। यथा हि स्वयोग्यचंद्रार्कप्रभोपलंभे संध्याभ्रेन्द्रचापपरिवेषप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः पुद्गलस्कंधविकल्पाः कर्त्रतरनिपरपेक्षा एवोत्पद्यन्ते, तथा स्वयोग्यजीवपरिणामोपलंभे ज्ञानावरणप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः कर्माण्यपि कर्त्रतरनिपरपेक्षा-ण्येवोत्पद्यन्ते इति ॥६६॥

ज्यों स्कन्ध रचना पुद्गलों की अन्य से होती नहीं।
 त्यों करम की भी विविधता परकृत कभी होती नहीं ॥६६॥

अन्वयार्थ :- [यथाः] जिस प्रकार [पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गलद्रव्यों की [बहुप्रकारैः] अनेक प्रकार की [स्कन्धनिर्वृत्तिः] स्कन्धरचना [परैः अकृता] पर से किये गये बिना [दृष्टा] होती दिखाई देती है, [तथा] उसी प्रका [कर्मणां] कर्मों की बहुप्रकारता [विजानीहि] पर से अकृत जानो।

टीका:-कर्मों की विचित्रता (बहुप्रकारता) अन्य द्वारा नहीं की जाती, ऐसा यहाँ कहा है।

जिस प्रकार अपने को योग्य चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की उपलब्धि होने पर, सन्ध्या-बादल इन्द्रधनुष-प्रभामण्डल इत्यादि अनेक प्रकार से पुद्गलस्कन्धभेद अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अपने को योग्य जीव-परिणाम की उपलब्धि होने पर, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ:-कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागरूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है ॥६६॥

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल २, गुरुवार

कर्मों की अनेक प्रकार की विचित्रता का अन्य कोई द्रव्य कर्ता नहीं परन्तु पुद्गल उसका कर्ता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं। ऐसा बतलाते हैं।

जैसे पुद्गलद्रव्यों के नाना प्रकार के भेदों से स्कन्धों की परिणति देखी जाती है। कैसी है स्कन्धों की परिणति? अन्य द्रव्यों के द्वारा नहीं की हुई, अपनी शक्ति से उत्पन्न हुई है, वैसे ही कर्मों की विचित्रता जानो।

पुद्गलद्रव्यों के अनेक प्रकार के स्कन्ध दिखाई देते हैं, वे स्कन्ध अपने कारण से हुए हैं। आत्मा के कारण से अथवा दूसरे द्रव्यों के कारण से नहीं हुए; उसी प्रकार कर्मों के विचित्रता जानना। जितने प्रमाण में जीव राग करे, उतने प्रमाण में कर्म बँधते हैं, तथापि जीव उनका कर्ता नहीं, तो फिर जीव शरीर का या बाहर के पदार्थों का कर्ता हो, ऐसा कभी नहीं होता।

भावार्थ - चन्द्रमा से अथवा सूर्य की प्रभा का निमित्त पाकर सन्ध्या खिलती है तब आकाश में अनेक प्रकार के लाल-हरे रंग दिखाई देते हैं। अनेक प्रकार के रंगरूप पुद्गल अपने कारण से होता है। सूर्य अथवा चन्द्र का निमित्त है, इसलिए होता है, ऐसा नहीं है परन्तु स्वतन्त्ररूप से होता है। जैसे धूप में हाथ रखने से परमाणु की काली पर्याय होती है, वह परमाणु के कारण से होती है, हाथ के कारण से नहीं होती, सवेरे भी आकाश में अनेक रंग दिखते हैं, वे परमाणु के कारण से होते हैं, सूर्य के कारण नहीं होते। बादल का अनेक रंग-रूप होना, इन्द्रधनुष वर्षा के समय होता है, चन्द्र के आसपास जलभँवर जैसा दृश्य होते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की पुद्गलस्कन्धों की अवस्था स्वयं की योग्यता से होती है, पर के कारण से नहीं। बादल इकट्ठे होकर बिखरें तो भी स्वयं के कारण से बिखरते हैं, दूसरे के कर्तापन की अपेक्षा बिना उस-उसरूप परिणमते हैं। यह दृष्टान्त-अनुसार जीव के अशुद्ध विकारी परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल वर्णणायें आठ कर्म की दशारूप स्वयं परिणमती हैं।

कोई कहता है कि 'जो जीव स्वरूप नहीं जानते, उन्हें कम दोष लगता है और

जानकर जो पाप करे, वह अधिक दोष का पात्र है' तो यह बात मिथ्या है, वस्तुस्वरूप का अजानपना, यही बड़ा पाप है। निगोद के जीव को 'मैं किसी को मारूँ' ऐसी खबर नहीं है, तथापि उल्टी मान्यता और विपरीत आचरण, यही बड़ा पाप है।

समकिती जीव युद्ध में करोड़ों लोगों की हिंसा करता दिखाई दे, तथापि चारित्र की अस्थिरता का अल्पबन्ध है और निगोद का जीव किसी को मारता हुआ दिखाई न दे, तथापि उल्टी मान्यता द्वारा महापाप बाँध रहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप क्या है, उसकी खबर नहीं है, वही बड़ा पाप है।

वह अज्ञानी निगोद का जीव इतना बड़ा मिथ्यात्व का पाप करता है, ऐसी जड़ परमाणु को खबर नहीं है, तथापि जड़ परमाणु विकार के प्रमाण में कर्मरूप परिणमते हैं, तथापि आत्मा उस कर्म को बाँधता नहीं। ऐसी स्वतन्त्र क्रिया प्रत्येक जीव और पुद्गल में हो रही है।

यहाँ 'चेतनात्मक भावों का निमित्त पाकर' लिखा है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि राग-द्वेष ने कर्म कराये अथवा परमाणु में कर्मरूप होने की योग्यता तो थी परन्तु जीव ने विकार किया नहीं, इसलिए वह रुक गये, ऐसा भी नहीं है। अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर पुद्गलस्कन्ध अपनी शक्ति से कर्मरूप से बाँधते हैं।

कोई कहे कि 'यदि आत्मा कर्म से बाँधा नहीं तो वह अबन्ध सिद्ध होने से अभी ही सिद्ध होना चाहिए।' भाई! तेरे जैसे भाव हुए, वैसे ही कर्म बाँधे, उन कर्मों को तूने किया नहीं, उन कर्मों का निमित्तपना—राग-द्वेष तुझमें नहीं, ऐसा भी नहीं। यदि राग-द्वेष न हो तो सिद्ध हो जाये, तुझमें राग-द्वेषरूपी संसार है, इसलिए पुद्गल को कर्मरूप होना पड़ता है, ऐसा भी नहीं है। जीव के राग-द्वेष के तथा कर्म के-दोनों के स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जीव जितने राग-द्वेष करे, उतने प्रमाण में कर्म बाँधते हैं। यह शरीर और कर्म मेरे हैं, ऐसी एकत्वबुद्धि करे तो उसके प्रमाण में कर्म बाँधते हैं, तथापि आत्मा उसका कर्ता नहीं है। और कोई जीव दया थोड़ी करे और पुण्यकर्म अधिक बाँधे, ऐसा नहीं। दया बहुत करे और पुण्यकर्म अल्प बाँधे, ऐसा नहीं। अधिक अशुभभाव करे और अल्प

पापकर्म बँधे, ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार तराजू में बाँट की अपेक्षा सामने चीज़ कम हो, तब काँटा टेढ़ा रहता है, तथापि काँटा अपने कारण से टेढ़ा रहता है, सामने चीज़ कम है; इसलिए टेढ़ा रहता है—ऐसा नहीं है तथा चीज़ और बाँट समान होने पर काँटा बराबर सीधा होता है, वह अपने कारण से होता है। परचीज़ के कारण नहीं होता। वहाँ काँटे को खबर नहीं कि मैं सीधा होऊँ, तथापि वह अपने कारण से सीधा होता है।

उसी प्रकार जीव जितने प्रमाण में राग-द्वेष करे, उतने प्रमाण में जड़कर्म बँधते हैं। काँटा काँटे से समान मिल जाता है। जीव ने इतने और ऐसे राग-द्वेष किये, इसलिए उसके प्रमाण में बँधू, ऐसी जड़कर्मों को खबर नहीं है, तथापि विकार के प्रमाण में कर्म बँधते हैं तो भी जीव उनका कर्ता नहीं है, तो फिर दुकान-शरीर इत्यादि परपदार्थ का आत्मा कर्ता हो, ऐसा कभी नहीं बनता।

●●

मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न - यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या?

उत्तर - भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी — यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा - मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सद्ये सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते-देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२२२

जीवा पुद्गलकाया अण्णोण्णागाढग्रहणपडिबद्धा ।

काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुञ्जन्ति ॥६७॥

जीवाः पुद्गलकायाः अन्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धाः ।

काले वियुज्यमानाः सुखदुःखं ददति भुञ्जन्ति ॥६७॥

निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तृत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुध्यत इत्यत्रोक्तम् । जीवा हि मोहरागद्वेषस्निग्धत्वात्पुद्गलस्कंधाश्च स्वभावस्निग्धत्वा-
दबंधावस्थायां परमाणुद्वंद्वानीवान्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धत्वेनावतिष्ठन्ते । यदा तु ते
परस्परं वियुज्यन्ते, तदोदितप्रच्यवमाना निश्चयेन सुखदुःखरूपात्मपरिणामानां
व्यवहारेणैष्टानिष्टविषयाणां निमित्तमात्रत्वात्पुद्गलकायाः सुखदुःखरूपं फलं प्रयच्छन्ति ।
जीवाश्च निश्चयेन निमित्तमात्र-भूतद्रव्यकर्मनिर्वर्तितसुखदुःखरूपात्मपरिणामानां व्यवहारेण
द्रव्यकर्मोदयापादितेष्टानिष्ट विषयाणां भोक्तृत्वात्तथाविधं फलं भुञ्जन्ते इति । एतेन
जीवस्य भोक्तृत्वगुणोऽपि व्याख्यातः ॥६७॥

पर, जीव अर पुद्गलकरम पय-नीरवत प्रतिबद्ध हैं ।

करम फल देते उदय में जीव सुख-दुख भोगते ॥६७॥

अन्वयार्थ :- [जीवाः पुद्गलकायाः] जीव और पुद्गलकाय [अन्योन्यावगाढ-
ग्रहणप्रतिबद्धाः] (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-अवगाह के ग्रहण द्वारा (परस्पर) बद्ध
हैं; [काले वियुज्यमानाः] काल में पृथक् होने पर [सुखदुःखं ददति भुञ्जन्ति] सुखदुःख
देते हैं और भोगते हैं (अर्थात् पुद्गलकाय सुखदुःख देते हैं और जीव भोगते हैं) ।

टीका:-निश्चय से जीव और कर्म को एक का (निज-निज रूप का ही) कर्तृत्व
होने पर भी, व्यवहार से जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग विरोध को प्राप्त
नहीं होता (अर्थात् 'कर्म जीव को फल देता है और जीव उसे भोगता है' यह बात भी
व्यवहार से घटित होती है), ऐसा यहाँ कहा है ।

जीव मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध होने के कारण तथा पुद्गलस्कन्ध स्वभाव से स्निग्ध

होने के कारण, (वे) बन्ध-अवस्था में-^१परमाणुद्वंद्वों की भाँति-(विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-अवगाह के ग्रहण द्वारा बद्धरूप से रहते हैं। जब वे परस्पर पृथक् होते हैं, तब (पुद्गलस्कन्ध निम्नानुसार फल देते हैं और जीव उसे भोगते हैं)-उदय पाकर खिर जानेवाले पुद्गलकाय सुखदुःखरूप आत्मपरिणामों के निमित्तमात्र होने की अपेक्षा से 'निश्चय' से, और ईष्टानिष्ट विषयों के निमित्तमात्र होने की अपेक्षा से 'व्यवहार' से 'सुखदुःखरूप फल देते हैं'; तथा जीव निमित्तमात्रभूत द्रव्यकर्म से निष्पन्न होनेवाले

१. परमाणुद्वंद्व=दो परमाणुओं का जोड़ा; दो परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध; द्वि-अणुक स्कन्ध।
२. (१) सुखदुःखपरिणामों में तथा (२) ईष्टानिष्ट विषयों के संयोग में शुभाशुभ कर्म निमित्तभूत होते हैं, इसलिए उन कर्मों को उनके निमित्तमात्रपने की अपेक्षा से ही “(१) सुखदुःखपरिणामरूप (फल) तथा (२) ईष्टानिष्ट विषयरूप फल 'देनेवाला' (उपचार से) कहा जा सकता है। अब, (१) सुखदुःखपरिणाम तो जीव की अपनी ही पर्यायरूप होने से जीव सुखदुःखपरिणाम को तो 'निश्चय' से भोगता है, और इसलिए सुखदुःखपरिणाम में निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभकर्मों में भी (-जिन्हें 'सुखदुःखपरिणामरूप फल देनेवाला' कहा था उनमें भी) उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि “वे जीव को 'निश्चय' से 'सुखदुःखपरिणामरूप फल देते हैं;” तथा (२) ईष्टानिष्ट विषय तो जीव से बिल्कुल भिन्न होने से जीव ईष्टानिष्ट विषयों को तो 'व्यवहार' से भोगता है, और इसलिए ईष्टानिष्ट विषयों में निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभ कर्मों में भी (-जिन्हें 'ईष्टानिष्ट विषयरूप फल देनेवाला' कहा था उनमें भी) उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि “वे जीव को 'व्यवहार' से 'ईष्टानिष्ट विषयरूप फल देते हैं।”

यहाँ (टीका के दूसरे पैरे में) जो 'निश्चय' और 'व्यवहार' ऐसे दो भंग किये हैं, वे मात्र इतना भेद सूचित करने के लिये ही किये हैं कि 'कर्मनिमित्तक सुखदुःखपरिणाम जीव में होते हैं और कर्मनिमित्तक ईष्टानिष्ट विषय जीव से बिल्कुल भिन्न हैं।' परन्तु यहाँ कहे हुए निश्चयरूप से भंग से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'पौद्गलिक कर्म जीव को वास्तव में फल देता है और जीव वास्तव में कर्म के दिये हुए फल को भोगता है।'

परमार्थतः कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य को फल नहीं दे सकता और कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के पास से फल प्राप्त करके भोग नहीं सकता। यदि परमार्थतः कोई द्रव्य अन्य द्रव्य को फल दे और वह अन्य द्रव्य उसे भोगे तो दोनों द्रव्य एक हो जायें। यहाँ यह ध्यान

सुखदुःखरूप आत्मपरिणामों को भोक्ता होने की अपेक्षा से निश्चय से, और (निमित्तमात्रभूत) द्रव्यकर्म के उदय से सम्पादित ईष्टानिष्ट विषयों के भोक्ता होने की अपेक्षा से व्यवहार से, उस प्रकार का (सुखदुःखरूप) फल भोगते हैं (अर्थात् निश्चय से सुखदुःखपरिणामरूप और व्यवहार से ईष्टानिष्टा विषयरूप फल भोगते हैं)।

इससे (इस कथन से) जीव के भोक्तृत्वगुण का भी व्याख्यान हुआ॥६७॥

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल २, गुरुवार

निश्चय की अपेक्षा से जीव अपने विकारभावों का कर्ता है और पुद्गल अपने कर्मरूपी भाव का कर्ता है, तथापि व्यवहार से कर्म द्वारा प्राप्त सुख-दुःख की सामग्री के फल को जीव भोगता है, ऐसे व्यवहार कथन में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जीवद्रव्य है, वह पुद्गलवर्गणा के पुंज परस्पर अनादि काल से लेकर अत्यन्त सघन मिलाप से बन्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वे ही जीव पुद्गल उदयकाल अवस्था में अपना रस देकर खिरते हैं, तब साता-असाता देते हैं और भोगते हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे चूककर विकारभाव करता है, तब पुद्गलवर्गणा अपने कारण से कर्मरूप परिणमती है। और वह जीव और पुद्गल कर्म परस्पर अनादि काल से निबिडरूप से बँधे हैं अर्थात् एकक्षेत्रावगाहरूप से है। आत्मा आत्मारूप से है और जड़, जड़ के कारण से कर्मरूप होता है। किसी के कारण से कोई नहीं है। पुद्गलकर्म उसके उदय के काल में रस देकर खिर जाता है, तब साता या असाता के संयोगों की प्राप्ति जीव को होती है। अज्ञानी जीव उन चीजों में ठीक-अठीक की कल्पना करता है,

रखना खास आवश्यक है कि टीका के पहले पैरे में सम्पूर्ण गाथा के कथन का सार कहते हुए श्री टीकाकार आचार्यदेव स्वयं ही जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग व्यवहार से ही कहा है, निश्चय से नहीं।

३. सुखदुःख के दो अर्थ होते हैं : (१) सुखदुःखपरिणाम, और (२) ईष्टानिष्ट विषय। जहाँ 'निश्चय से' कहा है, वहाँ 'सुखदुःखपरिणाम'—ऐसा अर्थ समझना चाहिए और जहाँ 'व्यवहार से*' कहा है, वहाँ 'ईष्टानिष्ट' विषय*—ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

इसलिए उन पदार्थों को तथा कर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। किसी को पैसा मिले, किसी को रोग हुआ, किसी का पुत्र मरे, किसी को सर्प काटे - ऐसे प्रसंग अपने कारण से बनते हैं, उसमें पूर्व कर्म निमित्त कहलाता है और उन चीजों में हर्ष-शोक जीव करता है, इसलिए भोगता है - ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ - एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के अनन्त अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को चूककर पूर्व कर्म के निमित्त से मोह-राग-द्वेषरूप भाव करते हैं, उनमें राग स्निग्ध है और द्वेष रूक्ष है, उस समय पुद्गल परमाणु अपने स्निग्ध-रूक्ष परिणाम द्वारा कर्म के स्कन्धरूप से परिणमते हैं।

दो गुण—दो अंश रूक्षता अथवा स्निग्धता के अधिक हों तो पुद्गल की बन्ध अवस्था होती है। शरीर, लकड़ी इत्यादि पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध हैं। पुद्गल परमाणु द्रव्य है, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण हैं और उसमें स्पर्शगुण की रूक्षता अथवा स्निग्धतारूप पर्याय होती है, उसमें दो गुण स्निग्धतावाला चार गुण स्निग्धतावाले के साथ, चारवाला छह गुणवाले के साथ, पाँचवाला सातवाले के साथ स्कन्धरूप होता है। वह अपनी योग्यता से होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है।

परमाणु में एक गुण अधिक हो तो बन्ध नहीं होता, दो अंश अधिक हों, तभी बँधते हैं; उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष का अन्तिम अंश बन्ध का कारण नहीं है। यदि अन्तिम अंश बन्ध का कारण हो तो आत्मा कभी अबन्ध नहीं होगा।

शरीर का बँधना, कर्म का बँधना, लड्डू होना, वह जड़ के रूक्षता और स्निग्धता के कारण से होता है। वे सब पुद्गल स्कन्ध आत्मा बिना एकत्रित होते हैं। कर्म से अनन्तगुणे ऐसे पुद्गल स्कन्ध हैं कि जिन्हें आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। वे अपने कारण से पिण्डरूप होते हैं। यह अँगुली ऊँची-नीची होती है, वह अपने कारण से होती है, तथापि आत्मा से होती है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार पुद्गल स्कन्धरूप होते हैं, उसी प्रकार पुद्गलवर्गणा कर्म के स्कन्धरूप परिणमित होती है, उन कर्म परमाणुओं के उदय काल में साता-असाता के फल मिलते हैं, इसलिए उन्हें सुख-दुःखरूप कहा गया है, उनके निमित्त से पैसा, रोटी, स्त्री,

कुटुम्ब, मकान इत्यादि प्राप्त होते हैं, तब अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण से यह पदार्थ मैं लाया, ऐसा अभिमान करके उसमें सुख-दुःख की कल्पना खड़ी करता है। वे-वे पदार्थ अपने-अपने कारण से आते हैं, उसमें पूर्व में बँधे हुए कर्म निमित्तमात्र है और जीव अपने में राग-द्वेष के भाव करके आकुलता को भोगता है, उसमें भी निमित्तमात्र है। पुराने कर्म स्वतन्त्र, सामग्री का आना स्वतन्त्र और जीव के हर्ष-शोक के परिणाम होना भी स्वतन्त्र है। शरीर में रोग आने पर बोला जाता है कि असाताकर्म के फल दिया। सामग्री के ढेर मिले, तब बोला जाता है कि साताकर्म ने फल दिया। इस प्रकार आत्मा ने कर्मफल भोगा और कर्म ने आत्मा को सुख-दुःख का फल दिया, ऐसा बोला जाता है।

अज्ञानी जीव को स्व-पर का भान नहीं है, इसलिए शरीर को मैं चलाता हूँ, यह रुपये का ब्याज मैं उपजा सकता हूँ, ऐसा वह मानता है। शरीर, शरीर के कारण से और रुपये, रुपये के कारण से आवें-जायें, तथापि अज्ञानी जीव, 'मेरे कारण से वे आये'— (ऐसा) मानकर मिथ्यात्व के भाव करके संसार में भटकता है।

अभी जीवों को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है। 'णमो अरिहन्ताणं' का अर्थ नहीं समझते। भगवान ने जड़कर्मरूपी शत्रु का नाश किया, ऐसा अज्ञानी मानता है। आत्मा का अज्ञानपना, वही शत्रु है, उस शत्रु को अर्थात् अज्ञान-राग-द्वेष को आत्मा के भान द्वारा जिन्होंने नाश किया, उन्हें अरिहन्त कहते हैं, व्यवहार से कर्म का घात किया— ऐसा कहा जाता है। लोगों में बोला जाता है कि पानी का लोटा, गाँव आया, इत्यादि सब निमित्त से कथन है।

और यहाँ कहा है कि शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थ में कर्म निमित्त कारण है। अभी कितने ही ऐसा कहते हैं कि समाज की व्यवस्था बराबर नहीं है, इसलिए कितने ही करोड़पति होवे और कितने ही गरीब रहते हैं, परन्तु यह बात मिथ्या है, सबको कर्म अनुसार संयोगों की प्राप्ति होती है। वह सामग्री प्राप्त होने पर अज्ञानी जीव राग-द्वेष करे तो सामग्री सुख-दुःख में निमित्त कहलाती है। इस प्रकार कर्मोदय के निमित्त से सामग्री प्राप्त होती है और उसके निमित्त से जीव सुख-दुःख की कल्पना करता है, इसलिए कर्मों ने सुख-दुःख के फल दिये और जीव ने उसे भोगा, ऐसा कहा जाता है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ३, शुक्रवार

आत्मा जड़कर्म का कर्ता नहीं है। आत्मा अपने राग-द्वेष का कर्ता है। कोई पूछता है कि कर्म के बिना आत्मा को सुख-दुःख होगा ? भाई ! सुख-दुःख की कल्पना जीव करता है तो बाह्य चीज़ को और कर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। जड़कर्म दो प्रकार से निमित्त होते हैं। जीव के राग-द्वेष परिणाम में मोहनीयकर्म निमित्त है और संयोग प्राप्त होने में अघातिकर्म निमित्त है। कर्म राग-द्वेष करावे या बाह्य चीज़ों को प्राप्त करा दे, ऐसा नहीं होता, परन्तु जीव राग-द्वेष करे तो कर्म निमित्त कहे जाते हैं और संयोगी वस्तु उसके कारण से आवे तो कर्म निमित्त कहलाते हैं और जीव उसे भोगता है, ऐसा कहा जाता है।

शरीर में छुरी लगने से अज्ञानी छुरी को दुःख का कारण मानता है, परन्तु उसका दुःख नहीं है, अज्ञानदशा का दुःख है। और कोई शरीर को दुःख का कारण मानता है, कोई शरीर को धर्म का कारण मानता है, दोनों भ्रान्ति में हैं।

और ऐसा कहता है कि 'संसार में जीव कर्म के कारण भटकता है।' भाई ! यह कथन निमित्त से है। कर्म के कारण जीव भटकता नहीं, अपनी भूल के कारण से भटकता है। चिदानन्दस्वभाव को चूककर इष्ट पदार्थों को देखकर राग करे, अनिष्ट पदार्थों को देखकर द्वेष करे, वह भूल है, उस भूल को भोगता है। व्यापार में मन्दी आने पर शोक अपने कारण से करता है, मन्दी के कारण शोक नहीं। जीव परचीज़ को कभी भी अनुभव नहीं करता। क्योंकि जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टय अपने में है और पर के चतुष्टय पर में है। अपने चैतन्यस्वभाव को चूककर जीव भूल करता है और भूल को भोगता है। अथवा स्वभाव का भान करके भूल टालता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ जीव कर नहीं सकता। इसलिए जीव वास्तव में अपने सुख-दुःख के परिणाम का भोक्ता है।

व्यवहारकर द्रव्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए जो शुभ-अशुभ पदार्थ, तिनको भोगता है।

कितने ही जीव कहते हैं कि समाज व्यवस्था बराबर नहीं, इसलिए कोई पैसावाला और कोई गरीब है। इसलिए व्यवस्था बराबर रखना, जिससे सब समान हो जायें। ऐसी मान्यतावाला पुण्यकर्म को नहीं मानता। यहाँ स्पष्ट लिखा है कि द्रव्यकर्म के उदय से शुभ-अशुभ पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे कर्म उपार्जन किये हों, तत्प्रमाण सामग्री मिलती है।

यहाँ ऐसा कहना है कि द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से जो सामग्री मिलती है, उसमें अज्ञानी जीव सुख-दुःख की कल्पना करता है। तो उन पदार्थों को जीव ने भोगा, ऐसा कहा जाता है। जड़ परमाणु को जीवद्रव्य कभी स्पर्श नहीं करता, परन्तु जीव राग-द्वेष करता है, तो उसमें पदार्थ निमित्त हैं, इसलिए उन पदार्थों को भोगा है, ऐसा कहा जाता है। जीव में भोक्तागुण है। हर्ष-शोक के वेदनरूप होने की योग्यता है। कर्म में तथा पुद्गल में राग-द्वेष के वेदनरूपी भोक्तागुण नहीं हैं, क्योंकि वे पदार्थ जड़ हैं। शरीर और कर्म को सुख-दुःख का अनुभव नहीं है।

इसमें धर्म क्या आया?—निर्णय कर कि जीव पर को अनुभव नहीं करता। जीव अज्ञान करे तो विकार को अनुभव करता है और स्वभाव का ज्ञान करे तो अपने ज्ञान को और आनन्द को अनुभव करता है, इसलिए पर के ऊपर की दृष्टि छोड़कर, विकार क्षणिक है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है—ऐसा ज्ञान करके, स्वभावसन्मुख ढलना, यही धर्म है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा जड़कर्म को किस प्रकार भोगता है और जड़कर्म आत्मा को किस प्रकार फल देते हैं? उसका जवाब दिया कि जीव अपने स्वरूप को चूकता है और राग-द्वेष करता है, तो कर्म को तथा संयोगों को भोगता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

अब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संक्षेप से व्याख्यान कहते हैं।

●●

गाथा - ६८

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।

भोक्ता हु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥६८॥

तस्मात्कर्म कर्तृ भावेन हि संयुतमथ जीवस्य।

भोक्ता तु भवति जीवश्चेतकभावेन कर्मफलम् ॥६८॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्योपसंहारोऽयम्। तत एतत् स्थितं निश्चयेनात्मनः कर्म कर्तृ, व्यवहारेण जीवभावस्य, जीवोऽपि निश्चयेनात्मभावस्य कर्ता, व्यवहारेण कर्मण इति। यथात्रोभयनयाभ्यां कर्म कर्तृ, तथैकेनापि नयेन न भोक्तृ। कुतः ? चैतन्यपूर्वकानुभूतिसदभावभावात्। ततश्चेतनत्वात् केवल एव जीवः कर्मफलभूतानां कथंचिदात्मनः सुखदुःखपरिणामानां कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणां भोक्ता प्रसिद्ध इति ॥६८॥

चेतन कर्म युत है अतः करता-कर्म व्यवहार से।

जीव भोगे कर्मफल नित चैत्य-चेतक भाव से ॥६८॥

अन्वयार्थ :- [तस्मात्] इसलिए [अथ जीवस्य भावेन हि संयुक्तम्] जीव के भाव से संयुक्त ऐसा [कर्म] कर्म (द्रव्यकर्म) [कर्तृ] कर्ता है। (-निश्चय से अपना कर्ता और व्यवहार से जीवभाव का कर्ता; परन्तु वह भोक्ता नहीं है)। [भोक्ता तु] भोक्ता तो [जीवः भवति] (मात्र) जीव है [चेतकभावेन] चेतकभाव के कारण [कर्मफलम्] कर्मफल का।

टीका:-यह, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की व्याख्या का उपसंहार है।

इसलिए (पूर्वोक्त कथन से) ऐसा निश्चित हुआ कि-कर्म निश्चय से अपना कर्ता है, व्यवहार से जीवभाव का कर्ता है; जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है, व्यवहार से कर्म का कर्ता है।

जिस प्रकार यहाँ दोनों नयों से कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नय से वह भोक्ता नहीं है। किसलिए? क्योंकि उसे *चैतन्यपूर्वक अनुभूति का सद्भाव नहीं है। इसलिए चेतनापने के कारण मात्र जीव ही कर्मफल का-कथंचित् आत्मा के सुखदुःख परिणामों का और कथंचित् ईष्टानिष्ट विषयों का-भोक्ता प्रसिद्ध है ॥६८॥

* जो अनुभूति चैतन्यपूर्वक हो, उसी को यहाँ भोक्तृत्व कहा है, उसके अतिरिक्त अन्य अनुभूति को नहीं।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ३, शुक्रवार

तिस कारण से निश्चय करके द्रव्यकर्म जो है, सो अपने परिणामों का कर्ता है। कैसा है द्रव्यकर्म? आत्मद्रव्य का अशुद्ध चेतनात्मकपरिणामोकर संयुक्त है।

भावार्थ - वास्तव में द्रव्यकर्म अपने परिणामों अर्थात् ज्ञानावरणादि परिणामों का उपादानकर्ता है और व्यवहार से जीव के राग-द्वेषादि भावों का कर्ता कहा जाता है।

फिर इसी प्रकार जीवद्रव्य अपने अशुद्ध चेतनात्मक भावों का उपादानरूप कर्ता है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म को अशुद्ध चेतनात्मक भाव निमित्तभूत हैं। इस कारण व्यवहार से जीव द्रव्यकर्म का भी कर्ता है।

जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता है, परन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं। परन्तु नये कर्म जो अपने कारण से बँधते हैं, उसमें जीव के विकारीभाव निमित्त हैं, इसीलिए जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। पानी में लहरें उठें तो हवा निमित्त कहलाती है और लहरें न उठें तो हवा का अभाव निमित्त कहलाता है। उसी प्रकार जीव विकार करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और शुद्धता करे तो कर्म का अभाव निमित्त कहलाता है। जड़कर्म को आत्मा करता नहीं परन्तु विकार करता है, तब कर्म बँधते हैं, तो आत्मा ने कर्म किये, ऐसा जाता है।

कोई प्रश्न करे कि कर्म निमित्तमात्र है तो उसका क्या काम है?

समाधान - आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है, अपनी अधूरीदशा में साधकजीव ज्ञान करता है कि कर्म कितना रहा हुआ है और कितना टला है। स्व-पर दोनों का ज्ञान करता है। अकेले स्व को या अकेले पर को जानने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्व-पर दोनों को जानने का आत्मा का काम है।

और आत्मद्रव्य जो है, सो अपने अशुद्ध चेतनात्मक रागादिभावों से साता-असातारूप कर्मफल का भोगनेवाला है।

जीवद्रव्य अपने विकारीभावों को भोगता है। कर्म को तथा सामग्री को नहीं भोगता, परन्तु पूर्वकर्म के निमित्त से संयोगरूप फल आता है और जीव रागादि परिणाम

करता है तो कर्म को तथा सामग्री को व्यवहार से भोगता है, ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ - जिस प्रकार जीव अथवा कर्म निश्चय-व्यवहारनों से एक-दूसरे के परस्पर कर्ता हैं, उसी प्रकार दोनों भोक्ता नहीं। निश्चय से जीव अपने परिणाम का कर्ता है, व्यवहार से जीव जड़कर्म का कर्ता है; निश्चय से परमाणु अपने ज्ञानावरणादि पर्याय का कर्ता है, व्यवहार से कर्म, राग-द्वेष का कर्ता है। इस प्रकार कर्ता में जीव और कर्म दोनों में पारस्परिक निश्चय और व्यवहार लागू पड़ता है; उसी प्रकार भोक्तापने में भी दोनों पारस्परिक लागू नहीं पड़ते। भोक्तापना अर्थात् हर्ष-शोक के परिणाम का वेदन मात्र जीवद्रव्य में है। क्योंकि स्वयं चैतन्यस्वरूप है। पुद्गलद्रव्य अचेतन है, उसमें सुख-दुःख के वेदन का या शुद्धता के वेदन का गुण नहीं है। इसलिए पुद्गलद्रव्य निश्चय से या व्यवहार से भोक्ता नहीं है।

- (१) जीव अपने रागादिभावों का कर्ता, यह निश्चय है;
- (२) जीव को जड़कर्मों का कर्ता कहना, वह व्यवहार है;
- (३) जड़ पुद्गल ज्ञानावरणादिकर्म का कर्ता, वह निश्चय है;
- (४) कर्म को विकारादि का कर्ता कहना, वह व्यवहार है;
- (५) जीव अपने हर्ष-शोक के परिणाम को भोक्ता है, वह निश्चय है;

(६) जीव कर्म को तथा सामग्री को भोगता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। कर्म अचेतन है, इसलिए वह अपनी पर्याय में हर्ष-शोकादि को भोगना नहीं है, इसलिए कर्म आत्मा को भोगे, ऐसा व्यवहार लागू नहीं पड़ता।

जीव अपने अज्ञान के कारण विकार का भोक्ता होता है और व्यवहार से कर्म का तथा पदार्थ का भोक्ता होता है परन्तु कर्म या जड़ पदार्थ को सुख-दुःख का वेदन नहीं है तथा वह सुख-दुःख कराते नहीं हैं, इसलिए कर्म से दृष्टि उठाकर सुख-दुःख के परिणाम स्वयं स्वतन्त्र करता है, ऐसा निर्णय करके, वह विकार क्षणिक है; आत्मा तो शुद्ध चैतन्य स्वभावी है—ऐसी दृष्टि करना, वह धर्म है।

जीव कर्ता-भोक्ता है, यह बात पूरी हुई। अब कर्म संयुक्त जीव की मुख्यता से

प्रभुत्वगुण का व्याख्यान करते हैं। गाथा २७ में पृष्ठ ५६ में जीव को प्रभु कहा है, उस प्रभु की व्याख्या इस गाथा में शुरू करते हैं। तीन प्रकार के प्रभु हैं।

(१) जड़ेश्वर :- जड़ भी प्रभु है, अपने में शक्तिवान है। इस लकड़ी की सड़ने की पर्याय होती है, उस समय आत्मा अपनी प्रभुता बहुत प्रस्फुटित करे तो भी उस जड़ की सड़नेरूपी प्रभुता को बदल नहीं सकता। यह लकड़ी आत्मा की प्रभुता से ऊँची होती हो तो आत्मा के कारण से आकाश भी ऊँचा होना चाहिए। परन्तु वह ऊँचा नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अनादि से जहाँ पड़े-बिछे हैं, वहाँ अपनी प्रभुता से हैं। पुद्गल भी प्रभु है। इस प्रकार जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय सब प्रभु है।

(२) विभावेश्वर :- जीव स्वयं राग-द्वेष करे, उसमें प्रभु है। साक्षात् तीर्थंकर भी दूसरे के राग-द्वेष की प्रभुता टाल नहीं सकते। ऐसी विपरीतता में अज्ञानी प्रभु है। विभावेश्वर है।

(३) स्वभावेश्वर :- अपने शुद्धस्वभाव का भान करके परिपूर्ण शुद्धता प्रगटावे, वह स्वभावेश्वर है।

अब इस गाथा में संसारी की प्रभुता की बात करते हैं, सिद्ध की बात नहीं। ●●

मुनिवरों को बाह्य विषयों की आसक्ति नहीं

जिस प्रकार घोर निद्रा में सोते हुए को आसपास की दुनिया का भान नहीं रहता, उसी प्रकार चैतन्य की अत्यन्त शान्ति में स्थिर हुए मुनिवरों को जगत के बाह्य विषयों में किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती; भीतर स्वरूप की लीनता में से बाहर निकलना जरा भी अच्छा नहीं लगता; आसपास जङ्गल के बाघ और सिंह दहाड़ रहे हों, तथापि उनसे जरा भी नहीं डरते या स्वरूप की स्थिरता से किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, २११, पृष्ठ १२८

गाथा - ६९

एवं कत्ता भोक्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।

हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

एवं कर्ता भोक्ता भवन्नात्मा स्वकैः कर्मभिः ।

हिंडते पारमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥६९॥

कर्मसंयुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत् । एवमयमात्मा प्रकटित-प्रभुत्वशक्तिः
स्वकैः कर्मभिर्गृहीतकर्तृत्वभोक्तृत्वाधिकारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजात-विपरीताभिनिवेशः
प्रत्यस्तमितसम्यग्ज्ञानज्योतिः सांतमनंतं वा संसारं परिभ्रमतीति ॥६९॥

इस तरह कर्मों की अपेक्षा जीव को कर्ता कहा ।

पर, जीव मोहाच्छन्न हो भ्रमता फिरै संसार में ॥६९॥

अन्वयार्थ :- [एवं] इस प्रकार [स्वकैः कर्मभिः] अपने कर्मों से [कर्ता भोक्ता
भवन्] कर्ता-भोक्ता होता हुआ [आत्मा] आत्मा [मोहसंछन्नः] मोहाच्छादित वर्तता
हुआ [पारम् अपारं संसारं] सान्त अथवा अनन्त संसार में [हिंडते] परिभ्रमण करता है।

टीका:-यह, कर्मसंयुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है।

इस प्रकार प्रगट प्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा (-निश्चय से
भावकर्मों और व्यवहार से द्रव्यकर्मों द्वारा) कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया
है, ऐसे इस आत्मा को, अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत *अभिनिवेश की
उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गई है, इसलिए वह सान्त अथवा अनन्त संसार
में परिभ्रमण करता है।

(इस प्रकार जीव के कर्मसहितपने की मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुण का व्याख्यान
किया गया।) ॥६९॥

* अभिनिवेश=अभिप्राय; आग्रह।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ४, शनिवार

जीव अनादि से अविद्यारूपी परिणमता है। ज्ञानावरणादि जड़कर्म का उदय जड़ में है। कर्म विकार नहीं कराता; स्वयं अपने स्वभाव की प्रभुता चूकता है और अज्ञान करता है तो कर्म का उदय निमित्त कहलाता है। इस प्रकार जीवद्रव्य निश्चय से राग-द्वेष का और निमित्तरूप से कर्म का कर्ता-भोक्ता होता है। भव्य की अपेक्षा से संसार सान्त कहलाता है। भव्य जीव अपने आत्मा का भान करके राग-द्वेष टालेगा, इसलिए भव्य को संसार का कर्ता-भोक्तापने का अन्त है। और अभव्य कभी संसार नहीं टालेगा, इसलिए उसका संसार अनन्त है। यहाँ भव्य और अभव्य दोनों की प्रभुता बतलाते हैं। भव्य संसार को टाले तो भी अपनी प्रभुता से टालता है और अभव्य नहीं टाले और परिभ्रमण करे तो भी वह अपनी प्रभुता से है। इस प्रकार पाँच परावर्तनरूप संसार धारण करके अज्ञानी चार गति में भटकता है।

पंच परावर्तन (१) द्रव्य=द्रव्य के संयोगों में, (२) क्षेत्र=अलग-अलग क्षेत्र में, (३) काल=उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में, (४) भाव=अलग-अलग शुभाशुभभावों में, (५) भव=चार गतिरूप भव में—ऐसे पाँच प्रकार के परावर्तन में जीव भटक रहा है।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि जीव शुभाशुभभावों के कारण से भटकता है। अपनी प्रभुता से भटकता है, कोई भटकाता नहीं। स्वयं मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी अशुद्ध परिणति से आच्छादित है, कर्म के कारण आच्छादित कहा नहीं है। शुभाशुभभाव की रुचि और स्वभाव की अरुचि, वह मिथ्याभाव है। अपने स्वरूप से विपरीत ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है और शुभाशुभभाव, वह मिथ्या आचरण है।

भावार्थ - अज्ञानी जीव कहते हैं कि जैसे जादूगर डोरी खींचे और पुतली को नचाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी डोरी जादूगर की भाँति संसारी जीवों को नचाता है। परन्तु यह मान्यता भूलवाली है। यहाँ कहते हैं कि अपनी भूल से ही जीव अनेक विभावपर्याय धारणकर संसार में नाचता है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' किसी ने हैरान किया नहीं। कर्म जड़ है, वह हैरान नहीं करता। इसीलिए कर्म के कारण

मैं हैरान नहीं होता, मेरे अज्ञान के कारण विभावरूप स्वतन्त्रपने होता हूँ, ऐसा ज्ञान करे तो स्वभावरूप होने की योग्यता मेरी है, ऐसा समझे तो मुक्ति का मार्ग हाथ आवे।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ४, शनिवार

कर्म जड़ है, कर्म आत्मा को भटकाता नहीं, परन्तु आत्मा अपनी भूल से भटकता है। आत्मा भूल करने में प्रभु है और धर्म करने में भी प्रभु है, अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि करके उसमें रमणता करना, वह धर्म है, अनुकूल शरीर या संहनन से धर्म नहीं होता। ज्ञानावरणीयादि कर्म आत्मा की शक्ति को रोकते हैं ? नहीं। स्वयं आत्मा का स्वभाव चूककर, अपने अपराध से भूल करता है तो कर्म निमित्त कहलाता है। पुण्य-पाप दोनों दोष है, वह आत्मा का गुण नहीं। पुण्य से और शरीर से धर्म मानकर जीव चार गति में भटकता है।

प्रश्न - भूल कैसे होती है ?

समाधान - आत्मा की वर्तमान पर्याय की योग्यता से भूल होती है। परपदार्थ की भूल नहीं होती। परपदार्थ का आत्मा में अभाव है, कर्म जड़ है। विकार में कर्म का अत्यन्त अभाव है।

गाथा ६९ में कहा है कि 'मोह संक्षणों' इसका अर्थ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप अशुद्ध परिणति से आत्मा ढँका हुआ है। मोहकर्म से ढँका हुआ नहीं तथा मोहकर्म के कारण ढँका हुआ नहीं। मोहकर्म से ढँका है, ऐसा कहना वह निमित्त का कथन है। मैं चिदानन्द हूँ, ऐसी रुचि छोड़कर अनुकूल निमित्त से लाभ होगा, पुण्य से धर्म होगा—ऐसी मान्यता को मिथ्यादर्शन कहते हैं। कर्म मोह नहीं कराता। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यादर्शन इत्यादि के औदायिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा गया है। कर्म का उदय परतत्त्व है, परतत्त्व से मुझमें कुछ नहीं होता। जड़ की क्रिया मैं नहीं कर सकता, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञाता हूँ—ऐसी सच्ची रुचि नहीं करके विकार से धर्म होता है, यह मान्यता मिथ्यादर्शन है और वह जीव के स्वतत्त्व में होता है। आत्मा त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है। उसके गुण त्रिकाल हैं और वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। दया, दान

और काम, क्रोध की पर्याय एक समय की है, मोक्षमार्ग भी पर्याय है और केवलज्ञान भी पर्याय है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, उसकी रुचि छोड़कर निमित्त से लाभ मानना, एक समय के विकार जितना आत्मा को मानना अथवा एक समय के ज्ञान के उघाड़ जितना मानना, वह मिथ्यादर्शन है।

त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से भ्रान्ति का नाश होता है। निमित्त से, पुण्य से और वर्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। त्रिकाली शुद्धस्वभाव की रुचि करे तो सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु अनादि से अज्ञानी जीव पर्यायबुद्धि में सर्वस्व मान बैठा है। कर्म, शरीर और परिवार में संसार नहीं है, जीव की वर्तमान उल्टी मान्यता में संसार है। मिथ्यादर्शन में अपनी उल्टी प्रभुता है। आत्मा में प्रभुत्व नाम की एक शक्ति त्रिकाल है, उसकी विपरीत परिणति अपनी भूल से होती है। कोई पर या कर्म भूल नहीं कराता।

अपना शुद्ध चैतन्य का स्वसंवेदन छोड़कर राग से धर्म मानकर उल्टा ज्ञान करना, वह मिथ्याज्ञान है और राग-द्वेष के भाव होते हैं, वह मिथ्याचारित्र है। मैं ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसे भान से सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् आत्मा के आश्रय से अकषाय शान्ति होना, वह विशेष लीनता होना, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। उससे विरुद्ध भाव को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

अभी जीव क्रिया का स्वरूप नहीं समझते और अपनी मानी हुई क्रिया से धर्म मानते हैं।

**कर्ता परिणामी दरव, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया पर्याय की फेरणी, वस्तु एक त्रय नाम।**

आत्मा स्वयं पदार्थ है, स्वयं अपने परिणाम का कर्ता है, परमाणु का कर्ता नहीं। जड़ परमाणु अपना कर्ता है, चेतन का कर्ता नहीं और जो परिणाम होते हैं, वह उसका कर्म है-कार्य है और पूर्व अवस्था पलटकर नयी अवस्था होना, वह उसकी क्रिया है। भगवान न क्रिया तीन प्रकार की कही है।

(१) जड़ की क्रिया— जड़ की अवस्था जड़ से होती है, वह जड़ की क्रिया

है। शरीर के परमाणु की प्रथम अवस्था का व्यय होकर दूसरी अवस्था होना, वह शरीर की अथवा जड़ की पर्याय है। जड़ की क्रिया से पुण्य नहीं, पाप नहीं तथा धर्म नहीं।

(२) विकारी क्रिया— आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को चूककर, निमित्त से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है – ऐसा मानता है, वह मिथ्यादर्शन की विकारी क्रिया अपनी पर्याय में होती है।

(३) निर्विकारी धार्मिक क्रिया—मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, जड़ की पर्याय का तथा राग का ज्ञाता हूँ, ऐसा भान करके शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट होकर मोक्ष होता है, उसे निर्विकारी धार्मिक क्रिया कहते हैं। जड़ की क्रिया से धर्म या मोक्ष नहीं होता।

अज्ञानी जीव को क्रिया के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि अशुभभाव पाप की क्रिया है। दया-दानादि भाव पुण्य की क्रिया है और उन दोनों से रहित, वह धर्म की क्रिया है। अज्ञानी जीव अशुद्ध परिणति द्वारा आच्छादित है, पर से अशुद्धता मानी है, अथवा अशुद्धता जितना मैं हूँ, ऐसा मानकर स्वयं रुक गया है। अपना सामान्य शुद्धस्वभाव विकार से ढँक गया है। इस प्रकार जीव अपने भावबन्ध से रूलता है। भावबन्ध करे तो द्रव्यबन्ध को निमित्त कहा जाता है। भावबन्ध न करे तो द्रव्यबन्ध निमित्त नहीं कहा जाता।

अज्ञानी जीव अनन्त बार समवसरण में गया, परन्तु अपने अज्ञान के कारण से समझा नहीं। अभी महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजते हैं, वहाँ मिथ्यादृष्टि जीव भी हैं, उन्हें भगवान समझा सकें, ऐसा नहीं। स्वयं समझे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। छहढाला में पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि —

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो

पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

सम्यग्दर्शन बिना व्रत-तपादि सच्चे नहीं हैं। मुनिपना धारण करके अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया, परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना जरा भी सुख को पाया नहीं। यात्रा

आदि के शुभभाव से पुण्य होता है परन्तु पुण्य से धर्म माने तो मिथ्यात्व का महापाप बाँधता है।

अज्ञानी जीव कर्म का जोर मानकर भ्रान्ति का सेवन कर रहे हैं। बलदेव छह महीने तक वासुदेव का मुर्दा उठाते हैं, वहाँ चारित्रमोहनीयकर्म के जोर के कारण ऐसा राग होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी कर्म से राग नहीं होता, अपनी निर्बलता के कारण राग होता है।

प्रश्न : कषाय की मन्दता से गुणस्थान चढ़ते हैं।

समाधान : नहीं; कषाय की मन्दता, वह विकार है, वह पुण्य-आस्रव है। जिस कारण से आस्रव होता है, उस कारण से संवर नहीं होता। दोनों के कारण एक हों तो आस्रव और संवर दोनों एक होने से नवतत्त्व नहीं रहते। निमित्त से तो धर्म नहीं, पुण्य से तो धर्म नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय से भी चारित्र नहीं होता। चारित्र अथवा गुणस्थान की शुद्धता की वृद्धि त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है। जीव को निमित्त की, पुण्य की तथा पर्याय की रुचि छोड़कर शुद्धस्वभाव की प्रथम रुचि करना चाहिए, उसके आधार से सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् स्वभाव में लीनता करने से आसक्ति घटती जाती है और अप्रत्याख्यानावरणीय तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय टलती है। इस प्रकार छठवाँ गुणस्थान शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है। छठवें गुणस्थान में पंच महाव्रतादि के परिणाम होते हैं, वे भी पुण्यास्रव हैं। उनसे गुणस्थान टिकता नहीं, तथापि उस भूमिका में उस प्रकार की राग की मन्दता होती है और निमित्तरूप से वस्त्र, पात्र नहीं होते।

कोई कहे कि वस्त्र, पात्र हों और मुनिपना प्रगट हो, तो यह बात मिथ्या है। और वस्त्र-पात्र छूटे, इसलिए मुनिपना प्रगट हुआ, ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। गुणस्थान का प्रगट होना, टिकना और आगे बढ़ना अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से है। कषाय की मन्दता से गुणस्थान बढ़ता नहीं।

वर्तमान में अज्ञानी जीव कषाय की मन्दता से धर्म मान रहे हैं। ऐसी कषाय की मन्दता के परिणाम जीव ने बहुत बार किये हैं। शरीर के टुकड़े करे तो भी क्रोध न करे,

ऐसे शुभपरिणाम होने पर भी अन्तर का भान नहीं होने से अज्ञानी अनन्त संसार में भटकता है। कषाय की मन्दता से धर्म नहीं होता परन्तु मैं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा और स्थिरता से धर्म होता है। उपशम तथा क्षयोपशमभाव से क्षायिकभाव नहीं होता और उपशमभाव तथा क्षयोपशमभाव भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है। राग की मन्दता से वह भाव प्रगट नहीं होता; द्रव्य के अवलम्बन से शुद्धता प्रगट होती है और बढ़ती है।

और जो कषाय उत्पन्न हुई, उसका नाश कैसे करना ?

आत्मा की पर्याय में राग होता है, वह दो समय तो रहता नहीं। एक समयमात्र ही रहता है। जिस समय राग उत्पन्न हुआ, उसका उस समय में किस प्रकार नाश होगा ? उस समय तो नाश नहीं किया जा सकता, परन्तु दूसरे समय उत्पन्न न हो, ऐसा करे तो नाश किया कहलाता है। उसका उपाय मात्र द्रव्यदृष्टि है। एक समय की पर्याय जितना मैं नहीं; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसा भान करके स्वभाव में स्थिरता करे तो राग उत्पन्न नहीं होता। उसने राग का नाश किया, ऐसा कहने में आता है। सर्वज्ञ ने कहा हुआ वस्तुस्वभाव जानना चाहिए। इस जगत में छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। कोई किसी की स्वतन्त्रता लूट नहीं लेता। छह द्रव्यों को स्वतन्त्र जानना चाहिए। अपनी भूल से होनेवाले विकार को क्षणिक जानना और अपना त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, ऐसी रुचि करना, वह धर्म है।

भावार्थ - जीव अपनी भूल के कारण से भटकता है। झूठे उपदेशक अथवा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के कारण नहीं भटकता। तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र से तिर नहीं जाता। उल्टी दशा करने में भी स्वयं प्रभु है और सुल्टी दशा करने में भी स्वयं प्रभु है।

प्रश्न : सिद्ध के गुणों का स्मरण करने से धर्म होता है ?

समाधान : नहीं। स्मरण करने का भाव, वह शुभभाव है। निमित्त से धर्म नहीं है। शुभराग से धर्म नहीं है तथा पर्याय में से भी धर्म की पर्याय प्रगट नहीं होती। शुद्ध चैतन्य-स्वभाव के अवलम्बन से धर्म होता है। सिद्ध का स्मरण अनन्त बार किया और वैराग्यपूर्वक मुनिपना पालन किया, परन्तु आत्मा के भान बिना धर्म नहीं हुआ। सिद्ध के

स्मरण से तो कल्याण नहीं परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से भी कल्याण नहीं। भेदबुद्धि धर्म का कारण नहीं है। मैं अभेद स्वभावी शुद्ध हूँ, ऐसी रुचि करना, वह धर्म का कारण है।

जीव अपनी भूल से संसार में अनेक प्रकार के उदयभावरूप परिणमकर भटकता है तथा असत्त्वस्तु में सत् रूप मानता है। शरीर, मन, वाणी, आत्मा नहीं है, वे पर हैं, तथापि उन्हें अपना मानना, वह असत् है। और विकार एक समयमात्र का सत् है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव में नहीं, इसलिए वह भी असत् है। विकार से सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा मानना, वह असत् को सत् मानने के बराबर है। और जिस प्रकार मदिरा पीये हुए मनुष्य को स्वस्त्री और परस्त्री के बीच विवेक नहीं है, वह जैसे-तैसे वर्तता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव असत् को सत् मानकर भ्रमरूप प्रवर्तता है और अपने शुद्धस्वभाव को चूक जाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने अज्ञान के कारण से जिस प्रकार प्रवर्तता है, यह बतलाया।

●●

हम भी उस ही पन्थ के पथिक

अहो! धन्य यह मुनिदशा!! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्त होते हैं। अब हमारे स्वरूप में विशेष लीन होने का अवसर आया है। अन्तर आनन्दकन्दस्वभाव की श्रद्धासहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भाव में अब भङ्ग नहीं पड़ना है। अनन्त तीर्थङ्करों ने जिस पन्थ में विचरण किया, हम भी उस ही पन्थ के पथिक हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ७५, पृष्ठ ४

गाथा - ७०

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।

णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥

उपशांतक्षीणमोहो मार्गं जिनभाषितेन समुपगतः।

ज्ञानानुमार्गचारी निर्वाणपुरं व्रजति धीरः ॥७०॥

कर्मवियुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत्। अयमेवात्मा यदि जिनाज्ञया मार्गमुपगम्योपशांतक्षीणमोहत्वात्प्रहीणविपरीताभिनिवेशः समुद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिः कर्तृत्वभोक्तृत्वाधिकारं परिसमाप्य सम्यक्प्रकटितप्रभुत्वशक्तिज्ञानस्यैवानुमार्गेण चरति, तदा विशुद्धात्मतत्त्वोपलंभरूपमपवर्गनगरं विगाहत इति ॥७०॥

जिन वचन से पथ प्राप्त कर उपशान्त मोही जो बने।

शिवमार्ग का अनुसरण कर वे धीर शिवपुर को लहें ॥७०॥

अन्वयार्थ :- [जिनभाषितेन मार्गं समुपगतः] जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके [उपशांतक्षीणमोहः] उपशान्तक्षीणमोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है, ऐसा होता हुआ) [ज्ञानानुमार्गचारी] ज्ञानानुमार्ग में विचरता है (-ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग वर्तता है), [धीरः] वह धीर पुरुष [निर्वाणपुरं व्रजति] निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

टीका:-यह, कर्मवियुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है।

जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को प्राप्त करके, उपशान्तक्षीणमोहपने के कारण (दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के कारण) जिसे विपरीत अभिनिवेश नष्ट हो जाने से सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा होता हुआ, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक् रूप से प्रगट प्रभुत्वशक्तिवान होता हुआ ज्ञान का ही अनुसरण करनेवाले मार्ग में विचरता है (-प्रवर्तता है, परिणमित होता है, आचरण करता है), तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप अपवर्गनगर को (मोक्षपुर को) प्राप्त करता है।

(इस प्रकार जीव के कर्मरहितपने की मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुण का व्याख्यान किया गया)॥७०॥

अब जीव के भेद कहे जाते हैं।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ५, रविवार

गाथा ६९ में कहा कि अनादि से अज्ञानी जीव सत् को असत् मानता है और असत् को सत् मानता है, वह अपने अज्ञान के कारण से है। मैं चैतन्य शुद्ध हूँ, उसे विसर जाने की प्रभुता भी उसकी अपनी है। कर्म की महत्ता है, इसलिए स्वभाव को विसर जाता है, ऐसा नहीं है। अपनी त्रिकाल सच्ची प्रभुता को भूलता है और दया दान में अटक जाता है, उसमें कर्म निमित्तरूप से होता है; इस प्रकार कर्म संयुक्त जीव की विकार में प्रभुता बतलायी।

अब, ७०वीं गाथा में बतलाते हैं कि जीव धर्म करता है, वह अपने पुरुषार्थ से करता है, कर्म का वियोग है, इसलिए धर्म होता है, ऐसा नहीं है। राग-द्वेष करता है, वह अपनी प्रभुता से करता है और साधकदशा में धर्म करता है, वह भी अपनी प्रभुता से करता है।

अपनी फलविपाक दशरहित उपशमभाव को अथवा मूल सत्ता से विनाश भाव को प्राप्त हुआ है। असत् वस्तु में प्रतीतिरूप मोहकर्म जिसका ऐसा अपने स्वरूप में निश्चल सम्यग्दृष्टि जीव है, सो मोक्षनगर में गमन करता है।

जीव को उपशम समकित होता है, वह स्वयं की प्रभुता से होता है। कर्म उपशम को प्राप्त हुए, इसलिए उपशम समकित होता है, ऐसा नहीं है। कर्म के उपशम का समय था और आत्मा में उपशम समकित का समय एक है, तथापि कर्म के उपशम के कारण से समकित नहीं होता। जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा करता है, तो कर्म का उपशम कर्म के कारण से होता है। कर्म आत्मा में कुछ करता नहीं तथा आत्मा कर्म में कुछ करता नहीं। दोनों में स्वतन्त्र क्रिया होती है।

और अज्ञानदशा में शरीर में हूँ और विकल्प मैं हूँ, ऐसी जो विपरीत प्रतीति थी, उसका अपने ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से पुरुषार्थ द्वारा मूल में से नाश किया, इसलिए निमित्तरूप से कर्म का नाश हुआ, उसे क्षायिक समकित कहते हैं। गोम्मटसार में कथन आता है कि दर्शनमोहकर्म का क्षय हो तो क्षायिक समकित हो—यह कथन निमित्त से है। वहाँ अन्तरंग हेतु कर्म के क्षय को कहा है और बाह्य हेतु सत् देव-गुरु-शास्त्र कहे हैं और उपादान स्वयं से है। इस प्रकार जो धर्मी जीव उपशम अथवा क्षायिक समकित प्रगट करता है, वह अपने स्वरूप में निश्चल है—अडिग है और वह मोक्षनगर में जाता है अर्थात् कि अपने में परिपूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट करता है। अपनी परमानन्ददशा में एकाकार होता है। कर्म के अभाव के कारण मोक्ष नहीं पाता परन्तु अपनी प्रभुता से मोक्ष पाता है।

भावार्थ - धर्मी जीव को चौथे गुणस्थान में शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा है, पाँचवें गुणस्थान में श्रद्धासहित विशेष स्थिरता है, छठवें में उससे विशेष स्थिरतापूर्वक मुनिपना है। साधक जीव अपनी प्रभुता से आगे बढ़ता है। जड़ की प्रभुता जड़ में है। विकार में भी अपनी प्रभुता है और धर्मदशा में भी अपनी प्रभुता है। शरीर नहीं, मन-वाणी नहीं। पुण्य विकार है; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी श्रद्धा तो है। तदुपरान्त विशेष अन्तर पुरुषार्थ करके सम्यग्दृष्टि जीव अपनी प्रभुता से मुक्तदशा को प्राप्त करता है।

और कैसा है वह सम्यग्दृष्टि जीव ?

सर्वज्ञप्रणीत आगम के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ है। फिर कैसा है ? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग को पाता है, उसमें निमित्त कैसा होता है ? एक समय में तीन काल और तीन लोक का ज्ञान प्रगट वर्त रहा है, ऐसे भगवान सर्वज्ञ के कहे हुए शास्त्र निमित्त होते हैं। कुशास्त्र उसमें निमित्त नहीं होते। जो शास्त्र, पन्द्रह भेद से सिद्ध होते हैं—ऐसा कहते हैं, वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं। स्वरूप के आश्रय से सिद्धदशा होती है, ऐसा एक ही भेद है। आत्मा के भानसहित अन्तर्दशा आगे बढ़ने पर मुनिपना प्रगट होता है, तब बाह्य नग्न दिगम्बरदशा होती है। वे मुनि अपने स्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष प्रगट करते हैं। इस एक ही प्रकार से मुक्ति है। जो शास्त्र वस्त्रसहित मुनिपना कहते हैं, और स्त्री को मोक्ष कहते हैं, गृहस्थलिंग से मोक्ष कहते हैं, अन्यलिंग से मोक्ष कहते हैं,

वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं। 'एक होय तीन काल में, परमारथ का पन्थ।' इस प्रकार सच्चे शास्त्रों के निमित्त से धर्मी जीव आत्मा की सच्ची दृष्टि, स्वसंवेदन ज्ञान और अन्तर रमणतारूप मोक्षमार्ग पाता है।

प्रश्न : भगवान की वाणी निमित्त होती है, इससे क्या आत्मा की प्रभुता खण्डित होती है ?

समाधान : नहीं; वाणी से धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं पाता, परन्तु कुदेवादि की वाणी निमित्तरूप नहीं होती, परन्तु सच्चे देव की वाणी निमित्त होती है, इतना बतलाना है। जीव अपने पुरुषार्थ से क्षायिक समकित पाता है, तब तीर्थकर आदि की समीपता होती है, परन्तु तीर्थकर के कारण क्षायिक समकित नहीं पाता है। यदि उनसे पाता हो तो सभा में सबको क्षायिक समकित होना चाहिए। वहाँ मिथ्यादृष्टि जीव धर्म पाता नहीं, उपादान अपनी प्रभुता से कार्य करता है तो प्रभु का निमित्त कहा जाता है। उसमें अपनी प्रभुता खण्डित नहीं होती।

और कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव ? 'ज्ञानानुमार्गचारि' कहा है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे ज्ञान को अनुसरकर प्रत्यक्ष ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है। कोई निमित्त का अनुचारी, भगवान का अनुचारी या राग का अनुचारी कहा नहीं। मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसे ज्ञान को अनुसरकर अन्तरमार्ग को अनुसरण करना, वह मोक्षमार्ग है। साधकजीव को अपनी निर्बलता के कारण देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग हो जाता है; परन्तु वह उसे पुण्य समझता है, बन्धमार्ग समझता है; मोक्षमार्ग नहीं समझता।

पुनश्च निमित्त की, शुभराग की और पर्याय की रुचि छोड़कर, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे अन्तर के आश्रय से प्रगट होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान है। ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रवर्तना, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन बिना का ज्ञान परोक्षज्ञान भी नहीं कहलाता। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे शुद्धता के लक्ष्य से साधक को जो ज्ञान प्रगट होता है, वह आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसे बाकी का ज्ञान राग के लक्ष्य से होता है, वह परोक्ष कहलाता है। अकेले राग के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान परोक्ष भी नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपनी प्रभुता से मोक्षमार्ग में-ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है। कर्म का अभाव हुआ है, इसलिए मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है, ऐसा नहीं है।

भावार्थ – जो जीव पुरुषार्थ द्वारा अनादि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अविद्या का नाश करता है, उसे नौ तत्त्वों की प्रतीति वर्तती है ।

काललब्धि अर्थात् अपना स्वकाल अथवा पुरुषार्थ ऐसा अर्थ समझना । पाँचवाँ काल या चौथा काल, ऐसे व्यवहार काल की बात नहीं है । स्वयं जिस समय ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ करता है, वह अपना स्वकाल है । इसलिए उसे अपनी काललब्धि पकी है ।

धर्मी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनादि अविद्या का नाश करता है । शरीर, विकार और पर्याय जितना ही मैं हूँ, इत्यादि प्रकार से मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अविद्या कहते हैं । उसे सच्चे भान द्वारा नाश किया, अर्थात् कि निमित्तबुद्धि का और पर्यायबुद्धि का नाश किया और मैं शुद्ध हूँ, ऐसी सच्ची प्रतीति की । इस प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है, उसे नौ पदार्थ की यथार्थ प्रतीति वर्तती है । मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, उसमें जीव की प्रतीति आयी । मैं जीव हूँ तो अजीव पदार्थ मुझमें नहीं हैं, ऐसा निर्णय करने से अजीव की प्रतीति हुई । मेरे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय चूकता हूँ, उतनी मुझमें अशुद्धता आती है, वह आस्रव है । उसके पुण्य-पाप दो भेद हैं । जितना अशुद्धता में अटकता हूँ, वह बन्ध है । अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है, वह संवर है और शुद्धि की वृद्धि, वह निर्जरा है । संवर-निर्जरा अपूर्ण शुद्धता है । पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है । ऐसी मोक्ष की प्रतीति वर्तती है । और स्वयं धर्मदशा प्रगट करता है, नौ पदार्थों की प्रतीति करता है, उसमें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त हैं, तथापि उनसे धर्म नहीं होता । इस प्रकार पदार्थों की यथार्थ प्रतीति वर्तती है । अज्ञानी जीवों को पुरुषार्थ की बात जँचती नहीं । वह भी उनकी प्रभुता है ।

और कैसा है धर्मी का आत्मा ? प्रगट भेदविज्ञान की ज्योति से राग-द्वेष के कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूपी अन्धकार का नाश किया है । यदि निमित्त से धर्म होता हो तो निमित्त से भेदज्ञान करने का अवसर नहीं रहता । पर से और राग से भिन्न मैं चिदानन्द हूँ, ऐसा ज्ञान करना, वह भेदज्ञान है । ऐसी प्रभुत्वशक्ति पर्याय में बतलानी है ।

समयसार में ४७ शक्तियों में एक प्रभुत्वशक्ति की बात आयी है । वह त्रिकाली गुण अथवा त्रिकाली शक्ति की बात है । जिसका प्रपात अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वातन्त्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका

लक्षण है, उसे प्रभुत्वशक्ति कहते हैं। वैसी प्रभुत्वशक्ति अनादि-अनन्त है। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करे तो पर्याय में प्रभुता प्रगट हो, वहाँ त्रिकाली शक्ति की बात है। (वहाँ राग की प्रभुता की बात गौण है)। और प्रत्येक गुण में भी प्रभुत्वशक्ति है। ज्ञान की प्रभुता, दर्शन की प्रभुता, आनन्द की प्रभुता, अपनी अपनी प्रभुता करे, ऐसे कर्तागुण की प्रभुता, कार्य की प्रभुता - ऐसे अनन्त गुणों की प्रभुता है। इसलिए वहाँ त्रिकाली शक्ति की बात है। वैसी प्रभुत्वशक्ति से भरपूर आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। वहाँ द्रव्यदृष्टि से दर्शन प्रधान कथन है।

यहाँ 'पंचास्तिकाय' में प्रभुता की बात पर्याय में लेकर प्रमाणज्ञान कराते हैं। प्रभुत्वशक्ति तो अनादि-अनन्त है। प्रभुत्वशक्ति दो नहीं है, शक्ति तो एक है। परन्तु उसका जिसे मान नहीं और राग-द्वेषादि के परिणाम करता है, तो विकार में अपनी प्रभुता है और स्वभाव का भान करके शुद्धता प्रगटावे तो शुद्धता प्रगटाने में भी अपनी प्रभुता है। इस प्रकार ६९-७० गाथा में पर्याय की प्रभुता की बात की। और स्वतन्त्र पर्याय का ज्ञान कराकर प्रमाणज्ञान कराते हैं। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव ने भेदविज्ञान प्रगट किया। निमित्त तो पर है, उससे मैं भिन्न हूँ, ऐसा तो भेदज्ञान किया, परन्तु निमित्त की ओर का शुभराग एक समय की पर्याय है, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा भेदज्ञान किया। परपदार्थ को राग से प्राप्त कर सकता हूँ और परपदार्थ को भोग सकता हूँ, ऐसी परपदार्थ के स्वामित्व की तथा भोक्तापने की बुद्धि, वह अन्धकार है, उसका भेदविज्ञान की ज्योति से नाश किया। यह भी पर्याय से कथन है। शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन लेने से अज्ञान अन्धकार का विनाश हो जाता है। निमित्त का कर्तृत्व और भोक्तृत्व मुझमें नहीं और मेरा कर्तृत्व और भोक्तृत्व निमित्त में नहीं। मैं मन, वाणी और परपदार्थरूप नहीं। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी मान्यता द्वारा अज्ञान अन्धकार का विनाश करके धर्मी जीव अपनी प्रभुत्वशक्ति से स्वरूप में प्रवर्तता है। कोई काल से या वज्रकाय के बल से आत्मा में लाभ नहीं होता। और व्यवहार में या राग में प्रवर्तता नहीं, परन्तु अपनी प्रभुता से स्वरूप में प्रवर्तता है। इस प्रकार जो जीव अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव की प्रभुता समझकर उसका आश्रय करता है, वह मोक्षदशा को प्राप्त करता है।

गाथा - ७१-७२

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि ।
 चदुचंक्रमणो भणिदो पंचग्गुणप्पधाणो य ॥७१॥
 छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभङ्गसम्भावो ।
 अट्ठासओ णवट्ठो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ॥७२॥
 एक एव महात्मा स द्विविकल्पस्त्रिलक्षणो भवति ।
 चतुश्चंक्रमणो भणितः पञ्चाग्रगुणप्रधानश्च ॥७१॥
 षट्कापक्रमयुक्तः उपयुक्तः सप्तभङ्गसद्भावः ।
 अष्टाश्रयो नवार्थो जीवो दशस्थानगो भणितः ॥७२॥

अथ जीवविकल्पा उच्यन्ते। स खलु जीवो महात्मा नित्यचैतन्योपयुक्तत्वादेक एव, ज्ञानदर्शनभेदाद्विविकल्पः, कर्मफलकार्यज्ञानचेतनाभेदेन लक्ष्यमाणत्वात्त्रिलक्षणः ध्रौव्योत्पादविनाशभेदेन वा, चतसृषु गतिषु चंक्रमणत्वाच्चतुश्चंक्रमणः, पञ्चभिः पारिणामिकौदयिकादिभिरग्रगुणैः प्रधानत्वात्पञ्चाग्रगुणप्रधानः, चतसृषु दिक्षूर्ध्वमधश्चेति भवांतरसंक्रमणषट्केनापक्रमेण युक्तत्वात्षट्कापक्रमयुक्तः, अस्तिनास्त्यादिभिः सप्तभङ्गैः सद्भावो यस्येति सप्तभङ्गसद्भावः, अष्टानां कर्मणां गुणानां वा आश्रयत्वाद्दष्टाश्रयः, नवपदार्थरूपेण वर्तनान्नवार्थः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति-साधारणप्रत्येकद्वित्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियरूपेषु दशसु स्थानेषु गतत्वाद्दश - स्थानग इति ॥७१-७२॥

आतम कहा चैतन्य से इक ज्ञान-दर्शन से द्विविध ।
 उत्पाद-व्यय-ध्रुव से त्रिविध अर चेतना से भी त्रिविध ॥७१॥
 चतुपंच षट् व सप्त आदिक भेद दसविध जो कहे ।
 वे सभी कर्मों की अपेक्षा जिय के भेद जिनवर ने कहे ॥७२॥

अन्वयार्थ :- [सः महात्मा] वह महात्मा [एकः एव] एक ही है, [द्विविकल्पः] दो भेदवाला है और [त्रिलक्षणः भवति] त्रिलक्षण है; [चतुश्चंक्रमणः] और उसे चतुर्विध भ्रमणवाला [च] तथा [पंचाग्रगुणप्रधानः] पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाला [भणितः] कहा है। [उपयुक्तः जीवः] उपयोगी ऐसा वह जीव [षट्कापक्रमयुक्तः] छह

*अपक्रम सहित, [सप्तभंगसद्भावः] सात भंगपूर्वक सद्भाववान, [अष्टाश्रयः] आठ के आश्रयरूप, [नवार्थः] नौ-अर्थरूप और [दशस्थानगः] दशस्थानगत [भणितः] कहा गया है।

टीका:-वह जीव महात्मा (१) वास्तव में नित्यचैतन्य-उपयोगी होने से 'एक' ही है; (२) ज्ञान और दर्शन ऐसे भेदों के कारण 'दो भेदवाला' है; (३) कर्मफलचेतना, कार्यचेतना और ज्ञानचेतन ऐसे भेदों द्वारा अथवा ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ऐसे भेदों द्वारा लक्षित होने से 'त्रिलक्षण (तीन लक्षणवाला)' है; (४) चार गतियों में भ्रमण करता है, इसलिए 'चतुर्विध भ्रमणवाला' है; (५) पारिणामिक, औदयिक इत्यादि पाँच मुख्य गुणों द्वारा प्रधानता होने से 'पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाला' है; (६) चार दिशाओं में, ऊपर और नीचे इस प्रकार षड्विध भवान्तरगमनरूप अपक्रम से युक्त होने के कारण (अर्थात् अन्य भव में जाते हुए उपरोक्त छह दिशाओं में गमन होता है इसलिए) 'छह अपक्रम सहित' है; (७) अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों द्वारा जिसका सद्भाव है, ऐसा होने से 'सात भंगपूर्वक सद्भाववान' है; (८) (ज्ञानावरणीयादि) आठ कर्मों के अथवा (सम्यक्त्वादि) आठ गुणों के आश्रयभूत होने से 'आठ के आश्रयरूप' है; (९) नव पदार्थरूप से वर्तता है, इसलिए 'नव-अर्थरूप' है; (१०) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप दश स्थानों में प्राप्त होने से 'दशस्थानगत' है॥७१-७२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ६, शनिवार

वह जीवद्रव्य अविनाशी चैतन्य उपयोगसंयुक्त है, इस कारण सामान्यनय से एक ही है। जो-जो जीव है, सो चैतन्यस्वरूप है, इस कारण जीव एक ही कहा जाता है।

यह जीवद्रव्य अविनाशी ज्ञातादृष्टा उपयोगवाला है, देहादि की तथा पुण्य-पाप की क्रिया होती है, उसे जाननेवाला है। पुण्य-पाप के भेद तथा अवस्था के हीनाधिक

* अपक्रम=(संसारी जीव को अन्य भव में जाते हुए) अनुश्रेणी गमन अर्थात् विदिशाओं को छोड़कर गमन।

भेद पड़ते हैं, वे पर्याय में पड़ते हैं। तथापि त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से सब जीव सदा चैतन्य उपयोगी हैं, वही उसका स्वरूप है।

प्रश्न : तो फिर दया किसकी पालना ?

समाधान : परजीव की दया कोई नहीं पाल सकता। अपनी पर्याय में राग आवे, वह अलग बात है, परन्तु यह जीव दया पालनेयोग्य है और यह जीव मारनेयोग्य है, ऐसा मूल वस्तुस्वभाव में नहीं है। केवली भगवान हैं, इसलिए मुझे आदरणीय हैं और निगोद का जीव आदरणीय नहीं, ऐसा भेद मूलस्वभाव में नहीं है। जीव सबका जाननेवाला-देखनेवाला है। अपने से दूसरे को महान स्वीकार करे, ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। स्वयं ही महात्मा है। जड़ शरीर या कर्म तो जीव का स्वरूप नहीं परन्तु जीव की पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, वे भी जाननेयोग्य हैं। वे मूलस्वरूप नहीं हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन के ऐसे बारह भेद पड़ते हैं, वे पर्याय में पड़ते हैं, उनकी अभी बात नहीं है। मैं त्रिकाल एकरूप चैतन्य उपयोगी हूँ, मेरा कोई देव नहीं, मैं किसी का देव नहीं। मैं किसी का मालिका नहीं और कोई मेरा मालिक नहीं। स्वामी और सेवकपना विकल्प के समय होता है, वह मात्र पर्याय के भेद जाननेयोग्य है, पुण्य-पाप के भेद पर्याय में पड़े, तथापि मैं अभेद चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी पहिचान करना, वह धर्म है।

प्रश्न : विश्वप्रेम कैसे हो ?

समाधान : यह जीव हीन है और यह जीव बड़ा है, ऐसे कहीं ज्ञेय में भाग न करे और पर्याय के भेद को गौण करके त्रिकाली स्वभाव की समानता की दृष्टि से सभी जीवों को देखे, वह विश्वप्रेम है। सिद्ध आदरणीय है और निगोद आदरणीय नहीं, धर्मी जीव के प्रति राग करनेयोग्य है और धर्म के दुश्मन के प्रति द्वेष करनेयोग्य है, वह सब तो भेद हुए, ऐसे भेद को स्वभाव में स्थान नहीं है। सभी जीव त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभावी हैं, ऐसे त्रिकाल की दृष्टि से देखना, वह विश्वप्रेम है।

प्रश्न : भगवान की वाणी आत्मा को स्थिर करती है ?

उत्तर : वाणी तो जड़ है, वाणी से आत्मा स्थिर नहीं होता, तथा आत्मा वाणी को

निकालता नहीं। वाणी निकलती है तो इच्छा को निमित्त कहा जाता है। यहाँ तो इच्छा करे, उसे भी आत्मा नहीं कहते हैं परन्तु इच्छा को जाननेवाला आत्मा है। यह ज्ञान होता है, वह श्रवण से नहीं होता। अन्तर चैतन्यस्वभाव में से ज्ञान प्रगट होता है। तो वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी, ज्ञान को स्पर्श नहीं करती और ज्ञान, वाणी को स्पर्श नहीं करता, दोनों स्वतन्त्र है।

कोई पूछता है कि तो फिर दीवार में से वाणी क्यों नहीं निकलती और आत्मा हो तो वाणी निकलती है ?

समाधान - पक्षघातवाले जीव बोल नहीं सकते, वहाँ जीव तो है, तो भी वाणी निकलती नहीं, क्योंकि वाणी का निकलना, वह वाणी के कारण से है, आत्मा के कारण वाणी नहीं निकलती और वाणी के कारण आत्मा को लाभ नहीं होता, स्वयं शुद्धचैतन्यस्वरूपी है।

जो जीव वाणी के कारण ज्ञान मानता है, देव-गुरु-शास्त्र के कारण ज्ञान खिलता है, ऐसा मानता है, वह अपने चैतन्यस्वभाव को नहीं जानता, इसलिए ऐसे जीव यात्रा, व्रत, तपादि करे तो पुण्य हो, परन्तु उसे धर्म नहीं होता। सोना, ताँबे के कारण पन्द्रहवान कहलाता है, परन्तु सोना तो सोलहवान ही है; उसी प्रकार जीव की पर्याय में भेद होने पर भी सभी जीव शुद्ध हैं, उपयोगमय है। 'सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझें वे हो।' - सभी जीव सिद्ध समान हैं, जो समझते हैं, वे सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।

अब दो भेद से जीव का स्वरूप कहते हैं :-

वह ही जीवद्रव्य ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का भी कहा जाता है।

ज्ञान और दर्शन उपयोगवाला, ऐसे दो प्रकार से जीव है। भाई! तेरा दर्शन और ज्ञान का व्यापार करने का जीव का स्वभाव है। पर का व्यापार करने का या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नहीं है। पैसे आवें या जावें, उसका आत्मा जाननेवाला है। परन्तु अज्ञानी जीव पर का स्वामी होता है। 'बारात में कोई जानता नहीं और वर की बुआ मैं।' जड़ को खबर नहीं कि मेरे ऊपर कौन राग करता है। शरीर पर जीव ममता

करता है, ऐसी शरीर को खबर नहीं। मकान को देखकर अज्ञानी अभिमान करता है, ऐसी मकान को खबर नहीं, तथापि अज्ञानी जीव 'वर की बुआ की भाँति' जड़ का स्वामी हो बैठा है, उसे अपने ज्ञान-दर्शन-व्यापार की खबर नहीं है, इसलिए यहाँ दर्शन और ज्ञान उपयोगवाला कहकर दो प्रकार के भेद से जीव की पहिचान दी है।

अब जीव के तीन प्रकार कहते हैं।

फिर वह ही जीवद्रव्य कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना, इन तीन भेदोंकर संयुक्त होने से।

(१) **कर्मचेतनावाला जीव :-** जीव अपना शुद्धचैतन्यस्वरूप चूककर दया, दान, काम, क्रोधादि के भावों में एकाग्र होता है, वह कर्मचेतनावाले जीव हैं। हमने इतनी यात्रा की, हमने इतने मन्दिर बनाये, इतने व्रत-तप किये, ऐसे राग का कर्तृत्व मानते हैं। उसे ही सर्वस्व मानते हैं और अपने ज्ञातास्वभाव को चूक जाते हैं। सब अज्ञानी जीव रागादि में कर्तृत्व मानते हैं।

(२) **कर्मफलचेतनावाले जीव :-** अपने शुद्ध स्वभाव को चूककर हर्ष-शोक में एकाग्रता, वह कर्मफलचेतना है। अनुकूलता के समय हर्षित हो जाना और मन्दी आने पर मर गया मानकर शोक में एकाकार होना, वह कर्मफलचेतना है।

एकेन्द्रिय जीवों को कर्मफलचेतना गिनी है, वह मुख्यरूप से कथन करके कहा है। त्रस जीव की भाँति विशेष वीर्य स्फुरित करके राग की कर्तृत्वबुद्धि उन्हें मुख्यरूप से नहीं होती, इसलिए वहाँ कर्मफलचेतना मुख्य गिनी है। परन्तु कर्मचेतना वहाँ भी है ही, त्रस जीव राग के कर्तृत्व की मुख्यता में रुके हुए हैं, इसलिए उनके कर्मचेतना मुख्य गिनी है, परन्तु वहाँ भी कर्मफलचेतना है।

कितने ही जीव प्रतिकूलता आने पर खेदखिन्नता के समुद्र में डूब जाते हैं और अनुकूलता आने पर राग के बर्फ में गल जाते हैं। उन्हें ज्ञानचेतना का भान नहीं है, उन्हें धर्म नहीं होता। निगोद से पंचेन्द्रिय तक के सभी अज्ञानी जीवों को कर्मफलचेतना है।

(३) **ज्ञानचेतनावाले जीव :-** धर्मी जीव समझते हैं कि हर्ष-शोक मेरी निर्बलता से होते हैं। हम उसके जाननेवाले हैं। शान्तिनाथ इत्यादि तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी थे।

छियानवें हजार रानियाँ थीं, नौ निधान थे, तथापि अन्तर्भान था कि यह सब पुण्य के ठाठ हैं। यह हम नहीं, हम तो आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं। आत्मा ज्ञान का पिण्ड है, ऐसे ज्ञानस्वभाव का भान करके अन्तर एकाकार होनेवाला भी एक जीव का वर्ग है, समकिती से सिद्ध तक के जीव उसमें आ जाते हैं।

यह जीव के भेद का वर्णन है। जीव राग में एकाकार हो या हर्ष-शोक में एकाकार हो, तो वह जीव का अपना भेद है। कर्म के कारण कर्मचेतना हो या लक्ष्मी के कारण हर्ष हो या यात्रा के स्थान के कारण पुण्य हो, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। जीव की पर्याय की योग्यता के कारण शुभाशुभभाव होते हैं; पर के कारण वे नहीं होते। कर्म के कारण कर्मचेतना नहीं तथा कर्म हटा, इसलिए ज्ञानचेतना नहीं। अनुकूल सामग्री मिले तो ज्ञान प्रगटे और प्रतिकूलत सामग्री आने पर ज्ञान रुक जाये, ऐसा है ही नहीं। निगोद के जीव ने भारी कर्म किये हैं, इसलिए कर्मफलचेतना होगी? और त्रस में हिलने-चलने की शक्ति है और व्यापारादि के संयोग हैं, इसलिए कर्मचेतना होगी? नहीं, जीव का अपनी पर्याय का भेद है, वह पर के कारण नहीं है। शिक्षक की होशियारी के प्रमाण में विद्यार्थी सीखता नहीं, परन्तु अपने कारण से अपनी योग्यतानुसार सीखता है। उसी प्रकार धर्म में जैसे गुरु मिलें, उस प्रकार से ज्ञान करता नहीं, परन्तु अपने कारण से ज्ञान या अज्ञान करता है, गुरु के कारण से नहीं।

अब जीव के तीन प्रकार से भेद दूसरी रीति से कहते हैं।

तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुणसंयुक्त होने से तीन प्रकार का भी होता है।

उत्पाद-व्यय और ध्रुव की अपेक्षा से जीव के तीन भेद हैं, वे कहते हैं।

उत्पाद - सिद्ध को समय-समय में केवलज्ञान होता है। निगोद को समय-समय में अज्ञान होता है, अभव्य को समय-समय में मिथ्यात्व का उत्पाद होता है। उत्पाद सबमें समय-समय में होता है, इस अपेक्षा से सब समान हैं। कर्म के उत्पाद के कारण मिथ्यात्व नहीं होता। वाणी के कारण ज्ञान का उत्पाद नहीं होता। अज्ञान हो या ज्ञान हो, विकार हो या अविकार हो, पूर्ण पर्याय हो या अधूरी पर्याय हो, वह उत्पाद स्वयं के कारण से है, पर के कारण से नहीं। किसी जीव को केवलज्ञान का उत्पाद, किसी को

अज्ञान का, किसी को क्षायिक सम्यक्त्व का उत्पाद, किसी को मिथ्यात्व का उत्पाद, किसी को वीतरागता का उत्पाद, किसी को अचारित्र का, यह उत्पाद जीव का प्रकार है, कर्म के कारण यह उत्पाद नहीं है।

तीर्थंकर के समवसरण में जाकर सम्यग्ज्ञान का उत्पाद करे या मिथ्याज्ञान का उत्पाद करे, वह स्वयं के कारण से है और सातवें नरक में अज्ञान का उत्पाद करे तो वह स्वयं के कारण से है। पर से उत्पाद नहीं है, जीव अपने में धर्म करे या अधर्म करे, राग करे या वीतरागता करे, गुण करे या अवगुण करे, वह पर के कारण नहीं है, स्वयं के कारण है। इस प्रकार अपने कारण से उत्पाद करता है, इस अपेक्षा से निगोद से सिद्ध तक के सभी जीव समान हैं। इस प्रकार उत्पाद की अपेक्षा से जीव का भेद कहा।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ७, मंगलवार

जीव के भेद की बात चलती है। जीव में समय-समय में नयी अवस्था उत्पन्न होती है, वह जीव का स्वभाव है। जीव को अलग-अलग समय में अलग-अलग भाव होते हैं। राग-द्वेष के भाव होते हैं, काम, क्रोध, मिथ्यात्व, समकित, केवलज्ञान, सिद्धदशा इत्यादि का उत्पाद होता है, वह जीव के कारण से है, किसी कर्म के कारण से नहीं। इस प्रकार पर से भेदज्ञान कराकर, उत्पाद स्वतन्त्र बताकर, मात्र उत्पाद जितना नहीं परन्तु पूरा परिपूर्ण है, ऐसा द्रव्य तथा पर्याय का प्रमाणज्ञान कराना है।

व्यय - जीव समय-समय में पूर्व अवस्था से बदलता है, वह जीव का भेद है। मनुष्यगति का व्यय होकर देवगति होती है, वह कर्म के कारण से नहीं। अल्पज्ञता का व्यय होता है, संसार का व्यय होता है, समकित का नाश होकर मिथ्यात्व होता है, ग्यारहवें गुणस्थान से गिरे, वह उपशमभाव का व्यय हुआ, वह स्वयं के कारण से है। कर्म का उदय आया, इसलिए जीव ग्यारहवें (गुणस्थान) से गिर जाता है, यह बात सत्य नहीं है। कुदेव मिले, इसलिए समकित का व्यय हुआ? नहीं; व्यय जीव का भेद है। कोई अज्ञान का व्यय, कषाय का व्यय, सब व्यय का कारण जीव स्वयं है। मुनि छठवें-सातवें में चारित्रवान हैं और देह छूट जाये, वहाँ मार्ग में असंयमी होते हैं तो चारित्रदशा

के व्यय का कारण ? देव नामकर्म का उदय आया इसलिए ? नहीं। व्यय, वह जीव का भेद है। पर के कारण नहीं, पूर्व के कारण व्यय नहीं। उत्पाद के कारण व्यय नहीं, व्यय के कारण से व्यय होता है। वह जीव का भेद है।

प्रश्न : उसमें पर्याय की महत्ता आती है।

समाधान : एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकारने से त्रिकाली द्रव्य की स्वतन्त्रता स्वीकार करने में आती है।

यहाँ समय-समय की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करते हैं। अल्प ज्ञान का व्यय हो, मिथ्यात्व का व्यय हो। मनुष्यगति का व्यय हो, उन सबमें स्वयं का कारण है, कर्म के कारण वह नहीं है।

ध्रुव - जीव का ध्रुवपना जीव के कारण से है। ध्रुवपना, उत्पाद और व्यय के कारण से नहीं। त्रिकाली ध्रुव—स्वभाव स्वयं के कारण से है, दूसरे के कारण से नहीं।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव की अपेक्षा से जीव के तीन भेद बतलाये।

मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यच—इन चार गतियों में जीव भटकता है, इस अपेक्षा से जीव के चार भेद हैं। किसी कर्म के कारण अमुक गति मिली, ऐसा स्वरूप नहीं है। और कोई कहे कि निगोद में कर्म का जोर बहुत है और त्रस में उल्टे पुरुषार्थ का जोर है, ऐसे निगोद और त्रस में ऐसा भेद अज्ञानी करता है। निगोद में हो या त्रस में, चाहे जिस गति में हो तो भी विकार अपने कारण से है। कर्म के कारण से नहीं। श्रेणिक राजा ने नरकगति का कर्म बाँधा, इसलिए नरक में जाना पड़ा ? कोई मनुष्य में से अनुत्तर विमान में जाये, वह शुभकर्म बाँधा है, इसलिए जाता होगा ? यहाँ उससे इनकार करते हैं। नारक या तिर्यच, मनुष्य या देव, इन सब गतियों में जाने की जीव की योग्यता है। अपनी स्वतन्त्रता से वह भटकता है। इन प्रकार पर से भेदज्ञान कराते हैं।

फिर जीव के पाँच प्रकार से भेद कहते हैं—

पारिणामिकभाव - आत्मा पारिणामिक शुद्धभाव है, वह एकरूप है। शरीर और कर्म के कारण वह नहीं है। स्वयं एकरूप है। और पारिणामिकभाव में भव्य और अभव्य के भेद हैं, उनका कारण ? कोई कर्म कारण होगा ? नहीं; भव्य और अभव्य पारिणामिकभाव

से हैं। उसमें कोई कर्म का कारण नहीं है तथा उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव स्व अपेक्षा से पारिणामिकभाव में आ जाते हैं। पारिणामिकभाव पर्याय अपेक्षा से विकाररूप अथवा उपशमरूप स्वयं होता है। किसी कर्म के कारण राग हुआ अथवा कर्म हटा, इसलिए गुण हुआ – ऐसा नहीं है। अपने परिणाम अनुसार भेद पड़ता है। इस प्रकार स्वतन्त्र समझे और अंश जितना मैं नहीं, परन्तु मैं तो अंशी हूँ—ऐसा भान करे तो धर्म होता है।

औदयिकभाव – जीव की पर्याय में राग-द्वेष, दया, दानादि के परिणाम हों, वह जीव का भेद है। कर्म के कारण उदयभाव नहीं है। केवली भगवान का औदयिकभाव और निगोद का औदयिकभाव, स्वयं के कारण से है, इस अपेक्षा से समान है। भगवान को कर्म बाकी हैं, इसलिए विभाव और योग का कम्पन है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी जीव कर्म के ऊपर जोर डालता है। कर्म तथा प्रतिकूल संयोग जीव में प्रविष्ट नहीं होते और वे राग-द्वेष नहीं कराते, परन्तु अज्ञानी जीव वर्तमान संयोगों को देखकर वर्तमान दबाव में दब जाता है, परन्तु राग-द्वेष स्वयं से होते हैं, ऐसा स्वतन्त्र ज्ञान करे तो पर से पृथक् पड़कर द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुखता का अवकाश रहता है।

उपशमभाव – जीव में समकित अथवा चारित्र का उपशम होता है, वह स्वयं के कारण से है। कर्म का उपशम हुआ, इसलिए उपशमभाव हुआ, ऐसा नहीं है। और कर्म मन्द पड़े तो आत्मा उपशमश्रेणी में आगे बढ़ता होगा? नहीं, स्वयं के कारण से बढ़ता है। और देव-गुरु-शास्त्र से उपशम समकित नहीं, परन्तु स्वयं से है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमभाव और चौथे गुणस्थान में उपशमभाव स्वयं के कारण से है। इतनी अपेक्षा से दोनों समान हैं। वे पर के कारण नहीं हैं। यह जीव के भेद का वर्णन है।

क्षयोपशमभाव – जीव में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ ज्ञात होता है, वह जीव के कारण से है। अज्ञानी जीव कहते हैं कि घड़ा है, इसलिए घड़े का ज्ञान होता है। जैन कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञान का कारण है, परवस्तु कारण नहीं।

तो अन्यमतवाले पूछते हैं कि तो फिर घड़े के समय में घड़े का ही ज्ञान क्यों होता है और दूसरी चीज़ का ज्ञान क्यों नहीं होता?

उसका **समाधान** :- उस समय जीव की पर्याय में क्षयोपशम की योग्यतानुसार ज्ञान होता है। अब जहाँ क्षयोपशम की बात की, वहाँ अज्ञानी जीव दूसरी दलील करते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, इसलिए ज्ञान का विकास दिखता है। तो यह भी मिथ्या मान्यता है। ज्ञान अल्प दिखाई दे या अधिक दिखाई दे, वह जीव के कारण से है, पर के कारण से नहीं। जो विविधता और विचित्रता क्षयोपशमभाव में दिखती है, वह जीव का भेद है। इस प्रकार समय-समय की पर्याय स्वतन्त्र समझे तो त्रिकाली स्वभाव की स्वतन्त्रता की खबर पड़े।

क्षायिकभाव - क्षायिक समकित केवली अथवा श्रुतकेवली के कारण होता नहीं। क्षायिक का भेद तेरा है, वह निमित्त का भेद नहीं। और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि केवलज्ञानावरणीय के कारण केवलज्ञान रुका, वहाँ तो केवलज्ञानावरणीय पुद्गलकर्म का निमित्तपना बतलाना है। परन्तु उससे केवलज्ञान रुका है, ऐसा वहाँ कहना नहीं है। केवलज्ञान रुका, वह तेरे कारण से है।

परमपारिणामिकभाव के तीन भेद हैं और दूसरे चार भावों के पचास भेद हैं, इस प्रकार कुल ५३ भेदों में समझ लेना कि प्रत्येक परिणाम अपने कारण से है। अभव्य क्यों? उसका स्वभाव है। करोड़ों उपदेश का प्रपात पड़े तो भी उसका ज्ञान पिघलता नहीं, ऐसा उसका स्वभाव है। जाति, लेश्या, असिद्धत्व, इत्यादि प्रत्येक भेद स्वतन्त्र अपने कारण से है। जीव अपने को विकार में रोके या स्वभाव में रोके परन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता तथा परपदार्थ जीव में कुछ नहीं कर सकते। पर के कारण अपने में कुछ हो और अपने कारण पर में कुछ हो तो तत्त्व पराधीन हो जाता है। इसलिए स्वतन्त्रता का ज्ञान करके पर से पृथक् पड़कर, अंश का ज्ञान करके अंश जितना भी मैं नहीं; मैं स्वभाव से त्रिकाली अंशी हूँ, ऐसा प्रमाणज्ञान होने पर धर्म होता है।

जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे - ऐसी छह दिशाओं में गमन करता है, ऐसे छह प्रकार से जीव के भेद हैं। विदिशा में जीव गमन नहीं करता, विदिशा चौड़ाई की अपेक्षा से एक प्रदेशी है, इसलिए जीव सीधा विदिशा में नहीं जाता। पूर्व, पश्चिमादि दिशा असंख्य प्रदेशी हैं, उनमें जीव गमन करता है। उसका कारण स्वयं है, कर्म कारण नहीं है।

सप्तभंगी के सात भंग से जीव पहिचाना जा सकता है, इसलिए जीव सात प्रकार से भी कहा जाता है।

(१) **अस्तित्वभंग** - जीव स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप है, ऐसे एक भंग में सभी जीव आ जाते हैं। द्रव्य=त्रिकाली वस्तु; क्षेत्र=अपने असंख्य प्रदेशरूप चौड़ाई; काल=समय—समय की पर्याय; भाव=त्रिकाली गुण या शक्तियाँ - ऐसे स्वचतुष्टय से प्रत्येक जीव है।

(२) **नास्तित्वभंग** - शरीर, कर्म, वाणी, देव, गुरु, शास्त्ररूप से यह जीव नहीं है। ऐसा नास्तित्वधर्म जीव का है। नास्तित्वधर्म पर का नहीं, परन्तु अपना है। कर्म, शरीर, वाणी का जीव में अभाव है। यह तीनों काल के जीव की बात चलती है। अकेले सिद्ध की नहीं। भव्य-अभव्य, संसारी या सिद्ध सभी जीव पररूप नहीं, ऐसे भेद में समाहित हो जाते हैं।

(३) **अस्तित्व-नास्तित्वभंग** - आत्मा स्यात् अपने से अस्ति है। स्यात् पर से नास्ति है, ऐसे क्रम से कहा जा सके, ऐसा आत्मा में धर्म है। वाणी में क्रम पड़ता है, इसलिए वक्तव्य धर्म है, ऐसा नहीं। वह धर्म अपने कारण से है।

(४) **अवक्तव्य भंग**- आत्मा अपने से है और पर से नहीं, ऐसे युगपत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा जीव का धर्म है। वाणी एक साथ नहीं कह सकती, इसलिए अवक्तव्य भंग है, ऐसा नहीं परन्तु स्वयं के कारण से है।

(५) **अस्तित्व-अवक्तव्य भंग** - स्वयं अस्तिरूप है, ऐसा कहा जाता है परन्तु अस्तित्व-नास्तित्व युगपत् नहीं कहे जो सकते, ऐसा अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म जीव का है, वाणी के कारण नहीं।

(६) **नास्तित्व-अवक्तव्य भंग** - नास्तित्वधर्म कहा जाता है, उस समय अस्तित्व-नास्तित्व युगपत् नहीं कहे जाते, ऐसा नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म जीव का है, वाणी के कारण नहीं।

(७) **अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य भंग** - अस्ति-नास्ति क्रम से कहे जा सकते

हैं, परन्तु दोनों युगपत् नहीं कहे जा सकते, ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म जीव का है।

इस प्रकार जीव में उतरते (घटित होते) सात भेद, पर से भिन्न कराकर भेदज्ञान कराते हैं।

सिद्ध जीवों में आठ गुण—अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध इत्यादि हैं तथा संसारी जीवों में आठ गुण शक्तिरूप से हैं, इसलिए उस प्रकार से जीव पहिचाना जा सकता है अथवा संसारदशा में जीव आठ कर्मों का आश्रय लेता है और अटकता है, इस प्रकार से भी जीव में आठ प्रकार से भेद पड़ते हैं। आठ कर्म हैं, इसलिए भेद पड़ते हैं, ऐसा नहीं परन्तु जीव अपने त्रिकाली स्वभाव को चूकता है और आठ प्रकार के कर्म का आश्रय लेता है तो अपने में विकार होता है, इसलिए जीव में आठ प्रकार के भेद कहे हैं।

छठवें-सातवें (गुणस्थान) में झूलते महामुनियों ने यह रचना की है, उसमें प्रयोजन है। यहाँ पर से भेदज्ञान कराकर, पर्याय स्वतन्त्र बतलाकर, ज्ञान की निर्मलता कराते हैं। पर्याय में विविधता और विचित्रता होने पर भी पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा जो यथार्थ मानता है, वह जीव विविधता बिना के एकरूप द्रव्यस्वभाव को स्वतन्त्र माने बिना नहीं रहता और जो विचित्रता को परतन्त्र मानता है, वह द्रव्य को स्वतन्त्र नहीं मान सकता। पर के साथ की एकत्वबुद्धिवाला जीव स्वसन्मुख नहीं ढल सकता, इसलिए यहाँ पर से भेदज्ञान कराते हैं। कर्म के कारण जीव में कुछ नहीं, परन्तु जीव स्वयं विकार करे तो होता है।

इस प्रकार जीव के आठ प्रकार से भेद बतलाये।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ८, बुधवार

यहाँ जीव किसे कहना, उसकी बात प्रमाणज्ञान से करते हैं। जीव में पर्याय के भेद की अपेक्षा से बात करते हैं; इसलिए यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

समयसार में और नियमसार में जीवद्रव्य की व्याख्या दृष्टिप्रधान कथन से की गयी है। वहाँ तो पुण्य-पाप, आस्रव—बन्ध को विकार गिनकर, शुद्ध जीव में नहीं गिना है, क्योंकि विकार के लक्ष्य से धर्म नहीं होता। तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष भी पर्याय है। उस धर्म की पर्याय में से भी धर्म पर्याय नहीं होती, इसलिए उसे भी परद्रव्य गिनकर जीव नहीं गिना है। शुद्ध त्रिकाली जीव अन्तःतत्त्व एक के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए उसे जीवतत्त्व गिना गया है, विकारी पर्याय तथा अपूर्ण पर्याय को गौण करके शुद्ध जीव त्रिकाली एकरूप ध्रुव रहता है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है, उसके आधार से धर्म होता है और धर्मदशा बढ़ती है, इसलिए दर्शनप्रधान कथन में पर्यायबुद्धि छुड़ाने और स्वभावबुद्धि कराने के लिये शुद्ध जीव को ही जीव गिना है। (जबकि) यहाँ जीवद्रव्य की ज्ञानप्रधान (शैली) से बात करते हैं। वर्तमान पर्याय और सामान्य द्रव्य, ऐसे दो होकर जीवद्रव्य है। यहाँ जीव के नौ भेद कहते हैं।

(१) जीव - मैं त्रिकाल एकरूप शुद्ध जीव हूँ, वह जीवतत्त्व है।

(२) जीव का भेद अजीव - यह शरीर है, वाणी है, धर्म है, अधर्म है, काल है, उस अजीव पदार्थ के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है, उस राग को अजीव कहा है और उस राग में जीव स्वयं रुकता है। इसलिए जीव स्वयं अजीवरूप होता है। यहाँ अजीव कहने से शरीर, मन, वाणी नहीं समझना। वे तो अजीव हैं और आत्मा से भिन्न ही हैं, परन्तु अजीव के लक्ष्य से जो राग होता है, वह अपना भेद है, इसलिए राग को अजीव गिनकर, उसे जीव का भेद गिना है। कर्म, शरीर तो रूपी हैं, परन्तु कर्म के लक्ष्य से होता राग जीव के द्रव्य-गुण की भाँति अरूपी है, वे जीव के अस्तिकाय में होते हैं परन्तु अजीव के लक्ष्य से होते हैं, इसलिए उन्हें अजीव कहा है। परन्तु वह राग शरीर और कर्म के कारण से नहीं होता, अपितु जीव के कारण से होता है; इसलिए उसे जीव का भेद कहा है। इस प्रकार जीव स्वयं अजीव के भेदरूप होता है।

(३) जीव का भेद पुण्य - जीव की पर्याय में दया, दानादि के भाव होते हैं, वे जीव के कारण से हैं, अरूपी हैं। कर्म के कारण अथवा पर के कारण पुण्यभाव नहीं होते। जीव की पर्याय में पुण्य होने की योग्यता है। कर्म तथा आत्मा को अत्यन्त अभाव है। पुण्य तथा आत्मा में कथंचित् भाव है, क्योंकि पर्याय में पुण्य होता है और पुण्य का

भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं है, इसलिए पुण्य को और आत्मा को कथंचित् अभाव है।

यहाँ कहते हैं कि जीव को शुभभाव होता है, वह जीव का भेद है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कथन आता है कि कर्म का तीव्र उदय हो, तब तो पुरुषार्थ नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ कर्म का उदय मन्द होता है, वहाँ प्रमादी नहीं होना, परन्तु सावधान होकर अपना कार्य कर लेना, ऐसा जो कथन आता है, वह निमित्त से कथन है। कर्म तथा आत्मा को अत्यन्त अभाव है। मन्द कर्म के कारण कषाय की मन्दता होती है, ऐसी मान्यता करना, वह विपरीत दृष्टि है। पुण्य का भाव जीव का है, ऐसा यथार्थ ज्ञान करके फिर नौ भेदों से रहित मैं अखण्ड शुद्ध हूँ—ऐसी दृष्टि करना, वह धर्म है।

(४) **जीव भेद पाप** - जीव की पर्याय में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय के अशुभपरिणाम होना, वह पाप है। वह जीव का भेद है। परनिमित्त से या जड़ के अस्तित्व से पाप के परिणाम नहीं होते। अज्ञानी जीव कहते हैं कि क्या करें? ऐसा कर्म का उदय आया कि अशुभभाव होता है। कर्म के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तुझसे पर है, उसका अस्तिकाय तुझमें नहीं है। यदि कर्म से राग होता है तो मोक्ष होने का अवसर नहीं रहता। तू जीव है, विकाररूप हो या स्वभावरूप हो, वह तेरा भेद है; कर्म का भेद नहीं। अपने शुद्ध त्रिकाली स्वभाव को चूककर अशुभपरिणामरूप जीव स्वयं होता है, शरीर के कारण या पर के कारण अशुभभाव नहीं होते, अपने अस्तिकाय में होते हैं।

(५) **जीव का भेद आस्रव** - पुण्य-पाप के भाव, दोनों आस्रव हैं। कर्म के परमाणु आते हैं, इसलिए जीव में आस्रव होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म का आस्रव कर्म में है। कर्म जड़ है, कोई जवाहरात का व्यापार करे, कोई विद्यार्थी को पढ़ावे, कोई लड़के को विलायत पढ़ने भेजे, ऐसे अलग-अलग अशुभभाव का आस्रव होता है, उसका कारण भिन्न-भिन्न कर्म उदय में होंगे, इसलिए विचित्रता होगी? नहीं, कर्म के कारण विचित्रता नहीं है, तेरे कारण से विचित्रता है। जीव स्वयं आस्रवरूप होता है।

(६) **जीव का भेद बन्ध** - यह भावबन्ध की बात है, कर्म का बन्ध कर्म में है। कर्म जड़ है। जीव राग-द्वेष में रुक जाता है, वह भावबन्ध अपने अस्तिकाय में होता है। वह जीव का भेद है। कर्म के बन्ध को आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। भावबन्ध जड़ में नहीं है, जड़ के कारण नहीं है।

(७) **जीव का भेद संवर** - आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभावी है, ऐसी पहिचान करके जो सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह संवर है, वह जीव का भेद है। स्त्री, कुटुम्ब को छोड़ दिया या कर्म को रोक दिया, इसलिए संवर होता है, ऐसा नहीं है। कर्म पर है और विकार मेरा स्वरूप नहीं है। पुण्य-पापरहित स्वभाव का आश्रय करने से जो अरागी पर्याय प्रगट होती है, वह संवर है। संकल्प-विकल्प का अभाव करके संवर होता है, ऐसा जो कहा जाता है, वह व्यवहार से कथन है। जो विकल्प हुआ है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। उसका व्यय दूसरे समय में होता है तो वह किस प्रकार होता है? संकल्प-विकल्प की रुचि छोड़कर मैं शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसे भानपूर्वक स्वभाव में एकाग्र होने पर संकल्प-विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते, उसे विकल्प छोड़कर अथवा रोककर संवर किया, ऐसा कहा जाता है। कर्म आना रुक गया, इसलिए संवर हुआ? नहीं। यह जीवद्रव्य के अस्तिकाय की व्याख्या है। जीव के कारण जीव में संवर होता है।

(८) **जीव का भेद निर्जरा** - जीव की पर्याय में शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। कर्म का छूट जाना कर्म में है, उसे आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। स्वर्ण में अलग-अलग रंग के भेद पड़ते हैं, वह स्वर्ण के भेद हैं, उसी प्रकार जीव में अलग-अलग भेद पड़ते हैं, वे जीव के भेद हैं। अज्ञानी पर के कारण से कार्य मानता है। स्वपर्याय में नौ भेद का ज्ञान करना और त्रिकाली द्रव्य—सामान्य का ज्ञान करना, ऐसा दोनों का ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है।

(९) **जीव का भेद मोक्ष** - जीव मोक्षदशा प्राप्त करता है, वह जीव का भेद है। कर्म छूटे, इसलिए मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं है। जीव के कारण से जीव के अस्तिकाय में मोक्ष होता है।

पंचाध्यायी में **शंकाकार** कहता है कि नौ तत्त्व जीव में से निकल जाते हैं, इसलिए नौ पदार्थ नहीं कहना चाहिए। जीव तो एकरूप है, इसलिए एकरूप ही कहो न?

समाधान - नौ भेद जीव में होते हैं, इसलिए नौ भेद बराबर कहना चाहिए। पर्याय का सर्वथा अभाव मानने से पर्यायवान के अभाव का प्रसंग आयेगा और यदि पर से नौ भेद होते हों तो उनका निषेध नहीं किया जा सकता। वे भेद अपने से अपने में होते हैं,

ऐसा स्वीकार करने के पश्चात् स्वभाव का आश्रय लेने के लिये उसका निषेध करना चाहिए। परपदार्थ और कर्म आत्मा में नहीं है, तो उसका निषेध क्या करना? और पर के कारण से जीव में नौ भेद होते हों, तो उसका किस प्रकार निषेध करना? इसलिए अशुद्धता के परिणाम जीव में जीव के कारण से होते हैं, ऐसा निर्णय करके, उसका निषेध करे तो अभेद स्वभाव में स्थिर हो सकता है, परन्तु नौ भेद पर्याय में माने ही नहीं अथवा पर से माने तो उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। नौ भेद पर्याय में अपने से होते हैं और स्वयं त्रिकाल अभेदस्वरूपी है। ऐसा पर्याय और द्रव्य का ज्ञान करके स्वभाव सन्मुख ढलना, वह धर्म है।

और जीव को दस प्रकार से वर्णन करते हैं।

(१) **पृथ्वीकाय जीव** - समयसार में पृथ्वीकाय आदि जीवों के भेद को कर्मकृत कहा है, वहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाने और त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये ऐसा कहा गया है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। सचेत नमक के एक कण में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक-एक जीव है, वह पृथ्वीकाय का जीव एकेन्द्रियरूप से हुआ है, वह स्वयं के अपराध से हुआ है। नामकर्म के उदय से हुआ है, ऐसा नहीं है। कर्म पुद्गलास्तिकाय है, जीव में उसका अभाव है तथा कर्म रूपी है, जीव अरूपी है। और यहाँ एकेन्द्रिय शरीर की बात नहीं है, वह तो जड़ है, जीव स्वयं अपराध करके एकेन्द्रिय की हीनदशारूप हुआ है, वह अपराध जीव का है, कर्म का नहीं।

(२) **अपकाय जीव** - पानी की एक बूँद में असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में एक जीव है। एकेन्द्रिय शरीर की बात नहीं है, अन्दर जीव है, उसकी बात चलती है और एकेन्द्रिय कर्म का उदय आया, इसलिए पानी में जन्मा? नहीं; कर्म पुद्गल है, पुद्गल के कारण जीव में कुछ नहीं होता है।

पर के कारण अथवा कर्म के कारण विकास कम हुआ माना जाये तो पर्याय पराधीन होने से जीवद्रव्य पराधीन होता है, इसलिए जीव साबित नहीं होता। हीन परिणमनरूप जीव हुआ है, वह जीव का भेद है।

(३) **अग्निकाय जीव** - दियासलाई अथवा भट्टी में जो अग्नि दिखती है, वह

शरीर है, उसमें अरूपी अस्तिकाय का जीव है। शरीर तो पुद्गल है और कर्म पुद्गल है। दोनों रूपी है, जीव अरूपी है। जीव अपने कारण से हीनरूप परिणमा है। शरीर उष्ण मिला, इसलिए अग्निकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

पानी द्रवित है, इसलिए जलकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

पृथ्वी कठिन है, इसलिए पृथ्वीकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

प्रत्येक में जीव अपने कारण से है, इस प्रकार पर से भिन्न करके भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ९, गुरुवार

यहाँ जीवास्तिकाय का वर्णन है। जीव असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसमें समय-समय की अवस्था होती है, वह जीव के कारण होती है। पर के कारण नहीं होती। उदयादिभाव जीव का स्वतत्त्व है, कर्म के कारण वह नहीं है। दूसरा तत्त्व भले उपस्थित हो, परन्तु उसके कारण भेद नहीं पड़ता।

यहाँ जीव की पर्याय के स्वतन्त्र भेद बताकर, उन भेद अथवा राग जितना मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाली शुद्धद्रव्य हूँ, ऐसी अन्तररुचि का परिणमन करे तो सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शन होने से पहले पर्याय स्वतन्त्र स्वीकार करना चाहिए। जो जीव पर से पर्याय मानता है, उसे पर्यायदृष्टि टल नहीं सकेगी। जीव में समय-समय में क्रमबद्धपर्याय हुआ करती है। तीन काल की पर्याय जितना द्रव्य है और जितनी पर्याय उतने तीन काल के समय हैं। अमुक प्रकार का निमित्त आवे तो ऐसी पर्याय हो और अमुक प्रकार का निमित्त न आवे तो ऐसी पर्याय न हो, ऐसा माने तो पर्याय स्वतन्त्र नहीं रहकर द्रव्य अव्यवस्थित हो जाता है। उसे पर्यायदृष्टि टलकर द्रव्यदृष्टि नहीं हो सकेगी।

(४) वायुकाय - जीव के दस प्रकार के भेद कहते हैं, उसमें पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय की बात कल हो गयी है। यहाँ वायुकाय के शरीर की बात नहीं

तथा नामकर्म भी जड़ है। अन्दर जीव की पर्याय एकेन्द्रिय गति के योग्य है, उसकी बात चलती है। वह जीव का भेद है। शरीर और कर्म का जीव में अत्यन्त अभाव है। जीव की पर्याय कर्म से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करने की जिसे सामर्थ्य नहीं है, उसे विकार से भिन्न मैं शुद्ध चिदानन्दस्वभावी हूँ, ऐसा भेदज्ञान करने की ताकत प्रगट नहीं होगी।

अज्ञानी मानता है कि कर्म के उदय के कारण जीव वायुकायरूप से हुआ, परन्तु यह मान्यता भूल-भरी है। जीव के द्रव्य-गुण शुद्ध हैं परन्तु पर्याय में जो अशुद्धता और हीनता है, वह जीव की पर्याय की योग्यता के कारण से है, कर्म अथवा शरीर के कारण नहीं। और जीव की एकेन्द्रिय की योग्यता हुई, इसलिए शरीर उसरूप परिणमा, ऐसा भी नहीं है। तथा नामकर्म का उदय आया, इसलिए शरीर एकेन्द्रियरूप परिणमा, ऐसा भी नहीं है। जीव की एकेन्द्रियपने की योग्यता, कर्म का उस प्रकार का उदय और शरीर का एकेन्द्रियरूप होना, तीनों एक समय में होने पर भी, एक के कारण दूसरा नहीं है। एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। एक के कारण दूसरे का कार्य माना जाये तो कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाता है। जीव और पुद्गल में अत्यन्त अभाव है और पुद्गल की एक पर्याय को पुद्गल की दूसरी पर्याय के साथ अन्योन्यअभाव है। जो अभावरूप हो, वह दूसरे में क्या कर सकता है ? कुछ नहीं करता। तो भी जो जीव एक के कारण दूसरे में कार्य होना मानता है, वह ईश्वरकर्ता की मान्यतावाले की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

जीव विग्रहगति में होता है, तब भी स्वतन्त्र है। आनुपूर्वीनामकर्म का उदय है, इसलिए एकेन्द्रिय का परिणमन है अथवा कर्मणशरीर साथ में है, इसलिए एकेन्द्रियपना हुआ है, ऐसा नहीं है। कर्मणशरीर या औदारिकशरीर के कारण जीव का एकेन्द्रियपना नहीं है। जीव के एकेन्द्रियपने के कारण शरीर नहीं है। शरीर, शरीर की योग्यता से है तो जीव का एकेन्द्रियपना निमित्त कहलाता है। जीव, जीव में है; जीव, पुद्गल में नहीं है। पुद्गल, पुद्गल में है; पुद्गल जीव में नहीं है। एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, परन्तु एक-दूसरे में किसी का प्रवेश नहीं है। ऐसा समझे तो एक जीव दूसरे को मार

सकता है अथवा बचा सकता है, ऐसी ताकत किसी जीव में नहीं है, ऐसा निर्णय होता है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन अंश अपने (अपने में) हैं। एक के कारण दूसरे में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं है। इस प्रकार स्वतन्त्र समझे तो पर से पृथक् पड़कर द्रव्य की ओर ढलने का अवसर रहता है।

(५) **प्रत्येक (वनस्पति)** - एक शरीर में एक जीव रहता है, यह निमित्त का कथन है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। गति, लेश्या, कषाय आदि के जो परिणाम होते हैं, वे कर्म के कारण अथवा शरीर के कारण नहीं हैं परन्तु अपने कारण से हैं। और जीव के परिणाम के कारण शरीर आता है, ऐसा भी नहीं है और कर्म के कारण शरीर आता है, ऐसा भी नहीं है। कर्म कार्मण के परमाणु हैं और शरीर औदारिक (आहारवर्गणा) के परमाणु हैं। प्रत्येक वनस्पति जीव का भेद स्वयं के कारण से है, वह कर्म के और शरीर के निमित्त से कहा जाता है। राग-द्वेष मुझसे होते हैं, वह मेरा भेद है, ऐसा ज्ञान करके, अंश जितना मैं नहीं; मैं तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य हूँ—ऐसा ज्ञान करके द्रव्य का आश्रय ले, तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त में से, राग में से या पर्याय में से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

नियमसार और समयसार में ऐसा कहा है कि जीव के व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम जड़ हैं, पुद्गल के हैं, क्योंकि शुद्धस्वभाव में से वे परिणाम निकल जाते हैं, इसलिए हेय हैं। शुद्ध चैतन्यस्वभाव एक ही आदरणीय है।

यहाँ पंचास्तिकाय में कहते हैं कि रागादि परिणाम तेरी योग्यता से होते हैं, वह जीव का भेद है। ऐसा स्वीकार करे तो अभेद की दृष्टि होती है।

प्रश्न - तो पहले कौन सी पुस्तक पढ़ना? समयसार या पंचास्तिकाय?

समाधान - पर्याय अपनी है, ऐसा अंश का सच्चा ज्ञान तब ही होता है कि यदि अपनी ओर उन्मुख हो तो। उपशम, औदयिक, क्षयोपशम, या क्षायिक किसी भी भाव की पर्याय स्वतन्त्र होती है, ऐसा प्रथम व्यवहारज्ञान करता है, परन्तु अंशी द्रव्यस्वभाव के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं कहलाता। द्रव्यानुयोग में दृष्टिप्रधान कथन में

राग को असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है और अभूतार्थ कहा है। पंचास्तिकाय में ज्ञानप्रधान कथन में रागादि परिणाम को अशुद्धनिश्चय का विषय कहा है और वह समयमात्र भूतार्थ है, उस व्यवहारनय के विषय का ज्ञान करना चाहिए। उसे परतन्त्र माने, वह तो स्थूल भूल में है, इसलिए उसे एकसमयमात्र का भूतार्थ कहा है। वह तेरी पर्याय में तेरे कारण से होता है परन्तु वह राग व्यवहारनय का विषय है, वह ज्ञेय है परन्तु राग अथवा व्यवहारनय के आश्रय से धर्म नहीं होता, इसलिए अनित्य-भूतार्थ को गौण करके निश्चय की दृष्टि में उसे अभूतार्थ कहा है। और त्रिकाली एकरूप स्वभाव को भूतार्थ कहा है।

समयसार गाथा ११ में कहा है -

**व्यवहारनय अभूतार्थदर्शित शुद्धनय भूतार्थ है
भूतार्थ आश्रित आत्मा सदृष्टि निश्चय होय है।**

पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकार करे, उसे त्रिकाली स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है। पर्याय में विविधता और विचित्रता है, वह मेरा भेद है, ऐसा निर्णय किये बिना द्रव्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न - पहले कौन सा ज्ञान करना ?

समाधान - भूतार्थ त्रिकाली शुद्ध हूँ, ऐसा निश्चय का ज्ञान किये बिना पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं कहलाता। अभेद के बिना भेद किसका ? विकार स्वतन्त्र होता है, ऐसा साधारण निश्चित करे परन्तु स्वभाव का ज्ञान किये बिना रागादि पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। मेरा ज्ञान मेरे अखण्ड स्वभाव में से आता है, ऐसा निर्णय करने से जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान जानता है कि इस प्रकार के व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग पर्याय में वर्तते हैं और ऐसे निमित्त हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान निमित्त और राग में से नहीं आता, अपितु द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। परन्तु जीव परिपूर्ण वीतराग न हो, तब तक साधकदशा में शुभराग आता है। वीतराग भगवान् परिपूर्ण हो गये, उन्हें नय नहीं है। अज्ञानी को नय नहीं है, साधक को नय है। साधक जीव नय ज्ञान से चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में) जिस प्रकार के शुभराग का व्यवहार होता है,

उसे जान लेता है। जड़ की पर्याय व्यवहार नहीं है।

इस प्रकार जिसे निश्चयदृष्टि हुई है कि शरीर, कर्म, इत्यादि पर हैं और राग मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे निश्चय के भानवाले को जो राग-द्वेषादि के परिणाम वर्तते हैं, उन्हें समयसार में व्यवहार कहा है, परन्तु निश्चय के भाव बिना व्यवहार नहीं कहा जाता। समयसार में जो रागादि परिणाम को व्यवहार कहा है, उसे यहाँ अशुद्धनिश्चय से अपने हैं, ऐसा कहकर ज्ञान कराते हैं।

(६) साधारण (वनस्पति) - नित्यनिगोद के जीव अपने प्रचुर बुरे परिणामों के कारण निगोद में रहे हैं। कर्म के कारण निगोदपना है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु - तो फिर एकान्त हो जाता है।

समाधान - जीव स्वयं से है और पर से नहीं, यही अनेकान्त है। अपने धर्म अपने में हैं और पर के धर्म पर में हैं।

एक वस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली (अस्ति-नास्ति आदि) अपने में है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि संज्ञी जीवों को मन है, इसलिए पुरुषार्थ कर सकते हैं, परन्तु असंज्ञी जीवों को मन नहीं, इसलिए वहाँ कर्म का जोर है; इसलिए पुरुषार्थ नहीं कर सकते। तो यह बात मिथ्यात्व है। प्रत्येक जीव पुरुषार्थ अपने कारण से करता है। मन है तो पुरुषार्थ करता है, ऐसा नहीं है और मन का अभाव है, इसलिए पुरुषार्थ रुकता है, ऐसा भी नहीं है।

यह जैनदर्शन है। सर्वज्ञ ने वस्तु बनायी नहीं। वस्तु जैसी है, वैसी देखी है और वाणी द्वारा आयी है। वस्तु, वस्तु के कारण से है। सर्वज्ञ, सर्वज्ञ के कारण से है। नित्यनिगोद का जीव जो अभी तक त्रस भी नहीं हुआ, वह अपने कारण से है और शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, श्वास, आहार एक साथ लेते हैं—ऐसा जो कथन आता है, वह व्यवहार का कथन है। शरीर, श्वास, आहार इत्यादि भेद पुद्गल के हैं; जीव के भेद नहीं। अपने कारण से नित्य या व्यवहार निगोदरूप रहा है। यदि पर्याय पर से मानी जाये तो पर्याय अपनी रहती नहीं, इसलिए द्रव्य पर्याय बिना का हो जाता है। ऐसा मानने से ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है।

यहाँ प्रथम निमित्त से भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि त्रिकाल गुण हैं, उनकी जितनी पर्याय, उतने समय हैं और जितने समय, उतनी पर्यायें हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान आदि के भाव स्वयं के कारण से हैं, दर्शनमोह के कारण से नहीं। जड़कर्म के कारण वे भाव होंवे तो कर्म की ओर देखना रहे। परन्तु अपने स्व चतुष्टय के सन्मुख देखना नहीं रहता, ऐसे जीव को धर्म नहीं होता।

वनस्पतिकाय के जीव को मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, गति का भाव इत्यादि जो परिणाम होते हैं, वे उसके असंख्य प्रदेश में होते हैं, इस प्रकार क्षेत्र एक है परन्तु काल एक समय का है। ज्ञान-दर्शनादि जो गुण हैं, वे असंख्य प्रदेश में हैं, परन्तु वे त्रिकाल हैं। इस प्रकार राग एक समय का होने पर भी, वह अपने कारण से है, जड़ में नहीं तथा जड़ के कारण से नहीं; इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करना चाहिए।

और निगोद में से निकलकर कोई जीव मनुष्य हो तो कर्म मन्द पड़ा, इसलिए मनुष्य हुआ, ऐसा नहीं है, परन्तु अपने कारण से ऊँचा आता है। जैसे द्रव्य-गुण स्वतन्त्र है, वैसे पर्याय भी स्वतन्त्र है, उसका कोई कर्ता नहीं है। इस गाथा में शब्द थोड़े हैं, परन्तु पीछे भाव बहुत है। कुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य भावलिंगी समर्थ आचार्य थे। अपने स्वभाव के आश्रय से तीन कषायों का नाश किया है और कर्मों का नाश तो उनके कारण से हो गया है। ऐसे चारित्रवन्त मुनियों को विकल्प उठा है और पुस्तक की रचना पुस्तक के कारण से हुई है। आचार्य कहते हैं कि हमसे पुद्गल में कुछ नहीं होता और पुद्गल से हमारे में भेद नहीं पड़ता। वे कहते हैं कि भाई! प्रत्येक जीव के परिणाम स्वयं से होते हैं। यह तेरी स्वतन्त्रता की बात होती है। निगोद में तीन भाव होते हैं। पारिणामिकभाव त्रिकाली है और औदयिक और क्षयोपशमिकभाव पर्याय में है, वह निगोद का जीव स्वतन्त्र करता है।

(१) यदि उदयभाव न हो तो सिद्धदशा हो जाये,

(२) यदि ज्ञानादि की क्षयोपशमभाव न हो तो केवल (ज्ञान) दशा हो जाये,

(३) यदि त्रिकाली पारिणामिकज्ञान न हो तो जीव का अभाव हो जाये।

तत्त्वार्थसूत्र में रागादि औदयिकभाव को स्वतत्त्व कहा है और समयसार में रागादि

को परतत्त्व कहा है। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है। विकार छूट जाता है, इसलिए उसे परतत्त्व कहा है। और जड़पदार्थों को तो आत्मा छोड़ता नहीं, क्योंकि उन्हें कभी ग्रहण ही नहीं किया। परन्तु राग को आत्मा छोड़ता है अथवा नाश करता है, ऐसा कहना व्यवहार है। जिस समय राग का उत्पाद है, उसका उस समय में किस प्रकार नाश करना? और जो राग नहीं, उसका क्या नाश करना? स्वभावदृष्टिपूर्वक लीनता होने पर राग उत्पन्न नहीं हुआ, तब राग को छोड़ा अथवा नाश किया, ऐसा कथन किया जाता है।

यहाँ साधारण वनस्पतिकाय के जीव की बात चलती है। गोम्मटसार में गाथा १९७ में लिखा है कि 'भावकलंक सुपउरा' निगोद के जीव अपने बहुत प्रचुर बुरे परिणाम के कारण निगोद अवस्था को छोड़ते नहीं, अर्थात् कि वहीं के वहीं रहते हैं।

प्रश्न - कर्म का प्रभाव जीव में पड़ता है न?

समाधान - नहीं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव है, जो अभावरूप हो, वह असर किस प्रकार करे? यदि असर करे तो भावरूप हो जाता है। अभाव नहीं रहता। एक स्कन्ध की पर्याय में एक परमाणु की पर्याय दूसरे को स्पर्श नहीं करती। दो गुण अधिक हों तो स्कन्धरूप होता है, तो फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रभाव डाले, यह असम्भवित है। कोई भी कार्य पर्याय में होता है, द्रव्य-गुण में कार्य नहीं होता। यदि कार्य परतन्त्र माना करे तो स्वतन्त्र होने का अवसर नहीं रहता, इसलिए यहाँ स्वतन्त्रता का ज्ञान कराते हैं।

(७) **दो इन्द्रिय** - दो इन्द्रिय शरीर, वह जीव नहीं है। भाव दो इन्द्रियपना जीव का भेद है; और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण ज्ञान का उघाड़ नहीं है, और नामकर्म के कारण दो इन्द्रिय का शरीर नहीं है। (कर्म) कर्मणशरीर के परमाणु हैं। इन्द्रिय औदारिक के परमाणु हैं, दोनों की जाति अलग है। एक परमाणु की पर्याय दूसरे परमाणु की पर्याय को नहीं बनाती तो कर्म परमाणु से या शरीर के परमाणु से आत्मा में कार्य हो, ऐसा नहीं होता। सब स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करके राग जितना मैं नहीं, मैं तो ज्ञाता हूँ - ऐसा भान करना, वह धर्म है। ऐसे भान बिना व्रत, तप, सब बिना एक के शून्य जैसे हैं।

(८) त्रीन्द्रिय - अन्दर तीन भावेन्द्रिय का उघाड़ हुआ, वह जीव का भेद है। अपने ज्ञान का उत्पाद अपने कारण से है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कर्म के कारण से है।

प्रश्न - पुद्गल में और जीव में एक समय में एक सरीखा परिणमन होता है, इसलिए भ्रम पड़ता है ?

उत्तर - नहीं। अपने अज्ञान के कारण भ्रम पड़ता है। सूर्य उगता है और कमल खिलता है; हवा आती है और पानी में तरंग उठती है। सब एक साथ होने पर भी किसी के कारण कोई नहीं है। कोई किसी में प्रभाव डाले या प्रेरणा करे, ऐसा नहीं होता। कोई पर्याय नहीं होनेवाली थी और होती है, ऐसा भी नहीं होता। जीव और पुद्गलादि प्रत्येक पदार्थ की जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। जीव का भेद जीव में और पुद्गल का भेद पुद्गल में है, ऐसा भेद समझे तो द्रव्यदृष्टि होने का अवकाश रहता है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार

आत्मा सामान्यस्वभाव से एकरूप है और विशेषरूप के भेद पड़ते हैं, वे स्वयं के कारण से पड़ते हैं। निमित्त के कारण भेद नहीं पड़ता, यहाँ दस प्रकार के जीव के भेद की बात चलती है।

(९) चतुरिन्द्रिय - जीव चतुरिन्द्रियरूप से हुआ है, वह अपनी योग्यता से हुआ है। कर्म के कारण जीव चतुरिन्द्रियरूप हुआ नहीं है तथा चार इन्द्रियाँ हैं, इसलिए जीव चतुरिन्द्रिय है, ऐसा नहीं है। जीव अपने कारण से उसरूप हुआ है। जड़ परमाणु के कारण जीव में भेद नहीं पड़ता। मक्खी, पतंगिया इत्यादि जीवों के शरीर ऊँचे चलते हैं, इसलिए जीव ऊँचा चलता है, ऐसा नहीं है। शरीर, शरीर के कारण और आत्मा, आत्मा के कारण से ऊँचा जाता है।

(१०) पंचेन्द्रिय - नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यच के शरीर दिखते हैं, वे पंचेन्द्रिय

जीव नहीं हैं। अन्तर में ज्ञान का विकास-उघाड़ है, वह स्वयं का भेद है। उघाड़ है, इसलिए पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, ऐसा नहीं है। और पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, इसलिए उघाड़ है, ऐसा नहीं है। पाँच इन्द्रियाँ पुद्गल का स्कन्ध है, वह पुद्गल के कारण से है। जीव का भाव पंचेन्द्रियपना, जीव के कारण से है, किसी के कारण से कोई नहीं है।

लोग कहते हैं कि पाँच इन्द्रियों को वश करना, वह धर्म है। परन्तु भाई! कौन सी पाँच इन्द्रियाँ? यह पाँच इन्द्रियाँ दिखती हैं, वह तो जड़ है, उन्हें वश करता हूँ—ऐसा मानना तो मिथ्याभाव है। जीव उसे वश नहीं कर सकता। भाव पंचेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर खण्ड-खण्ड झुकती है, उन्हें अखण्डस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान की ओर झुकाकर अखण्ड ज्ञान उपयोग करना, वह पाँच इन्द्रियों का जीतना है।

मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे स्वभाव में एकाग्र होने पर भावेन्द्रिय वश होती है। जड़ इन्द्रियों को वश करना नहीं पड़ता। इस प्रकार दस प्रकार जीव के कहे।

प्रत्येक भेद जीव के कारण से है। अज्ञानी जीव राग-द्वेष, उपशम, क्षायिकभाव इत्यादि कर्म से मानता है, परन्तु आचार्य कहते हैं, कि प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा माने तो द्रव्य स्वतन्त्र मानने की श्रद्धा प्रगटे।

●●

मुनिराज की परिणति में वैराग्य का ज्वार

जैसे पूर्णमासी के दिन पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है; वैराग्य का ज्वार आता है, आनन्द का ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्याय का यथासम्भव ज्वार आता है। यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है; सब कुछ उछलता है। धन्य है वह मुनिदशा।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासनं सव्वं, ४०३, पृष्ठ ११३

पयडिटिठदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।

उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति॥७३॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः सर्वतो मुक्तः।

ऊर्ध्वं गच्छति शेषा विदिग्वर्जां गतिं यांति॥७३॥

बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः। मुक्तस्याप्यूर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम्
॥७३॥

- इति जीवद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

प्रकृति थिति अनुभाग बन्ध प्रदेश से जो मुक्त हैं।

वे उर्द्धगमन स्वभाव से हैं प्राप्त करते सिद्धपद॥७३॥

अन्वयार्थ :- [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध से [सर्वतः मुक्तः] सर्वतः मुक्त जीव [ऊर्ध्वं गच्छति] ऊर्ध्वगमन करता है; [शेषाः] शेष जीव (भवान्तर में जाते हुए) [विदिग्वर्जा गतिं याति] विदिशाएँ छोड़कर गमन करते हैं।

टीका:-बद्ध जीव को कर्मनिमित्तक षड्विध गमन (अर्थात् कर्म जिसमें निमित्तभूत हैं, ऐसा छह दिशाओं में गमन) होता है; मुक्त जीव को भी स्वाभाविक ऐसा एक ऊर्ध्वगमन होता है।-ऐसा यहाँ कहा है।

भावार्थ:-समस्त रागादिविभाव रहित ऐसा जो शुद्धात्मानुभूतिलक्षण ध्यान उसके बल द्वारा चतुर्विध बन्ध से सर्वथा मुक्त हुआ जीव भी, स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त वर्तता हुआ, एकसमयवर्ती अविग्रहगति द्वारा (लोकाग्रपर्यन्त) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करता है। शेष संसारी जीव मरणान्त में विदिशाएँ छोड़कर पूर्वोक्त षट्-अपक्रमस्वरूप (कर्मनिमित्तक) अनुश्रेणीगमन करते हैं॥७३॥

इस प्रकार जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार

जो जीव सिद्धदशा प्राप्त करता है, वह ऊर्ध्वगति से जाता है और जो संसारी है, वह छह दिशा में जाता है। मुक्त जीव हों, या संसारी हों, परन्तु अपने कारण से गमन करते हैं। कर्म के कारण से गमन नहीं करते।

शुद्ध जीव चार प्रकार के बन्धों से छूटते हैं। कर्मों का स्वभाव, वह प्रकृति; कर्मों के रहने की स्थिति, वह स्थिति; कर्म के परमाणुओं की संख्या, वह प्रदेश और फलदान शक्ति, वह अनुभाग—इन चार प्रकार के बन्धों से सर्वांग असंख्य प्रदेशों से छूटकर शुद्धजीव सिद्धगति को प्राप्त करता है, एक समय में ऊर्ध्वगति के स्वभाव से मोक्षस्थान में पहुँच जाता है।

भावार्थ – जो जीव आठ कर्मों से रहित होता है, वह एक समय में अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव से श्रेणीबद्ध प्रदेशों द्वारा मोक्षस्थान में पहुँच जाता है। संसारी का स्वभाव छह दिशा में जाने का है और सिद्ध का स्वभाव एक समय में लोकाग्र में जाने का है।

जयसेन आचार्य ने टीका में लिखा है कि ‘एकसमयलक्षणाविग्रहःगत्योर्ध्व गच्छति’=ऊर्ध्वगमन – अविग्रहगति का समय ही एक है, एक समय ही उसका लक्षण है, वह लोकाग्र में रुकता है, वह अपने कारण से रुकता है, ऊर्ध्व चला ही जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, एक ही समय ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है। शुद्ध जीव जिस जगह मुक्तदशा पाता है, वहाँ समश्रेणी से ऊर्ध्व जाता है और लोकाग्र में विराजता है। धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध लोक से आगे नहीं जा सकते, ऐसा नहीं है। अपने कारण से नहीं जाते, ऐसा स्वभाव है और तब धर्मद्रव्य का अभाव निमित्त है। निमित्त बतलाना हो, तब ऐसा कहा जाता है कि धर्मद्रव्य के अभाव के कारण सिद्ध अलोक में नहीं जाते। यहाँ सिद्ध का स्वतन्त्र स्वभाव बतलाते हैं। यदि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण जीव अटक जाये तो वह जीव का भेद नहीं रहता, अजीव का भेद हो जाता है। यहाँ सिद्ध की ऊर्ध्वगमन की पर्याय स्वतन्त्र बतलाकर जीव का भेद बतलाना है।

बाकी के संसारी जीव वे निगोद से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का चार कोने छोड़कर ऊर्ध्व, अधो, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऐसी छह दिशा में जाने का स्वभाव है। स्वर्ग में जाये या नरक में जाये तो अपनी योग्यता से जाता है, कर्म के कारण नहीं जाता।

संसारी जीव जो अलग-अलग देह में रहते हैं, उतने प्रमाण में वे अपने कारण से रहते हैं। कर्म के कारण नहीं रहते और मुक्त होते हैं तो भी अपने कारण से होते हैं।

भावार्थ - मोक्षगामी जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव से एक समय में लोकाग्र में विराजते हैं। उनके अतिरिक्त समस्त जीव छह दिशा में गमन करते हैं। चार विदिशा में नहीं जाते।

इस प्रकार २७वीं गाथा का स्पष्टीकरण हुआ कि जीव कर्ता-भोक्ता अपना है। कर्मसहित हो, कर्मरहित हो, ऊर्ध्वगमन हो या छह दिशा में गमन हो, वह स्वयं के कारण से है।

यह जीवद्रव्य के अस्तिकाय का व्याख्यान पूरा हुआ।

●●

णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं

जिस प्रकार व्यापारी लोग, दीपावली आदि के अच्छे मौसम में व्यापार की धूम मचाकर थोड़े ही समय में बहुत कमाई कर लेते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा जीव, धर्मसाधना के मौसमरूप चारित्रदशा में धर्म की धूम मचाकर महान मोक्ष का वैभव प्राप्त कर लेते हैं। धर्मसाधना का मौसम ही साधुपद कहलाता है। उसी के लिए बारह भावनाएँ हैं। धर्मीजीव भावना भाता है कि अहा! चारित्रदशा किसे अच्छी न लगेगी? हम तो ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के दास हैं। उन्हें हम 'णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं' कहकर अत्यन्त बहुमान से नमस्कार करते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ५, पृष्ठ ११२

गाथा - ७४

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।

इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ।।७४।।

स्कंधाश्च स्कंधदेशाः स्कंधप्रदेशाश्च भवन्ति परमाणवः।

इति ते चतुर्विकल्पाः पुद्गलकाया ज्ञातव्याः ।।७४।।

अथ पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम्। पुद्गलद्रव्यविकल्पादेशोऽयम्। पुद्गलद्रव्याणि हि कदाचित्स्कंधपर्यायेण, कदाचित्स्कंधदेशपर्यायेण, कदाचित्स्कंध-प्रदेशपर्यायेण, कदाचित्परमाणुत्वेनात्र तिष्ठन्ति। नान्या गतिरस्ति। इति तेषां चतुर्विकल्पत्वमिति ।।७४।।

अब पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

स्कन्ध उनके देश अर परदेश परमाणु कहे।

पुद्गलकाय के ये भेद चतु यह कहा जिनवर देव ने ।।७४।।

अन्वयार्थ :- [ते पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय के [चतुर्विकल्पाः] चार भेद [ज्ञातव्याः] जानना; [स्कंधाः च] स्कन्ध, [स्कंधदेशाः] स्कन्धदेश [स्कंधप्रदेशाः] स्कन्धप्रदेश [च] और [परमाणवः भवन्ति इति] परमाणु।

टीका:-यह, पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है।

पुद्गलद्रव्य कदाचित् स्कन्धपर्याय से, कदाचित् स्कन्धदेशरूप पर्याय से, कदाचित् स्कन्धप्रदेशरूप पर्याय से और कदाचित् परमाणुरूप से यहाँ (लोक में) होते हैं; अन्य कोई गति नहीं है। इस प्रकार उनके चार भेद हैं ।।७४।।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार

पुद्गल-द्रव्य-अस्तिकाय का व्याख्यान करते हैं, जिसमें प्रथम पुद्गल के भेद कहते हैं।

(१) **पुद्गल स्कन्ध** - एक पुद्गल पिण्ड स्कन्ध जाति का है अर्थात् कि वह परिणमन पुद्गल का है। शरीर को जीव ने बनाया नहीं। दाल, भात, रोटी के परमाणु पलटकर शरीर के स्कन्धरूप हुए हैं। अज्ञानी परपदार्थों के ग्रहण-त्याग का स्वामी होता है और मानता है कि मैंने इतने पदार्थ छोड़े, वह अज्ञानभाव है। मुनि अपने लिये बनाया हुआ आहार ग्रहण नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि आहार के प्रति का लक्ष्य छूट जाता है और आहार तो उसके कारण से छूट जाता है। आहार पुद्गल के स्कन्ध का आना और पृथक् पड़ना, वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण से नहीं।

(२) **पुद्गल स्कन्धदेश** - स्कन्ध का आधा भाग हो, उसे स्कन्धदेश कहते हैं। वह पुद्गल से हुआ है। लकड़ी के दो टुकड़े होना या चावल के दो टुकड़े होना, वह पुद्गल का स्कन्धदेश है। वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण से नहीं। वे टुकड़े जीव से नहीं हुए, वह पुद्गल का स्कन्धदेश है। ईश्वर से अथवा जीव की इच्छा से या ज्ञान से स्कन्धदेश हुआ नहीं है। किसी भी स्कन्ध के दो समान भाग पड़ें, उसे पुद्गल स्कन्धदेश कहते हैं, वह पुद्गल के कारण से होता है।

(३) **पुद्गल स्कन्धप्रदेश** - पूरे स्कन्ध के चौथे हिस्सेरूप स्कन्ध हो, उसे पुद्गल स्कन्धप्रदेश कहते हैं। पुद्गल स्वयं स्कन्ध प्रदेशरूप होता है। अज्ञानी जीव पुद्गल का स्कन्ध स्वयं से होना मानकर अभिमान करता है और ज्ञानी पुद्गल की अवस्था का ज्ञान करता है।

(४) **पुद्गल परमाणु** - पुद्गल स्कन्ध में से परमाणु पृथक् पड़कर अकेला रहे तो भी स्वयं के कारण से है। जीव के कारण से वह पृथक् नहीं पड़ता। अथवा अकेला परमाणु पृथक् भी है, वह भी स्वयं के कारण से है।

इस प्रकार पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्ध का आधा भाग, चौथाई भाग या परमाणु यह चार प्रकार पुद्गल के कारण से है। जीव के कारण से नहीं। इस प्रकार चार भेद 'ज्ञाताव्या' - जाननेयोग्य कहे हैं। परन्तु तू उन्हें कर सकता है, अथवा तोड़ सकता है, ऐसा नहीं कहा। इसलिए जीव को पुद्गल के कर्तापने का अभिमान छोड़ना चाहिए, ऐसा कहने का हेतु है।

अज्ञानी बाई घर की चीजों के बंटवारे में ममता करती है। भाई मणियारा के रुपये के बंटवारे में ममता करते हैं और मानते हैं कि यह स्कन्ध की अवस्था हमसे होती है। रुपये की, रोटी की, सब्जी इत्यादि की जड़ पदार्थों की टुकड़ेरूप या पूरुरूप अवस्था होना उस-उस पुद्गल परमाणु के कारण से है। पुद्गल इकट्ठा रहे या पृथक् रहे, स्कन्धरूप हो या अर्ध भागरूप हो, वह अपने कारण से है। जीव उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। इस प्रकार ज्ञान करे तो पुद्गल का अभिमान छूट जाये और स्वयं उसका ज्ञाता रहे तो धर्म हो।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ११, शनिवार

यह पुद्गलास्तिकाय का अधिकार है। पुद्गल का स्कन्ध पुद्गल के कारण से होता है। जीव उसका जाननेवाला है। स्कन्ध हो या उसका भेद हो, वह आत्मा से नहीं होता, वह पुद्गल के कारण से होता है।

पुद्गलद्रव्य का परिणमन चार प्रकार से है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—ऐसे चार के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भेद हो, वह इन चार भेदों में आ जाता है।

●●

मुनिराज की अलौकिक दशा

मुनिराज की दशा अलौकिक है, जात्यन्तर है। मुनिराज, स्वरूप-उपवन में लीला करते-करते अर्थात् स्वरूप-उपवन में रमते-रमते कर्मों का नाश करते हैं। वे दुःखी नहीं होते — ऐसी उनकी जात्यन्तर दशा है, लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूप में ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तर की आनन्द-क्रीड़ा में रमने लगे, उनकी लीला जात्यन्तर है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ३२

गाथा - ७५

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
 अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥७५॥
 स्कंधः सकलसमस्तस्तस्य त्वर्धं भणन्ति देश इति।
 अर्धार्धं च प्रदेशः परमाणुश्चैवाविभागी ॥७५॥

पुद्गलद्रव्यविकल्पनिर्देशोऽयम्। अनन्तानन्तपरमाण्वारब्धोऽप्येकः स्कंधो नाम पर्यायः। तदर्थं स्कंधप्रदेशो नाम पर्यायः। तदर्धार्धं स्कंधप्रदेशो नाम पर्यायः। एवं भेदवशात् द्व्यणुकस्कंधादनन्ताः स्कंधप्रदेशपर्यायाः। निर्विभागेकप्रदेशः स्कंधस्यांत्यो भेदः परमाणुरेकः। पुनरपि द्वयोः परमाण्वोः संघातादेको द्व्यणुकस्कंधपर्यायः। एवं संघातवशादनन्ताः स्कंधपर्यायाः। एवं भेदसंघाताभ्यामप्यनन्ता भवन्तीति ॥७५॥

स्कन्ध पुद्गलपिंड है अर अद्ध उसका देश है।

अर्धार्द्ध को कहते प्रदेश अविभागी अणु परमाणु है ॥७५॥

अन्वयार्थ :- [सकलसमस्तः] सकल-समस्त (पुद्गलपिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु) वह [स्कंधः] स्कन्ध है। [तस्य अर्थ तु] उसके अर्थ को [देशः इति भणन्ति] देश कहते हैं, [अर्धार्धं च] अर्ध का अर्थ वह [प्रदेशः] प्रदेश है [च] और [अविभागी] अविभागी वह [परमाणुः एव] सचमुच परमाणु है।

टीका:-यह, पुद्गल भेदों का वर्णन है।

अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो, वह स्कन्ध नाम की पर्याय है; उसकी आधी स्कन्धदेश नामक पर्याय है; आधी की आधी स्कन्धप्रदेश नाम की पर्याय है। इस प्रकार भेद के कारण (पृथक् होने के कारण) द्वि-अणुक स्कन्धपर्यन्त अनन्त स्कन्धप्रदेशरूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग-एक-प्रदेशवाला, स्कन्ध का अन्तिम अंश, वह एक परमाणु है। (इस प्रकार *भेद से होनेवाले पुद्गलविकल्पों का वर्णन हुआ।)

* भेद से होनेवाले पुद्गलविकल्पों का (पुद्गल भेदों का) टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने जो वर्णन किया है, उसका तात्पर्य निम्नानुसार है:- अनन्त परमाणु पिण्डात्मक घटपटादिरूप जो विवक्षित सम्पूर्ण वस्तु उसे 'स्कन्ध' संज्ञा है। भेद द्वारा उसके जो पुद्गलविकल्प होते

पुनश्च, दो परमाणुओं के संघात से (मिलने से) एक द्विअणुक-स्कन्धरूप पर्याय होती है। इस प्रकार संघात के कारण (द्विअणुकस्कन्ध की भाँति त्रिअणुक-स्कन्ध, चतुरणुक-स्कन्ध इत्यादि) अनन्त स्कन्धरूप पर्यायें होती हैं। (इस प्रकार संघात होनेवाले पुद्गलविकल्प का वर्णन हुआ।)

इस प्रकार भेद-संघात दोनों से भी (एक साथ भेद और संघात दोनों होने से भी) अनन्त (स्कन्धरूप पर्यायें) होती हैं। (इस प्रकार भेद-संघात से होनेवाले पुद्गलविकल्प का वर्णन हुआ)॥७५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ११, शनिवार

अब इन चार प्रकार के पुद्गल के लक्षण कहते हैं।

(१) स्कन्ध - पुद्गल का स्कन्धभेद अनन्त परमाणु का बना हुआ एक पिण्ड है, वह जीव से नहीं हुआ। शरीर, वाणी, कर्म के स्कन्ध की अवस्था जीव से नहीं होती। रोटी, सब्जी आदि के स्कन्ध मुझसे नहीं होते, वे मुझसे भिन्न हैं। पर का मैं कर्ता नहीं, मैं तो जाननेवाला हूँ। इस प्रकार स्व को जानते हुए, पर ज्ञात हो जाता है।

हैं, वे निम्नोक्त दृष्टान्तानुसार समझना। मान लो कि १६ परमाणुओं से निर्मित एक पुद्गलपिण्ड है और वह टूटकर उसके टुकड़े होते हैं। वहाँ १६ परमाणुओं के पूर्ण पुद्गलपिण्ड को 'स्कन्ध' माने तो ८ परमाणुओंवाला उसका अर्धभागरूप टुकड़ा वह 'देश' है, ४ परमाणुओंवाला उसका चतुर्थभागरूप टुकड़ा वह 'प्रदेश' है और अविभागी छोटे-से-छोटा टुकड़ा वह 'परमाणु' है। पुनश्च, जिस प्रकार १६ परमाणुवाले पूर्ण पिण्ड को 'स्कन्ध' संज्ञा है, उसी प्रकार १५ से लेकर ९ परमाणुओं तक के किसी भी टुकड़े को भी 'स्कन्ध' संज्ञा है; जिस प्रकार ८ परमाणुओं वाले उसके अर्धभागरूप टुकड़े को 'देश' संज्ञा है, उसी प्रकार ७ से लेकर ५ परमाणुओं तक के उसके किसी भी टुकड़े को भी 'देश' संज्ञा है; जिस प्रकार ४ परमाणुवाले उसके चतुर्थभागरूप टुकड़े को 'प्रदेश' संज्ञा है, उसी प्रकार ३ से लेकर २ परमाणु तक के उसके किसी भी टुकड़े को भी 'प्रदेश' संज्ञा है।—इस दृष्टान्त के अनुसार, भेद द्वारा होनेवाले पुद्गलविकल्प समझना।

(२) **स्कन्धदेश** - पुद्गल स्कन्ध का आधा भाग हो, उसे स्कन्धदेश कहते हैं। एक तिनका है, वह स्कन्ध है, उसके दो टुकड़े होना, वह जीव से नहीं हुए। अज्ञानी मानता है कि वे मुझसे हुए हैं, यह अज्ञानभाव है। पुद्गल की अवस्था को करने का जीव का स्वभाव नहीं परन्तु उसे जानने का है। स्कन्ध का आधा भाग होना, वह आत्मा से नहीं होता, वह पुद्गल के कारण से हुआ है, जीव उसका ज्ञातामात्र है।

(३) **स्कन्धप्रदेश** - स्कन्ध के आधे का आधा भाग अथवा स्कन्ध का चौथा भाग, उसे स्कन्धप्रदेश कहते हैं। वह पुद्गल से होता है।

(४) **पुद्गल परमाणु** - जिसके दो भाग न हो सकें, उसे पुद्गल परमाणु कहते हैं। इस प्रकार पुद्गल के चार विभाग जानना।

कार्मण, तैजस, औदारिकशरीर, दवा, वाणी, मन इत्यादि जो पुद्गल पिण्ड जगत में हैं, वे इन चार में आ जाते हैं। नमक का चूरा होता है, वह आत्मा से अथवा अँगुली से नहीं होता, पुद्गल के कारण से होता है। आहार-पानी की अवस्था आत्मा से होती है, ऐसा मानना, वह मिथ्याभाव है। तिल में से तेल निकलता है, वह आत्मा से नहीं निकलता। स्कन्ध होना, देश होना, प्रदेश होना, या परमाणु पृथक् रहे, वह पुद्गल के कारण से है। आत्मा से वह बिल्कुल नहीं होते। मूल गाथा में कहा है कि 'मुणेयव्वा = ज्ञातव्या' ऐसे चार प्रकार के भेद जाननेयोग्य है। अर्थात् कि आत्मा उनका जाननेवाला है, कर्ता-हर्ता नहीं।

मानस्तम्भ होगा, यह मानस्तम्भ का नक्शा है। वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण नहीं। आत्मा पुद्गल का स्वामी नहीं तथा आत्मा पुद्गल का कर्ता नहीं। बरनी, दियासलाई, चाय इत्यादि स्कन्ध हैं, वे उनसे हैं, तथापि मेरे कारण से वे स्कन्ध हैं, ऐसा माननेवाला अज्ञानी पुद्गलद्रव्य को उड़ाता है और इसलिए अपने जीवतत्त्व को भी उड़ाता है। अर्थात् कि खोटी श्रद्धा करता है।

भावार्थ - स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, इन तीन पुद्गल स्कन्धों में अनन्त-अनन्त भेद हैं। यहाँ भेद की अपेक्षा से अनन्त की बात है। संख्या की अपेक्षा से तो तीनों अनन्त हैं परन्तु यहाँ संख्या की बात नहीं है, परन्तु उनके भेद की बात चलती है। परमाणु

में एक ही प्रकार का भेद है। परमाणु संख्या से अनन्त हैं, परन्तु भेद एक प्रकार का है।

स्कन्ध के प्रकार - अब दृष्टान्त द्वारा इस कथन को समझाया जाता है। यह जयसेन आचार्य की टीका में से लिया है। अनन्तानन्त परमाणु के स्कन्ध की निशानी सोलह अंक से जानना। बड़े में बड़ा अनन्त की संख्या को सोलह की उपमा समझने के लिये दी है। अब उसमें से सोलह परमाणुवाले को उत्कृष्ट स्कन्ध जानना। उसके आधे से एक परमाणु अधिक हो, उसे जघन्य स्कन्ध जानना। दृष्टान्त के हिसाब से नौ परमाणुवाले को जघन्य स्कन्ध जानना और दस से पन्द्रह परमाणु के स्कन्ध को मध्यम स्कन्ध जानना। ये अनन्त प्रकार के समझना।

एक चीज़ के उत्कृष्ट स्कन्ध और दूसरी चीज़ के उत्कृष्ट स्कन्ध परमाणु की संख्या अपेक्षा से समान हैं - ऐसा कहना नहीं है। प्रत्येक के उत्कृष्ट अलग-अलग समझना, परन्तु एक स्कन्ध में एक उत्कृष्ट, एक जघन्य और अनन्त मध्यम स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार अनन्त प्रकार के भेद स्कन्ध के जानना। एक घड़ा है, उसमें अपनी अपेक्षा से उत्कृष्टता एक भेद, जघन्य का एक भेद और मध्यम के अनन्त भेद जानना, ऐसा प्रत्येक स्कन्ध में समझना।

यह सब स्कन्धों के भेद पुद्गल के कारण हैं, जीव के कारण नहीं। शरीर टुकड़ेरूप होओ या पूरा रहो, वह पुद्गल का खेल है। कोई ऐसा कहता है कि 'तुम सब करते हो, तथापि जीव पुद्गल को करता नहीं, ऐसा मानने को क्यों कहते हो?'

समाधान - भाई! पुद्गल को पुद्गल करता है, जीव पुद्गल को करता ही नहीं। यह सब स्कन्ध होते हैं, अनाज के थैला आवें-जावें, मील चलें, इलैक्ट्रिक मशीनें चलें, वे सब पुद्गल के कारण से स्कन्धरूप होते हैं। जीव तो मात्र जाननेवाला, ऐसा यहाँ कहते हैं।

स्कन्धदेश के प्रकार - जो स्कन्ध हो, उसका आधा भाग, वह उत्कृष्ट स्कन्धदेश जानना। यहाँ दृष्टान्त में आठ परमाणु के स्कन्ध को उत्कृष्ट स्कन्धदेश जानना। वह एक है। चौथे भाग की अपेक्षा एक परमाणु अधिक हो, ऐसे स्कन्ध को अर्थात् यहाँ दृष्टान्तानुसार पाँच परमाणु के स्कन्ध को जघन्य स्कन्धदेश जानना, वह एक है और जघन्य से बड़े को

उत्कृष्ट से छोटे अर्थात् दृष्टान्तानुसार छह और सात परमाणुओं के स्कन्धों को मध्यम स्कन्धदेश जानना। वह भी अनन्त प्रकार के हैं। इस प्रकार स्कन्धदेश के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य होकर अनन्त प्रकार जानना।

पहले बात आयी थी कि ज्ञानसमय, शब्दसमय और अर्थसमय—ऐसे तीन प्रकार के समय हैं। जो शास्त्र अथवा वाणी राग-द्वेषरहितरूप से पदार्थ की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करे तथा सब आत्मा और परमाणु स्वतन्त्र है, राग आत्मा का स्वभाव नहीं परन्तु आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा जो प्रसिद्ध करे, वह शब्दसमय है। सच्चे शास्त्र हैं। इससे विपरीत बतलावे, वे शास्त्र सच्चे नहीं, वह शब्दसमय नहीं और ऐसा विपरीत माननेवाले जीव मूढ़ हैं।

प्रश्न - जो शब्द विपरीतता बतावे, उसे शब्दसमय क्यों नहीं कहते ?

समाधान - लोग में भले उसे भाषा कहा जाता है परन्तु वह शब्दसमय नहीं है। सच्चे शास्त्र नहीं है। निमित्त से और राग से लाभ मनावे, केवली को आहार मनावे, मुनि को वस्त्रपना मनावे, वह शब्दसमय नहीं। वह कुशब्द अथवा कुशास्त्र है। पृष्ठ दस में व्याख्या दी है कि जो पंचास्तिकाय की राग-द्वेषरहितरूप यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य की रचना करे, उसे द्रव्यश्रुतरूप शब्दसमय कहते हैं, बाकी के को कुश्रुत कहते हैं। और मिथ्यात्वभाव नष्ट होकर जो यथार्थ ज्ञान होता है, भावश्रुतरूप ज्ञानसमय कहते हैं। जो ज्ञान विकाररहित आत्मा को जानता नहीं, वह कुज्ञान है। सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाने जा सकते हैं, उन पदार्थ को अर्थसमय कहते हैं। यहाँ पदार्थ समय की बात चलती है। पदार्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं। यहाँ पुद्गल पदार्थ का स्वरूप बताते हैं। पुद्गल का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान जाने और शास्त्र ऐसा कहे तो तीनों सच्चे हैं, विपरीत जाने तो एक भी सच्चा नहीं है।

यहाँ स्कन्धदेश के उत्कृष्ट एक, जघन्य एक और मध्यम अनन्त। ऐसे अनन्त प्रकार के भेद समझना चाहिए।

स्कन्धप्रदेश के भेद - कोई भी स्कन्ध का चौथा भाग उत्कृष्ट स्कन्धप्रदेश जानना। दृष्टान्त के हिसाब से चार परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्धप्रदेश जानना। दो परमाणुओं का

जघन्य स्कन्धप्रदेश जानना और जघन्य से बड़े और उत्कृष्ट से छोटे अर्थात् तीन परमाणुवाले मध्यम स्कन्धप्रदेश जानना। ऐसे स्कन्धप्रदेश के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य होकर अनन्त भेद जानना।

पुस्तक का फटना पुस्तक के कारण से है। आहार आदि अच्छे हों तो लाभ हो, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। पुद्गल के स्कन्ध का ऐसा होना चाहिए और इस प्रकार उसे परिणमना चाहिए, ऐसा अभिमान और हठाग्रह करना नहीं। पुद्गल की अवस्था पुद्गल से होती है, तुझसे नहीं होती। पुद्गल तुझसे भिन्न है, तू जाननेवाला है, ऐसी सच्ची दृष्टि करना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ११, रविवार

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, धर्म करनेवाले को जानना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ। पुण्य-पाप विकार है, शरीरादि की क्रिया मुझसे बिल्कुल नहीं होती। जो यह नहीं जाने, उसे अधर्म बुद्धि टलती नहीं। अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मुझसे यह सुधरा, ऐसा मानना, वही बड़ा पाप है।

बहुत रजकणों के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। उसके अर्ध भाग को स्कन्धप्रदेश कहते हैं, स्कन्ध के चौथे भाग को प्रदेश कहते हैं। और एक स्कन्ध की अपेक्षा से जो आधा होकर स्कन्धप्रदेश हो, वह और अपनी अपेक्षा से स्कन्ध कहलाता है। इस प्रकार समझ लेना। ऐसे स्कन्ध, देश और प्रदेश में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे अनन्त भेद जानना। और परमाणु अविभागी है, उसमें भेदकल्पना नहीं है। इस प्रकार चार प्रकार भेद द्वारा जानना।

अब परमाणु इकट्ठे हों, उसमें चार भेद बताते हैं। परमाणु का मिलना, उसे संघात कहते हैं। दो परमाणु इकट्ठे हों, उसे जघन्य स्कन्धप्रदेश कहते हैं। उसमें एक-एक मिलने से उत्तरोत्तर प्रदेश, देश और स्कन्ध ऐसे तीन प्रकार के स्कन्ध होते हैं। अन्ततः उत्कृष्ट स्कन्ध तक जानना। इस प्रकार परमाणु पृथक् पड़े या इकट्ठे हों, उनमें यह तीन

प्रकार के स्कन्ध परम आगम में गिनने में आये हैं। एक पृथ्वी पिण्ड में चारों भेद होते हैं। सकल पिण्ड का नाम स्कन्ध है, अर्ध का नाम स्कन्धदेश है और चौथे भाग का नाम स्कन्धप्रदेश है। अविभागी का नाम परमाणु है। इस प्रकार खण्ड-खण्ड करने से उन भेदों के अनन्त भेद होते हैं। दो परमाणु के मिलाप से जो संघात हुआ, वह जघन्य स्कन्धप्रदेश है, उससे शुरु करके सकल पृथ्वीखण्डरूप उत्कृष्ट स्कन्ध तक परमाणु के संघात से जो स्कन्ध होते हैं, उनके अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार भेद और संघात से पुद्गल की अनन्त पर्यायें होती हैं।

परमाणु इकट्ठे हों, वे आत्मा के विज्ञान के कारण से एकत्रित नहीं होते। पुस्तक का इकट्ठा होना, श्लोक के अक्षर का लिखना, वह पुद्गल का स्वभाव है। जिनेश्वर भगवान की पूजा के लिये आठ प्रकार की सामग्री मिलाना, वह आत्मा के हाथ की बात नहीं। जीव को शुभभाव आता है, परन्तु शुभ के कारण जड़ की अवस्था नहीं होती। जड़ परमाणु इकट्ठे होना या पृथक् होना, वह उसका स्वभाव है। एक पृथ्वीपिण्ड के चार भेद कहे, वे जड़ के कारण से हैं। वह जगत का तत्त्व है। अज्ञानी जीव पर का स्वामी होता है, पर को इकट्ठा करना चाहता है, वह संयोगीदृष्टि है। ज्ञानी समझता है कि उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था पुद्गल के कारण से है, रागादि परिणाम होते हैं, वे मेरी निर्बलता से है, उसका भी मैं जाननेवाला हूँ। इस प्रकार ज्ञाता रहना, वह धर्म है।

अज्ञानी जीवों को आत्मा और जड़ के बीच भेद का ज्ञान नहीं और समझ बिना सामायिक के पाठ मात्र बोल जाये, 'तावकायं, ठाणेणं, मोणेणं'। परन्तु अर्थ की खबर नहीं। भाई! काया को तू स्थिर नहीं रख सकता। काया जड़ है, उसका स्थिर रहना उसके कारण से है। तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसी समझ कर।

दो परमाणु के संघात से लेकर पृथ्वी पिण्ड तक के संघात के अनन्त भेद हैं। वे सभी पर्यायें हैं। भेद संघात से पुद्गल की अनन्त पर्यायें होती हैं।

स्कन्धों का नाम पुद्गल कहा है, इसलिए पुद्गल का अर्थ बतलाते हैं। ●●

गाथा - ७६

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।

ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥७६॥

बादरसौक्ष्म्यगतानां स्कंधानां पुद्गलः इति व्यवहारः।

ते भवन्ति षट्प्रकारास्त्रैलोक्यं यैः निष्पन्नम् ॥७६॥

स्कंधानां पुद्गलव्यवहारसमर्थनमेतत्। स्पर्शरसगंधवर्णगुणविशेषैः षट्स्थानपतित-
वृद्धिहानिभिः पूरणगलनधर्मत्वात् स्कंधव्यक्त्याविर्भावतिरोभावाभ्यामपि च पूरणगलनोपपत्तेः
परमाणवः पुद्गला इति निश्चीयन्ते। स्कंधास्त्वेकपुद्गलमयैकपर्यायत्वेन पुद्गलेभ्यो-
ऽनन्यत्वात्पुद्गला इति व्यवहियन्ते, तथैव च बादरसूक्ष्मत्वपरिणामविकल्पैः षट्प्रकारतामापद्य
त्रैलोक्यरूपेण निष्पद्य स्थितवन्त इति। तथा हि - बादरबादराः, बादराः, बादरसूक्ष्माः,
सूक्ष्मबादराः, सूक्ष्माः, सूक्ष्मासूक्ष्मा इति। तत्र छिन्नाः स्वयं संधानासमर्थाः काष्ठपाषाणादयो
बादरबादराः। छिन्नाः स्वयं संधानसमर्थाः क्षीरधृततैलतोयरसप्रभृतयो बादराः।
स्थूलोपलंभा अपि छेत्तुं भेत्तुमादातुमशक्याः छायातपतमोज्योत्स्नादयो बादरसूक्ष्माः।
सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलंभाः स्पर्शरसगंधशब्दाः सूक्ष्मबादराः। सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः
कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः। अत्यंतसूक्ष्माः कर्मवर्गणाभ्योऽधो द्व्यणुकस्कंधपर्यन्ताः सूक्ष्मसूक्ष्मा
इति ॥७६॥ ?

सूक्ष्म-बादर परिणमित स्कन्ध को पुद्गल कहा।

स्कन्ध के षट्भेद से त्रैलोक्य यह निष्पन्न है ॥७६॥

अन्वयार्थ :- [बादरसौक्ष्म्यगतानां] बादर और सूक्ष्मरूप से परिणत [स्कंधानां]
स्कन्धों को [पुद्गलः] 'पुद्गल' [इति] ऐसा [व्यवहारः] व्यवहार है। [ते] वे
[षट्प्रकाराः भवन्ति] छह प्रकार के हैं, [यैः] जिनसे [त्रैलोक्यं] तीन लोक [निष्पन्नम्]
निष्पन्न है।

टीका:- स्कन्धों में 'पुद्गल' ऐसा जो व्यवहार है, उसका यह समर्थन है।

(१) जिनमें षट्स्थानपतित (छह स्थानों में समावेश पानेवाली) वृद्धिहानि होती
है, ऐसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुणविशेषों के कारण (परमाणु) 'पूरणगलन' धर्मवाले

होने से तथा (२) स्कन्धव्यक्ति के (-स्कन्धपर्याय के) आविर्भाव और तिरोभाव की अपेक्षा से भी (परमाणुओं में) 'पूरण-गलन' घटित होने से परमाणु निश्चय से 'पुद्गल' है। स्कन्ध तो 'अनेकपुद्गलमय एकपर्यायपने के कारण पुद्गलों से अनन्य होने से व्यवहार से 'पुद्गल' है; तथा (वे) बादरत्व और सूक्ष्मत्वरूप परिणामों के भेदों द्वारा छह प्रकारों को प्राप्त करके तीन लोकरूप होकर रहे हैं। वे छह प्रकार के स्कन्ध इस प्रकार हैं:- (१) बादरबादर; (२) बादर; (३) बादरसूक्ष्म; (४) सूक्ष्मबादर; (५) सूक्ष्म; (६) सूक्ष्मसूक्ष्म। वहाँ, (१) काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते, वे (घन पदार्थ) 'बादरबादर' हैं; (२) दूध, घी, तेल, जल, रस आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं, वे (प्रवाही पदार्थ) 'बादर' हैं; (३) छाया, धूप, अन्धकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता, वे 'बादरसूक्ष्म' हैं; (४) स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं (अर्थात् चक्षु को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध जो कि आँख से दिखाई न देने पर भी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है) जीभ द्वारा जिनका स्वाद लिया जा सकता है, नाक से सूँघा जा सकता है अथवा कान से सुना जा सकता है, वे 'सूक्ष्मबादर' हैं; (५) कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) कि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों ऐसे हैं वे 'सूक्ष्म' हैं; (६) कर्मवर्गणा से नीचे के (कर्मवर्गणातीत द्विअणुक-स्कन्ध तक के स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे 'सूक्ष्मसूक्ष्म' हैं॥७६॥

१. जिसमें (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण की अपेक्षा से तथा स्कन्धपर्याय की अपेक्षा से) पूरण और गलन हो, वह पुद्गल है। पूरण=पुरना; भरना; पूर्ति; पुष्टि; वृद्धि। गलन=गलना; क्षीण होना; कृशता; हानि; न्यूनता; ((१) परमाणुओं के विशेष गुण जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण हैं, उनमें होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि, वह पूरण है और षट्स्थानपतित हानि, वह गलन है; इसलिए इस प्रकार परमाणु पूरण-गलनधर्मवाले हैं। (२) परमाणुओं में स्कन्धरूप पर्याय का आविर्भाव होना, सो पूरण है और तिरोभाव होना, वह गलन है; इस प्रकार भी परमाणुओं में पूरण गलन घटित होता है।)

२. स्कन्ध अनेक परमाणुमय है, इसलिए वह परमाणुओं से अनन्य है; और परमाणु तो पुद्गल है; इसलिए स्कन्ध भी व्यवहार से 'पुद्गल' है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ११, रविवार

अनन्त परमाणु इकट्ठे हों। कोई सूक्ष्म परिणमन धारण करे, जैसे कि कार्मणशरीर और कोई स्थूल परिणमन धारण करे। जैसे कि औदारिकशरीर, उन सबको पुद्गल कहते हैं। जो पूर्व में स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—ऐसे चार प्रकार के भेद कहे, उनमें पूरण और गलन ऐसा स्वभाव है। पुद्=पूरण और गल अर्थात् पृथक् पड़ना। अपने कारण से पूरते हैं अर्थात् मिलते हैं और पृथक् पड़ते हैं, इसलिए पुद्गल कहते हैं। और जो बढ़ते हैं—घटते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं।

जो जीव ऐसा मानता है कि मुझसे पुद्गल में बढ़ना-घटना किया जा सकता है, वह मूढ़ है। ऐसा माननेवाले को धर्म तो नहीं, परन्तु 'स्वधर्मत्याग' वर्तता है। नियमसार में मोही का अर्थ 'स्वधर्मत्याग' किया है। अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को छोड़कर जड़ का कर्ता-हर्ता-भोक्ता होता है, इसलिए उसे स्वधर्मत्याग वर्तता है। वह कहलाता त्यागी पाप का त्यागी नहीं है, परन्तु अपने धर्म का त्यागी है। प्रथम सच्चा ज्ञान करो कि आहार आदि की क्रिया मुझसे नहीं होती। क्योंकि मैं ज्ञान हूँ। अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करे, उस श्रद्धा में समता है। ऐसी श्रद्धा की समता होने के पश्चात् स्वभाव के अवलम्बन से राग का अभाव होकर वीतरागता प्रगट हो, वह चारित्र की समता है। जिसे श्रद्धा की समता का ठिकाना नहीं और परपदार्थ छोड़ने का अभिमान करता है और आहारशुद्धि में सवेरे से शाम तक रुकता है, वह बाह्य से त्यागी दिखता होने पर भी उसे चारित्र की समता नहीं होती, इसलिए वह स्वधर्मत्यागी है।

यहाँ बताया है कि स्कन्धों में बढ़ना-घटना हुआ करता है, इसलिए उन्हें पुद्गल कहा है। अब परमाणु को पुद्गल क्यों कहा, वह कहते हैं। अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण के भेदों में षड्गुणी हानि-वृद्धि के प्रभाव से पुद्गल नाम पाता है। एक परमाणु में एक गुण स्निग्धता हो, दूसरे समय में अनन्तगुणी स्निग्धता हो जाये, दूध के परमाणु मिठास में से खटासरूप हो जाये, कोई थोड़ी मिठास में से अधिक मिठासरूप हो, कोई एक गुण हरा हो, वह दूसरे समय में अनन्त गुणा हरा हो जाये, कोई परमाणु शीत में से

उष्ण हो, इसलिए उसे पुद्गल कहते हैं, वह सब जड़ से होता है। आत्मा की इच्छा से नहीं होता। इसलिए इस पुद्गल के नाटक का ज्ञान कर। क्योंकि तू ज्ञाता है।

और इस परमाणु में किसी काल में अपनी योग्यता के कारण से स्कन्ध होने की शक्ति है, तथा कितने ही परमाणु ऐसे हैं कि जो कभी स्कन्धरूप हुए नहीं, तथापि उनमें स्कन्ध होने की योग्यता है, इसलिए उन्हें भी पुद्गल कहते हैं। तथा स्कन्ध, देश, और प्रदेश, ऐसे तीन प्रकार के स्कन्ध हैं, वे अनन्त परमाणु मिलकर एक पिण्डरूप अवस्था धारण करते हैं। इस कारण से उनमें भी पूरण-गलन स्वभाव है और उसे भी पुद्गल कहा जाता है। यह छह प्रकार के हैं। पूरे जगत के पुद्गल स्कन्धों को छह प्रकार से कहते हैं।

भावार्थ - पुद्गल स्कन्ध अपने स्थूलसूक्ष्म परिणामों के भेदों से तीन लोक में प्रवर्त रहे हैं। उनके छह प्रकार बताये जाते हैं।

(१) **बादरबादर** - जिस पुद्गलपिण्ड के दो टुकड़े होने के पश्चात् अपने आप फिर से इकट्ठे नहीं होते, ऐसे पुद्गलपिण्ड बादरबादर समझना। दृष्टान्त—पत्थर और लकड़ी के टुकड़े होने के पश्चात् वे इकट्ठे नहीं होते। उनके टुकड़े होना, वह पुद्गल के स्वभाव से है और वे फिर से इकट्ठे नहीं होते। वे पुद्गल के स्वभाव से इकट्ठे नहीं होते। ऐसा पुद्गलस्कन्ध का स्वभाव है।

(२) **बादर** - जिस पुद्गल का पिण्ड टुकड़े होने के पश्चात् अपने आप मिल जाये, उसे बादर कहते हैं। दृष्टान्त—घी, तेल पृथक् पड़कर वापस अपने कारण से इकट्ठे होते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। आत्मा के कारण से वे पृथक् नहीं होते या इकट्ठे नहीं होते। यहाँ पुद्गल का ज्ञान कराकर तुझसे भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं। तुझसे उसमें कुछ नहीं होता। और काल के कारण भी उसमें फेरफार नहीं होता। उसके कारण से पृथक् पड़े और इकट्ठे होते हैं, वह उसका स्वभाव है और वह बादरस्कन्ध है।

(३) **बादरसूक्ष्म** - जो देखने में आते हैं परन्तु हाथ इत्यादि से ग्रहण नहीं हो सकते, उस स्कन्ध को बादरसूक्ष्म कहते हैं। दृष्टान्त—सूर्य की धूप, चन्द्रमा की चाँदनी, परछाई इत्यादि आँखों से दिखते हैं परन्तु हाथ से पकड़े नहीं जा सकते, इसलिए वे बादरसूक्ष्म मानना।

तू असंख्यप्रदेशी आत्मा है। तुझसे पुद्गल की अवस्था नहीं होती, तू जाननेवाला है। जैसे सूर्य लोक में प्रकाशित हो रहा है, वैसे जड़ प्रकाश से विलक्षण ऐसे केवलज्ञानरूपी प्रकाश से तू भरपूर पड़ा है, तू अनन्त प्रकाशी है। अनन्त स्कन्धों को जान लेने का तेरा स्वभाव है। अनन्त को जानने से राग होता है, ऐसा तेरा स्वभाव नहीं। अनन्त को जान ले, ऐसा अनन्त ज्ञानप्रकाश की शक्तिरूप तू है। और जैसे चन्द्र शीतलता देता है, वैसे जड़ शीतलता से विलक्षण ऐसी चैतन्य शीतलता-शान्ति-धीरज तुझमें अनन्त है। अनन्त पदार्थ होने पर भी वे तुझमें आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकते। तू अनन्त अनन्त शक्तिवान है। इस प्रकार आत्मा अनन्त ज्ञानप्रकाश और अनन्त शान्ति का भरपूर भण्डार है।

ऐसा जिसे भान नहीं, वह परपदार्थ को अपना मानता है। एक पुद्गलद्रव्य की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा माननेवाला अनन्त पदार्थों का स्वामी होता है और स्वयं अनन्त आकुलता में रुकता है, इसलिए उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता और इसलिए उसे अशान्ति होती है, उसे अधर्म होता है। परन्तु जो यथार्थ ज्ञान करता है कि पुद्गलों का परिणमन पुद्गल के कारण से है, पुद्गल की अनेक प्रकार की विविधता का ज्ञान करने का मेरा स्वभाव है, मुझमें अनन्त ज्ञानप्रकाश अनन्त शीतलता और शान्ति है। ऐसी जो श्रद्धा करता है, उसे धर्मदशा प्रगट होती है।

(४) सूक्ष्मबादर - जो स्कन्ध सूक्ष्म है परन्तु स्थूल जैसे प्रतिभासित होते हैं, उन्हें सूक्ष्मबादर कहते हैं। दृष्टान्त—नीम की कोर की गन्ध आती है, वह गन्ध दिखती नहीं, इसलिए सूक्ष्म परन्तु नाक द्वारा ख्याल में आती है, इसलिए बादर, ऐसी सूक्ष्मबादर है। वाणी दिखती नहीं, इसलिए सूक्ष्म परन्तु कान द्वारा सुनायी देती है, स्थूल, ऐसे सूक्ष्मस्थूल का अर्थ समझना। आत्मा भाषा बोलता नहीं तथा भाषा बन्द कर नहीं सकता। वह तो पुद्गल का सूक्ष्मबादर स्कन्ध है।

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़ संमेल

लघुता गुरुता गमनता, ये अजीव के खेल।

जड़ का हलन-चलन जड़ से है, वह सब अजीव का खेल है। ज्ञानी जानता है कि वह जड़ की अवस्था है, इसलिए वह उसका अभिमान नहीं करते, परन्तु जैसा है,

वैसा जान लेते हैं। इस प्रकार पुद्गल के स्कन्धों को जैसा है, वैसा जानना और आत्मा उनसे भिन्न मात्र ज्ञाता है, ऐसा जानना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १२, सोमवार

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। पुद्गल ज्ञेयों को जानने का उसका स्वभाव है। परमाणु पृथक् पड़ें या इकट्ठे हों, उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। शरीर आदि दृश्यमान रूपी पदार्थों का विविधपना और विचित्रपना दिखता है, वह अन्दर आत्मा चेतन है, इसलिए विविधता होती है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मुझसे यह विविधता होती है और ऐसा मानकर असत्य का पाप करता है।

यहाँ स्कन्धों के छह भेद की बात चलती है।

(१) **बादरबादर** - पत्थर, लकड़ी के टुकड़े हों और टुकड़े होने के बाद इकट्ठे न हों, ऐसा पुद्गल का स्वभाव है। उसे बादरबादर स्कन्ध कहते हैं। आत्मा उसके टुकड़े नहीं कर सकता।

(२) **बादर** - घी, तेल इत्यादि प्रवाही चीजें जो पृथक् पड़कर वापस स्वयं इकट्ठी होती हैं, उसे बादर स्कन्ध कहते हैं, अज्ञानी जीव मानते हैं कि हम घी को इकट्ठा करते हैं। वह अज्ञान है। घी का पिघलना या पृथक् पड़ना, घी के कारण से है। अग्नि के कारण से या आत्मा के कारण से नहीं।

(३) **बादरसूक्ष्म** - धूप, चाँदनी, छाया आँखों से दिखती है परन्तु हाथ से एक जगह से दूसरी जगह नहीं रखी जा सकती, इसलिए सूक्ष्म इस प्रकार से बादरसूक्ष्म है। वह किसी के किये हुए नहीं हैं। स्वभाव से हुए हैं।

(४) **सूक्ष्मबादर** - स्पर्श, रस, गन्ध और शब्दादि आँखों से ज्ञात नहीं होते, इसलिए सूक्ष्म और दूसरी कोई इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं, इसलिए बादर - ऐसे सूक्ष्मबादर जानना। यह चीज़ हल्की है या भारी है, यह आँख से दिखाई नहीं देता। परन्तु स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ख्याल आ आता है। यह चमड़ी कोमल है या कर्कश है, यह आँख से दिखाई नहीं देता

है परन्तु स्पर्श द्वारा ख्याल आता है। खट्टा, मीठा, कड़वा स्वाद आँख निश्चित नहीं करती, इसलिए सूक्ष्म और जीभ द्वारा निश्चित होता है, इसलिए बादर, इस प्रकार सूक्ष्मबादर। घासलेट की गन्ध के परमाणु दिखते नहीं, इसलिए सूक्ष्म, परन्तु नाक से ज्ञात होते हैं, इसलिए बादर; इस प्रकार सूक्ष्मबादर समझना। शब्द आँख से दिखाई नहीं देते परन्तु कान से सुनाई देते हैं। यह सब अवस्था पुद्गल से हो रही है। आत्मा से नहीं होती।

बादरबादर और बादर तो इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। बादरसूक्ष्म आँख से ग्राह्य हैं और दूसरी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं, और सूक्ष्मबादर आँख से ग्राह्य नहीं परन्तु आँख के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय से ग्राह्य है। अब इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, ऐसे स्कन्धों की बात करते हैं।

(५) सूक्ष्म - जो स्कन्ध इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, ऐसे कर्मवर्गणा के स्कन्धों को सूक्ष्मस्कन्ध कहते हैं। वे कोई इन्द्रिय द्वारा नहीं जाने जा सकते।

(६) सूक्ष्मसूक्ष्म - कर्मवर्गणाओं से भी अति सूक्ष्म दो परमाणु, तीन परमाणु इत्यादि के स्कन्धों को सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं, वे भी इन्द्रियग्राह्य नहीं।

यहाँ जो भेद कहे हैं, वे स्कन्धों के भेद हैं। गोम्मटसार में पुद्गल के छह भेद कहे हैं। उनमें पाँच बोल उपरोक्तानुसार है और छठवाँ बोल सूक्ष्म-सूक्ष्म का एक परमाणु का लिया है। यहाँ तो छह प्रकार के स्कन्धों की बात ली है।

●●

त्रिकालवर्ती सन्तों का एक ही प्रकार

तीनों काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि उन्हें पहले आत्मभानपूर्वक मुनि होने का विकल्प होता है, परन्तु वे उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते और उन्हें बाह्य परिग्रह का सङ्ग भी नहीं होता; फिर अन्दर चैतन्य में लीन होने पर उन्हें पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। ऐसी मुनिदशा हुए बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है, परन्तु ऐसी मुनिदशा हुए बिना गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मुक्ति नहीं होती।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १५

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
 सो सस्सदो असदो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥
 सर्वेषां स्कंधानां योऽन्त्यस्तं विजानीहि परमाणुम्।
 स शाश्वतोऽशब्दः एकोऽविभागी मूर्तिभवः ॥७७॥

परमाणुव्याख्येयम्। उक्तानां स्कंधरूपपर्यायाणां योऽन्त्यो भेदः स परमाणुः। स तु पुनर्विभागाभावादविभागी, निर्विभागैकप्रदेशत्वादेकः मूर्तद्रव्यत्वेन सदाप्यविनश्वरत्वान्नित्यः, अनादिनिधनरूपादिपरिणामोत्पन्नत्वान्मूर्तिभवः, रूपादि-परिणामोत्पन्नत्वेऽपि शब्दस्य परमाणुगुण-त्वाभावात्पुद्गलस्कंधपर्यायत्वेन वक्ष्यमाण-त्वाच्चाशब्दो निश्चीयत इति । ॥७७॥ ?

स्कन्ध का वह निर्विभागी अंश परमाणु कहा।

वह एक शाश्वत मूर्तिभव अर अविभागी अशब्द है ॥७७॥

अन्वयार्थ :- [सर्वेषां स्कंधानां] सर्व स्कन्धों का [यः अन्त्यः] जो अन्तिम भाग [तं] उसे [परमाणुम् विजानीहि] परमाणु जानो। [सः] वह [अविभागी] अविभागी, [एकः] एक, [शाश्वतः] शाश्वत [मूर्तिभवः] मूर्तिप्रभव (मूर्तरूप से उत्पन्न होनेवाला) और [अशब्दः] अशब्द है।

टीका:-यह परमाणु की व्याख्या है।

पूर्वोक्त स्कन्धरूप पर्यायों का जो अन्तिम भेद (छोटे-से-छोटा अंश), वह परमाणु है। और वह तो, विभाग के अभाव के कारण अविभागी है; निर्विभाग-एक-प्रदेशी होने से एक है; मूर्तद्रव्यरूप से सदैव अविनाशी होने से नित्य है; अनादि-अनन्त रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने के कारण *मूर्तिप्रभव है; और रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने पर भी अशब्द है, ऐसा निश्चित है, क्योंकि शब्द परमाणु का गुण नहीं है तथा उसका (शब्द का) अब (७९वीं गाथा में) पुद्गलस्कन्धपर्यायरूप से कथन है ॥७७॥

* मूर्तिप्रभव=मूर्तपनेरूप से उत्पन्न होनेवाला अर्थात् रूप-गन्ध-रस स्पर्श के परिणामरूप से जिसका उत्पाद होता है ऐसा। (मूर्ति=मूर्तपना)।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १२, सोमवार

अब परमाणु का स्वरूप कहते हैं।

यह सब जो स्थूलस्कन्ध दिखते हैं, वह कार्य है। इसलिए उसका कारण होना चाहिए। अनेकपना कायम नहीं रहता। जैसे कि यह अँगुली है, उसके पृथक्-पृथक् रजकण होते हैं। इकट्ठे हों तो स्कन्ध होता है और पृथक् होते-होते अन्ततः एक परमाणु रहता है।

देखो, यह सर्वज्ञ का विज्ञान! स्कन्ध में से पृथक् होकर परमाणु रहे तो परमाणु के कारण से रहता है। जीव के कारण पुद्गल में फेरफार नहीं होता।

यहाँ और कोई ऐसा कहता है कि हम निमित्त तो होते हैं न ?

समाधान - किसका निमित्त ? अभी वहाँ तो कार्य हुआ नहीं, उसके पहले किसका निमित्त ? पुद्गल की अवस्थारूप कार्य होता है, तब जीव को निमित्त कहा जाता है। निमित्त आगे-पीछे नहीं है, परन्तु एक ही समय में है। निमित्त तो है न ? ऐसा प्रश्न करनेवाले की दृष्टि संयोग के ऊपर है, इसलिए उसे पर के साथ एकताबुद्धि वर्तती है। उसे धर्म नहीं होता।

यहाँ बताते हैं कि स्कन्ध का अन्त का भेद परमाणु है। वह आत्मा के कारण से नहीं है। यहाँ अन्त का भेद कहा, अर्थात् छठा भेद सूक्ष्मसूक्ष्म कहा है, वह नहीं समझना, परन्तु अन्त का भेद कहने से अन्तिम टुकड़े की अर्थात् परमाणु की बात है। जिस टुकड़े में से भेद नहीं पड़ता, वह परमाणु एक ही प्रकार का है, उसके दो टुकड़े नहीं होते।

वह परमाणु त्रिकाल अविनाशी है। स्कन्धों के साथ मिलाप होने से उसकी एक पर्याय से दूसरी पर्याय होती है। एक परमाणु सूक्ष्मस्कन्ध में जुड़े तो उसकी सूक्ष्म विभाव पर्याय होती है और स्थूल में जुड़े तो स्थूल विभाव पर्याय होती है। इस प्रकार पर्याय में फेरफार होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा से परमाणु सदा टंकोत्कीर्ण नित्य है।

और एक परमाणु में शब्दरूप होने की ताकत नहीं है। एक परमाणु दूसरे अनन्त परमाणु के साथ मिले तो शब्दरूप होने की शक्ति है, परन्तु अकेला परमाणु शब्द करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि हम भाषा बोलते हैं। परन्तु भाई! यह तेरा अज्ञान है। एक परमाणु स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला तत्त्व है, परन्तु उसमें शब्द होने की ताकत नहीं है। तो फिर तू आत्मा अरूपी—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरहित बोल सके, यह असम्भव है। इसलिए अभिमान छोड़।

शब्द है, वह पुद्गलद्रव्य का गुण नहीं है। यदि गुण हो तो अकेले परमाणु में कायम होना चाहिए। जो कायम रहे, उसे गुण कहते हैं और जो कदाचित् हो, उसे पर्याय कहते हैं। पुद्गल में शब्द कायम नहीं रहता। अकेले परमाणु में शब्द नहीं है, इसलिए शब्द गुण नहीं है। कदाचित् होता है, इसलिए पर्याय है। उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

परमाणु एक प्रदेशी है, तथापि उसमें स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए परमाणु को पुद्गलास्तिकाय कहा जाता है। उस परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते, इसलिए निरंश है। और वह परमाणु सदाकाल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण—ऐसे चार गुणोंसहित है। स्पर्शादि गुण, वह स्वभाव है और परमाणु द्रव्य, वह स्वभाववान है। इस प्रकार गुण-गुणी अभेद है। आत्मा उसका जाननेवाला है, परन्तु उसका कर्ता नहीं। ●●

सन्तों को परम आनन्द की दशा

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शस्वभावी है; वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि होने से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्र्यदशा प्रगट हुई है, उसमें परम-आनन्द की लहरें बढ़ जाती हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २८

गाथा - ७८

आदेशमेतमुक्तो धातुचतुष्कस कारणं जो दु।
 सो जेओ परमाणू परिणामगुणो समयसद्धो ॥७८॥
 आदेशमात्रमूर्तः धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु।
 स ज्ञेयः परमाणुः परिणामगुणः स्वयमशब्दः ॥७८॥

परमाणूनां जात्यंतरत्वनिरासोऽयम्। परमाणोर्हि मूर्तत्वनिबन्धनभूताः स्पर्शरसगन्धवर्णा आदेशमात्रेणैव भिद्यन्तेः वस्तुतस्तु यथा तस्य स एव प्रदेश आदिः, स एव मध्यं, स एवांतः इति, एवं द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात् य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गन्धस्य, स एव रूपस्येति। ततः क्वचित्परमाणौ गन्धगुणे, क्वचित् गन्धरसगुणयोः, क्वचित् गन्धरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु तदविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति। न तदपकर्षो युक्तः। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणं परिणामवशात्। विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित्कस्यचिद्गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति। यथा च तस्य परिणामवशादव्यक्तो गन्धादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति॥७८॥

कथनमात्र से मूर्त है अर धातु चार का हेतु है।

परिणामी तथा अशब्द जो परमाणु है उसको कहा ॥७८॥

अन्वयार्थ :- [यः तु] जो [आदेशमात्रमूर्तः] आदेशमात्र से मूर्त है। (अर्थात् मात्र भेदविवक्षा से मूर्तत्ववाला कहलाता है) और [धातुचतुष्कस्य कारणं] जो (पृथ्वी आदि) चार धातुओं का कारण है [सः] वह [परमाणुः ज्ञेयः] परमाणु जानना- [परिणामगुणः] जो कि परिणामगुणवाला है और [स्वयम् अशब्दः] स्वयं अशब्द है।

टीका:-परमाणु भिन्न-भिन्न जाति के होने का यह खण्डन है।

मूर्तत्व के कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का, परमाणु से *आदेशमात्र द्वारा ही

* आदेश=कथन (मात्र भेदकथन द्वारा ही परमाणु से स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का भेद किया जाता है, परमार्थतः तो परमाणु से स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभेद है।)

भेद किया जाता है; वस्तुतः तो जिस प्रकार परमाणु का वही प्रदेश आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है; उसी प्रकार द्रव्य और गुण के अभिन्न प्रदेश होने से जो परमाणु का प्रदेश है, वही स्पर्श का है, वही रस का है, वही गन्ध का है, वही रूप का है। इसलिए किसी परमाणु में गन्धगुण कम हो, किसी परमाणु में गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणु में गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुण से अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिए उस गुण की न्यूनता युक्त (उचित) नहीं है। (किसी भी परमाणु में एक भी गुण कम हो तो उस गुण के साथ अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा; इसलिए समस्त परमाणु समान गुणवाले ही है, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न जाति के नहीं हैं।) इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चार धातुओं का, परिणाम के कारण, एक ही परमाणु कारण है (अर्थात् परमाणु एक ही जाति के होने पर भी वे परिणाम के कारण चार धातुओं के कारण बनते हैं); क्योंकि विचित्र ऐसा परमाणु का परिणामगुण कहीं किसी गुण की व्यक्ताव्यक्तता द्वारा विचित्र परिणति को धारण करता है।

और जिस प्रकार परमाणु को परिणाम के कारण अव्यक्त गन्धादिगुण हैं, ऐसा ज्ञात होता है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एकप्रदेशी परमाणु को अनेक प्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने में विरोध है॥७८॥

१. व्यक्ताव्यक्तता=व्यक्तता अथवा अव्यक्तता; प्रगटता अथवा अप्रगटता। (पृथ्वी में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण यह चारों गुण व्यक्त (अर्थात् व्यक्तरूप से परिणत) होते हैं; पानी में स्पर्श, रस, और वर्ण व्यक्त होते हैं और गन्ध अव्यक्त होता है; अग्नि में स्पर्श और वर्ण व्यक्त है और शेष दो अव्यक्त होते हैं; वायु में स्पर्श व्यक्त होता है और शेष तीन अव्यक्त होते हैं।)

२. जिस प्रकार परमाणु में गन्धादिगुण भले ही अव्यक्तरूप से भी होते तो अवश्य हैं; उसी प्रकार परमाणु में शब्द भी अव्यक्तरूप से रहता होगा, ऐसा नहीं है, शब्द तो परमाणु में व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से बिल्कुल होता ही नहीं है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १२, सोमवार

वेदान्त ऐसा कहता है कि 'पुद्गल अनादि से पाँच जाति के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच महाभूत हैं। उसमें से यह शरीर बना है। हड्डियों को पृथ्वी का तत्त्व कहते हैं। खून को पानी का तत्त्व कहते हैं। जठर की उष्णता को अग्नि का तत्त्व कहते हैं। श्वास वायु का तत्त्व कहते हैं – इत्यादि प्रकार से पाँच महाभूत के पुतलेरूप यह शरीर बना है और मृत्यु होने पर आत्मा अनन्त में मिल जाता है, ऐसा कहते हैं और शरीर बिखरकर ऊपर कहे उन पाँच महाभूत के परमाणुरूप हो जाता है – इस प्रकार जो मानता है, वह उसका अज्ञानभाव है। उसे कहते हैं कि आत्मा किसी के साथ मिल नहीं जाता, परन्तु अकेला रहता है और परमाणु एक ही प्रकार के हैं, पाँच प्रकार के नहीं, परन्तु पृथ्वीकाय आदि की अलग-अलग अवस्थारूप होते हैं। यह स्पष्टता इस गाथा ७८ में कहते हैं।

परमाणु स्वयं द्रव्य अर्थात् गुणी है और उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण हैं। गुड़ और मिठास नाम अलग हैं परन्तु वस्तु अलग नहीं है, उसी प्रकार परमाणु के द्रव्य और गुण में नामभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं। वेदान्त आदि पृथ्वी इत्यादि को अलग-अलग प्रकार के परमाणु कहते हैं, वह बात यथार्थ नहीं है। वह इस गाथा में बतलाते हैं। पृथ्वी के परमाणु पानीरूप होते हैं, मुर्दे में से पानी निकलता है। हड्डी के और पानी के परमाणु अलग जाति के नहीं हैं। परमाणु कायम रहकर पृथ्वी आदि रूप होते हैं। रूपान्तर होते हैं। और परमाणु में शब्द की व्यक्तता नहीं परन्तु शब्द की शक्ति है, शब्द का कारण है।

भावार्थ – परमाणु द्रव्य है और उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चार गुण हैं। कोई कहे कि जड़ में शक्ति नहीं है। कर्म की बात आवे तो कर्म आत्मा को भटकाते हैं, ऐसा कहता है तो कर्म जो जड़ हैं, और जिसमें शक्ति नहीं, वह किस प्रकार भटकावे? अर्थात् कि वहाँ कर्म को शक्तिवाला माने। और दूसरी बार कहे कि आत्मा हो तो शरीर

चलता है, तो वहाँ शरीर को शक्तिहीन माना। इस प्रकार अज्ञानी को कुछ खबर नहीं पड़ती। कर्मों को देखा नहीं, तथापि उसकी शक्ति मानता है। परन्तु जो यह शरीर दिखता है, उसकी शक्ति नहीं मानता। इस प्रकार वह भ्रमणा में वर्तता है।

जीव मुक्ति को चाहते हैं। मुक्ति अर्थात् पर से सम्पूर्ण पृथक् पड़ने की क्रिया। अब जो जीव शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, उसे अभी पर से भिन्न हूँ, ऐसी श्रद्धा नहीं हुई तो फिर विकार से सर्वथा पृथक् होनेरूप मोक्षक्रिया उसे कहाँ से प्रगट होगी? पर से (पर के बिना) नहीं चलता, ऐसी एकत्वबुद्धि वही मिथ्या मान्यता है, ऐसे जीव को अपने में एकत्व होकर निराकुल शान्ति और एकाग्रता की क्रिया कभी प्रगट नहीं हो सकती। अज्ञानी अपने माने हुए उपधान करे, वर्षीतप करे, उसकी शोभायात्रा निकाले, दूसरों की सेवा करे, विधवा के आँसू पोंछे। हरितकाय न खाये, परन्तु उसमें कहीं धर्म नहीं है। अज्ञानी धर्म के नाम से गप्प-गोला चलाकर अन्दर में अज्ञानरूपी अन्धकार का सेवन कर रहा है।

जड़ और चेतन दोनों भिन्न हैं। दोनों शक्तिवाले तत्त्व हैं। धर्म करनेवाले को उसका ज्ञान होना चाहिए। जो तत्त्व हो, वह शक्ति बिना नहीं होता। स्वभाव बिना स्वभाववान नहीं होता, शक्ति बिना शक्तिवान नहीं होता। गुण बिना गुणी नहीं होता। दाल, भात, रोटी शरीर इत्यादि जड़पदार्थ हैं, वे स्वयं जड़ेश्वर हैं, उनकी क्रिया उनसे हो रही है। इस प्रकार पर से भिन्नता का ज्ञान करके मैं त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी अन्तर भिन्नता, वह ज्ञान की अथवा धार्मिक क्रिया है, उसके फल में मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही पूर्ण सुख का उपाय है।

परमाणु, वह द्रव्य है, वह शक्तिवान है। शक्तिवान शक्ति अथवा गुण बिना नहीं होता, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की शक्ति अथवा गुण है। इन चारों गुण से परमाणु को मूर्तिक कहा जाता है। परमाणु निर्विभाग है, वह अन्तिम अंश है। अभी जो एटमबम (अणुबम) कहते हैं, वह तो अनन्त स्कन्धों का बना हुआ है। परमाणु तो अन्तिम अविभागी अंश है और अभी के विज्ञानवाले कहते हैं कि 'परमाणु अर्थात् अन्तिम बिन्दु में कद नहीं, लाईन करें तो कद होता है।' परन्तु यह बात खोटी है। जो मूल परमाणु में

कद न हो तो लाईन में कद नहीं आता। जो चीज़ हो, वह जगह रोकती है, जो जगह नहीं रोकती, वह चीज़ नहीं कहलाती है। परमाणु एक द्रव्य है, वह जगह रोकता है। उसका कद है तो लाईन में कद आता है। वह परमाणु अकेला है, उसका जो प्रदेश आदि में है, वही मध्य में है और वही अन्त में है। तीन परमाणु हों तो पहला-पश्चात् कहलाये परन्तु परमाणु एक ही है, वह आदि-मध्य-अन्त में एक ही है। इस कारण से परमाणु के दो भाग नहीं होते और परमाणु के द्रव्य-गुण में प्रदेशभेद नहीं है। चीनी और मिठास का क्षेत्र पृथक् नहीं है। जो क्षेत्र चीनी का है, वही मिठास का है। इसी प्रकार परमाणु के गुण-गुणी में प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए जो प्रदेश परमाणु का है, वही प्रदेश स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण का जानना। यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चारों गुण परमाणु में सदा काल देखने में आते हैं। परन्तु गौण-मुख्य के भेद से न्यूनाधिक रीति से इन गुणों का कथन किया जाता है। पृथ्वी, अग्नि, वायु इत्यादि अलग-अलग पुद्गल के परमाणु नहीं हैं, परन्तु परमाणु अलग-अलग अवस्था धारण करते हैं। कोई पृथ्वीरूप परिणमता है, कोई वाणीरूप परिणमता है। उसमें गुणों की पर्याय की न्यूनाधिकता से कथन करते हैं। पृथ्वी जाति के परमाणुओं में स्पर्शादि चारों गुणों की मुख्यता है, पानी में गन्धगुण की गौणता है और बाकी के तीन गुणों की मुख्यता है। इसलिए पानी में गन्ध है ही नहीं, ऐसा नहीं समझना परन्तु गन्ध की इन्द्रियग्राह्य व्यक्तता नहीं है, इसलिए गन्ध की गौणता कही है।

यह पुद्गल का विज्ञान है, यह पुद्गल का स्वभाव बतलाते हैं, उसका परिणमन उसके कारण से हो रहा है। आत्मा उसका कर्ता नहीं, आत्मा उसका ज्ञातादृष्टा है, ऐसा कहने का सार है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १३, मंगलवार

यह पुद्गल अस्तिकाय का वर्णन है। पाँच अस्तिकाय और काल का स्वरूप भगवान ने जैसा देखा, वैसा वाणी द्वारा आया और जिसकी जैसी योग्यता थी, तदनुसार समझे। भगवान, वाणी दूसरे की दशा का कर्ता नहीं है।

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। बहुत लोग भाषण करेंगे कि

भगवान ने कितनों को मोक्ष दिलाया, अज्ञान टाला। परन्तु वे सब कथन निमित्त से हैं। भगवान किसी का अज्ञान टालते नहीं और किसी को ज्ञान देते नहीं। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, तब भगवान के कारण से वाणी निकली, ऐसा कहा जाता है और सब अपने-अपने कारण से ज्ञान करते हैं तो भगवान की वाणी को निमित्त कहा जाता है। तो फिर भगवान के गुण किसलिए गाना चाहिए? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान यह है कि जिसे जो रुचता है, उसके गीत वह गाता है। पर के गीत गाता है, ऐसा कहना, वह निमित्त से है। भगवान तीर्थ के कर्ता हों तो भगवान और सामनेवाले जीव दोनों स्वतन्त्र नहीं रहते। भगवान ने तो प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा पीटा है। भगवान ने तो अपने में केवलज्ञान दशा प्रगट की है, पर का कुछ नहीं किया।

उन भगवान के ज्ञान में परमाणु का स्वरूप क्या आया, वह बताते हैं। कितने ही लोग पृथ्वी, वाणी, अग्नि के परमाणु को भिन्न-भिन्न प्रकार के कहते हैं, परन्तु वह बात सत्य नहीं है। जिस प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध तक के जीव एक ही प्रकार के हैं, जाति में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु पर्याय में अन्तर है; उसी प्रकार पृथ्वी, जल इत्यादि के परमाणु की जाति एक है, जाति अलग नहीं परन्तु पर्याय में अन्तर है। पर्यायभेद से भेद पड़ता है। पृथ्वी के परमाणु में चार गुणों की पर्याय की मुख्यता है। जल में गन्ध की गौणता है और दूसरे तीन गुणों की मुख्यता है। अग्नि में गन्ध और रस की गौणता है, और स्पर्श, वर्ण की मुख्यता है। वायु में तीन गुणों की गौणता है और स्पर्शगुण की मुख्यता है।

परमाणु अनेक प्रकाररूप पलटते हैं, वे अपने पर्यायस्वभाव के कारण पलटते हैं। जीव के कारण वे नहीं परिणमते। नमक का पृथ्वीकाय जीव है, इसलिए नमकरूप शरीर की अवस्था होती है, ऐसा नहीं है, पानी का जीव अन्दर है, इसलिए पानीरूप शरीर होता है, ऐसा नहीं है। अग्नि का जीव अन्दर है, इसलिए उष्णरूप शरीर हुआ है, ऐसा नहीं है। जड़ परमाणुओं की पर्यायों के कारण से शरीर हो रहा है, जीव उस शरीर की पर्याय का कर्ता नहीं है।

दूसरे शास्त्र में ऐसा कथन आता है कि शुभभाव के कारण द्रव्यकर्म बँधते हैं

और द्रव्यकर्म के कारण शरीर मिलता है, वह कथन निमित्त का है। शरीर, शरीर के कारण से मिलता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और कर्म को शुभभाव निमित्त कहा जाता है। यहाँ कर्म की और जीव की बात नहीं ली है। प्रत्येक पुद्गल की पर्याय स्वयं के कारण से है।

प्रश्न - दो में से कौन सी बात मानना ?

समाधान - दोनों समझना। कर्म, कर्म के कारण से है, उसमें शुभभाव निमित्त है और शरीर, शरीर के कारण से होता है, उसमें कर्म निमित्त है। निमित्त का ज्ञान करना परन्तु समझना कि पृथ्वी के परमाणु की दशा स्वतन्त्र हुई है। यहाँ तो जो जीव पृथ्वी आदि के परमाणु अलग जाति के कहते हैं, उन्हें समझाते हैं कि वे अलग जाति के नहीं हैं। परमाणु की जाति एक है, परन्तु उसकी पर्याय बदलती है। और कोई कहता है कि 'हम पंच महाभूत कहते हैं और तुम पुद्गल कहते हो, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, एक ही है।' तो कहते हैं कि दोनों में बहुत अन्तर-भेद है। पंच महाभूत में तो परमाणु अलग-अलग जाति के मानते हैं, वह मान्यता सच्ची नहीं है। परमाणु की जाति एक है परन्तु पर्याय में अन्तर है। किसी समय एक गुण की मुख्यता अथवा गौणता से अनेक प्रकार के परिणाम पर्याय में अलग-अलग दिखते हैं, परन्तु परमाणु की जाति एक है।

प्रश्न - जिस प्रकार परमाणु अवस्था धारण करते-करते पृथ्वी, पानीरूप होते हैं, उसी प्रकार एक परमाणु शब्द करता होगा ? - ऐसी शंका कोई करे तो उसका **समाधान**—

परमाणु एक प्रदेशी है। उसमें शब्द व्यक्त करने की ताकत नहीं है। अनेक परमाणु के स्कन्ध में से शब्द परिणमते हैं, इसलिए परमाणु अशब्दमय है अर्थात् कि एक परमाणु में शब्द व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है।

भगवान ने वाणी निकाली, ऐसा जो कहा जाता है, वह निमित्त का कथन है। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि मैं वाणी कर नहीं सकता। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है और वाणी निकलती है, इसलिए तुम समझोगे, ऐसा नहीं है। तुम तुम्हारे कारण से समझते हो। छहों द्रव्य स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा भगवान की वाणी में आता है। भव्य जीव वह वाणी समझते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र

है। कोई किसी को तिरा नहीं देता, तथापि अपूर्ण दशा में भगवान के प्रति शुभराग आये बिना नहीं रहता। नन्दीश्वर द्वीप में भगवान की शाश्वत् प्रतिमायें हैं और वहाँ इन्द्र जाकर महोत्सव करते हैं और नृत्य करते हैं, तथापि भान है कि शरीर की क्रिया और पुण्य, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। हम तो शुद्ध आत्मा हैं। भगवान की वाणी में ऐसा आया और इन्द्र भी ऐसा ही समझते हैं।

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। लोग जन्मजयन्ती कहते हैं, वह बराबर नहीं है। साधारण लौकिक लोगों की जन्मतिथि को जयन्ती कहते हैं। जयन्ती और जन्मकल्याणक में बहुत अन्तर है। जन्मकल्याणक तो अलौकिक पुरुष के होते हैं। साधारण लोगों के जन्मकल्याणक नहीं मनाये जाते। साधारण लोग माता के गर्भ में आवें, जन्म लें, दीक्षा लें तो उनके कल्याणक नहीं मनाये जाते। तीर्थंकर के ही पाँच कल्याणक मनाये जाते हैं। चौदह पूर्व में कल्याणवाद नाम का ग्यारहवाँ पूर्व है, उसमें भगवान के गर्भ आदि कल्याणक का वर्णन आता है। तीर्थंकर भगवान जन्म से तीन ज्ञान लेकर अवतरित होते हैं। आत्मा का भान है और मुनिपना लेकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, तब दिव्यध्वनि खिरेगी। वे भगवान पवित्रता में और पुण्य में पूरे हैं और उनकी अलौकिक वाणी निकलेगी। इन्द्र को भान है कि इन भगवान का जन्म हुआ है और भगवान पूर्ण दशा को प्राप्त करेंगे, तब सहज वाणी खिरेगी। उस वाणी में ऐसा आयेगा कि 'तेरी प्रभुता से तू मोक्ष प्राप्त करेगा, तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की प्रभुता है। तू तुझे समझेगा तो प्रभु होगा। हमारे से तू तिरेगा नहीं, तथा इस वाणी के हम कर्ता नहीं। ऐसी स्वतन्त्र बात आयेगी।'—ऐसा इन्द्र जानते हैं, इसलिए वैसे पुरुष के प्रति बहुमान और भक्ति आती है और उनके कल्याणक मनाते हैं और स्वयं स्वयं से समझा है, ऐसा भान है, उसका आरोप और बहुमान भगवान के ऊपर करते हैं।

परन्तु जो अज्ञानी प्ररूपक ऐसा कहते हैं कि 'हमारी वाणी से तुम तिरोगे, तुम्हारी पामरता होने पर भी हमारी प्रभुता की मदद से तुमको तारूँगा'—ऐसे एक के कारण दूसरे में कार्य होता है, ऐसा माननेवाले अपने को पराधीन मानते हैं। वे सुननेवाले जीवों को भी पामर मानते हैं, इसलिए उनके अभिप्राय में पूरे जगत के जीव पामर हैं। ऐसे

अज्ञानी जीव की वाणी धर्मी जीव नहीं सुनता और उसके कल्याणक नहीं मनाये जाते। धर्मी समझता है कि यह जीव मुझे पामर बनाता है और दूसरे की प्रभुता में आक्षेप करता है। दूसरे जीव के राग-द्वेष टाल सकेगा, ऐसा कहनेवाला राग-द्वेष की प्रभुता को भी नहीं समझता, क्योंकि सामने जीव राग-द्वेष करने में भी स्वतन्त्र है। स्वयं विकार करे तो होता है और स्वभावसन्मुख हो तो राग-द्वेष नहीं होते। अज्ञानी के वाक्य निर्बल हैं। किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो और किसी के श्राप से अकल्याण हो, ऐसा कहनेवाला वस्तु की स्वतन्त्रता को नहीं समझता। जो तत्त्व को पराधीन मानता है, उसका ज्ञान दोषवाला और रागवाला है। जो तत्त्व को स्वाधीन मानता है, उसका ज्ञान निर्दोषतावाला और वीतरागता सहित है। निर्दोषता और वीतरागता पूज्य हो सकती है, दोष और राग पूज्य नहीं होते। ज्ञानी को अपने स्वभाव का भान है, वह स्वतन्त्रता समझता है, इसलिए निश्चय से अपने निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान को पूजता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी प्राप्त हो, वह दिव्य अन्तःतत्त्व जिससे बन्धनों से मुक्त हो।' लो, चाहे जहाँ से अर्थात् पर में से लेने का नहीं है परन्तु अपने शुद्ध स्वभाव में से लेने को कहते हैं। स्वयं चिदानन्द आत्मा है, ऐसा भान करे तो पर्याय में से परतन्त्रता का नाश होकर स्वतन्त्रता प्रगट होती है और निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्द प्रगट होता है। अपने अपराध के कारण से पर्याय में जंजीरों से बँधता है, ऐसा भान करे तो पृथक् होता है।

और कोई कहता है कि 'अनन्त उपकारी जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जीव कर्मों से भटकता है' परन्तु यह बात एकदम मिथ्या है। भगवान कहते हैं कि तू तेरी भूल से भटका, ऐसा अनारोप कथन समझे, तब कर्म से भटका, ऐसा आरोपित-उपचार कथन आता है। और भक्ति में कथन आवे कि 'हे भगवान! तुझसे संसार टला', उसका अर्थ ऐसा है कि 'हे आत्मा! तेरे स्वभाव में संसार नहीं, संसार एक समय की पर्याय में है, स्वभाव में नहीं।' स्वभाव का भान होने पर संसार टल जाता है, उसका आरोप भगवान पर आता है। अभी तो अज्ञान बहुत चल रहा है। दुष्काल के समय किसी ने रुपये ५०० की मदद दी तो मदद लेनेवाला कहता है कि सेठ के कारण दुष्काल की

कठिनता व्यतीत हो गयी। देनेवाला सेठ भी ऐसा मानता है कि मेरे कारण पर की अवस्था हुई। ऐसे दोनों रंक इकट्ठे हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि किसी का लिया लिया नहीं जाता, किसी का दिया दिया नहीं जाता। अज्ञानी जीव व्यर्थ में उल्टा मान रहा है।

यह सब बात शब्दसमय में से निकली है। शब्द अथवा वाणी स्वतन्त्र है। आज भगवान का जन्मदिवस है, इसलिए गाँव-गाँव में भाषण होंगे कि 'भगवान ने यज्ञ में से बकरों को बचाया, स्त्री को हक दिलाया इत्यादि', ऐसा कहनेवाले भगवान की वाणी को नहीं समझते। ऐसी भगवान की वाणी नहीं हो सकती। स्त्री को साधुपद नहीं होता, स्त्री और पुरुष का आत्मा समान होने पर भी पर्याय में अन्तर है। साधुपद अंगीकार करने के लिये जितनी वीतरागता चाहिए, उतनी स्त्री की पर्याय में प्रगट नहीं हो सकती। समकिती स्त्रियाँ समझती हैं कि हमारा आत्मा द्रव्य और गुण से समान होने पर भी, पर्याय की हद इतनी ही है कि पाँचवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ते। और मुनिपने में वस्त्र का राग रह जाये, ऐसा नहीं हो सकता। मुनिपने में वस्त्र के प्रति राग नहीं होता। मुनि निर्ग्रन्थ—दिगम्बर ही होते हैं। ऐसी जिस-जिस भूमिका की जितनी-जितनी हद है, तत्प्रमाण बतलावे, वह वाणी सच्ची है। वस्त्रसहित मुनिपना बतलावे, स्त्री को मुनिपना और मोक्ष माने, वह वाणी और शास्त्र सच्चे नहीं हैं। सूत्रपाहुड़ में आचार्य कहते हैं कि जो कोई जीव सूत्र से एक शब्द आड़ा-टेढ़ा करे, वह अनन्त संसारी है, वैसा जीव पूजनीय नहीं है। जिसने सर्वज्ञ की परम्परा से चले आ रहे सूत्रों में फेरफार करके मिथ्याशास्त्र रचे हैं, उसमें मिथ्यादृष्टि निमित्त है, समकिती निमित्त नहीं।

और कोई ऐसा कहता है कि भाषा मिथ्यारूप से निकले, उसके कहाँ हम कर्ता हैं? हम भाषा के या शब्द के कर्ता नहीं हैं।

समाधान - भाषा के कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है, यह बात बराबर है। परन्तु भाषा हुई, उस समय किस जीव का निमित्त था, वह वाणी द्वारा निश्चित किया जा सकता है। शास्त्र के शब्दों के कर्ता तो पुद्गल परमाणु हैं, परन्तु वे शास्त्र उल्टे और विरुद्ध लिखने के भाव का कर्ता अज्ञानी जीव है, इसलिए उसमें अज्ञानी जीव निमित्त है,

ऐसा कहा जा सकता है। जैसे कि एक जगह पाँच श्रीफल पड़े हैं, तथापि कोई जीव कहे कि वहाँ तीन श्रीफल पड़े हैं तो 'तीन श्रीफल पड़े हैं' ऐसे शब्द तो शब्दों के कारण से निकलते हैं परन्तु पीछे उसका ज्ञान खोटा है, ऐसा सिद्ध होता है। वाणी के कारण से नहीं परन्तु वाणी के पीछे रहा हुआ (बोलनेवाले का) ज्ञान खोटा है, ऐसा सामनेवाला जीव अपने ज्ञान से निर्णय करता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के शास्त्र के कथन में आवे कि मुनि को वस्त्र होता है, स्त्री को मुनिपना होता है, तो वहाँ उन शब्दों का तो पुद्गल के कारण से परिणमन हुआ है, आत्मा उनका कर्ता नहीं है, परन्तु उन शब्दों में निमित्तरूप से अज्ञानी जीव है, ऐसा निश्चित होता है और वीतराग की वाणी में ऐसा आता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, मुनिपने में वस्त्र नहीं होते, स्त्री को पाँचवें गुणस्थान से अधिक नहीं होता। वहाँ वाणी तो वाणी के कारण से है, परन्तु वाणी के पीछे रहा हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञानी का अथवा केवलज्ञानी का है अथवा लेखन के ऊपर से शास्त्र का लिखनेवाला ज्ञानी है, ऐसा निश्चित होता है। भगवान की वाणी को भी सत् कहा है और उसे पूजनीक कहा है। जिस प्रकार के शब्द होते हैं, उसके पीछे अज्ञान काम करता है या ज्ञान काम करता है, उसका ख्याल ज्ञानी को आ जाता है।

सत्तास्वरूप में दृष्टान्त दिया है कि एक बन्द कमरे में एक कलाबाज सितार बजा रहा है और बहुत सरस बजाता है। दूसरा होशियार व्यक्ति दूर खेत में बैठे-बैठे सुनता है। सुननेवाले ने संगीत बजानेवाले को देखा नहीं, कमरा भी बन्द है, तथापि उसका सितार बजाने का ढंग और सुर कान में पड़ने पर सुननेवाला होशियार व्यक्ति उस सुर के आधार से निर्णय करता है कि यह बजानेवाला होशियार होना चाहिए। ऐसा सुर के आधार से उसकी उस जाति की ज्ञानकला का ख्याल करता है। सुर तो पुद्गल की पर्याय है और ज्ञानकला तो आत्मा की है, तथापि ऐसे सुन्दर सुर और ज्ञानकला को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, इसके आधार से निर्णय करता है।

इसी प्रकार तीर्थकर, केवली मुनि धर्मात्मा ज्ञानी ज्ञानकला से भरपूर हैं, उनका आत्मा तो अन्दर शरीर में है। ज्ञानी का आत्मा दिखता नहीं, परन्तु उनके ज्ञान के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध धराती वाणी निकलती है, उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, इत्यादि

प्रकार से यथार्थ बतलाते हैं, इस आधार से सुननेवाला निर्णय करता है कि पीछे रहा हुआ आत्मा ज्ञानी है। इससे उल्टा, जो वाणी पराधीनता बतलावे, आत्मा को वाणी का कर्ता बतलावे, उस वाणी के आधार से सुननेवाला निर्णय करता है कि पीछे रहा हुआ आत्मा मिथ्यादृष्टि है। शब्द तो शब्द के कारण से परिणमते हैं परन्तु पीछे रहा हुआ आत्मा निमित्तरूप कैसा है, वह यथार्थ जाना जा सकता है, तथापि आत्मा के कारण वाणी का परिणमन नहीं हुआ है। और जैसे संगीत सुननेवाला होशियार व्यक्ति हो, वह परख सकता है परन्तु अज्ञानी संगीत सुने तो नहीं परख सकता; उसी प्रकार यहाँ भी वाणी का सुननेवाला होशियार होगा तो परख सकेगा कि यह ज्ञानी की वाणी है और यह अज्ञानी की है। अज्ञानी भेद नहीं कर सकेगा। इसलिए जिसकी योग्यता है, वह समझेगा। वाणी के कारण कोई समझता नहीं। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यादृष्टि की वाणी अच्छी लगेगी; धर्मी जीव को ज्ञानी की वाणी अच्छी लगेगी। तथापि ज्ञानी वाणी का कर्ता नहीं और वाणी के कारण सुननेवाला जीव समझता नहीं। सब स्वतन्त्र हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं, और जिनकी उल्टी प्ररूपणा है, उनके कल्याणक नहीं मनाये जाते परन्तु जो सर्वज्ञ हैं, पवित्रता में और पुण्य में पूरे हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान के जन्मकल्याणकादि प्रसंग मनाये जाते हैं।

एक परमाणु जो रूपी है, उसमें शब्द व्यक्त करने की ताकत नहीं है तो फिर आत्मा जो अरूपी है, वह शब्द का कर्ता हो ही नहीं सकता, तथापि शब्द के पीछे निमित्त भी कौन है, उसका ख्याल आ सकता है।

यहाँ गाथा में ऐसा कहा है कि अनेक परमाणु के स्कन्ध से शब्द उत्पन्न होता है परन्तु एक परमाणु में शब्द करने की ताकत नहीं है, इसलिए परमाणु अशब्दमय है।



गाथा - ७९

सद्धो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्धो उप्पादिगो णियदो ॥७९॥

शब्दः स्कंधप्रभवः स्कंधः परमाणुसङ्गसङ्घातः।

स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पादिको नियतः ॥७९॥

शब्दस्य पुद्गलस्कंधपर्यायत्वख्यापनमेतत्। इह हि बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः। स खलु स्वरूपेणानंतपरमाणूनामेकस्कंधो नाम पर्यायः। बहिरङ्गसाधनीभूतमहास्कंधेभ्यः तथाविधपरिणामेन समुत्पद्यमानत्वात् स्कंधप्रभवः, यतो हि परस्परभिहतेषु महास्कंधेषु शब्दः समुपजायते। किं च स्वभावनिरवृत्ताभिरेवानंतपरमाणुमयीभिः शब्दयोग्यवर्गणा-भिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र यत्र बहिरङ्ग-कारणसामग्री समुदेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमंत इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कंधप्रभवत्वमिति ॥७९॥

स्कन्धों के टकराव से शब्द उपजें नियम से।

शब्द स्कन्धोत्पन्न है अर स्कन्ध अणु संघात है ॥७९॥

अन्वयार्थ :- [शब्दः स्कंधप्रभवः] शब्द स्कन्धजन्य है। [स्कंधः परमाणु-संगसंघातः] स्कन्ध परमाणुदल का संघात है, [तेषु स्पृष्टेषु] और वे स्कन्ध स्पर्शित होने से-टकराने से [शब्दः जायते] शब्द उत्पन्न होता है; [नियतः उत्पादिकः] इस प्रकार वह (शब्द) नियतरूप से उत्पाद्य हैं।

टीका:-शब्द पुद्गलस्कन्धपर्याय है, ऐसा यहाँ दर्शाया है।

इस लोक में, बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा ^१अवलम्बित भावेन्द्रिय द्वारा जाननेयोग्य ऐसी जो ध्वनि, वह शब्द है। वह (शब्द) वास्तव में स्वरूप से अनन्त परमाणुओं के एक

१. शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है, इसलिए वह मूर्त है। कुछ लोग मानते हैं तदनुसार शब्द आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि अमूर्त आकाश का अमूर्त गुण इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता।

स्कन्धरूप पर्याय है। बहिरंग साधनभूत (-बाह्य कारणभूत) महास्कन्धों द्वारा तथाविध परिणामरूप (शब्दपरिणामरूप) उत्पन्न होने से वह स्कन्धजन्य हैं, क्योंकि महास्कन्ध परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। पुनश्च यह बात विशेष समझाई जाती है:- एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित ऐसा जो स्वभावनिष्पन्न ही (-अपने स्वभाव से ही निर्मित), अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य-वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ-जहाँ बहिरंगकारण सामग्री उदित होती है, वहाँ-वहाँ वे वर्गणाएँ शब्दरूप से स्वयं परिणमित होती हैं; इस प्रकार शब्द नित्यतरूप से (अवश्य) उत्पाद्य है; इसलिए वह स्कन्धजन्य है॥७९॥

२. शब्द के दो प्रकार हैं:- (१) प्रायोगिक और (२) वैश्रसिक। पुरुषादि के प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले शब्द, वह प्रायोगिक हैं और मेघादि से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैश्रसिक हैं। अथवा निम्नोक्तानुसार भी शब्द के दो प्रकार हैं:- (१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक। उनमें भाषात्मक शब्द द्विविध हैं-अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। संस्कृत प्राकृतादिभाषारूप से वह अक्षरात्मक हैं और द्वीन्द्रियादिक जीवों के शब्दरूप तथा (केवली भगवान की) दिव्यध्वनिरूप से वह अनक्षरात्मक हैं। अभाषात्मक शब्द भी द्विविध हैं-प्रायोगिक और वैश्रसिक। वीणा, ढोल, झांझ, बंसरी आदि से उत्पन्न होता हुआ प्रायोगिक है और मेघादि से उत्पन्न होता हुआ वैश्रसिक है।

किसी भी प्रकार का शब्द हो किन्तु सर्व शब्दों का उपादानकारण लोक में सर्वत्र व्याप्त शब्दयोग्य वर्गणाएँ ही है; वे वर्गणाएँ ही स्वयमेव शब्दरूप से परिणमित होती हैं, जीभ-ढोल-मेघ आदि मात्र निमित्तभूत हैं।

३. उत्पाद्य=उत्पन्न करानेयोग्य; जिसकी उत्पत्ति में अन्य कोई निमित्त होता है ऐसा।

४. स्कन्धजन्य=स्कन्धों द्वारा उत्पन्न हो ऐसा; जिसकी उत्पत्ति में स्कन्ध निमित्त होते हैं ऐसा। (समस्त लोक में सर्वत्र व्याप्त अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणाएँ स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होने पर भी वायु-गला-तालु-जिह्वा-ओष्ठ, घंटा-मोगरी आदि महास्कन्धों का टकराना, वह बहिरंगकारण सामग्री हैं अर्थात् शब्दरूप परिणमन में वे महास्कन्ध निमित्तभूत हैं; इसलिए उस अपेक्षा से (निमित्त-अपेक्षा से) शब्द को व्यवहार से स्कन्धजन्य कहा जाता है।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १४, बुधवार

आत्मा और शब्द दोनों भिन्न चीज़ है। शब्द आत्मा से नहीं बोला जाता। शब्द पुद्गल की पर्याय है और आत्मा से भिन्न है। जिसे धर्म प्रगट करना है, उसे परपदार्थ के कर्तृत्व का अभिमान छोड़ना चाहिए। अभिमान कब टलता है ? मैं और भाषा दोनों भिन्न हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ, ऐसा भान करे तो धर्म होता है। परन्तु ऐसा भान न करे और कहे कि इस प्रकार से उपदेश देना चाहिए, दूसरे की दया पालना चाहिए, इत्यादि प्रकार से मानना, वह भ्रान्ति है।

शब्द पुद्गल की पर्याय है, यह बताते हैं।

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। कोई भाववाली चीज़ है तो पर्याय पलटकर शब्द होता है। आत्मा है, इसलिए शब्द होता है, ऐसा नहीं है। शब्द स्कन्ध से होता है और वह अनन्त परमाणु के मिलाप से स्कन्ध होता है। उन स्कन्धों का परस्पर संघटन (घर्षण) होता है, तब भाषावर्गणा के परमाणु शब्दरूप परिणमते हैं, आत्मा के कारण शब्द नहीं होता।

इसमें धर्म क्या आया ? जो चीज़ तेरे स्वभाव को धार रखे, वह तेरी चीज़ है। जो जड़ स्वभाव को धार रखे, वह जड़ है, वह तेरी चीज़ नहीं। तू ज्ञानस्वरूपी है, तेरा धर्म जड़ से नहीं होता और जड़ का धर्म तुझसे नहीं होता, ऐसा समझे तो धर्म होता है। सामायिक के पाठ में बोले कि 'तावकायम ठाणेणं मोणेणं' परन्तु अर्थ की खबर नहीं होती, शरीर को स्थिर रखूँ और मौन रहूँ – यह सब कथन निमित्त से है। काया को कौन स्थिर रखे ? वाणी को मौन कौन रख सकता है या बोल सकता है ? मन को कौन दबावे ? मन-वचन-काया पुद्गलस्कन्धरूप अवस्था है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

भावार्थ – द्रव्य कर्णेन्द्रिय के निमित्त से भाव कर्णेन्द्रिय द्वारा जो आवाज जानने में आती है, उसे शब्द कहते हैं। यह कान तो जड़ है परन्तु कान के विकास द्वारा और

कान के निमित्त से यह शब्द है, ऐसा ज्ञात होता है। शब्द ज्ञान नहीं है और ज्ञान शब्द नहीं है। वीतराग का उपदेश परमाणु की पर्याय है, उससे आत्मा को ज्ञान नहीं होता। ज्ञान पर्याय क्षण-क्षण में शब्द को जानती है, उसमें कान निमित्त है। वे शब्द अनन्त परमाणु के स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं। परस्पर महास्कन्धों का संघर्षण होता है, तब शब्द होते हैं। भाषा होने के योग्य भाषावर्गणा तीन लोक में भरी पड़ी है।

और जैसे चने के मोटे आटे में से मगज होता है और बारीक आटे में से मैसूर होता है, उसी प्रकार बहुत स्थूल परमाणु में से औदारिकशरीर होता है और सूक्ष्म परमाणु में से भाषा होती है। यह होंठ और दाँत स्थूल परमाणु के बने हुए हैं, उनमें से भी भाषा नहीं होती तो फिर आत्मा से भाषा हो, ऐसा कभी नहीं होता।

जहाँ-जहाँ शब्द उत्पन्न करने के लिये बाह्य सामग्री का संयोग मिलता है, वहाँ-वहाँ शब्द योग्य वर्गणा स्वयमेव शब्दरूप परिणमती है। उसका अर्थ ऐसा है कि भाषा के योग्य परमाणु भाषारूप परिणमते हैं, तब बाह्य सामग्री को निमित्त कहा जाता है परन्तु बाह्य सामग्री के कारण भाषा होती है, ऐसा नहीं है। जैसे घर में अलग-अलग प्रकार का आटा होता है, उसकी अलग-अलग चीज़ें—लापसी, मैसूर आदि बनते हैं, वहाँ वे-वे परमाणु स्वयमेव उसरूप परिणमते हैं तो बाई की इच्छा को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी कहता है कि मुझसे होता है, यही भ्रमणा है। बाजार में से चावल, बाजरा, सब्जी इत्यादि लेकर आवे तो अज्ञानी कहता है कि जैसी मेरी इच्छा हुई, वैसी चीज़ ले आया। यही भ्रमणा है। वे सत्तावाले पदार्थ स्वयं से हैं या तेरे कारण से हैं? वे जड़तत्त्व स्वयं से हैं, स्वयं से रूपान्तर होकर क्षेत्रान्तर पाते हैं। उसी प्रकार भाषावर्गणा के परमाणु अपने आप ही शब्दरूप परिणमते हैं तो बाह्य सामग्री को निमित्त कहा जाता है। यह उपदेश इच्छा से नहीं निकलता। अपने आप परिणम जाता है। निमित्त आता है, इसलिए परिणमता है, ऐसा नहीं है। भाषा, भाषा के कारण से है, इच्छा निर्बलता से होती है। आत्मा उस इच्छारहित ज्ञाता है, ऐसा निर्णय करे तो धर्म होता है।

कोई मतवाला शब्द को आकाश का गुण कहता है, परन्तु वह आकाश का गुण कदापि नहीं है। आकाश अरूपी है। अरूपी के द्रव्य-गुण और पर्याय अरूपी होते हैं।

शब्द आकाश का गुण हो तो शब्द अरूपी सिद्ध होने से कान द्वारा ग्राह्य नहीं होना चाहिए। इन्द्रियाँ मूर्तिक हैं और इन्द्रियों द्वारा जो ग्रहण होता है, वह भी मूर्तिक है। शब्द तो इन्द्रिय से ग्राह्य होता है, इसलिए शब्द मूर्तिक है। वह अमूर्तिक आकाश का गुण नहीं है।

शब्द दो प्रकार के हैं—एक प्रायोगिक और दूसरा वैसर्सिक।

प्रायोगिक - जो पुरुषादिक के सम्बन्ध से होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं। भाषा में आत्मा के भाव का निमित्त है। इसलिए प्रायोगिक कहते हैं। जीव की इच्छा के कारण भाषा परिणमती है, ऐसा नहीं है और उस परमाणु की भाषारूप परिणमने की योग्यता नहीं थी और पुरुष की इच्छा हुई, इसलिए भाषा होती है, ऐसा प्रायोगिक का अर्थ नहीं है। भाषावर्गणा अपने कारण से शब्दरूप परिणमती है, उसमें जीव का प्रयत्न आदि कारण निमित्त है, इसलिए उसे प्रायोगिक कहते हैं।

वैसर्सिक - जो मेघादि से उत्पन्न होते हैं, वे वैसर्सिक हैं। उसमें जीव का निमित्तपना नहीं है, ऐसा बतलाना है और प्रायोगिक में जीव का निमित्तपना बतलाना है। बाकी तो दोनों प्रकारों में स्वयं के कारण से ही परिणमन होता है।

और शब्द भाषा-अभाषा दो प्रकार से है। उसमें से भाषात्मक शब्द अक्षर-अनक्षर के भेद से दो प्रकार के हैं। संस्कृत, प्राकृत, आर्य, म्लेच्छ आदि से भाषारूप जो शब्द हैं, वे अक्षरात्मक हैं। वह जड़ का परिणमन है। जड़ की पर्याय का अभिमान करे, वह अज्ञानी है। जो जीव जड़ की पर्याय से पृथक् नहीं पड़ता, वह विकार से तो कभी पृथक् नहीं पड़ सकता। दो इन्द्रियादि जीवों की तथा मक्खी, मच्छर इत्यादि की भाषा अनक्षरात्मक है और भगवान की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक है। भगवान की वाणी में शब्द क्रमपूर्वक नहीं बोले जाते। जो ऐसा कहते हैं कि भगवान गौतम गणधर तथा दूसरे अलग-अलग व्यक्तियों को सम्बोधन कर क्रमपूर्वक बोलते हैं, वह भगवान की वाणी को भी नहीं समझते। भगवान को तो असंख्य प्रदेश से अनक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है। छद्मस्थदशा में कषाय होती है, वहाँ तक उसके निमित्त से वाणी क्रमवाली होती है और अकषायदशा प्रगट करके सर्वज्ञपद प्राप्त होने पर वाणी अक्रम से निकलती है। उस वाणी को बारह सभा में देव, मनुष्य, तिर्यच इत्यादि अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते

हैं और प्रत्येक सुननेवाले को ऐसा लगता है कि मेरी भाषा में भगवान बोलते हैं। परन्तु वहाँ तो अक्रम अनक्षरात्मक वाणी है।

और कोई कहता है कि दो इन्द्रियादि जीवों की अनक्षरात्मक वाणी और भगवान की अनक्षरात्मक वाणी में क्या अन्तर हैं ?

समाधान - एक हरिजन और एक चक्रवर्ती मनुष्यपने की अपेक्षा से समान हैं, तथापि पर्याय अपेक्षा से और पुण्य अपेक्षा से बड़ा अन्तर है; उसी प्रकार दोनों को अनक्षरात्मक होने पर भी बड़ा अन्तर है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि मक्खी जो भाषा बोलती है, उसकी कर्ता मक्खी नहीं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि के कर्ता भगवान नहीं परन्तु भाषा के परमाणु स्वतन्त्ररूप से भाषारूप परिणमित हो जाते हैं।

और अभाषात्मक शब्दों के दो भेद हैं — एक प्रायोगिक और एक वैसर्सिक। पुरुष के सम्बन्ध से हों, वह प्रायोगिक है। प्रायोगिक में तत्, वितत्, घन, सुषिरादि रूप जानना। वाणी और वाजिन्त्र से जो आवाज हो, वह तत् कहलाती है, उसमें पुरुष की अँगुली का निमित्त है। ढोल आदि से उत्पन्न हो, वह वितत् शब्द कहलाते हैं। वह अभाषात्मक शब्द है। झांझ, करताल से शब्द उत्पन्न हो, उसे घन कहते हैं। बांसुरी के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न हो, उसे सुषिर कहते हैं। इस प्रकार प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द के चार भेद जानना। उसमें पुरुषादि का निमित्त है, इसलिए उसे प्रायोगिक कहते हैं। परन्तु जीव के कारण वह स्वर आदि का परिणमन नहीं होता। अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि हमें बांसुरी बजाना आता है, इसलिए बजा सकते हैं। जिसे नहीं आता हो, उसे बांसुरी दो तो क्या वह बजा सकेगा ? इस प्रकार अज्ञानी जीव जड़ का स्वामी होकर अभिमान करता है।

जो मेघादि से उत्पन्न होता है, उसे वैसर्सिक अभाषात्मक शब्द कहते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकार के शब्द पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न होते हैं। जीव के कारण वे नहीं होते।

कोई कहता है कि 'केवली भगवान को इच्छा नहीं है तो भी वाणी निकलती है, यह तो बराबर है परन्तु छद्मस्थ जीव को तो इच्छा के कारण वाणी निकलती है ?'—

परन्तु यह तर्क मिथ्या है। छद्मस्थ की वाणी हो या केवली की अनक्षरात्मक ध्वनि हो—दोनों स्वतन्त्र हैं। जीव के कारण वह नहीं होती। प्रत्येक शब्द स्वयं से होता है, निमित्त के कारण नहीं। भाषा के स्वरूप से तेरा स्वरूप सदा काल भिन्न है, ऐसा निर्णय कराते हैं।

कोई कहता है कि भाषण जोरदार करना चाहिए कि जिससे श्रोता के ऊपर प्रभाव पड़े। धीरे-धीरे बोलें तो प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। वह भाषा का अधिपति होता है। धीरे से या जोर से बोलना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। ऐसे जड़ के अभिमानी को सच्चा प्रतिक्रमण नहीं होता। जड़ मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करके राग से विमुख होना, वह प्रतिक्रमण है। ऐसी जिसे खबर नहीं और भाषा के साथ एकत्वबुद्धि करता है, वह जीव स्वभाव में से विमुख हुआ है अर्थात् वह मिथ्यात्व सेवन करता है।

और भगवान की वाणी अनक्षरी कही, उसमें देव के स्वरूप की भी बात आयी। जो जीव ऐसा मानता है कि साधारण लोग समवसरण में भगवान को प्रश्न पूछते हैं और भगवान व्यक्ति को उत्तर देते हैं, वह भगवान को नहीं समझता। तीर्थंकर की सभा में चक्रवर्ती, इन्द्र, गणधरादि पुण्यवन्त पूछ सके, ऐसा वाणी का तथा पुण्यवन्त पुरुष का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई साधारण जीव प्रश्न नहीं कर सकता। जैसे राजा को अर्जी करनी हो तो उसके यथायोग्य अनुचर द्वारा अर्जी पहुँचती है, उसी प्रकार तीन लोक के नाथ को पुण्यवन्त पुरुष पूछते हैं और जवाब ॐध्वनि में आता है और सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। इसीलिए यहाँ अनक्षरी वाणी कहकर देव के स्वरूप की पहिचान दी है। भगवान को ॐ अनक्षरी अभेद वाणी निकलती है।

यहाँ कहने का भावार्थ ऐसा है कि एक परमाणु में शब्दरूप होने की सामर्थ्य नहीं। बहुत परमाणु इकट्ठे होते हैं तो शब्द होता है। परमाणु में शक्ति है परन्तु व्यक्ति नहीं। आत्मा में तो शब्द की शक्ति नहीं तथा व्यक्ति भी नहीं। यह सब शब्दों के भेद बताये, वे पुद्गल के कार्य हैं। आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसा भान करके ज्ञाता रहे, तो धर्म होता है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १५, गुरुवार

पुद्गल आत्मा से भिन्न है, ऐसा जानकर पुद्गल को हेय बताते हैं और आत्मा अंगीकार करनेयोग्य है, ऐसा कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह स्वयं से पृथक् ऐसे शब्द को करता नहीं, तथा अपने से पृथक् ऐसे शब्द से आत्मा को ज्ञान होता नहीं। एक परमाणु जड़ है, उसमें शब्द करने की ताकत नहीं तो फिर अरूपी आत्मा शब्द को करे, यह असम्भवित है और शब्द से ज्ञान हो, यह असम्भवित है।

प्रश्न - घर में थे, तब यह ज्ञान नहीं था परन्तु यहाँ आकर यह सुना तो ज्ञान हुआ न?

समाधान - भाई! श्रवण से ज्ञान नहीं होता। शब्द जड़ हैं, आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, शब्द से ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न - निश्चय से नहीं होता परन्तु व्यवहार से तो होता है न? भगवान ने दो नय कहे हैं न?

समाधान - अपने में अपने कारण से ज्ञान होता है, यह निश्चय है, तब दूसरी चीज़ का ज्ञान व्यवहारनय कराता है, परन्तु दूसरी चीज़ से ज्ञान नहीं होता। निश्चयनय आदरने के लिये है, व्यवहारनय ज्ञान करने के लिये है, आदरने के लिये नहीं। आत्मा त्रिकाली ज्ञाता है, उसमें शब्द करने की ताकत नहीं और आत्मा कारण होकर शब्द बनावे, ऐसी शब्द में ताकत नहीं है। शब्द भाषा के परमाणु के कारण से बनता है।

लौकिक में कोहिनूर हीरा बहुत तेजवाला कहलाता है। प्रकाश का पर्वत कहलाता है, तथापि वह इतना प्रकाशवाला है, ऐसी हीरा को खबर नहीं है। हीरा अपने को तथा पर को नहीं जानता। हीरा को जाननेवाला आत्मा अपने को तथा पर को जानता है। ऐसा ज्ञान का पर्वत प्रत्येक आत्मा प्रत्येक देह में विराजमान है। उसके ज्ञान की वर्तमान अवस्था और सत्ता है या नहीं? और वर्तमान ज्ञान का कार्य पर के कारण हो तो अपना वर्तमान क्या? कोई किसी के कारण नहीं है। अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि मेरा ज्ञान वक्ता में से आता है, यही भ्रम है।

कोई प्रश्न करे कि — तो फिर वक्ता का और सुननेवाले का अभिप्राय एक कैसे होता है ?

समाधान - दोनों का अभिप्राय समान होता है, वह स्वयं के कारण से होता है। वक्ता का आशय उसके आत्मा में से पृथक् पड़कर श्रोता के आत्मा में आ नहीं जाता, परन्तु अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि वाणी का प्रवाह चलता है, तब उसके कारण मुझे ज्ञान होता है। तू भाववाला पदार्थ है या भाव बिना का ? जो पदार्थ होता है, वह भाव बिना नहीं होता। और उसका वर्तमान उससे काम करता है या पर से ? यदि एक समय पर से ज्ञान का काम होता हो तो त्रिकाली द्रव्य भी पराधीन हो जाये। यहाँ कहते हैं कि शब्द से तुझे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तुझसे होता है। ●●

धन्य वह अद्भुत मुनिदशा!

अहाहा! मुनि किसे कहते हैं? कि जो शीघ्र-शीघ्र निज शुद्धात्मा में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हों, वे मुनि हैं। उनकी दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। मुनि को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। जिस प्रकार पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य उमड़ता है, आनन्द उछलता है, सर्व गुण-पर्यायों में यथासम्भव वृद्धि होती है। अहा! मुनिराज का वैराग्य, राग के रसरहित उग्र विरक्तभाव कोई और ही है। धन्य वह मुनिदशा!

पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, उन मुनिराज का अन्तर वैराग्य कोई अद्भुत है। वे स्वरूपानन्द में इतने लीन हुए हैं कि भूमिकानुसार जो महाव्रतादि का शुभराग आता है, वह भी दोष लगता है। यह सूक्ष्म बात है भाई!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेदा।

खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥८०॥

नित्यो नानवकाशो न सावकाशः प्रदेशतो भेत्ता।

स्कंधानामपि च कर्ता प्रविभक्ता कालसंख्यायाः ॥८०॥

परमाणोरेकप्रदेशत्वख्यापनमेतत्। परमाणुः स खल्वेकेन प्रदेशेन रूपादिगुणसामान्यभाजा सर्वदैवाविनश्वरत्वान्नित्यः। एकेन प्रदेशेन तदविभक्तवृत्तीनां स्पर्शादिगुणानामवकाशदानान्नानवकाशः। एकेन प्रदेशेन द्वयादिप्रदेशाभावादात्मादिनात्ममध्येनात्मांतेन न सावकाशः। एकेन प्रदेशेन स्कंधानां भेदनिमित्तत्वात् स्कंधानां भेत्ता। एकेन प्रदेशेन स्कंधसंघातनिमित्तत्वात्स्कंधानां कर्ता। एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितदगतिपरिणामापन्नेन समयलक्षणकालविभागकरणात् कालस्य प्रविभक्ता। एकेन प्रदेशेन तत्सूत्रितद्वयादिभेदपूर्विकायाः स्कंधेषु द्रव्यसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तदवच्छिन्नैकाकाशप्रदेशपूर्विकायाः क्षेत्रसंख्यायाः एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितदगतिपरिणामावच्छिन्नसमयपूर्विकायाः कालसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तद्विवर्तिजघन्यवर्णादिभावावबोधपूर्विकाया भावसंख्यायाः प्रविभागकरणात् प्रविभक्ता संख्याया अपीति ॥८०॥

अवकाश नहिं सावकाश नहिं अणु अप्रेशी नित्य है।

भेदक-संघातक स्कन्ध का अर विभाग कर्ता काल का ॥८०॥

अन्वयार्थ :- [प्रदेशतः] प्रदेश द्वारा [नित्यः] परमाणु नित्य है, [न अनवकाशः] अनवकाश नहीं है, [न सावकाशः] सावकाश नहीं है, [स्कंधानाम् भेत्ता] स्कन्धों का भेदन करनेवाला [अपि च कर्ता] तथा करनेवाला है और [कालसंख्यायाः प्रविभक्ता] काल तथा संख्या को विभाजित करनेवाला है (अर्थात् काल का विभाजन करता है और संख्या का माप करता है)।

टीका:-यह, परमाणु के एकप्रदेशीयने का कथन है।

जो परमाणु है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा-जो कि रूपादिगुण सामान्यवाला है, उसके द्वारा-सदैव अविनाशी होने से नित्य है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा उससे

(-प्रदेश से) अभिन्न अस्तित्ववाले स्पर्शादिगुणों को अवकाश देता है, इसलिए अनवकाश नहीं है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा (उसमें) द्वि-आदि प्रदेशों का अभाव होने से, स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त होने के कारण (अर्थात् निरंश होने के कारण), सावकाश नहीं है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्धों के भेद का निमित्त होने से (अर्थात् स्कन्ध के बिखरने-टूटने का निमित्त होने से) स्कन्धों का भेदन करनेवाला है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से (अर्थात् स्कन्ध के मिलने का-रचना का निमित्त होने से) स्कन्धों का कर्ता है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा-जो कि एक आकाश प्रदेश का अतिक्रमण करनेवाले (लाँघनेवाले) अपने गतिपरिणाम को प्राप्त होता है, उसके द्वारा-‘समय’ नामक काल का विभाग करता है, इसलिए काल का विभाजक है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा संख्या का भी विभाजक है क्योंकि (१) वह एक प्रदेश द्वारा उसके रचे जानेवाले दो आदि भेदों से लेकर (तीन अणु, चार अणु, असंख्य अणु इत्यादि) द्रव्यसंख्या के विभाग स्कन्धों में करता है, (२) वह एक प्रदेश द्वारा उसकी जितनी मर्यादावाले एक ‘आकाशप्रदेश’ से लेकर (दो आकाशप्रदेश, तीन आकाशप्रदेश, असंख्य आकाशप्रदेश इत्यादि) क्षेत्रसंख्या के विभाग करता है, (३) वह एक प्रदेश द्वारा, एक आकाशप्रदेश का अतिक्रम करनेवाले उसके

१. विभाजक=विभाग करनेवाला; मापनेवाला। [स्कन्धों में द्रव्यसंख्या का माप अर्थात् वे कितने अणुओं-परमाणुओं से बने हैं, ऐसा माप) करने में अणुओं की-परमाणुओं की-अपेक्षा आती है, अर्थात् वैसा माप परमाणु द्वारा होता है। क्षेत्र का माप का एक ‘आकाशप्रदेश’ है और आकाशप्रदेश की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए क्षेत्र का माप भी परमाणु द्वारा होता है। काल के माप एक ‘समय’ है और समय की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए काल का माप भी परमाणु द्वारा होता है। ज्ञानभाव के (ज्ञानपर्याय के) माप का एकक ‘परमाणु में परिणमित जघन्य वर्णादिभाव को जाने उतना ज्ञान’ है और उसमें परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए भाव का (ज्ञानभाव का) माप भी परमाणु द्वारा होता है। इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव माप करने के लिये गज समान है।]

२. एक परमाणुप्रदेश जितने आकाश के भाग को (क्षेत्र को) ‘आकाशप्रदेश’ कहा जाता है। वह ‘आकाशप्रदेश’ क्षेत्र का ‘एकक’ है। (गिनती के लिये, किसी वस्तु के जितने परिमाण को ‘एक माप’ माना जाये, उतने परिमाण को उस वस्तु का ‘एकक’ कहा जाता है।)

गतिपरिणाम जितनी मर्यादावाले ^३‘समय’ से लेकर (दो समय, तीन समय, असंख्य समय इत्यादि) कालसंख्या के विभाग करता है, और (४) वह एक प्रदेश द्वारा उसमें विवर्तन पानेवाले (-परिवर्तित, परिणमित) जघन्य वर्णादिभाव को जाननेवाले ज्ञान से लेकर भावसंख्या के विभाग करता है॥८०॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल १५, गुरुवार

अब, परमाणु एक प्रदेशी है—ऐसा बताते हैं। यह पुद्गल स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग कि जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते, उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु सदा अविनाशी है, नित्य है। यह शरीर दिखता है, वह मूल तत्त्व नहीं है। परन्तु उसका छोटे में छोटा भाग परमाणु है। वह परमाणु अविनाशी है, ऐसा ज्ञान जानता है। परमाणु को अपनी खबर नहीं तथा दूसरे की भी खबर नहीं। आत्मा अपने को तथा परमाणु आदि पर को जानता है। पर से भिन्न हूँ, ऐसा यथार्थ भान करनेवाले धर्मी जीव को ख्याल आता है कि अहो! मैं ज्ञानस्वभावी अविनाशी हूँ और परमाणु जड़स्वभावी अविनाशी है। अनेक परमाणु के स्कन्ध में से शब्द होता है, कोई ईश्वर या आत्मा शब्द का कर्ता नहीं है।

और एक परमाणु एक प्रदेश में है और उसके रूपादि गुणों से कभी भी पृथक् नहीं होता, ऐसा आत्मा जानता है। इसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों से कभी भी पृथक् नहीं होता। शुभाशुभभाव होते हैं, वे पर्याय में होते हैं, वे पलटकर नाश को प्राप्त होते हैं। ज्ञान-दर्शनादि शक्तियाँ कायम रहती हैं। किसी समय आत्मा में गुण न हो, ऐसा नहीं होता। अज्ञानी मानता है कि शब्द से, पुस्तक से, प्रतिमा से ज्ञान होता है परन्तु उसे अपने ज्ञानस्वभाव का विश्वास नहीं आता। जो वस्तु होती है, वह अपने स्वभाव बिना की होगी? नहीं होगी। स्वभाव बिना की हो, उसे वस्तु नहीं कहा जाता। परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी उसके गुणों से रहित नहीं; उसी प्रकार चैतन्यप्रकाश का पर्वत

३. परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश में (मन्दगति से) जाते हुए जो काल लगता है, उसे ‘समय’ कहा जाता है।

भी अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों से कभी रहित नहीं है।

और परमाणु अविनाशी है और उसके गुणों से रहित नहीं है—ऐसा निर्णय किसने किया और किसमें किया ? परमाणु को खबर नहीं। जीवद्रव्य तो निर्णय करता है परन्तु निर्णय करने का कार्य पर्याय में है, द्रव्य-गुण में कार्य नहीं। पर्याय निर्णय करती है कि जैसे परमाणु अविनाशी है और उसके गुण से रहित नहीं है; उसी प्रकार आत्मा अविनाशी है और उसके ज्ञानादि गुण से रहित नहीं है। मेरा कार्य मेरे गुण के धारक आत्मद्रव्य के आधार से होता है। इस प्रकार स्वयं अविनाशी है और गुणसहित है—ऐसा भरोसा जिसे आया, वह जीव परमाणु का निर्णय करता है। निचलीदशा में परमाणु तो प्रत्यक्ष दिखता नहीं। परमाणु प्रत्यक्ष तो केवली को होता है, तथापि निचलीदशावाला जीव कि जिसे अपने द्रव्य-गुण की एकता का भरोसा आया है और स्वभाव का आश्रय लेकर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुआ है, उसके ज्ञान में भले परमाणु प्रत्यक्ष दिखता नहीं, तथापि ज्ञान अनुमान करता है कि यह स्कन्ध दिखता है, वह बहुत परमाणुओं का पिण्ड है, उसमें से टुकड़े होते-होते अन्तिम अंश रहे, वह परमाणु है। ऐसे प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान से निर्णय करता है कि परमाणु स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग है, एक प्रदेशी है और उसके गुणसहित है।

यह चापड़ी (लकड़ी की पट्टी) दिखती है, वह किससे हुई है, ऐसा एक पण्डित को प्रश्न पूछे जाने पर उसने जवाब दिया कि ‘चापड़ी बाँस से हुई है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है।’ किसे प्रत्यक्ष कहते हो ? प्रत्यक्षपना ज्ञान को लागू पड़ता है या जड़ को लागू पड़ता है ? जड़ में ज्ञान नहीं, इसलिए जड़ को प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ है ही नहीं और अपने में स्वसंवेदनज्ञान-राग बिना का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुए बिना स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग सूक्ष्म परमाणु है, ऐसा अनुमान कौन करेगा ? मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, स्वतःसिद्ध वस्तु हूँ, शरीर, मन, वाणी आदि पर है, उनसे मैं ज्ञात होऊँ—ऐसा नहीं तथा राग से भी ज्ञात होऊँ, ऐसा नहीं। मैं तो सदा मेरे ज्ञान-दर्शनादि से सहित हूँ—ऐसे भानपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करके साधक को जो ज्ञान प्रगट होता है, वह प्रत्यक्ष है। परन्तु सर्वज्ञदशा नहीं, तब तक वह पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, इसीलिए एक परमाणु को वह प्रत्यक्ष नहीं देख सकता।

साधक को प्रत्यक्ष ज्ञान अधूरा है और विकल्प भी वर्तता है। वह अनुमान करता है कि इस स्कन्ध के टुकड़े होते हैं, इसलिए यह मूल चीज़ नहीं है। मूल चीज़ हो, उसके टुकड़े नहीं होते, इसलिए स्कन्ध की मूल चीज़ का अनुमान करता है कि स्कन्ध का टुकड़ा होते-होते छोटा भाग रहता है, वह परमाणु है। इस प्रकार जिस साधक जीव ने अपने में आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट किया है, उसका अनुमान सच्चा है।

अनुमान=अपने को+अनुसरकर ज्ञान के माप में आना, वह अनुमान है। राग, द्वेष, पुण्य-पाप दोष है। ज्ञानस्वभाव तो निर्दोष है। निर्दोष स्वभाव दोष से ज्ञात नहीं होता है। निर्दोष ज्ञानस्वभाव का ख्याल आये बिना स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग परमाणु है, उसका ख्याल कौन करेगा? परमाणु की बात चलती है। परमाणु अर्थसमय है, परन्तु उस अर्थसमय को जाननेवाला तो ज्ञानसमय है और उसे कहनेवाला शब्दसमय है। जो शब्द रागरहित शुद्ध चैतन्य के बिना राग-द्वेष इत्यादि पर्याय का अकेले का ज्ञान बतावे और शुभ से विकास होगा, ऐसा बतावे, वह द्रव्यश्रुत नहीं है और जिसका ज्ञान ऐसा जाने कि पुद्गल का कार्य हमारे से होता है, उसका ज्ञान भी मिथ्या है और उसने भगवान की वाणी भी नहीं जानी है।

यहाँ परमाणु की बात की है, परन्तु परमाणु को जाननेवाला कौन है। जाननेवाला तो आत्मा है। परमाणु मुझमें नहीं, ऐसा जानकर उसे हेय कहा है। वह चीज़ मुझमें नहीं है और मैं उसमें नहीं हूँ। वह उसमें है और मैं मुझमें हूँ, ऐसा ज्ञान भी अपने में रहकर करता है। पर में रहकर ज्ञान नहीं करता।

यहाँ कहा है कि एक परमाणु उसके गुण के विरह बिना का है। वस्तु कहो और उसे गुण न हो, ऐसा नहीं होता। स्वभाव और स्वभाववान विरह बिना के हैं। ज्ञान ने निर्णय किया कि अहो! एक परमाणु अविनाशी है और उसके गुणों के विरह बिना का है। परन्तु परमाणु को अपनी खबर नहीं। मैं उसका जाननेवाला हूँ परन्तु बनानेवाला नहीं। और राग-द्वेष का ग्रहण-त्याग करनेवाला भी मैं नहीं। मैं तो परमाणु का तथा रागादि का जाननेवाला हूँ। वह भी व्यवहार से जाननेवाला हूँ। परमाणु का, स्व में रहकर जाननेवाला हूँ। ज्ञान परमाणु का नहीं, ज्ञान स्व का है। अपनी सामर्थ्य से जानता

हूँ, मैं स्वयंसिद्ध ज्ञान ही हूँ। ज्ञानप्रकाश का पिण्ड हूँ, ध्रुव हूँ, ऐसा जिस ज्ञान ने निर्णय किया, वह ज्ञान निर्णय करता है कि यह चीजें टूटती हैं, वह मूलतत्त्व नहीं है। मूलतत्त्व टूटता नहीं। मूलतत्त्व तो परमाणु है। जैसे मैं अविनाशी और मेरे गुणों से सहित हूँ, वैसे परमाणु भी नित्य अविनाशी है और अपने गुणों से सहित है।

आत्मा के ज्ञान बिना मात्र शास्त्र का ज्ञान वृथा है। अन्धा व्यक्ति दले और दूसरी ओर से कुत्ता चाट जाये, वह देखे नहीं, जिससे उसकी मेहनत व्यर्थ जाती है। उसे किसी दिन आटा इकट्ठा नहीं होता; उसी प्रकार शास्त्र बहुत पढ़ा, पुद्गल के भेद याद रखे परन्तु मैं चिदानन्द कौन हूँ? विकार या संयोग, वह मेरा स्वभाव नहीं—ऐसे भान बिना पुद्गल स्कन्ध का सूक्ष्म भाग, वह परमाणु है—ऐसा अनुमान कौन करेगा? जिसे आत्मा का भान है और आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह अनुमान करता है कि स्कन्ध मूल वस्तु नहीं है। परन्तु उसका छोटे में छोटा भाग, वह परमाणु है, वह सदा अविनाशी है। इस प्रकार नित्य का बोल हुआ।

और वह परमाणु कैसा है? एक प्रदेशी है, तथापि अपने प्रदेशों से पृथक् नहीं, ऐसे अपने स्पर्शादि गुणों को अवकाश देने में समर्थ है। परमाणु द्रव्य और उसके स्पर्शादि गुणों को नामभेद होने पर भी और अनेक गुण होने पर भी परमाणु उसके गुणों को अवकाश देता है। एक में अनेक किस प्रकार समाते होंगे? एक भी अनेक का बना हुआ है। गुण-गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं, इसलिए गुणी गुणों को अवकाश देता है। परमाणु एक प्रदेशी है, इसलिए अनेक गुणों को अवकाश न दे, ऐसा है ही नहीं। अपने गुणों को अवकाश न दे, वह वस्तु द्रव्य नहीं होता। अनन्त गुणोंसहित का वह एक द्रव्य है।

उसे जाननेवाला आत्मद्रव्य कैसा है? जैसे परमाणु अपने गुण को अवकाश देता है, वैसे आत्मद्रव्य अपने असंख्य प्रदेश में अपने अनन्त गुणों को अवकाश देता है। और जैसे स्कन्ध में एक परमाणु दूसरे परमाणु से अन्य है, तीसरे से अन्य है और स्कन्ध में रहने पर भी अपना द्रव्यपना टिका रखता है, उसी प्रकार एक आत्मा दूसरे अनन्त आत्माओं से तथा दूसरे अनन्त जड़द्रव्यों से अन्यपने है। एक आत्मा दूसरे से पृथक् न हो तो दोपना नहीं रहता। ऐसे अनन्त परपदार्थों से अन्यरूप से आत्मा टिक रहा है। इस प्रकार अन्यत्वादि अनन्त गुणों को आत्मा अवकाश देता है।

यहाँ पुद्गल का स्वरूप अर्थात् अर्थसमय बतलाते हैं, परन्तु उस अर्थसमय का ज्ञान करनेवाला आत्मा है। अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का सामर्थ्य समझाते हैं।

इस ज्ञानस्वभाव को समझे बिना, भगवान की प्रतिमा तथा क्षेत्र के कारण शुभभाव होते हैं और उसे ज्ञान होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। अपनी पराधीनवृत्ति के कारण यात्रा करने जाता है, वह पर्वत से उतर आयेगा तो मिथ्यात्व को दृढ़ करके पर्वत से नीचे उतरेगा, क्योंकि अपना ज्ञानस्वभाव पराधीन मानता है। ज्ञानी को यात्रा का भाव आता है, परन्तु वह समझता है कि मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, पर के कारण शुभभाव नहीं तथा ज्ञान भी नहीं, राग आता है, वह निर्बलता से आता है। ज्ञानस्वभाव का भान है, तथापि उस प्रकार का राग आनेवाला है, वह आनेवाला है। भेदज्ञान वर्तता है; इसलिए यात्रा करके वापस मुड़ता है, उस समय भी ज्ञान दृढ़ करके वापस मुड़ता है। इसलिए ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा यहाँ बताते हैं। जैसे पुद्गल में उसके गुणों का क्षेत्र भिन्न नहीं है, वैसे आत्मा और उसके ज्ञान-दर्शनादि गुणों का क्षेत्र भिन्न नहीं है।

और परमाणु कैसा है ? परमाणु जैसे अपने गुणों को अवकाश देता है, वैसे दूसरे परमाणु को जगह नहीं देता। परमाणु अपनी विशिष्ट अवगाहनशक्ति के कारण आकाश के एक क्षेत्र में है, वह अलग बात है, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु के अस्तित्व में प्रवेश कर जाये, ऐसा नहीं होता। क्योंकि परमाणु निर्विभाग अंश है। एक प्रदेशी है। आदि-मध्य-अन्त में अकेला है। वह दूसरे परमाणु को अवकाश देने में असमर्थ है।

इसी प्रकार आत्मा भी कर्म, शरीर, देव, गुरु, शास्त्र, किसी को भी अपने असंख्य प्रदेश में स्थान नहीं देता। धर्मी कहते हैं कि भगवान, भगवान में हैं और हम, हमारे में हैं। कोई कहे कि तो फिर आत्मा स्वार्थी हो गया। हाँ, प्रत्येक पदार्थ स्वार्थी है। स्वप्रयोजन सिद्ध करके अपने में टिका रहे, वह स्वार्थी है। पर का प्रयोजन कोई नहीं साधता, पर को कोई मदद नहीं देता, इसलिए प्रत्येक स्वार्थी है। आत्मा किसी भी परपदार्थ को अवकाश देने में असमर्थ है।

और वह परमाणु कैसा है ? स्वयं एक प्रदेशी रहकर स्कन्धों का भेद व्यवहार से

करता है। जब स्कन्धों में से पृथक् पड़ने की उसकी योग्यता होती है, तब परमाणु पृथक् पड़ता है, इसलिए वह स्कन्धों का व्यवहार से भेद करनेवाला कहलाता है। परन्तु परमाणु को खबर नहीं कि मैं स्कन्ध का भेद करनेवाला हूँ। परमाणु पृथक् पड़कर स्कन्धों का भेद करता है, ऐसा जाननेवाला तो आत्मा है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ। शरीर, कर्म और राग स्वभावी मैं नहीं, मैं तो ज्ञान ही हूँ – ऐसा भेदज्ञान और वीतरागता होने पर कर्म से पृथक् पड़ जाता है। अज्ञान से जो कर्म इकट्ठे होते थे, वे ज्ञान होने पर पृथक् पड़ जाते हैं। आत्मा कर्मों को पृथक् करनेवाला है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

और वह परमाणु कैसा है ? परमाणु अपने स्वकाल में अपनी योग्यता अनुसार स्कन्धों के साथ मिल जाता है, इसलिए व्यवहार से स्कन्धों का कर्ता कहलाता है, उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा मिथ्यात्व, राग, द्वेष करे और कर्म बँधे तो कर्मों का कर्ता व्यवहार से कहलाता है।

परमाणु अविनाशी है, अपने स्पर्शादि गुणों से रहित नहीं, अपने गुणों को अवकाश देता है। दूसरे परमाणु को अवकाश नहीं देता। स्कन्ध में से पृथक् पड़ने पर स्कन्ध का भेद करनेवाला है तथा स्कन्ध के साथ मिले, तब स्कन्ध का कर्ता है। परमाणु को इन सबकी कुछ खबर नहीं परन्तु इन सबका जाननेवाला आत्मा है। आत्मा पुद्गल से पृथक् है, ऐसा अपने में रहकर स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट करना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १, शुक्रवार

केवलज्ञानी भगवान ने परमाणु को जड़ देखा है। उसका स्वरूप कहते हैं, परमाणु अपने कारण से है। आत्मा के कारण से नहीं। उस परमाणु को ज्ञान जानता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, एक परमाणु को जो ज्ञान जाने, वह कितना सूक्ष्म होगा ? परमाणु जगत की अस्ति चीज है। जो वस्तु हो, उसे ज्ञान न जाने, ऐसा होता ही नहीं। न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं कहलाता और पदार्थ न ज्ञात हो तो वह पदार्थ सत् नहीं कहलाता। यहाँ परमाणु जो पुद्गल का अन्तिम अंश है, उसकी व्याख्या चलती है। उसे जाननेवाले ज्ञान की सूक्ष्मता कितनी है ? और परमाणु कितना सूक्ष्म है, ऐसी प्रतीति करने से ज्ञान

की सूक्ष्मता कितनी बढ़ती है ? परन्तु वह ज्ञान किस प्रकार प्रगट हो ? मैं मुझे अपने को जाननेवाला हूँ, दया-दानादि भाव का तथा परमाणु का करनेवाला नहीं, परन्तु मुझमें रहकर उसका जाननेवाला हूँ, ऐसा स्व का ज्ञान हो, उसका परप्रकाशक ज्ञान सच्चा कहलाता है।

परमाणु अपनी मिलनशक्ति से स्कन्धों में जाकर मिल जाता है, इसलिए स्कन्धों का कर्ता कहलाता है। और कैसा है परमाणु ?

परमाणु काल की संख्या का भेद करता है। आकाश के एक प्रदेश में रहा हुआ परमाणु दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को एक समय कहते हैं। इससे समयरूप काल प्रगट होता है - ज्ञात होता है, इस कारण से परमाणु को काल के अंश का कर्ता कहा जाता है। परमाणु को अपनी खबर नहीं तथा स्वयं एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को एक समय कहते हैं, ऐसी भी उसे खबर नहीं, प्रदेश को खबर नहीं तथा काल को खबर नहीं। उन सबका जाननेवाला तो आत्मा है।

असंख्यप्रदेशी आत्मा—उसमें एक-एक प्रदेश में रहा हुआ ज्ञान सूक्ष्म काल को भी जान लेता है। ऐसा उसका धर्म है। एक समय का ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, वह इतनी ताकतवाला है। आत्मा ज्ञान से भरपूर है, उसमें राग-द्वेष होते हैं, वह उसका धर्म नहीं है। उसका धर्म तो सबको जानने का है। इसमें अरहन्त का केवलज्ञान कैसा होता है, उसकी बात आ जाती है। केवलज्ञान की प्रतीति में आत्मा की प्रतीति और परमाणु की प्रतीति आ जाती है। केवलज्ञानी का आत्मा असंख्य प्रदेशी चौड़ा है, उनका एक समय का ज्ञान तीनों काल के समयों में से एक-एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की सामर्थ्यवाला है। एक-एक समय को न जाने तो त्रिकाल को किस प्रकार जाने ?

भगवान को तीनों काल का ज्ञान है और एक-एक समय को भिन्न करके भी वे जानते हैं। असंख्य प्रदेश में प्रत्येक प्रदेश में रहा हुआ केवलज्ञान एक समय को भिन्न करके जानता है। एक-एक परमाणु को भिन्न-भिन्न जानता है। एक-एक प्रदेश को भिन्न-भिन्न जानता है तथा एक परमाणु के भाव को जानता है। परमाणु, क्षेत्र और काल तो ज्ञेय है। उन्हें केवलज्ञानी जाननेवाले हैं। वह केवलज्ञानदशा कहाँ से प्रगट हुई ?

सर्वज्ञ भगवान भी मेरे जैसे आत्मा थे, मैं भी वैसा आत्मा हूँ, मैं भी परपदार्थ में प्रविष्ट हुए बिना सभी पदार्थों के सूक्ष्म परिणमन को जान सकूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। पर का करने का या राग करने का मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होना, अरिहन्तदशा की प्रतीति होना, वह धर्म है।

देखो, यह पुद्गल परमाणु जो ज्ञेय है, उसकी बात चलती है। परन्तु उसे खबर नहीं। उसे जाननेवाला तो आत्मा है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये और एक समय लगे, उसकी परमाणु को खबर नहीं है, प्रदेश को खबर नहीं है, काल को खबर नहीं है। परन्तु उसे जाननेवाला ज्ञान है। वर्तमान में साधक जीव का ज्ञान परमाणु, प्रदेश या समय को प्रत्यक्ष जान सकता नहीं, क्योंकि ज्ञान अधूरा है। तथापि साधक विचारता है कि परमाणु, क्षेत्र, काल और भाव को एक समय में जान ले, ऐसी मेरी ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य है। परमाणु अतीन्द्रिय है। प्रदेश अतीन्द्रिय है, समय अतीन्द्रिय है और उन सबको जाननेवाला ज्ञान भी अतीन्द्रिय है।

सर्वज्ञ भगवान अपने प्रत्येक प्रदेश से एक-एक प्रदेश को भिन्न-भिन्न एक समय में जानते हैं। छद्मस्थ जीव वर्तमान में पदार्थ को असंख्य समय में जानता है, तथापि असंख्य समय में से एक-एक समय को भिन्न-भिन्न जाने, ऐसा स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा करे तो धर्म होता है। आत्मा वस्तु है, उसका स्वभाव ज्ञान है। उस एक समय की दशा में परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जान ले ऐसा है। परमाणु के कारण नहीं, परन्तु स्व की सामर्थ्य के कारण जाने, ऐसा है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह केवलदशा प्राप्त करने का उपाय है।

तू कौन है ? दूसरा सब भूल जा। देह, मन, वाणी पर है, उनके कारण तू नहीं है अर्थात् कि उनके कारण तेरा ज्ञान नहीं है। तू तेरे कारण है, तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसा निर्णय करने में शान्ति है। परमाणु का विचार करने से अतीन्द्रिय ज्ञान का ख्याल आता है। अतीन्द्रिय परमाणु का ख्याल प्रथम नहीं आता, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव का ख्याल प्रथम आता है। जो ज्ञानस्वभाव छोटे में छोटे काल को न जाने, वह स्वभाव नहीं कहलाता। ज्ञान स्व-पर सबको भिन्न-भिन्न एक समय में जानने की सामर्थ्यवाला है।

ऐसा निर्णय करनेवाले को स्वभाव की ओर उन्मुखता हुए बिना नहीं रहती। ज्ञानस्वभावी आत्मा है, ऐसे निश्चय के ज्ञान बिना निमित्त और व्यवहार का ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। ज्ञानसमय, अर्थसमय को जानता है। जानने का स्वभाव अर्थसमय में है या चैतन्य में है? पुद्गल पदार्थ में जानने का स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव एक समय को जान ले, वैसा है, परन्तु वर्तमान में मेरा जानना कहीं अटका है, इसलिए एक समय को पृथक् पाड़कर नहीं जानता। यदि एक समय को पृथक् पाड़कर जाने तो राग रहता नहीं। वर्तमान में राग होने पर भी, एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की अपनी शक्ति है या नहीं? राग और अधूरी दशा होने पर भी एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की सामर्थ्य अपने में है। ऐसे अपने स्वभाव की श्रद्धा करके द्रव्यबुद्धि करना और पर्यायबुद्धि उड़ाना, यही धर्म का उपाय है।

जिसे धर्म करना है और जिसमें धर्म करना है, वह आत्मपदार्थ कौन है - यह प्रथम जानना चाहिए। पहले घर पूछकर फिर पानी पीते हैं। उसी प्रकार धर्म करनेवाले को धर्म कहाँ होता है, यह प्रथम पूछना चाहिए। आत्मा कौन है? जाननेवाला कितना है? एक-एक परमाणु, एक-एक प्रदेश, एक-एक समय को भिन्न-भिन्न जानने की सामर्थ्यवाला है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इस बात का ज्ञान कहाँ से आयेगा? मैं विकार स्वभावी हूँ, ऐसा माननेवाले को वैसा ज्ञान होगा? नहीं; मैं रागरहित प्रत्यक्ष ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा आत्मा का ज्ञान हुए बिना परमाणु, प्रदेश या समय का ज्ञान होगा नहीं।

एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इसलिए परमाणु काल के छोटे में छोटे अंश का कर्ता है, उसे कौन जानता है? अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा है, ऐसा जिसे विश्वास बैठा है, उसे यह प्रतीति होती है। एक परमाणु की प्रतीति होने पर अनन्त परमाणु की प्रतीति होती है, एक प्रदेश की प्रतीति होने पर अनन्त समयों की प्रतीति होती है, एक समय की प्रतीति होने पर ऐसे अनन्त प्रदेशों की प्रतीति होती है। इन्द्रियों के लक्ष्य से होते ज्ञान में अथवा निमित्त के झुकाव से हुए ज्ञान में ऐसी प्रतीति नहीं आती। अतीन्द्रिय स्वभाव के भान बिना अतीन्द्रिय

परमाणु ज्ञात नहीं होता। इसलिए यहाँ कहते हैं कि परमाणु काल के भेद का कर्ता है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञानवाला जान सकता है, इसलिए तेरे आत्मा के आश्रय से स्वसंवेदनज्ञान प्रगट कर तो स्व को जानने से परमाणु, प्रदेश और काल को यथार्थ जान सकेगा। और वही धर्मदशा है।

(१) और वह परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की संख्या के भेद का कर्ता है, यह बतलाते हैं। एक परमाणु मूल वस्तु है, वह अपने एक प्रदेश परिणाम से संख्या को बतलाता है। एक, दो, तीन, चार, पाँच, असंख्य, अनन्त – ऐसे परमाणु की संख्या को परमाणु बतलाता है। अर्थात् कि द्रव्य की संख्या बतलाने में परमाणु निमित्त है। उसे जाननेवाला तो आत्मद्रव्य है। स्कन्ध को या परमाणु को खबर नहीं है। निर्णय करनेवाला तो ज्ञान है। वह परमाणु की संख्या संख्यात, असंख्य या अनन्त का निर्णय करता है, उसमें परमाणु निमित्त है। द्रव्य की अनेकता का ख्याल ज्ञान करता है, उसमें परमाणु निमित्त है, इसीलिए परमाणु स्कन्धों की द्रव्यसंख्या का भेद कर्ता कहलाता है।

(२) और एक परमाणु एक प्रदेशी है। एक प्रदेश एक परमाणु जितना है, वह परमाणु के माप से अलग-अलग वस्तु का क्षेत्र निश्चित होता है। इसलिए परमाणु संख्यात, असंख्य या अनन्त प्रदेश को मापनेवाला है। परमाणु एक प्रदेशी है, स्कन्ध दो प्रदेश से लेकर संख्यात, असंख्य और अनन्त प्रदेशी है। जीव, धर्म, अधर्म असंख्य प्रदेशी हैं और आकाश अनन्त प्रदेशी है, उन सबको परमाणु बतलाता है। क्षेत्र का माप करने में परमाणु निमित्त है, इसलिए परमाणु क्षेत्र संख्या का भेद करता है। परमाणु सबके क्षेत्र का माप करता है। परन्तु उसका प्रमाण करनेवाला कौन है? प्रमाण करनेवाला तो आत्मा है, वह निश्चित करता है।

द्रव्य में अनेकता है। परमाणु उस द्रव्य की अनेकता का भेद करता है और क्षेत्र में अनेकता है, परमाणु उस क्षेत्र की अनेकता का भेद करता है। उस अनेकता का भेद कर्ता परमाणु है। परमाणु को उसकी खबर नहीं। उस अनेकता को जाननेवाला आत्मा है, यह भी व्यवहार से जाननेवाला है। अपने अतीन्द्रिय स्वभाव को जानते हुए परमाणु क्षेत्र की अनेकता का भेद करता है। ऐसा व्यवहार से जान लेता है।

(३) और वह परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इस प्रकार एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार प्रदेशान्तररूप गति परिणाम से दो समय से अनन्त समय तक की काल की संख्या बतलाता है। अनन्त समय का माप आया, इसलिए परमाणु को काल की संख्या का भेद करता कहते हैं। इन सबका जाननेवाला आत्मा है। ज्ञानस्वभाव की महिमा बिना सब वृथा है।

ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा के भान बिना सामायिक, व्रत, तपादि अपने माने हुए करे, वे सब वृथा हैं। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, परमाणु को प्रदेश को तथा काल को मुझमें रहकर जाननेवाला हूँ। पर का करनेवाला नहीं तथा राग-द्वेष का करनेवाला नहीं। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव के भान बिना समता अथवा सामायिक कहाँ से होगी? और बोधि बीज बोये बिना आत्मा को प्रौषधरूपी क्रिया होगी नहीं। प्रथम बोधि बीज बोवे, फिर प्रतिमा होती है। आँकड़ा बोवे तो आम नहीं उगता। उसी प्रकार मिथ्यादर्शनरूपी आँकड़ा बो कर सामायिक और प्रौषधरूप आम नहीं उगते। चैतन्यस्वभाव का बीज बोवे तो आत्मा को पोषण मिलता है और तब प्रौषध होता है।

प्रश्न - यह ज्ञेय अधिकार है या ज्ञान अधिकार है?

समाधान - यह पुद्गल का—ज्ञेय का अधिकार है, ऐसा जाना किसने? ज्ञान को स्वज्ञेय है या नहीं? स्वज्ञेय को जाने बिना परज्ञेय को व्यवहार से कौन जानेगा? स्वज्ञान की महिमा बिना परज्ञेय निश्चित नहीं होगा। इस परमाणु को भी जाननेवाला तू है, ऐसा बतलाते हैं। एक परमाणु संख्या को, क्षेत्र को, समय को बतलाते हैं। यह तो व्यवहार से कथन है। परमाणु क्षेत्र या समय निश्चित करनेवाला नहीं है; निश्चित करनेवाला तो आत्मा है।

(४) और, स्कन्ध के स्पर्शादि गुणों में तो फेरफार होता है, परन्तु अकेले परमाणु में भी स्वभावभावों में फेरफार होता है। स्कन्ध, वह व्यवहार पुद्गल है। निश्चय पुद्गल तो परमाणु है। एक परमाणु एक गुण स्निग्ध हो तो छह गुणा हो जाता है। अनन्त गुणा भी हो जाता है। जघन्य एक गुण से लेकर उत्कृष्ण अनन्त गुणा हो जाता है, इसी प्रकार एक परमाणु के अपने भाव में फेरफार होता है, इसलिए परमाणु भावभेद का कर्ता कहा जाता है।

अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि भावों की जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक तारतम्यता होती है, उसमें एक परमाणु निमित्त है, इसलिए भावभेद का कर्ता कहा जाता है।

कोई कहे कि काल के कारण भाव में फेरफार होता है, तो यह बात मिथ्या है। एक परमाणु एक गुण स्निग्धता में से दस गुण स्निग्ध होता है, दूसरा परमाणु छह गुण होता है। काल तो दोनों को निमित्त है। काल के कारण होता हो तो समान परिणमन होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं अपने कारण से जघन्यभाव से उत्कृष्टरूप और उत्कृष्ट में से जघन्यभावरूप होता है। गाथा ७६ में कहा था कि एक परमाणु अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के गुण भेदों में षट्गुण हानिवृद्धि से पुद्गल नाम पाता है। वह षट्गुण हानिवृद्धि यह समझना।

परन्तु ऐसे परिणाम को जानता कौन है? आत्मा जानता है कि पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में ऐसी तारतम्यता होने का स्वभाव है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप होने की योग्यता परमाणु में है, ऐसी परमाणु को खबर नहीं। अपने ज्ञान के कारण ज्ञेयों का सूक्ष्मस्वरूप निश्चित होता है।

● एक परमाणु एक द्रव्य है, ऐसे अनन्त परमाणु हैं, अर्थात् द्रव्य की संख्या बताता है।

● एक परमाणु एक प्रदेशी है, इस माप से एक से अनन्त प्रदेशों की संख्या बताता है,

● एक परमाणु एक समय को बताता है, ऐसे अनन्त समयों की संख्या बताता है,

● एक परमाणु में वर्णादि में जघन्य से उत्कृष्ट गुणे फेरफार होते हैं, वैसे भाव के भेद को बताता है।

इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भेद को बताता है। परमाणु अनादि से यह बता रहा है। परन्तु अभी तक क्यों ख्याल नहीं आया? अपना ख्याल आवे तो पर का ख्याल आवे। ख्याल करनेवाला आत्मा है, ऐसे आत्मा के सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव की महिमा आवे तो स्व को जानते हुए परज्ञेयों की सूक्ष्मता को जाने। परमाणु के माहात्म्य

के कारण अपना माहात्म्य नहीं। मैं मेरे कारण से बड़ा हूँ, ऐसे अपने स्वभाव की जिसे महिमा आती है, उसे निमित्त और विकार की महिमा उड़ जाती है और अपने सूक्ष्म स्वभाव को जानने पर ज्ञेयों का स्वभाव ऐसा सूक्ष्म है, ऐसा वह जान लेता है।

और परमाणु के भावों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ऐसा फेरफार होता है और उत्कृष्ट स्निग्धता अथवा रूक्षता रूप होने के पश्चात् वापस मध्यम और जघन्यरूप वह हो जाता है, परन्तु जो आत्मा अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करके उत्कृष्ट दशा—केवलज्ञानदशा प्राप्त करे, उसे फिर से मध्यम या जघन्यदशा अर्थात् संसारदशा नहीं होती। इतना परमाणु में और आत्मा में अन्तर है।

आत्मा का स्वभाव ही सर्वज्ञपना है। केवलज्ञान से कम हो, वैसा स्वभाव ही नहीं है। ऐसा जिसने निर्णय किया है, वह परमाणु के सूक्ष्म स्वभाव को व्यवहार से जानता है। परमाणु को खबर नहीं कि मैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भेद करनेवाला हूँ, परन्तु ज्ञान उन सबको व्यवहार से जानता है। ज्ञान उनमें तन्मय हुए बिना जानता है।

जिस जीव का झुकाव निमित्तों की ओर, ज्ञेयों की ओर, राग तथा अल्पज्ञता की ओर रहा करता है, उसने ज्ञानस्वभाव को जाना नहीं और सम्यग्ज्ञानरूपी बोधि बीज बोये बिना आत्मा को पोषण नहीं मिल सकता।

एक परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इत्यादि की संख्या को तारतम्यता बतलाने में निमित्त है, इसलिए परमाणु को उसका कर्ता कहा जाता है। उसका जाननेवाला आत्मा है। उन सब भेदों को एक समय में जानने की सामर्थ्य मेरे आत्मा में है, ऐसी सामर्थ्य स्वीकार करे, उसे धर्म होता है। जिसे ऐसी सामर्थ्य की खबर नहीं, उसे आत्मा की खबर नहीं और इसलिए उसे धर्म नहीं होता। ज्ञेयों की सूक्ष्मता से ज्ञान की सूक्ष्मता नहीं है; अपने महिमावन्त ज्ञान की सूक्ष्मता से ज्ञेयों की सूक्ष्मता का व्यवहार से ख्याल आ जाता है।



गाथा - ८१

एयरसवण्णगंधं दोफासं सदकारणमसदं ।

खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥८१॥

एकरसवर्णगंधं द्विस्पर्शं शब्दकारणमशब्दम् ।

स्कंधांतरितं द्रव्यं परमाणुं तं विजानीहि ॥८१॥

परमाणुद्रव्ये गुणपर्यायवृत्तिप्ररूपणमेतत् । सर्वत्रापि परमाणौ रसवर्णगंधस्पर्शाः सहभुवो गुणाः । ते च क्रमप्रवृत्तैस्तत्र स्वपर्यायैर्वर्तन्ते । तथा हि - पञ्चानां रसपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा रसो वर्तते । पञ्चानां वर्णपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा वर्णो वर्तते । उभयोर्गंधपर्याययोरन्यतरेणैकेनैकदा गंधो वर्तते । चतुर्णां शीतस्निग्धशीतरूक्षोष्णस्निग्धोष्णरूक्षरूपाणां स्पर्शपर्यायद्वंद्वानामन्यतमेनैकेनैकदा स्पर्शो वर्तते । एवमयमुक्तगुणवृत्तिः परमाणुः शब्दस्कंधपरिणतिशक्तिस्वभावात् शब्दकारणम् । एकप्रदेशत्वेन शब्दपर्यायपरिणतिवृत्त्यभावादशब्दः । स्निग्धरूक्षत्वप्रत्ययबंधवशादनेकपरमाण्वेकत्वपरिणतिरूपस्कंधांतरितोऽपि स्वभावमपरित्यजन्नुपात्तसंख्यत्वादेक एव द्रव्यमिति ॥८१॥

एक वरण-रस गंध युत अर दो स्पर्श युत परमाणु है ।

वह शब्द हेतु अशब्द है, स्कन्ध में भी द्रव्याणु है ॥८१॥

अन्वयार्थ :- [तं परमाणुं] वह परमाणु [एकरसवर्णगंध] एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला तथा [द्विस्पर्श] दो स्पर्शवाला है, [शब्दकारणम्] शब्द का कारण है, [स्कंधांतरितं] स्कन्ध के भीतर हो, तथापि [द्रव्यं] (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है, ऐसा [विजानीहि] जानो ।

टीका:-यह परमाणुद्रव्य में गुण-पर्याय वर्तने का (गुण और पर्याय होने का) कथन है ।

सर्वत्र परमाणु में रस-वर्ण-गंध-स्पर्श सहभावी गुण होते हैं और वे गुण उसमें क्रमवर्ती निज पर्यायोंसहित वर्तते हैं । वह इस प्रकार:-पाँच रसपर्यायों में से एक समय कोई एक (रसपर्याय) सहित रस वर्तता है; पाँच वर्णपर्यायों में से एक समय किसी एक

(वर्णपर्याय) सहित वर्ण वर्तता है; दो गन्धपर्यायों में से एक समय किसी एक (गन्धपर्याय) -सहित गन्ध वर्तता है; शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध और उष्ण-रूक्ष इन चार स्पर्शपर्यायों के युगल में से एक समय किसी एक युगक सहित स्पर्श वर्तता है। इस प्रकार जिसमें गुणों का वर्तन (अस्तित्व) कहा गया है, ऐसा यह परमाणु शब्दस्कन्धरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से शब्द का कारण है; एक प्रदेशी होने के कारण शब्दपर्यायरूप परिणति नहीं वर्तती होने से अशब्द है; और स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण बन्ध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्वपरिणतिरूप स्कन्ध के भीतर रहा हो, तथापि स्वभाव को नहीं छोड़ता हुआ, संख्या को प्राप्त होने से (अर्थात् परिपूर्ण एक के रूप में पृथक् गिनती में आने से) 'अकेला ही द्रव्य है'। ८१।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १, शुक्रवार

अब परमाणु द्रव्य में गुण-पर्याय के स्वरूप का कथन करते हैं।

एक पुद्गल में एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श हैं, शब्द की उत्पत्ति का कारण है। परन्तु स्वयं एक प्रदेशी अकेला है, इसलिए शब्द की व्यक्तता रहित है तथा पुद्गल स्कन्ध से पृथक् है, उसे परमाणु जानना।

स्कन्ध में रहने पर भी परमाणु अपनेरूप से है, पर का अभाव रखकर रहा है। अपने दो स्पर्श, एक गन्ध, रस, वर्ण के भाव में रहा है। कभी भी दूसरे के साथ एकरूप नहीं होता। दूसरे स्कन्धों के साथ मिले और स्थूलपना धारण करे तो दूसरे स्थूल स्कन्ध के कारण स्थूलपना धारण नहीं करता, परन्तु स्वयं के कारण से स्थूलपना धारण करके अकेला रहा हुआ है।

परमाणु स्कन्ध में रहने पर भी अकेला अपने में काम कर रहा है। ऐसी जड़

१. स्निग्ध-रूक्षत्व=चिकनाई और रूक्षता।

२. यहाँ ऐसा बतलाया है कि स्कन्ध में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है, पर की सहायता से रहित और अपने से ही अपने गुणपर्याय में स्थित है।

परमाणु को खबर नहीं है, तथापि अकेला अपनी अस्ति टिका रहा है। तो फिर यह चैतन्य बादशाह जो अपने को तथा पर को जाने, ऐसे स्वभाववाला है, वह शरीर कर्म और राग इत्यादि पर के साथ एकमेक होता है, ऐसा मानने से तेरी शोभा लुटती है। तू शरीर, कर्म इत्यादि के साथ एक क्षेत्र में रहा होने पर भी कभी भी उनके साथ एकमेक नहीं हुआ। तू सदा ज्ञानस्वभावी है। घर में पागल व्यक्ति कमाकर रुपया लावे और बैरिस्टर होकर कुछ भी कमाये नहीं, वह तो बैरिस्टर के लिये शर्मजनक है। उसी प्रकार अचेतन परमाणु कभी पर के साथ एकमेक नहीं होता और तू चैतन्य बादशाह होकर शरीर, कर्म और राग के साथ एकमेक हुआ, ऐसा माने तो तेरे लिये वह शर्मजनक है। अज्ञानी मानता है भले, परन्तु वह कभी पर के साथ एकमेक नहीं होता, सदा ज्ञानस्वभावी है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करके अपने अभेद ज्ञानस्वभाव की महिमा लाना, वह धर्म है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार

यह अधिकार पुद्गल का है। पुद्गल से आत्मा भिन्न है, ऐसा ज्ञान न करे तो पुद्गलादि परपदार्थ के संयोग से पृथक् नहीं पड़ता। धर्म पृथक् पड़ने के लिये अर्थात् कि मुक्ति के लिये है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, परमाणु पर है, राग-द्वेष क्षणिक है, ज्ञान और आनन्द मेरी चीज़ है और वह नित्य ध्रुव है—ऐसी जिसे खबर नहीं, उसे धर्म नहीं होता।

भावार्थ - स्कन्ध के टुकड़े होते-होते एक छोटे में छोटा अंश रहे, उसे परमाणु कहते हैं। भगवान ने अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा उस परमाणु में पुद्गल के पाँच रस में से एक रस; पाँच वर्ण में से एक वर्ण; दो प्रकार की गन्ध में से एक गन्ध तथा शीत स्निग्ध, शीत रूक्ष, उष्ण स्निग्ध अथवा उष्ण रूक्ष ऐसे चार स्पर्श के जोड़े में से एक युगल देखा है। इस प्रकार एक परमाणु में स्पर्श दो, रस एक, गन्ध एक, वर्ण एक, ऐसे पाँच गुण समझना।

वह परमाणु स्कन्ध के साथ मिल जाता है, तब शब्द पर्याय का कारण बनता है

और स्कन्ध से पृथक् पड़े और पृथक् रहे, तब अकेले परमाणु से शब्द नहीं होता। और वह परमाणु अपनी रूक्षता-स्निग्धता के कारण अनेक परमाणु के स्कन्ध में जुड़ जाता है, तथापि अपने एकरूप स्वभाव को नहीं छोड़ता, एक द्रव्यरूप कभी नहीं छोड़ता।

देखो, परमाणु तो जड़ है। परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिल जाये, तब उसमें दो स्पर्श रहते नहीं, तथापि दो स्पर्शादि गुणों का मूल स्वभाव कभी छोड़ता नहीं। परमाणु जड़ है, खबर (ज्ञान) बिना का तत्त्व है, तथापि अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता है, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर, कर्म इत्यादि के संयोगों में रहने पर भी अपनापन कभी नहीं छोड़ता। अज्ञानी को उसका भान नहीं, इसलिए शरीर, मन, वाणी को मेरा मानता है, शरीर और कर्म की क्रिया मुझसे होती है और उस क्रिया से मुझे शान्ति और सुख मिलता है—ऐसी मान्यता होने के कारण शरीरादि से अपने को भिन्न नहीं मानता। परमाणु स्कन्ध में मिले, तब पर्यायदृष्टि से परमाणु में स्थूलपने की तथा स्थूल स्कन्ध में मिले, तब चार स्पर्श की योग्यता होती है, तथापि द्रव्यदृष्टि से तो परमाणु सूक्ष्म अतीन्द्रिय है और दो स्पर्श की योग्यतावाला है। ऐसे बेखबरवाला तत्त्व अतीन्द्रिय परमाणु अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता है, ऐसा भगवान ने देखा है। तो यहाँ कहते हैं कि भाई! तू तो ज्ञानस्वभावी है, चेतन बादशाह है, तू पर्यायदृष्टि से शरीर और कर्म के संयोगवाला है, पुण्य-पाप के विकारी भाववाला है; तथापि स्वभावदृष्टि से तो तू शरीर और कर्मरहित है। पुण्य-पाप तेरे स्वभाव में कभी प्रविष्ट नहीं हुए हैं, तू तो ज्ञानस्वभावी ऐसा का ऐसा है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना, वह धर्म है।

अचेतन परमाणु अपने गुण-पर्याय को पृथक् बनाये रखता है, ऐसी उसे खबर नहीं है। उसे जाननेवाला तो आत्मा है। आत्मा जानता है कि परमाणु अपने गुणपर्याय को स्वतन्त्र बनाये रखता है। परमाणु की स्वतन्त्रता बताकर, वह मात्र परमाणु का ज्ञान कराने के लिये नहीं परन्तु आत्मा का ज्ञान कराने के लिये है।

शरीर, कर्म का संयोग होने पर भी वह मेरी चीज़ नहीं है, विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। जानना, वही एक मेरा स्वरूप है, ऐसा एकरूप ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आदर करना, वह धर्म है।

तिल के लड्डूओं में एक तिल दूसरे तिलरूप नहीं होता। उसी प्रकार परमाणु भी एक स्कन्ध में होने पर भी दूसरे परमाणुरूप नहीं होता तथा आत्मा शरीर और कर्म के परमाणुओं के साथ एक क्षेत्र में दिखता है, तथापि उनके साथ एकरूप नहीं होता, पर से त्रिकाल भिन्न है—ऐसा भेदज्ञान यहाँ कराते हैं। धर्म करनेवाला आत्मा है, इसलिए उसका स्वरूप यथार्थ जानना चाहिए। आत्मा को निमित्तरूप से शरीर और कर्म का संयोग होने पर भी और पर्याय में विकार होने पर भी अन्दर आत्मा शुद्धरूप स्थित है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

●●

धर्मी को मुनिदशा की कैसी उत्कृष्ट भावना

चक्रवर्ती के राजकुमार भी आत्मभानपूर्वक अन्तर में ही जाना चाहते हैं। जब कोई राजकुमार वन में जाने लगता है, तब अपनी माता के पास आझा माँगता है —

‘हे जननी! मुझे आझा दो, मैं अपने आनन्द के नाथ के निकट जाना चाहता हूँ। हे माता! अब मुझे बाहर एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता। इन रत्न-महलों में तथा रानियों में कहीं मेरा आनन्द नहीं है। आत्मा आनन्द का नाथ है, वह मैंने देख लिया है। हे माता! एक बार तुझे रोना हो तो रो ले, लेकिन मैं शपथ लेता हूँ कि अब दूसरी माता नहीं करूँगा। मैं तो अन्तर में स्थिर होकर भव का अभाव करूँगा। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द रस का रसिक हूँ। हे माता! मैं वह रस लेने के लिए वन में अकेला जा रहा हूँ।’

अहाहा! वह पुरुषार्थ कितना होगा? पञ्चम काल में भी सम्यग्दृष्टि को तो ऐसी भावना होती है! ‘धन्य वह दिवस कि जब बाहर आना ही न पड़े।’ - ऐसे भाववाले महापुरुषार्थी महाज्ञानी आनन्द के अनुभव में एक वीतरागभाव में ही निमग्न-तल्लीन हो गये हैं। ‘वह दशा हमें हो, वह अवसर हमें कब आयेगा’ - ऐसी भावना धर्मी को होती है। अहाहा! आनन्द में समाये, सो समाये। ‘श्रीमद् राजचन्द्र’ में आता है कि ‘जो समझे वे समा गये, अन्तर में ही स्थिर हो गये।’ भाई! मार्ग तो यह है!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२९-३०

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि।

जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥

उपभोग्यमिन्द्रियैश्चेन्द्रियकाया मनश्च कर्माणि।

यद्भवति मूर्तमन्यत् तत्सर्वं पुद्गलं जानीयात् ॥८२॥

सकलपुद्गलविकल्पोपसंहारोऽयम्। इन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगंध-वर्णशब्दाश्च, द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, कायाः औदारिकवैक्रियिका-हारकतैजसकार्मणानि, द्रव्यमनः, द्रव्यकर्माणि, नोकर्माणि, विचित्रपर्यायो-त्पत्तिहेतवोऽनन्ता अनन्ताणुवर्गणाः, अनन्ता असंख्येयाणुवर्गणाः, अनन्ताः संख्येयाणुवर्गणाः द्व्यणुकस्कंधपर्यन्ताः, परमाणवश्च, यदन्यदपि मूर्तं तत्सर्वं पुद्गलविकल्पत्वेनोपसंहर्तव्यमिति ॥८२॥

- इति पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

जो इन्द्रियों से भोग्य हैं अर काय-मन के कर्म जो।

अर अन्य जो कुछ मूर्त हैं वे सभी पुद्गल द्रव्य हैं ॥८२॥

अन्वयार्थ :- [इन्द्रियैः उपभोग्यम् च] इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, [इन्द्रियकायाः] इन्द्रियाँ, शरीर, [मनः] मन, [कर्माणि] कर्म [च] और [अन्यत् यत्] अन्य जो कुछ [मूर्तं भवति] मूर्त हो, [तत् सर्वं] वह सब [पुद्गलं जानीयात्] पुद्गल जानो।

टीका:-यह सर्व पुद्गलभेदों का उपसंहार है।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दरूप (पाँच) इन्द्रियविषय, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप (पाँच) द्रव्येन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मणरूप (पाँच) काया, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत (अर्थात् अनेक प्रकार की पर्यायें उत्पन्न होने के कारणभूत) *अनन्त अनन्ताणुक

* लोक में अनन्त परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ अनन्त हैं, असंख्यात परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं और (द्वि-अणुक स्कन्ध, त्रि-अणुक स्कन्ध इत्यादि) संख्यात परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं। (अविभागी परमाणु भी अनन्त हैं।)

वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्वि-अणुक स्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ तथा परमाणु, तथा अन्य भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल के भेदरूप से समेटना।

भावार्थः-वीतराग अतीन्द्रिय सुख के स्वाद से रहित जीवों को उपभोग्य पंचेन्द्रिय विषय, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप से विपरीत पाँच इन्द्रियाँ, अशरीर आत्मपदार्थ से प्रतिपक्षभूत पाँच शरीर, मनोगत-विकल्पजालरहित शुद्धजीवास्तिकाय से विपरीत मन, कर्मरहित आत्मद्रव्य से प्रतिकूल आठ कर्म और अमूर्त आत्मस्वभाव से प्रतिपक्षभूत अन्य भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल जानो॥८२॥

इस प्रकार पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार

अब समस्त पुद्गलों का भेद संक्षेप से बतलाते हैं।

पाँच इन्द्रियों द्वारा पाँच प्रकार के विषय भोगने में आते हैं, वे जड़ हैं-मूर्तिक हैं। गद्दे को स्पर्श करने से कोमल मक्खन जैसा लगे; रस खट्टा-मीठा लगे; गन्ध सुगन्ध या दुर्गन्ध लगे; रंग काला, सफेद लगे, वह तथा शब्द, ये सब जड़ हैं, जड़ की दशा है, उसमें सुख नहीं है। अज्ञानी मानता है कि गर्मी के समय में आईसक्रीम खाते हों, पंखा घूमता हो, शरबती मलमल पहना हो तो बहुत मजा आता है। परन्तु यह मान्यता भूलभरी है। आत्मा का सुख आत्मा में है। जड़ में आत्मा का सुख नहीं है, जो जीव जड़ से सुख मानता है, उसे कभी धर्म और शान्ति नहीं होती।

और स्पर्श, जीभ, नाक, कान और नेत्र, ऐसी पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ भी जड़ हैं, उनमें भी सुख नहीं है। कोई कहता है कि अनाज सड़ता हो तो नाक से खबर पड़ती है और जीव की रक्षा होती है। अनाज में जीवांत पड़ी है या नहीं, वह आँख से ख्याल आवे तो उसकी दया पालन की जा सकती है, इन्द्रियों ने दयाधर्म में इतनी तो मदद की न?

समाधान - भाई! जाननेवाला तो आत्मा है। इन्द्रियाँ तो जड़ है। आत्मा परपदार्थ को इन्द्रियों से नहीं जानता, अपने से जानता है। और जिसे आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के स्वाद की खबर नहीं और अनुभव नहीं, ऐसा अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रिय के विषय भोगकर सुख मानता है। और अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप की खबर नहीं, वह जीव पाँच प्रकार की द्रव्य इन्द्रिय में सुख मानता है।

और मनुष्य तथा तिर्यच के औदारिकशरीर, देव तथा नारकी के वैक्रियकशरीर, कोई मुनि को मस्तक में से सफेद पुतला निकले, वह आहारकशरीर, हाथ घिसने से जो गर्मी दिखे, वह तैजसशरीर और आठ कर्मों का शरीर, वह कर्मण (शरीर), ऐसे पाँच प्रकार के शरीर जड़ हैं - पुद्गल हैं। अज्ञानी जीव शरीर को मेरा मानकर संसार में भटक रहा है। जड़ और आत्मा भिन्न माने बिना धर्म नहीं होता। आत्मा अशरीरी है, चैतन्यस्वभावी है और शरीर प्रतिपक्षी है, जड़ स्वभावी है। शरीर जो भिन्न चीज़ है, उससे आत्मा को कल्याण नहीं है, इस प्रकार पर से भेदज्ञान करे तो धर्म होता है।

हृदय में आठ पंखुड़ी के कमल के आकार द्रव्य मन संज्ञी जीवों को होता है, वह जड़ है, आत्मा उससे भिन्न है। दया, दानादि शुभविकल्पों से तथा दूसरे मनोगत विकल्पों से तथा द्रव्यमन से आत्मा भिन्न है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

‘ज्ञानक्रियाभ्यं मोक्षः’ आत्मा का ज्ञान और उसमें स्थिरता, वह मोक्ष का उपाय है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म तथा शरीर, वाणी इत्यादि नोकर्म पुद्गल है, आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो कर्म से रहित है तथा अमूर्तिक है, कर्म तथा नोकर्म मूर्तिक है, इसलिए उन सबको तथा लक्ष्मी, मकान इत्यादि समस्त मूर्तिक पदार्थ जो दिखते हैं, उन सबको पुद्गलद्रव्य जान। यहाँ जान, ऐसा कहा है, वह पुद्गल का स्वरूप तेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जान और भेदज्ञान कर, ऐसा कहते हैं।

भावार्थ - पाँच प्रकार के विषय—पदार्थ पुद्गल हैं, उनमें वाणी, पुस्तक इत्यादि पाँच इन्द्रियों के शुभ विषयों में आता है, धर्मी जीव को निर्बलता के कारण शुभराग आता है, तब मूर्ति के ऊपर लक्ष्य जाता है, परन्तु मूर्ति आदि पदार्थों में आत्मा नहीं है, उसके कारण धर्म या ज्ञान नहीं होता।

और इन्द्रियों के अशुभ विषय भी उसके कारण से आते हैं, आत्मा के कारण आते नहीं। मोटर, दूधपाक इत्यादि पुद्गल हैं, उन्हें मेरा मानना, वह कुजाति को जाति मानने बराबर है। हीन कुल के लड़के को ब्राह्मण का लड़का माने, वह मूर्ख है; उसी प्रकार शरीर, मोटर इत्यादि पुद्गल को ब्रह्म कहने से आत्मा के मानना, वह आत्मा का खून करने के बराबर है।

पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ अचेतन हैं। द्रव्यमन, आठ प्रकार के द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म पुद्गल हैं तथा इसके अतिरिक्त अनेक पर्याय की उत्पत्ति का कारण ऐसी अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणा है, अनन्त असंख्याणु वर्गणा है तथा अनन्त संख्याणु वर्गणा है तथा एक अविभागी परमाणु (अनन्त) है, उन सबको पुद्गल जानना।

अज्ञानी जीव को दो-पाँच लाख रुपये इकट्ठे हों, वहाँ तो हर्षित हो जाता है परन्तु वह तो धूल का ढेर है, उसमें सुख नहीं है। किसी हरिजन को धक्का लगे और किसी के पाखाने की विष्टा का डिब्बा अपनी बरामदे में ढुल जाये तो घर का मालिक हरिजन पर गुस्सा करता है परन्तु विष्टा को अपनी मालिकी की चीज़ नहीं मानता। उसी प्रकार पाँच लाख रुपये पुण्यकर्म के निमित्त से तेरे घर में आ पड़े, वह विष्टा समान हैं। दोनों पुद्गल हैं, उन्हें तेरा स्वरूप मानना नहीं।

कोई कहे कि शरीर अच्छा हो तो धर्म होता है, परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। शरीर अपनी जाति से भिन्न जाति का है, कुजाति को अपनी जाति मानना, वह अधर्म है। इस जगत में जो-जो दृश्यमान पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल हैं। उनके अतिरिक्त अदृश्यमान पुद्गल भी हैं। वे सब अचेतन हैं और आत्मा से भिन्न हैं। चैतन्य भगवान् आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान का ही पिण्ड है, जिस-जिस प्रकार के पुद्गल हैं, उन्हें वह जान लेता है, परन्तु पुद्गल पुद्गल में हैं, आत्मा में नहीं; आत्मा आत्मा में है, पुद्गल में नहीं—ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

कोई कहे कि : जिसके माता-पिता अच्छे हों, किसी प्रकार का लांछन न हो, ऐसे खानदानी माँ-बाप के गर्भ से जन्मे हुए लड़के का शरीर सजात गिना जाये, ऐसे को धर्म होता है, ऐसी अज्ञानी जीव दलील करते हैं। उन्हें कहा जाता है कि भाई! ऐसे शरीर

अनन्त बार मिले हैं, तथापि धर्म क्यों नहीं हुआ ? तो उसकी दलील करते हैं कि धर्म के समय सजाति शरीर न हो, ऐसा दृष्टान्त बताओ, तो उनसे कहा जाता है कि भाई! तुझे शरीर का निर्णय करना है या आत्मा का ? जिसकी दृष्टि शरीर के ऊपर है, उसकी दृष्टि शरीर से रहित ऐसे आत्मा के ऊपर नहीं है। तिर्यच को ऐसा कहाँ मेल है। तथापि वह धर्म प्राप्त करता है, नारकी भी धर्म प्राप्त करता है; इसलिए शरीर के ऊपर की दृष्टि छोड़, वह सब पुद्गल की पर्याय है। तू आत्मा है, उससे भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना, वह धर्म है।



चिदानन्द आत्मा ही हमारा देश

अहा! धर्मात्मा मुनि निरन्तर आनन्द झरते हुए अपने प्रचुर स्वसम्वेदन में से अर्थात् आनन्दस्वरूप निज आत्मा में से बाहर आयें, व्रतादि या धर्मोपदेश का विकल्प आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि अरेरे! हम कहाँ इस परदेश में आ गये? ज्ञानियों की परिणति, धर्मात्मा की दशा, विभाव से विमुख होकर स्वरूपोन्मुख हो रही है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णतया स्थित होने को तरसते हैं! यह शरीर तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि तो हमारे हैं ही नहीं, परन्तु यह विभावभाव भी हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो अन्तर में विद्यमान चिदानन्द आत्मा है।

— ऐसा है वीतरागमार्ग का स्वरूप। महाव्रतादि अथवा दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी राग है; राग हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। अशक्ति के कारण भीतर स्वरूप में स्थिर नहीं रह सके, पुरुषार्थ अल्प है; इसलिए यहाँ आ पड़े। यहाँ शुभभाव में हमारा कुछ नहीं है। जहाँ अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि हमारा परिवार निवास करता है, वह निज शुद्ध चैतन्यभूमि ही हमारा स्वदेश है। धर्मी को निरन्तर ऐसी दृष्टि होती है। अब, हम अपने उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। - पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३१

गाथा - ८३

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।

लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥८३॥

धर्मास्तिकायोऽरसोऽवर्णगंधोऽशब्दोऽस्पर्शः ।

लोकावगाढः स्पृष्टः पृथुलोऽसंख्यातप्रदेशः ॥८३॥

अथ धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम् । धर्मस्वरूपाख्यानमेतत् । धर्मो हि स्पर्शरसगंधवर्णानामत्यन्ताभावादमूर्तस्वभावः । तत एव चाशब्दः । सकललोकाकाशाभिव्याप्यावस्थितत्वाल्लोकावगाढः । अयुतसिद्धप्रदेशत्वात् स्पृष्टः । स्वभावादेव सर्वतो विस्तृतत्वात्पृथुलः । निश्चयनयेनैकप्रदेशोऽपि व्यवहारनयेनासंख्यातप्रदेश इति ॥८३॥

धर्मास्तिकाय अवर्ण अरस अगंध अशब्द अस्पर्श है ।

लोकव्यापक पृथुल अर अखण्ड असंख्य प्रदेश है ॥८३॥

अन्वयार्थ :- [धर्मास्तिकायः] धर्मास्तिकाय [अस्पर्शः] अस्पर्श, [अरसः] अरस, [अवर्णगंधः] अगन्ध, अवर्ण और [अशब्दः] अशब्द है; [लोकावगाढः] लोकव्यापक है; [स्पृष्टः] अखण्ड, [पृथुलः] विशाल और [असंख्यातप्रदेशः] असंख्यातप्रदेशी है।

टीका:-यह धर्म के (धर्मास्तिकाय के) स्वरूप का कथन है।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से धर्म (धर्मास्तिकाय) वास्तव में अमूर्तस्वभाववाला है; और इसीलिए अशब्द है; समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापक है; 'अयुतसिद्ध प्रदेशवाला होने से अखण्ड है; स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है; निश्चयनय से 'एकप्रदेशी' होने पर भी व्यवहारनय से असंख्यातप्रदेशी है ॥८३॥

१. युतसिद्ध=जुड़े हुए; संयोगसिद्ध। (धर्मास्तिकाय में भिन्न-भिन्न प्रदेशों का संयोग हुआ है ऐसा नहीं है, इसलिए उसमें बीच में व्यवधान-अन्तर-अवकाश नहीं है; इसलिए धर्मास्तिकाय अखण्ड है।)

२. एकप्रदेशी=अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला। (निश्चयनय से धर्मास्तिकाय अविभाज्य-एकपदार्थ होने से अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला है।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार

इस जगत में केवली भगवान ने धर्म और अधर्म दो अरूपी पदार्थ देखे हैं, उनसे आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करने की सामर्थ्य आत्मा में है। आत्मा का ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। अपने को जानते हुए छह द्रव्यों को जान लेता है। छह द्रव्यसहित आत्मा की प्रतीति करे, ऐसा चैतन्य का स्वभाव है।

प्रथम, धर्मद्रव्य का स्वरूप कहते हैं।

धर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी है। आत्मा असंख्य प्रदेशी, अरूपी चेतनकायवन्त है और धर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी, अरूपी, अचेतनकायवन्त है। दोनों के प्रदेश समान हैं। प्रत्येक आत्मा के प्रदेश समान हैं, परन्तु उसमें प्रदेश संकोच-विस्तार पाते हैं, तथापि प्रदेश का क्षेत्र छोटा-बड़ा नहीं है। यहाँ धर्मद्रव्य की बात है, उसे असंख्य प्रदेश हैं। पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्शरहित है और शब्द पर्यायरहित है। समस्त लोक में व्याप्त है। जड़-चेतन (जीव पुद्गल) गति करे, उसे निमित्त होता है। अपने प्रदेशों के स्पर्श से असंख्यात हैं और स्वभाव से ही पूरे लोक में व्याप्त है। यद्यपि धर्मद्रव्य निश्चय से अखण्डित है, तथापि व्यवहार से असंख्य प्रदेशी है।

कितनों को धर्मद्रव्य की भी खबर नहीं, नाम भी सुना न हो।

मुमुक्षु - धर्मद्रव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री - यह कल्पना नहीं है। धर्मद्रव्य अनादि-अनन्त अरूपी वस्तु है। वह जीव-पुद्गल को गति में निमित्त होता है। भगवान ने देखा है और उसका जाननेवाला भी आत्मा है। छह द्रव्यों में एक द्रव्य को भी कम जाने तो ज्ञान परिपूर्ण सिद्ध नहीं होता। केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं और छद्मस्थ जीव को रागरहित ज्ञानस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान अनुमान द्वारा धर्मद्रव्य का निर्णय करता है। यह कल्पना नहीं, यथार्थ वस्तु है।

अन्यमतों में जीव, पुद्गल, आकाश, काल ऐसे नाम आते हैं, परन्तु धर्म-

अधर्मद्रव्य का नाम नहीं है। अथवा छह द्रव्य का यथार्थ स्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञ के सिवाय परिपूर्ण जानने की सामर्थ्य किसी को नहीं होती। सर्वज्ञ को माननेवाले अल्पज्ञ जीव भी अपने स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य से और अनुमान से धर्मद्रव्य को जान लेते हैं।

जिस प्रकार तिल में तेल व्याप्त है, आत्मा में ज्ञान व्याप्त है, सिद्धक्षेत्र में सिद्ध व्याप्त हैं, अभव्य जीवों में राग और मिथ्यात्व व्याप्त है; उसी प्रकार पूरे लोक में अचेतन अरूपी धर्मद्रव्य व्याप्त है। वह आत्मा से भिन्न है, आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। आत्मा का ज्ञान होने पर उसका ज्ञान होता है।

और धर्मद्रव्य का स्वरूप थोड़ी सी विशेषता से बताते हैं।

●●



मुनिदशा अर्थात् धर्म का मौसम

जिस प्रकार व्यापारी दीपावली आदि अच्छे सीजन में व्यापार की भाग-दौड़ करके थोड़े समय में बहुत कमायी कर लेता है; उसी प्रकार चारित्रदशा तो धर्मी जीव के धर्म साधने का वास्तविक सीजन है, उसमें शीघ्र ही धर्म की साधना करके वह थोड़े ही काल में महान मोक्ष-वैभव को साध लेता है – ऐसी दशा को साधु पद कहते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन तो हुआ है, अब आत्मा में लीन होकर, बारम्बार निर्विकल्प अनुभूति करके, स्वरूप में स्थिरता करके मुनिदशा प्रगट करूँगा। ऐसी भावना धर्मी जीव भाता है। वाह! ऐसी चारित्रदशा किसे नहीं रुचेगी। ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के तो हम दास हैं, उनके चरणों के सेवक हैं, उन्हें हम बहुमान से नमस्कार करते हैं। णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन, ५/४४९

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।

गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥८४॥

अगुरुकलघुकैः सदा तैः अनंतैः परिणतः नित्यः ।

गतिक्रियायुक्तानां कारणभूतः स्वयमकार्यः ॥८४॥

धर्मस्यैवावशिष्टस्वरूपाख्यानमेतत् । अपि च धर्मः अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबंधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदः प्रतिसमयसंभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिरनंतैः सदा परिणतत्वादुत्पादव्ययवत्त्वेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनान्नित्यः गतिक्रियापरिणतानामुदासीनाविनाभूतसहायमात्रत्वात्कारणभूतः । स्वास्तित्वमात्रनिर्वृत्तत्वात् स्वयमकार्य इति ॥८४॥

अगुरुलघु अंशों से परिणत उत्पाद-व्यय-ध्रुव नित्य है ।

क्रिया गति में हेतु है वह पर स्वयं ही अकार्य है ॥८४॥

अन्वयार्थ :- [अनंतः तैः अगुरुकलघुकैः] वह (धर्मास्तिकाय) अनन्त ऐसे जो अगुरुलघु (गुण, अंश) उन-रूप [सदा परिणतः] सदैव परिणमित होता है, [नित्यः] नित्य है, [गतिक्रियायुक्तानां] गतिक्रियायुक्त को [कारणभूतः] कारणभूत (निमित्तरूप) है और [स्वयम् अकार्यः] स्वयं अकार्य है ।

टीका:-यह धर्म के ही शेष स्वरूप का कथन है ।

पुनश्च, धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघु गुणोंरूप से अर्थात् अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूपप्रतिष्ठत्व के कारणभूत स्वभाव उसके अविभाग परिच्छेदोंरूप से-जो कि प्रतिसमय होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धिहानिवाले अनन्त हैं, उनके रूप से-सदा

१. गुण=अंश; अविभाग परिच्छेद [सर्व द्रव्यों की भाँति धर्मास्तिकाय में अगुरुलघुत्व नाम का स्वभाव है। वह स्वभाव धर्मास्तिकाय को स्वरूपप्रतिष्ठत्व के (अर्थात् स्वरूप में रहने के) कारणभूत है। उसके अविभाग परिच्छेदों को यहाँ अगुरुलघुगुण (अंश) कहे हैं।]

परिणमित होने से उत्पादव्ययवाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता; इसलिए नित्य है; गतिक्रियापरिणत को (गतिक्रियारूप से परिणमित होने में जीव-पुद्गलों को) उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से (गतिक्रियापरिणत को) कारणभूत है; अपने अस्तित्वमात्र से निष्पन्न होने के कारण स्वयं अकार्य है (अर्थात् स्वयंसिद्ध होने के कारण किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुआ है; इसलिए किसी अन्य कारण के कार्यरूप नहीं है)॥८४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु नाम का गुण है, वह धर्मद्रव्य में भी है, इसलिए धर्मद्रव्य में समय-समय में अपनी पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेदरूप परिणमन हुआ करता है और वह टंकोत्कीर्ण अविनाशी है। तथा जीव-पुद्गल गमन करें, उन्हें निमित्तकारण है। स्वयं का गतिहेतुत्व गुण है। जीव-पुद्गल में निमित्त है। किसी ईश्वर ने धर्मद्रव्य को उत्पन्न नहीं किया परन्तु वह अनादि-अनन्त है। भगवान् सिद्ध जगत से उदासीन हैं। वे किसी जीव को अपना स्मरण करने को नहीं कहते, तथा मदद नहीं करते, परन्तु जो

२. षट्स्थानपतित वृद्धिहानि=छह स्थान में समावेश पानेवाली वृद्धिहानि; षट्गुण वृद्धिहानि। (अगुरुलघुत्वसवभाव के अनन्त अंशों में स्वभाव से ही प्रतिसमय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती हैं।)
३. जिस प्रकार सिद्धभगवान्, उदासीन होने पर भी, सिद्धगुणों के अनुरागरूप से परिणमत भव्य जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारणभूत हैं, उसी प्रकार धर्म भी, उदासीन होने पर भी, अपने-अपने भावों से ही गतिरूप परिणमित जीव-पुद्गलों को गति का सहकारी कारण है।
४. यदि कोई एक, किसी दूसरे के बिना न हो, तो पहले को दूसरे का अविनाभावी कहा जाता है। यहाँ धर्मद्रव्य को 'गतिक्रियापरिणत का अविनाभावी सहायमात्र' कहा है। उसका अर्थ है कि - गतिक्रियापरिणत जीव-पुद्गल न हो तो वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें सहायमात्ररूप भी नहीं है; जीव-पुद्गल स्वयं गतिक्रियारूप से परिणमित होते हों तभी धर्मद्रव्य उन्हें उदासीन सहायमात्ररूप (निमित्तमात्ररूप) है, अन्यथा नहीं।

जीव स्मरण करता है, उसे सिद्ध भगवान स्मरण में निमित्त हैं। उसी प्रकार धर्मद्रव्य उदासीन है, वह कोई जीव—पुद्गल को बलजोरी से गमन नहीं कराता, परन्तु जो गति करे, उन्हें वह निमित्त कहलाता है। धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व, अरूपीपना, अचेतनपना, अस्तित्व, वस्तुत्व, इत्यादि अनन्त गुण हैं।

भावार्थ - धर्मद्रव्य सदा अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तु है। आत्मा भी टंकोत्कीर्ण अविनाशी है, परन्तु आत्मा चेतन है, धर्मद्रव्य अचेतन है। जड़ होने पर भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है। अगुरुलघुगुण से षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन हुआ करता है।

धर्मद्रव्य अपनी अवस्थासहित अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा है, इसलिए धर्मद्रव्य कार्यरूप नहीं है। किसी से उपजा हो तो कार्य कहलाये, परन्तु धर्मद्रव्य अनादि से है, किसी से उपजा नहीं है, इसलिए कार्यरूप नहीं है। धर्मद्रव्य गति में निमित्त होता है, इसलिए कारणरूप है परन्तु कार्यरूप नहीं।

यह धर्मास्तिकाय जैसे अनादि-अनन्त है, वैसे तू भी अनादि-अनन्त है—ऐसा निर्णय कर। अज्ञानी कहता है कि मेरा ज्ञान पर से होता है। यहाँ जड़ पदार्थ कहते हैं कि हमारा अस्तित्व तू निर्णय करता है, हमें हमारी खबर नहीं। हमारे कारण तू नहीं, तेरे कारण हम नहीं। इस प्रकार जड़ पदार्थ से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

और जिस प्रकार सिद्ध अक्रिय है, उन्हें राग नहीं होता। किसी का भला-बुरा नहीं करते, उसी प्रकार तेरा स्वभाव भी ऐसा अक्रिय है। ऐसी बात आने पर अज्ञानी कहता है कि ऐसे सिद्ध हमें नहीं चाहिए, हमें तो दूसरे का भला करे, ऐसे सिद्ध चाहिए। इस प्रकार भला-बुरा करने के अभिमानी जीव सिद्ध के तथा अपने स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। अज्ञानी जीव राग-द्वेष करता है परन्तु पर का भला-बुरा करने की ताकत किसी जीव में नहीं है। अपना स्वभाव तो ज्ञान ही है। उस ज्ञान में स्व को जानते हुए, पर ऐसे धर्मास्तिकाय पदार्थ को जैसा है, वैसा जान लेना, वह धर्म है। ●●



गाथा - ८५

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्रहकरं हवदि लोए।
 तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि ॥८५॥
 उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
 तथा जीवपुद्गलानां धर्मद्रव्यं विजानीहि ॥८५॥

धर्मस्य गतिहेतुत्वे दृष्टान्तोऽयम्। यथोदकं स्वयमगच्छदगमयच्च स्वयमेव गच्छतां मत्स्यानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनमनुगृह्णाति, तथा धर्मोऽपि स्वयमगच्छन् अगमयंश्च स्वयमेव गच्छतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनमनुगृह्णाति इति ॥८५॥

गमन हेतुभूत है ज्यों जगत में जल मीन को।
 त्यों धर्म द्रव्य है गमन हेतु जीव पुद्गल द्रव्य को ॥८५॥

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [लोके] जगत में [उदकं] पानी [मत्स्यानां] मछलियों को [गमनानुग्रहकरं भवति] गमन में अनुग्रह करता है, (तथा) उसी प्रकार [धर्मद्रव्यं] धर्मद्रव्य [जीवपुद्गलानां] जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है (-निमित्तभूत होता है) ऐसा [विजानीहि] जानो।

टीका:-यह धर्म के गतिहेतुत्व का दृष्टान्त है।

जिस प्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में *अनुग्रह करता है ॥८५॥

* गमन में अनुग्रह करना अर्थात् गमन में उदासीन अविनाभावी सहायरूप (निमित्तरूप) कारणमात्र होना।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार

भगवान् सर्वज्ञ ने देखे हुए पदार्थों में धर्मास्तिकाय नाम से एक पदार्थ है। यह अध्यात्म ग्रन्थ होने से विशेष युक्ति से सिद्ध नहीं किया है। चेतन और पुद्गलपदार्थ अपने कारण से गमन करते हैं, तब उसमें दूसरा निमित्तकारण होना चाहिए। दो प्रकार के कारण हैं, एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। अपने कारण से क्षेत्रान्तर होना, वह उपादान है और उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है। जैसे निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता है; उसी प्रकार उपादानकारण है, वहाँ निमित्तकारण है।

धर्मद्रव्य गति में निमित्तकारण है, यह दृष्टान्त से बतलाते हैं।

आत्मा स्व में रहकर सबको जान सके, इतनी सामर्थ्यवाला है। एक दर्पण स्पष्ट हो, उसके सामने जितनी चीज़ पड़ी हो, उन सबको वह दर्पण दिखाता है; उसी प्रकार चैतन्यदर्पण जगत में सब द्रव्यों को पूर्ण रीति से प्रकाशित करे, इतना है, ऐसा यदि अपने आत्मा को माने तो आत्मा को यथार्थ माना कहलाये।

यहाँ धर्मद्रव्य का ज्ञान कराते हैं। उसे जान लेने का आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार मछलियों को गति करने में पानी निमित्तमात्र है। पानी मछली को बलजोरी से चलाता नहीं है परन्तु जो मछली चलती है, उसे पानी निमित्त कहलाता है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल को धर्मद्रव्य बलजोरी से चलाता नहीं, परन्तु जीव-पुद्गल चलते हैं, उन्हें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। मूल पाठ में शब्द 'अनुग्रहक्रम भवति' है। इसका अर्थ उपकार करते हैं। अर्थात् कि निमित्तरूप सहकारी कारण होता है, ऐसा इसका अर्थ समझना।

भावार्थ - मछलियाँ गमन करती हैं, उस समय पानी उसके साथ चलता नहीं तथा वह मछलियों को चलाता नहीं। परन्तु मछली के गमन में निमित्तमात्र सहायभूत है, ऐसा पानी का स्वभाव है। सहायक अर्थात् उपस्थितरूप से होता है। मछली पानी के बिना चलने को असमर्थ है, इसलिए पानी निमित्तमात्र है। यहाँ पानी का निमित्तपना बतलाना है। परन्तु इससे मछली गति में पराधीन है, ऐसा नहीं है। मछली अपने कारण से चलती है। तब पानी निमित्त है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल धर्मद्रव्य के बिना

गमन करने में असमर्थ है अर्थात् कि वे गति करते हैं, तब धर्मद्रव्य है, ऐसा निमित्त साबित करना है। जीव और पुद्गल चलते हैं, तब धर्मद्रव्य चलता नहीं तथा धर्मद्रव्य प्रेरणा करके जीव-पुद्गल को चलाता नहीं। स्वयं उदासीन है, परन्तु उसका अनादिनिधन ऐसा स्वभाव है कि जो जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करे, उन्हें धर्मद्रव्य निमित्तमात्र होता है।

अब जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका से स्पष्टीकरण पृष्ठ ३७६, संस्कृत टीका, लाईन १३। 'अथवा भव्यानाम सिद्धगतेः' से शुरू करके छठवीं लाईन 'सहकारी कारणं भवति' तक। पहले लोकोत्तर दृष्टान्त (उपादान और निमित्तकारण बतलाता हुआ) - भव्य जीव अपने आत्मा का भान करके कि मैं एक शुद्ध आत्मा हूँ। देह, मन, वाणी की क्रिया मेरी नहीं है, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। मैं निश्चय से रागादि रहित हूँ, ऐसा भान करके सिद्धदशा को प्राप्त करे तो रागादि दोषरहित शुद्ध आत्मा की अनुभूति सिद्धदशारूपी कार्य का उपादानकारण है। शरीर की क्रिया पर है और पुण्य-पाप तो अपराध है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में अन्तर रमणता करना, वह मोक्ष का निश्चयकारण है। अब उसे निमित्तकारण कौन है, यह बतलाते हैं। किसी भी प्रकार के निदान बिना बाँधी हुई तीर्थकरनामकर्म की प्रकृति, उत्तम संहनन, बादरपना, मनुष्यपना, इत्यादि सहकारी कारण अथवा निमित्तकारण कहे जाते हैं। किसी धर्मी जीव को आत्मा का भान होने के पश्चात् शुभराग की भूमिका में तीर्थकर पुण्य प्रकृति बँध जाती है। उसे बाँधने की भावना नहीं तथा वह उसका स्वामी नहीं। मिथ्यादृष्टि को तो बँधती नहीं। वह प्रकृति, मजबूत संहनन या मनुष्यपना सिद्धदशा नहीं कराते। सिद्धदशा को और प्रकृति आदि जड़ को अत्यन्त अभाव है। परन्तु स्वयं सिद्धदशा प्रगट करता है तो प्रकृति आदि जो-जो हो, वह निमित्त कहलाते हैं।

इष्टोपदेश में कहा है कि निश्चय से आत्मा ही स्वयं अपना निश्चयगुरु है, तो व्यवहार से पर को गुरु कहा जाता है। गुरु पर में कुछ करते नहीं। अभी निमित्त के नाम से बहुत गड़बड़ चलती है। प्रेरक का अर्थ ऐसा नहीं कि उसने परपदार्थ में कुछ प्रेरणा की। अपने में गति करता पदार्थ अथवा संकल्प-विकल्प करता जीव हो, उसे प्रेरक कहते हैं और स्थिर पदार्थ को उदासीन कहते हैं। चलते हुए घोड़े पर मनुष्य बैठा है,

वहाँ मनुष्य अपने कारण से गति करता है, उसमें घोड़ा प्रेरक निमित्त है, क्योंकि घोड़ा स्वयं गति करता है और वहाँ रहा हुआ धर्मद्रव्य गति नहीं करता, इसलिए धर्म को उदासीन निमित्त कहते हैं। प्रेरक अर्थात् अपने में सक्रियपना और उदासीन अर्थात् अपने में अक्रियपना अर्थात् गतिरूप नहीं होना।

यहाँ दृष्टान्त में कहा कि सिद्धदशा प्राप्त करने में भव्यजीव की योग्यता अर्थात् कि शुद्धात्मा की अनुभूति, वह उपादानकारण है। (यह वर्तमान पर्याय को उपादानकारण लिया है, गुण तो त्रिकाल हैं।) तो मनुष्यदेह, संहनन, तीर्थकरप्रकृति निमित्तकारण है। परन्तु जिसे राग का आदर है, कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तीर्थकरप्रकृति नहीं बँधती। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं, उसे मनुष्य देहादि निमित्त नहीं कहलाते। यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादानकारण है और धर्मास्तिकाय को सहकारीकारण-निमित्तकारण कहा जाता है।

दूसरा लोकोत्तर दृष्टान्त 'संस्कृत टीका' पृष्ठ ३७६, लाईन १७, 'अथवा भव्यानाम' से 'भवतीति भावार्थः' भव्य और अभव्य चार गति में परिभ्रमण करते हैं, उसमें अपने-अपने शुभाशुभभाव उपादानकारण हैं। देवगति में शुभपरिणाम, मनुष्यगति में मध्यम परिणाम, तिर्यचगति में माया के परिणाम, नरक में अशुभपरिणाम उपादानकारण है, तब शरीर का बाह्यलिंग, दान-पूजा के समय होनेवाली शरीरादि की क्रिया तथा बाहर के शुभ अनुष्ठान, मन्दिर, समवसरण, मानस्तम्भ आदि को बहिरंग सहकारीकारण कहा जाता है।

दो दृष्टान्त दिये—(१) सिद्धगति में शुद्ध आत्मा का अनुभव, वह उपादानकारण और तीर्थकरप्रकृति आदि निमित्तकारण। (२) शुभाशुभभाव चार गति में उपादानकारण और बाह्यलिंग और शरीर की क्रिया, वह निमित्तकारण। इस प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से चलते हैं। वह उपादानकारण और धर्मद्रव्य निमित्तकारण है। बावड़ी का स्थिर पानी मछली को गति में निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गमन में धर्मद्रव्य निमित्त है।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का प्रेरक नहीं है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के क्षेत्रान्तर में धर्मास्तिकाय का निमित्तपना दृष्टान्तों द्वारा बतलाया।

गाथा - ८६

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं ।

ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम् ।

स्थितिक्रियायुक्तानां कारणभूतं तु पृथिवीव ॥८६॥

अधर्मस्वरूपाख्यानमेतत् । यथा धर्मः प्रज्ञापितस्तथाधर्मोऽपि प्रज्ञापनीयः । अयं तु विशेषः । स गतिक्रियायुक्तानामुदकवत्कारणभूतः एषः पुनः स्थितिक्रियायुक्तानां पृथिवीवत्कारणभूतः । यथा पृथिवी स्वयं पूर्वमेव तिष्ठन्ती परम-स्थापयन्ती च स्वयमेव तिष्ठतामश्वादीनामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनु-गृह्णातीति तथाऽधर्मोऽपि स्वयं पूर्वमेव तिष्ठन् परमस्थापयन्श्च स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णातीति ॥८६॥

धर्म नामक द्रव्यवत् ही अधर्म नामक द्रव्य है ।

स्थिति क्रिया से युक्त को यह स्थितिकरण में निमित्त है ॥८६॥

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [धर्मद्रव्यं भवति] धर्मद्रव्य है (तथा) उसी प्रकार [अधर्माख्यम् द्रव्यम्] अधर्म नाम का द्रव्य भी [जानीहि] जानो; [तत् तु] परन्तु वह (गतिक्रियायुक्त को कारणभूत होने के बदले) [स्थितिक्रियायुक्तानाम्] स्थितिक्रियायुक्त को [पृथिवी इव] पृथ्वी की भाँति [कारणभूतम्] कारणभूत है (अर्थात् स्थितिक्रियापरिणत जीव-पुद्गलों को निमित्तभूत है) ।

टीका:-यह अधर्म के स्वरूप का कथन है ।

जिस प्रकार धर्म का प्रज्ञापन किया गया, उसी प्रकार अधर्म का भी प्रज्ञापन करने योग्य है । परन्तु यह (निम्नोक्तानुसार) अन्तर है । वह (-धर्मास्तिकाय) गतिक्रियायुक्त को पानी की भाँति कारणभूत है और यह (अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है । जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप (-स्थिर) वर्तती हुई तथा पर को स्थिति (-स्थिरता) नहीं कराती हुई, स्वयमेव स्थितिरूप से परिणमित होते हुए अश्वादिक को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह

करती है, उसी प्रकार अधर्म (अधर्मास्तिकाय) भी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप से वर्तता हुआ और पर को स्थिति नहीं कराता हुआ, स्वयमेव स्थितिरूप परिणमित होते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह करता है॥८६॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार

अब अधर्मद्रव्य का स्वरूप बतलाते हैं।

जीव और पुद्गल गतिपूर्वक स्थिर हों, उन्हें अधर्मद्रव्य निमित्त है। जिस प्रकार पृथ्वी किसी को खड़े रहो, ऐसा नहीं कहती है, परन्तु जो खड़ा रहता है, उसे वह निमित्त कहलाती है, यह दृष्टान्त अधर्मद्रव्य का समझना।

भावार्थ - पृथ्वी अपने स्वभाव से अपनी अवस्था में स्थिर है। घोड़ा इत्यादि को बलजोरी से खड़े नहीं रखाती। घोड़े इत्यादि बाह्य पदार्थ स्वयं के कारण से स्थिर होते हैं, उन्हें पृथ्वी सहज उदासीन अवस्थारूप से निमित्तमात्र होती है। इस दृष्टान्तानुसार अधर्मद्रव्य भी अपनी सहज अवस्थारूप से लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों के प्रमाणरूप अनादि काल से है, उसके असंख्य प्रदेश लोकप्रमाण सहज हैं। कोई जीव केवली-समुद्घात करे, तब उनके प्रदेश विस्तार पाकर लोकप्रमाण होते हैं। अथवा कपड़ा पहले संकोचरूप और बाद में विस्तृत होता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य दोनों के प्रदेश पहले संकोचरूप थे और बाद में पूरे लोकप्रमाण हुए, ऐसा नहीं है। अनादि से ही पूरे लोकप्रमाण अखण्ड असंख्यप्रदेशी हैं, वह अधर्मद्रव्य स्वभाव से जीव-पुद्गल की स्थिरता में निमित्तकारण है, परन्तु उस द्रव्य को बलजोरी से वह स्थिर नहीं कराता। गतिमान जीव-पुद्गल अपने से स्थिर अवस्थारूप परिणाम करे तो अधर्मद्रव्य अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्थारूप निमित्तमात्र सहाय होता है।

अब जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, पृष्ठ ३७९, लाईन १७ 'शुद्धात्मस्वरूपे' से 'चेति सूत्रार्थः' तक।

मैं आत्मा शुद्धस्वरूपी हूँ, ऐसा भान होने पर, स्वभाव में स्थिरता होती है, इस प्रकार शुद्ध आत्मा में स्थिरता का निश्चयकारण वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन है। शुभराग या पुण्य उसमें कारण नहीं है। जीव अपनी पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष की अस्थिरता छोड़कर शुद्ध चिदानन्दस्वभाव में स्थिरता करता है, उसमें स्वसंवेदन निश्चयकारण है। तो अरिहन्त-सिद्ध के स्मरण का विकल्प, अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों की प्रतिमा इत्यादि को निमित्तकारण कहा जाता है। परन्तु वे निमित्त स्थिर नहीं कराते। स्वयं शुद्धचिदानन्द आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करे तो बाह्य को निमित्तकारण कहा जाता है, नहीं तो वह निमित्त भी नहीं कहलाते।

जो आत्मा दया, दानादि के भावों में धर्म मानकर वैसे परिणाम में फिरा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे भगवान् निमित्त नहीं कहलाते। पुण्य-पाप के परिणाम शुद्ध आत्मा नहीं; त्रिकाली स्वभाव, वह शुद्ध आत्मा है, वह मैं हूँ - इस प्रकार ज्ञान की पर्याय ध्रुवस्वभाव को पकड़े और स्थिर हो, उसे धर्म की क्रिया कहा जाता है और ऐसी स्थिरता में स्वसंवेदनज्ञान निश्चयकारण है तो भगवान् के स्मरण को निमित्त कहा जाता है। इस दृष्टान्त से पुद्गल और चेतनपदार्थ अपने कारण से स्थिर होते हैं, वह उपादानकारण है। उसमें अधर्मद्रव्य निमित्तकारण कहलाता है।

●●

श्रमण अर्थात् साक्षात् मोक्षतत्त्व

जो श्रमण, त्रिलोक के मुकुटमणि के समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने में निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हो, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का, अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं, चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ४८४, पृष्ठ ११५

गाथा - ८७

जादो अलोकलोगो जेसिं सद्भावदो य गमणठिदी।
 दो वि य मया विभक्ता अविभक्ता लोयमेत्ता य ॥८७॥
 जातमलोकलोकं ययोः सद्भावतश्च गमनस्थिति।
 द्वावपि च मतौ विभक्तावविभक्तौ लोकमात्रौ च ॥८७॥

धर्माधर्मसद्भावे हेतूपन्यासोऽयम्। धर्माधर्मौ विद्येते। लोकालोक-विभागान्यथानुपपत्तेः। जीवादिसर्वपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः। शुद्धैकाकाशवृत्तिरूपोऽलोकः। तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थिति-परिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निरगलगतिस्थिति-परिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत। ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत। धर्माधर्मयोस्तु जीवपुद्गलयोर्गतितत्पूर्वस्थित्योर्बहिरङ्गहेतुत्वेन सद्भावोऽभ्युपगम्यमाने लोकालोकविभागो जायत इति। किञ्च धर्माधर्मौ द्वावपि परस्परं पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वाद्विभक्तौ। एकक्षेत्रावगाढत्वादविभक्तौ। निष्क्रियत्वेन सकललोकवर्तिनोर्जीवपुद्गलयोर्गतिस्थित्युपग्रहकरणाल्लोकमात्राविति ॥८७॥

धरम अर अधरम से ही लोकालोक गति-स्थिति बने।

वे उभय भिन्न-अभिन्न भी अर सकल लोक प्रमाण है ॥८७॥

अन्वयार्थ :- [गमनस्थिती] (जीव-पुद्गल की) गति-स्थिति [च] तथा [अलोकलोकं] अलोक और लोक का विभाग, [ययोः सद्भावतः] उन दो द्रव्यों के सद्भाव से [जातम्] होता है। [च] और [द्वौ अपि] वे दोनों [विभक्तौ] विभक्त, [अविभक्तौ] अविभक्त [च] और [लोकमात्रौ] लोकप्रमाण [मतौ] कहे गये हैं।

टीका:-यह धर्म और अधर्म के सद्भाव की सिद्धि के लिये हेतु दर्शाया गया है।

धर्म और अधर्म विद्यमान है, क्योंकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन सकता। जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र-अस्तित्वरूप लोक है; शुद्ध एक आकाश के अस्तित्वरूप अलोक है। वहाँ, जीव और पुद्गल स्वरस से ही (स्वभाव से ही) गतिपरिणाम को तथा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त होते हैं। यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव-पुद्गल को बहिरंग हेतु धर्म और अधर्म न हो, तो जीव-पुद्गल के *निरगल गतिपरिणाम और स्थितिपरिणाम

* निरगल=निरंकुश; अमर्यादित।

होने से अलोक में भी उनका (जीव-पुद्गल का) होना किससे निवारा जा सकता है? (किसी से नहीं निवारा जा सकता।) इसलिए लोक और अलोक का विभाग सिद्ध नहीं होता। परन्तु यदि जीव-पुद्गल की गति के और गतिपूर्वक स्थिति के बहिरंग हेतुओं के रूप में धर्म और अधर्म का सद्भाव स्वीकार किया जाये तो लोक और अलोक का विभाग (सिद्ध) होता है। (इसलिए धर्म और अधर्म विद्यमान है।) और (उनके सम्बन्ध में विशेष विवरण यह है कि), धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त (भिन्न) है; एकक्षेत्रावगाही होने से अविभक्त (अभिन्न) हैं; समस्त लोक में विद्यमान जीव-पुद्गलों को गतिस्थिति में निष्क्रियरूप से अनुग्रह करते हैं, इसलिए (-निमित्तरूप होते हैं इसलिए) लोकप्रमाण हैं॥८७॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार

धर्म-अधर्मद्रव्य से लोक-अलोक के विभाग पड़ते हैं। धर्म-अधर्मद्रव्य न मानो तो लोक-अलोक सिद्ध नहीं होते। लोक-अलोक को तथा धर्म-अधर्म को न जाने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। धर्म-अधर्म दोनों पूरे लोक में एक क्षेत्र में है, परन्तु दोनों स्वभाव से भिन्न हैं। जो धर्म-अधर्म मानते नहीं, उसके समाधान के लिये आचार्य कहते हैं कि—

जिस धर्म-अधर्मद्रव्य के अस्तित्व से लोक और अलोक हुए हैं और जो गति-स्थिति में निमित्त है, वे दोनों अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु एक क्षेत्रावगाह से भिन्न-भिन्न नहीं और असंख्यप्रदेशी लोकमात्र है।

भावार्थ - यहाँ जो प्रश्न किया गया है कि धर्म-अधर्म है ही नहीं और आकाश गति और स्थिति में सहायक है, ऐसा माना जाये तो ?

उसका **समाधान**—जगत अथवा लोक सर्वत्र व्यापक नहीं है। यह लोक मर्यादावाला है और बाकी भाग को अलोक कहते हैं। कोई कहे कि यह जगत दिखता है, ऐसा का ऐसा सर्वत्र हो तो ? ऐसा का ऐसा कहाँ तक ? पश्चात् क्या ? पश्चात् क्या ? दो भाग माने बिना यथार्थ वस्तुस्थिति निश्चित नहीं होती। जैसे जड़ और चेतन दो भिन्न

हैं, वैसे लोक और अलोक भिन्न हैं। लोक-अलोक अपने कारण से है, उसमें धर्म-अधर्म को निमित्तरूप से सिद्ध किया है। धर्म-अधर्म द्रव्य अवश्य है। यदि दो द्रव्य न हो तो लोक-अलोक का भेद सिद्ध नहीं होता। जहाँ जीवादिक समस्त पदार्थ हैं। उसे लोक कहते हैं। जीवादि पदार्थ भाव से अनन्त हों, परन्तु क्षेत्र से अनन्त नहीं होते। आकाश का क्षेत्र अनन्त है। उसमें असंख्य योजन तक लोक है, पश्चात् जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं। इसलिए जीव-पुद्गल की गति-स्थिति लोकाकाश में है, अलोकाकाश में नहीं। यदि धर्म-अधर्म में गति-स्थिति में निमित्तपने का गुण नहीं होता तो लोक-अलोक का भेद दूर हो जाता। जीव और पुद्गल दोनों अपने कारण से गति अथवा स्थितिरूप अवस्था धारण करते हैं। उसमें गति को बहिरंग निमित्त धर्मद्रव्य और स्थिति को बहिरंग निमित्त अधर्मद्रव्य है। वे दोनों लोक में हैं। यदि धर्म-अधर्मद्रव्य लोक में न हो तो लोक-अलोक, ऐसा भेद नहीं होता और सब जगह लोक होता है, इस कारण से धर्म-अधर्मद्रव्य अवश्य है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार

यह अधर्मास्तिकाय की व्याख्या चलती है। सर्वज्ञ भगवान ने अधर्मद्रव्य और धर्मद्रव्य, ऐसे दो द्रव्य देखे हैं। जिसे किसी पदार्थ को लक्ष्यभेद करना हो, उसे किस पदार्थ को लक्ष्यभेद करना है और बाण की लक्ष्यभेद की ताकत कितनी है, यह जानना चाहिए। किस पदार्थ को लक्ष्यभेद करना है, उसकी खबर बिना लक्ष्यभेद नहीं किया जा सकता। तथा बाण थोथा-ताकतरहित हो तो भी लक्ष्यभेद नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार यहाँ आत्मा को जानना चाहिए। ज्ञान आत्मा को निशान बनाकर आत्मा को लक्ष्यभेद करता है अर्थात् कि जानता है। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है, इसलिए आत्मपदार्थ कितना है और आत्मपदार्थ को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान की सामर्थ्य कितनी है, यह भी जानना चाहिए। यहाँ ज्ञान की ताकत की बात चलती है, ज्ञान की सामर्थ्य सर्वज्ञेयों को जानने की है। ज्ञान का ध्येय आत्मा है, उसका लक्ष्य करके जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सभी द्रव्यों को यथार्थ जान सकता है। जगत में जितने द्रव्य हैं। उतने

बराबर ज्ञान में न ले तो वह ज्ञान की ताकत को समझा नहीं। और जिसे ज्ञान की ताकत का ख्याल आया नहीं, वह आत्मा को लक्ष्य नहीं कर सकता।

यहाँ धर्म-अधर्मद्रव्य की बात चलती है, परन्तु वास्तव में तो उन्हें जाननेवाले जीव के ज्ञान के गीत चलते हैं, इन सब द्रव्यों को ज्ञान स्व में रहकर जानता है। यह बात कान में पड़ने पर भी जो निर्णय न करे, उसे धर्म नहीं होता। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ है, उसकी पर्याय स्व और पर सब द्रव्यों को तथा उनके गुण-पर्यायों को भिन्न-भिन्न जानने की सामर्थ्यवाली है। यदि इतना न जाने तो उसने ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य जानी नहीं। आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय में स्व-पर दोनों आ जाते हैं।

यहाँ धर्म-अधर्मद्रव्य का ज्ञान कराते हैं।

भावार्थ - जहाँ तक जीव-पुद्गल गति-स्थिति करते हैं, वहाँ तक लोक है। यह लोक की मर्यादा बाँधी। जहाँ तक जीव और पुद्गल गति या स्थिति कर सकते हैं, वहाँ तक के क्षेत्र को लोक कहना। लोक के पश्चात् खाली भाग को अलोक कहते हैं, वहाँ मात्र आकाश है। लोक-अलोक का भेद धर्म-अधर्मद्रव्य से जानना। लोक-अलोक की मर्यादा तो अनादि से। परन्तु धर्म-अधर्मद्रव्य को साबित करने के लिये ऐसा कहा है। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं, उनमें धर्म-अधर्म जिस क्षेत्र में रहते हैं, वहाँ तक लोक और बाकी के खाली भाग का अलोक जानना।

वह धर्म-अधर्म स्वयं अपने प्रदेशों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु एक लोकाकाश की अपेक्षा से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि लोकाकाश के जिन प्रदेशों में धर्मद्रव्य है, उन्हीं प्रदेशों में अधर्मद्रव्य है। दोनों हलन-चलनरूप क्रिया से रहित अर्थात् स्थिर हैं और सर्व लोकव्यापी हैं। जिस प्रकार लोकाग्र में सभी सिद्ध भगवान एक जगह हैं, तथापि सबकी सत्ता और अनुभव भिन्न-भिन्न हैं। भाव अपेक्षा से भिन्न हैं, परन्तु आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से अलग नहीं हैं। उसी प्रकार धर्म-अधर्म भाव-अपेक्षा से भिन्नता है परन्तु लोकाकाश में रहे हुए हैं। आकाश अपेक्षा से भिन्न नहीं हैं। धर्म-अधर्म समस्त लोकव्यापी जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में निमित्तकारण हैं। इसलिए दोनों द्रव्य लोक जितने असंख्यप्रदेशी हैं।

गाथा - ८८

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।

हवदि गदिस्स प्सरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥८८॥

न च गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य।

भवति गतेः सः प्रसरो जीवानां पुद्गलानां च ॥८८॥

धर्माधर्मयोर्गतिस्थितिहेतुत्वेऽप्यत्यंतौदासीन्याख्यापनमेतत्। यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयंतीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किंतु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रय-कारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति। अपि च यथा गतिपूर्वस्थितपरिणत-स्तुरङ्गोऽश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथाऽधर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपूर्वस्थितिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहस्थायित्वेन परेषां गतिपूर्वस्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् किं तु पृथिवीवत्तुरङ्गस्य जीवपुद्गलानामाश्रय-कारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतिपूर्वस्थितेः गसरो भवतीति ॥८८॥

होती गति जिस द्रव्य की स्थिति भी हो उसी की।

वे सभी निज परिणाम से ठहरें या गति क्रिया करें ॥८८॥

अन्वयार्थ :- [धर्मास्तिकः] धर्मास्तिकाय [न गच्छति] गमन नहीं करता [च] और [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्य को [गमनं न करोति] गमन नहीं कराता; [सः] वह, [जीवानां पुद्गलानां च] जीवों तथा पुद्गलों को (गतिपरिणाम में आश्रयमात्ररूप होने से) [गतेः प्रसरः] गति का उदासीन प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसार में उदासीन निमित्तभूत) [भवति] है।

टीका:- धर्म और अधर्म गति और स्थिति के हेतु होने पर भी वे अत्यन्त उदासीन हैं, ऐसा यहाँ कथन है।

जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओं के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म (जीव-पुद्गलों के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (धर्म)

वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (पर के) 'सहकारी के रूप में पर के गतिपरिणाम का हेतुकतृत्व कहाँ से होगा? (नहीं हो सकता।) किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियों का (गतिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक है; उसी प्रकार धर्म जीव-पुद्गलों को (गतिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसार का उदासीन ही निमित्त) है।

और (अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भी ऐसा है कि) -जिस प्रकार गतिपूर्वक-स्थितिपरिणत अश्व सवार के (गतिपूर्वक) स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार अधर्म (जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (अधर्म) वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (पर के) 'सहस्थायी के रूप में गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकतृत्व

१. सहकारी=साथ में कार्य करनेवाला अर्थात् साथ में गति करनेवाला। ध्वजा के साथ पवन भी गति करता है, इसलिए यहाँ पवन को (ध्वजा के) सहकारी के रूप में हेतुकर्ता कहा है; और जीव-पुद्गलों के साथ धर्मास्तिकाय गमन न करके (अर्थात् सहकारी न बनकर), मात्र उन्हें (गति में) आश्रयरूप कारण बनता है, इसलिए धर्मास्तिकाय को उदासीन निमित्त कहा है। पवन को हेतुकर्ता कहा, उसका यह अर्थ कभी नहीं समझना कि पवन ध्वजाओं को गतिपरिणाम कराता होगा। उदासीन निमित्त हो या हेतुकर्ता हो-दोनों पर में अकिंचित्कर हैं। उनमें मात्र उपरोक्तानुसार ही अन्तर है। अब अगली गाथा की टीका में आचार्यदेव स्वयं ही कहेंगे कि 'वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं।' इसलिए ध्वजा, सवार इत्यादि सब, अपने परिणामों से ही गतिस्थिति करते हैं, उसमें धर्म तथा पवन, और अधर्म तथा अश्व अविशेषरूप से अकिंचित्कर हैं, ऐसा निर्णय करना।)

२. सहस्थायी=साथ में स्थिति (स्थिरता) करनेवाला। (अश्व सवार के साथ स्थिति करता है, इसलिए यहाँ अश्व को सवार के सहस्थायी के रूप में सवार के स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता कहा है। अधर्मास्तिकाय तो गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलों के साथ स्थिति नहीं करता, पहले ही स्थित है; इस प्रकार वह सहस्थायी न होने से जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता नहीं है।)

कहाँ से होगा? (नहीं हो सकता।) किन्तु जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार अधर्म जीव-पुद्गलों को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिपूर्वक-स्थितिप्रसार का उदासीन ही निमित्त) है॥८८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार

(१) इस गाथा में ज्ञान की महत्ता बतलाते हैं। सभी ज्ञेयों को जानने की ताकत बतलाते हैं।

(२) प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, उसमें अपने से कार्य होता है, वह उपादान है और तब दूसरी चीज़ साथ में हो, उसे निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त की राह नहीं देखनी पड़ती, ऐसा दो कारण का भी ज्ञान कराते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में समय-समय में कार्य हो रहा है, उस कार्य में दो कारण हैं - एक निश्चयकारण और एक व्यवहारकारण। इस लकड़ी के टुकड़े होते हैं, उसमें इस लकड़ी की इस समय की पर्याय की योग्यता, वह उपादानकारण है और करवत निमित्तकारण है। करवत के कारण से लकड़ी में टुकड़े नहीं होते। करवत के कारण से टुकड़े होते हों तो आकाश के टुकड़े होना चाहिए। परन्तु आकाश में टुकड़े होने की योग्यता नहीं है, इसलिए नहीं होते। और लकड़ी की योग्यता है तो टुकड़े होते हैं। शिष्य की समझने की योग्यता, वह उपादानकारण है और गुरु निमित्तकारण है। गुरु से शिष्य समझता नहीं। परन्तु शिष्य समझता है, तब गुरु निमित्तरूप से होते हैं।

रोटी होने की योग्यता उपादानकारण है और तवा, अग्नि, बाई निमित्तकारण है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतन्त्ररूप से परिणम रहे हैं, तब दूसरी चीज़ को निमित्त कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ बताते हैं कि जीव और पुद्गल स्वयं के कारण से गति-स्थिति करते हैं, तो धर्म-अधर्म को निमित्तकारण कहा जाता है।

धर्मद्रव्य प्रेरक होकर गति-स्थिति का कारण नहीं परन्तु अत्यन्त उदासीन है, यह बताते हैं।

धर्मद्रव्य हिलता-चलता नहीं और अन्य जीव-पुद्गलों को प्रेरक बनकर हलन-चलन क्रिया को करता नहीं। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों की गति में निमित्त है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य स्थिति में मात्र निमित्तकारण है।

धर्म-अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नहीं है, यह बताते हैं। चलते हुए घोड़े पर मनुष्य बैठा हो तो मनुष्य को गति होने में घोड़ा प्रेरक निमित्त है क्योंकि घोड़ा स्वयं गति करता है और वापस वह स्थिर रहता है, परन्तु धर्म-अधर्मद्रव्य गति करके स्थिर रहे हैं, ऐसा नहीं है। इसलिए धर्म-अधर्म को उदासीन निमित्त जानना।

पूर्व में दृष्टान्त दिया था कि जीव अपने आत्मा के आश्रय से सिद्धदशा प्रगट करता है तो तीर्थंकरप्रकृति, संहनन इत्यादि निमित्त हैं, उसी प्रकार धर्मद्रव्य गति करते हुए जीव और पुद्गल को निमित्त है। और जो जीव शुद्ध आत्मा में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त कहलाता है, परन्तु किसे? पाँच पद का विचार करते हुए विचार करे कि अहो! ये पाँचों पद आत्मा के हैं, जड़ के नहीं, अरिहन्त और सिद्ध पूर्णदशा प्राप्त हैं और आचार्य, उपाध्याय और साधु उस पूर्ण पद को साधनेवाले हैं, वह पद आत्मा में से होता है—ऐसा समझकर, मैं परिपूर्ण आत्मा हूँ, ऐसा भान करके स्वभाव में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी के स्मरण का विकल्प निमित्त कहलाता है।

जो जीव आत्मा की यथार्थ बात धारण नहीं कर सकता, वह किस प्रकार वाद करे? अन्धे को स्वप्न देखते हुए मनुष्य के अनुभव में न आवे, परन्तु अन्धे मनुष्य के जैसे आवे, उसी प्रकार जिसने पंच परमेष्ठीरूप होने के योग्य मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार से अपने आत्मा को धार नहीं रखा, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त नहीं होता, परन्तु जो आत्मा विचार करे कि मैं आत्मा हूँ, पंच परमेष्ठी हुए, वे आत्मा में से हुए हैं, मैं भी वैसा ही आत्मा हूँ – ऐसे भानपूर्वक स्वभाव में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त कहलाता है। इस दृष्टान्तानुसार जो जीव और पुद्गल स्वयं के कारण से गतिपूर्वक स्थिरता करते हैं, उन्हें अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है।

भावार्थ - यहाँ स्वतन्त्रता की बात करके प्रेरक और उदासीन निमित्त किसे कहना, यह बताते हैं। जिस प्रकार हवा अपने चंचल स्वभाव से ध्वजा की हलन-चलनरूप क्रिया का कर्ता दिखाई देती है; उसी प्रकार धर्मद्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं है। वहाँ हवा ध्वजा को चलाती है, ऐसा प्रेरक का अर्थ नहीं है परन्तु हवा की क्रिया हलन-चलनवाली है, इसलिए हवा को प्रेरक कहा जाता है। प्रेरक निमित्त दूसरे को मदद करता है और उदासीन निमित्त मदद नहीं करता, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। हवा अपने में सक्रिय है, इसलिए प्रेरक है और धर्म (द्रव्य) गतिमान नहीं परन्तु स्थिर है, इसलिए निष्क्रिय अथवा उदासीन है।—इस प्रकार निमित्त में अन्तर है परन्तु निमित्त के अन्तर से उपादान में अन्तर होता है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। लड्डू बनाते समय हाथ की क्रिया गति करती है, इसलिए हाथ को प्रेरक निमित्त कहा जाता है, परन्तु हाथ हिलता है, इसलिए लड्डू में क्रिया होती है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है और आँधी आती है, तब धूल और नलिया उड़ते हैं। वह अपनी योग्यता के कारण से है और हवा निमित्त है, परन्तु हवा गति करती है, इसलिए हवा को प्रेरक कारण कहा जाता है और धर्मद्रव्य कभी हलन-चलन नहीं करता, इसलिए वह उदासीन निमित्त कहा जाता है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में किस प्रकार निमित्त होता है, यह दृष्टान्त से समझाते हैं।

निष्कम्प सरोवर में जल मछलियों की गति में सहकारी कारण है। जल स्वयं प्रेरक होकर मछली को चलाता नहीं। जल स्वयं शान्त पड़ा है। जो मछली अपने उपादान कारण से चलती है, उसे जल निमित्त कहा जाता है। परन्तु जल बिना मछलियाँ चलती नहीं, इसलिए जल निमित्तमात्र कारण है। इस दृष्टान्तानुसार जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादान कारण है। वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें चलाता नहीं तथा स्वयं चलता नहीं। परन्तु जो गति करता है, उसे शान्त जल की भाँति निमित्तमात्र है, इसलिए उसे उदासीन कारण कहा है।

इसी प्रकार अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है। घोड़ा चलता हो और खड़ा रह जाता है, तब ऊपर बैठा हुआ मनुष्य भी खड़ा रह जाता है। वहाँ उस मनुष्य का आत्मा और शरीर उसी जगह स्थिर रहने की योग्यतावाले हैं, तब घोड़ा स्थिर रहा, उसे निमित्त कहा जाता

है, परन्तु घोड़ा स्थिर हुआ, इसलिए मनुष्य को स्थिर रहना पड़ा, ऐसी पराधीनता नहीं है। सब स्वतन्त्र है। परन्तु वह घोड़ा चलते हुए स्थिर हुआ, इसलिए निमित्तकारण हुआ; उसी प्रकार अधर्मद्रव्य सक्रिय निमित्त नहीं, इतना बतलाना है। अमर्धद्रव्य पहले चलता था और फिर स्थिर होकर जीव-पुद्गल की स्थिति में निमित्त होता है, ऐसा नहीं है, परन्तु अधर्मद्रव्य गतिमान नहीं है; जहाँ है, वहीं पड़ा है; इसलिए गतिपूर्वक स्थिति के परिणाम की अवस्था उसमें नहीं होती। तो अधर्मद्रव्य किस प्रकार स्थितिक्रिया का सहकारी कारण होता है, यह बताते हैं।

चलता हुआ घोड़ा खड़ा रह जाता है, उसमें पृथ्वी घोड़े को स्थिर रहने में निमित्त कहलाती है। पृथ्वी प्रथम चलती थी और पश्चात् स्थिर हुई, ऐसा नहीं है। परन्तु अनादि से स्थिर है। यह गति करते हुए घोड़े को स्थिर होने में निमित्त कहलाती है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गल की स्थिति में उदासीन निमित्त है। इस गाथा में उपादान-निमित्त की स्पष्ट बात बहुत सरस बतायी है और प्रेरक तथा उदासीन निमित्त की स्पष्टता हुई है।

●●

दीक्षा कल्याणक का अपूर्व अवसर

जिस समय भगवान का साक्षात् दीक्षा कल्याणक होता होगा, उस समय कैसा लगता होगा? अहो! जो चक्रवर्ती थे, कामदेव थे और तीर्थङ्कर थे; उन्होंने जिस समय दीक्षा ली होगी, उस समय की दशा की क्या बात करना! छह खण्ड में जिनका उत्तम रूप था, उत्तम भोग थे, जो तीर्थङ्कर थे — ऐसे भगवान, चारित्रदशा धारण करके प्रमत्त-अप्रमत्तभाव में झूल रहे हैं। एक क्षण में महाव्रतों की या भेद की शुभवृत्ति उठती है तो दूसरे ही क्षण उसे तोड़कर पुनः आत्मानुभव में लीन हो जाते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३५

गाथा - ८९

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
 ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥
 विद्यते येषां गमनं स्थानं पुनस्तेषामेव संभवति।
 ते स्वकपरिणामैस्तु गमनं स्थानं च कुर्वन्ति ॥८९॥

धर्माधर्मयोरौदासीन्ये हेतूपन्यासोऽयम्। धर्मः किल न जीवपुद्गलानां कदाचिद्गतिहेतुत्वमभ्यस्यति, न कदाचित्स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गतिस्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत एकेषामपि गतिस्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किं तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गतिस्थितिमतां पदार्थानां गतिस्थिती भवत इति चेत्, सर्वे हि गतिस्थितिमंतः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गतिस्थिती कुर्वतीति ॥८९॥

इति धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

जिनका होता गमन है होता उन्हीं का ठहरना।

तो सिद्ध होता है कि द्रव्य चलते-ठहरते स्वयं से ॥८९॥

अन्वयार्थ :- [येषां गमनं विद्यते] (धर्म-अधर्म गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं है, क्योंकि) जिन्हें गति होती है [तेषाम् एव पुनः स्थानं संभवति] उन्हीं को फिर स्थिति होती है (और जिन्हें स्थिति होती है, उन्हीं को फिर गति होती है)। [ते तु] वे (गतिस्थितिमान पदार्थ) तो [स्वकपरिणामैः] अपने परिणामों से [गमनं स्थानं च] गति और स्थिति [कुर्वन्ति] करते हैं।

टीका:-यह, धर्म और अधर्म की उदासीनता के सम्बन्ध में हेतु कहा गया है।

वास्तव में (निश्चय से) धर्म जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता, अधर्म कभी स्थितिहेतु नहीं होता; क्योंकि वे पर को गतिस्थिति के यदि मुख्य हेतु (निश्चयहेतु) हों, तो जिन्हें गति हो, उन्हें गति ही रहना चाहिए, स्थिति नहीं होना चाहिए और जिन्हें स्थिति हो, उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एक को

ही (-उसी एक पदार्थ को) गति और स्थिति देखने में आती है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे (धर्म-अधर्म) गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहारनयस्थापित (व्यवहारनय द्वारा स्थापित-कथित) उदासीन हेतु हैं।

प्रश्न-ऐसा हो तो गतिस्थितिमान पदार्थों को गतिस्थिति किस प्रकार होती है?

उत्तर-वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं॥८९॥

इस प्रकार धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार

धर्मद्रव्य परद्रव्य को बलजोरी से गति नहीं कराता परन्तु जीव-पुद्गल स्वयं गति करते हैं तो धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। मूल पाठ में 'स्वकपरिणामेः' शब्द है। अर्थात् कि जीव-पुद्गल अपने परिणाम से गति-स्थितिरूप होते हैं। जीव-पुद्गल स्वयं स्थिर होते हैं तो अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है।

धर्मद्रव्य कभी भी गतिरूप अवस्था धारण नहीं करता तथा अधर्मद्रव्य स्वयं गतिपूर्वक स्थिति अवस्था धारण नहीं करता परन्तु जीव-पुद्गल की गति-स्थिति में निमित्त कारण है, परन्तु मुख्य कारण नहीं, यह बतलाते हैं।

यदि जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में धर्म-अधर्मद्रव्य उपादान कारण हो और जबरदस्ती से उन्हें चलाते हों अथवा स्थिर करते हों तो जो पदार्थ गतिमान हैं, वे सदा गति किया करेंगे और जो स्थिर हों वे सदा स्थिर ही रहा करेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता। और धर्म-अधर्म पूरे लोक में हैं, वे मुख्य कारण हों तो धर्मद्रव्य कहे कि मैं इस पदार्थ को गति कराऊँगा और अधर्मद्रव्य कहे कि उसी पदार्थ को मैं स्थिर करूँगा, ऐसा होने पर 'परस्परं मत्सरो भवति' धर्म-अधर्म को झगड़ा होगा। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने तर्क दिया है, वह समझाने की पद्धति है। धर्म-अधर्म गति-स्थिति में मुख्य कारण नहीं है।

और जीव और पुद्गलपदार्थ अपने उपादान कारण से गति-स्थिति के परिणाम को प्राप्त करते हैं। कोई अन्य उन्हें चलाता नहीं या स्थिर नहीं करता, इसलिए निश्चित होता है कि धर्म-अधर्मद्रव्य मुख्य कारण नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से उदासीनरूप निमित्त कारण हैं।

यह लकड़ी ऊँची होती है, वह हाथ से ऊँची होती है या स्वयं से ? यदि हाथ से लकड़ी ऊँची होती हो तो लकड़ी का वर्तमान क्या ? वर्तमान पर्याय साबित नहीं होती और वर्तमान पर्याय साबित नहीं होने पर पर्याय बिना का द्रव्य हो जाता है।

हवा के कारण ध्वजा हिलती हो, घोड़ा के कारण मनुष्य चलता हो तो वर्तमान पर्याय बिना का द्रव्य होने से द्रव्य का नाश होता है।

जैसे कोर्ट में आमने-सामने के तर्क न्यायाधीश सुनता है, उसी प्रकार यहाँ वीतराग की कोर्ट है। आमने-सामने तर्क सुनकर स्वयं न्यायाधीश बनकर निर्णय करना पड़ेगा। निमित्त के पक्षवाले कहते हैं कि निमित्त से कार्य होता है, उपादानवाले कहते हैं कि निमित्त से कार्य मानने पर वर्तमान का नाश होने से द्रव्य का नाश होता है, इसलिए उपादान में अपने से कार्य होता है, तब परचीज निमित्तरूप उपस्थित होती है, इसलिए जीव को यथार्थ विचार करना चाहिए।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त धर्म-अधर्मद्रव्य की बात कहीं नहीं है। यहाँ तीन बात ध्यान में रखने की है।

(१) आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप सर्वज्ञ है।

(२) जगत के छह द्रव्य परिपूर्ण हैं, उन ज्ञेयों की सामर्थ्य भी परिपूर्ण है।

(३) अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञान प्रगट होता है, उस ज्ञानपर्याय की कितनी सामर्थ्य है, वह बतलाते हैं। स्व को जानते हुए परपदार्थ धर्म-अधर्म यथार्थरूप से ज्ञात हो जाते हैं।

यहाँ बताते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने कारण से गति या स्थितिरूप पर्याय स्वतन्त्र कर्ता है। ऐसी अनन्त स्वतन्त्र पर्याय का धारक प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है और उसके अनन्त स्वतन्त्रगुण का धारक द्रव्य भी स्वतन्त्र है। ऐसी यहाँ स्वतन्त्रता बतलाते हैं।

यह लकड़ी अँगुली से चलती है, ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव लकड़ी के क्षेत्रान्तर होने के धर्म को या स्वभाव को नहीं देखता परन्तु अँगुली कि जो संयोगरूप है, उसे देखता है। लकड़ी, लकड़ी के कारण से क्षेत्रान्तर करती है, तब हाथ निमित्त कहलाता है।

उसी प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय निमित्त है और स्थिर होते हैं, तब अधर्मास्तिकाय निमित्त है। धर्म-अधर्म दो अरूपी वस्तु है। ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य है। परन्तु ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं। और जितने ज्ञेय हैं, उन सबको जानने की सामर्थ्यवाला ज्ञान है, ऐसा न माने तो ज्ञान सच्चा नहीं होता। प्रमाण अर्थात् विशेष करके माप करनेवाला-ख्याल में लेनेवाला ज्ञान है। धर्म-अधर्म इत्यादि की बात की है, उसमें ज्ञान का माहात्म्य ज्ञात होता है कि ज्ञान सूक्ष्म अरूपी पदार्थ को भी जान सकता है, ऐसे ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य लाने पर सम्यक् ज्ञान प्रगट होकर अल्पकाल में सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट होता है और तब सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात होंगे। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के लिये यह बात है। ●●

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं – ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं – ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ १२

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
 जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं॥९०॥
 सर्वेषां जीवानां शेषाणां तथैव पुद्गलानां च।
 यद्ददाति विवरमखिलं तल्लोके भवत्याकाशम्॥९०॥

अथ आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम्। आकाशस्वरूपाख्यानमेतत्। षड्द्रव्यात्मके लोके सर्वेषां शेषद्रव्याणां यत्समस्तावकाशनिमित्तं विशुद्धक्षेत्ररूपं तदाकाशमिति॥९०॥

अब आकाशद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

जीव पुद्गल धर्म आदिक लोक में जो द्रव्य हैं।
 अवकाश देता इन्हें जो आकाश नामक द्रव्य वह॥९०॥

अन्वयार्थ :- [लोके]लोक में [जीवानाम्]जीवों को [च]और [पुद्गलानाम्] पुद्गलों को [तथा एव]वैसे ही [सर्वेषाम् शेषाणाम्]शेष समस्त द्रव्यों को [यद्]जो [अखिलं विवरं] सम्पूर्ण अवकाश [ददाति] देता है, [तद्] वह [आकाशम् भवति] आकाश है।

टीका:-यह आकाश के स्वरूप का कथन है।

षट्द्रव्यात्मक लोक में शेष सभी द्रव्यों को जो परिपूर्ण अवकाश का निमित्त है, वह आकाश है-जो कि (आकाश) विशुद्धक्षेत्ररूप है॥९०॥

-
१. निश्चयनय से नित्यनिरंजन-ज्ञानमय परमानन्द जिनका एक लक्षण है, ऐसे अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, असंख्य कालाणु और असंख्यप्रदेशी धर्म तथा अधर्म-यह सभी द्रव्य विशिष्ट अवगाहगुण द्वारा लोकाकाश में-यद्यपि वह लोकाकाश मात्र असंख्यप्रदेशी ही है, तथापि अवकाश प्राप्त करते हैं।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार

अब आकाशद्रव्य का व्याख्यान करते हैं।

आकाश 'है', इसलिए अस्ति है और अनन्त प्रदेशी है, इसलिए काय, इस प्रकार आकाश अस्तिकाय है। आकाश को खबर नहीं कि मैं अनन्त जीवों इत्यादि द्रव्यों को अवकाश देता हूँ। आकाश को खबर नहीं, इसलिए उसे स्वभाव नहीं होगा, ऐसा नहीं है। जड़ पदार्थ भी स्वभाववाले हैं। पूरा लोक सूक्ष्म परिणमन करे तो एक प्रदेश में उन सबको अवगाहन देने की सामर्थ्य आकाशद्रव्य में है। ऐसी आकाश की सामर्थ्य है, ऐसा आकाश स्वयं नहीं जानता। जाननेवाला तो आत्मा है।

अहो! आकाश की अनन्तता की मुझे खबर है, ऐसा अपना अपार ज्ञानस्वभाव रागरहित स्वीकार किया, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। समस्त जीव, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों को आकाश अवगाहन देता है। ●●

ऐसा धन्य अवसर कब प्राप्त होगा ?

चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं है, धर्मात्मा श्रावक वैराग्यभावसहित सदा मुनिदशा की भावना भाता है।

तीर्थङ्करादि महापुरुष जिस चारित्र पन्थ में विचरण करके मोक्ष गये.... महापुरुषों के उस मार्ग में हम भी कब विचरेंगे, ऐसा धन्य अवसर हमारा कब आएगा। सम्पूर्ण प्रकार का बाह्याभ्यन्तर बन्धन या परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रन्थरूप मुनि होकर और केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करें। अहा! ऐसा अपूर्व अवसर हमारा कब आएगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन,

५/४४८

गाथा - ९१

जीवा पुद्गलकाया धम्माधम्मा य लोकादोऽणण्णा ।

ततो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥९१॥

जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च लोकतोऽनन्ये ।

ततोऽनन्यदन्यदाकाशमंतव्यतिरिक्तम् ॥९१॥

लोकाद्बहिराकाशसूचनेयम् । जीवादीनि शेषद्रव्याण्यवधृतपरिमाण-
त्वाल्लोकादनन्यान्येव । आकाशं त्वनंतत्वाल्लोकादनन्यदन्यच्चेति ॥९१॥

जीव पुद्गल काय धर्म अधर्म लोक अनन्य हैं ।

अन्त रहित आकाश इनसे अनन्य भी अर अन्य भी ॥९१॥

अन्वयार्थ :- [जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च] जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) [लोकतः अनन्ये] लोक से अनन्य है; [अंतव्यक्तिरिक्तम् आकाशम्] अन्त रहित ऐसा आकाश [ततः] उससे (लोक से) [अनन्यत् अन्यत्] अनन्य तथा अन्य है।

टीका:-यह लोक के बाहर (भी) आकाश होने की सूचना है।

जीवादि शेष द्रव्य (-आकाश के अतिरिक्त द्रव्य) मर्यादित परिमाणवाले होने के कारण लोक से *अनन्य ही हैं; आकाश तो अनन्त होने के कारण लोक से अनन्य तथा अन्य है ॥९१॥

* यहाँ यद्यपि सामान्यरूप से पदार्थों का लोक से अनन्यपना कहा है। तथापि निश्चय से अमूर्तपना, केवलज्ञानपना, सहजपरमानन्दपना, नित्यनिरंजनपना इत्यादि लक्षणों द्वारा जीवों को इतर द्रव्यों से अन्यपना है और अपने-अपने लक्षणों द्वारा ईतर द्रव्यों का जीवों से भिन्नपना है, ऐसा समझना।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार

अब लोक के बाहर अलोकाकाश है, उसका स्वरूप कहते हैं।

आकाश लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का है। जिसमें जीवादि पाँच द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं। अलोकाकाश एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक से पृथक् नहीं और अलोकाकाश में पाँच द्रव्य नहीं, ऐसी अपेक्षा लो तो अलोकाकाश लोक से पृथक् है, अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है और लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि लोकाकाश का क्षेत्र किंचित्मात्र है, उसमें जीवादि पदार्थ किस प्रकार समा सकते हैं? पाँच रुपये समावे, वैसी थैली में पाँच हजार रुपये किस प्रकार समा सकते हैं?

उत्तर - एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी आकाश में सहज अवगाहनस्वभाव से अनन्त जीवादि पदार्थ समा जाते हैं। वस्तु का स्वभाव वचनगम्य नहीं है। सर्वज्ञदेव जानते हैं, इसलिए जो अनुभवी है, वह सन्देह उत्पन्न नहीं करता। वस्तुस्वरूप में सदा निश्चल होकर आत्मिक अनन्त सुख अनुभव करता है।

(१) आकाश का क्षेत्र लो तो अनन्त-अनन्त है। लोक के पश्चात् अलोक है, लोक संग्रहात्मक है। तत्पश्चात् कोई दीवार आती होगी। फिर बाद में कुछ है? नहीं, बाद में कुछ नहीं, मात्र खाली भाग है। दशों दिशा में अमाप-अमाप अनन्त-अनन्त क्षेत्र का ख्याल आता है। उसका कहीं अन्त नहीं है। ऐसे क्षेत्र स्वभाव की अचिन्त्यता और अनन्तता का ख्याल आता है। कोई नास्तिक भी विचार करता है तो है... है... ऐसा तो कहे। तर्क करे तो ख्याल में आता है। यह क्षेत्र क्या है? अनन्त अपार, जिसका पार नहीं, उसका अस्तित्व स्वीकार करे तो ख्याल आवे, न्याय की बात कही जाती है। कहीं क्षेत्र का अन्त है? लोग (जिसे) आकाश कहते हैं, उसकी बात नहीं है। वह तो

रूपी है। यहाँ तो अरूपी आकाश की बात चलती है। अरूपी आकाश के प्रदेशों की श्रेणी दशों दिशा में चली जाती है। एक परमाणु जितनी जगह रोके, उसे एक प्रदेश कहते हैं, उस प्रदेश से मापा जाये तो आकाश अनन्त प्रदेशी है। क्षेत्र अमाप है। तर्क से ना किया जाये ऐसा नहीं है। जो आकाश प्रदेश है, उसकी हद नहीं, दसों दिशाओं में अनन्त है। इस प्रकार आकाश के अनन्त प्रदेशी क्षेत्र के अस्तित्व की बात की।

(२) अब उसके स्वभाव की बात करते हैं। उस क्षेत्र का स्वभाव कैसा है? अनन्त जीव, पुद्गल इत्यादि पदार्थों को अवगाहन दे, ऐसी उसकी अवगाहनशक्ति है। लोक के पदार्थ सूक्ष्म परिणमन करे तो सबको एक प्रदेश में जगह दे सके, ऐसी अचिन्त्य अवगाहनशक्ति आकाश में है। यह अवगाहन स्वभाव की अनन्तता हुई।

(३) अब आकाश है, वह कब से है? उसे आदि नहीं तथा अन्त भी नहीं। इस प्रकार काल से भी अनन्तता है।

(४) यह सब अनन्तता का स्वीकार कौन करता है? ज्ञान इन सब अनन्तता को जानता है। निचलीदशा में राग होता है, परन्तु राग को उस अनन्तता की खबर नहीं है। ज्ञान उसे जानता है, छद्मस्थ जीव की ज्ञानपर्याय असंख्य समय में अनादि-अनन्त काल का ख्याल करती है, अनन्त क्षेत्र का ख्याल करती है। लोक में रहे हुए अनन्त जीवादि पदार्थों का तथा उन पदार्थ के बिना अलोक का ख्याल करती है, इतनी सत्ता को ज्ञानपर्याय स्वीकार करती है।

(५) एक ज्ञानपर्याय में इतनी सत्ता को स्वीकार करने का अचिन्त्य सामर्थ्य है तो अनन्त-अनन्त पर्याय के पिण्डरूप एक ज्ञानगुण का सामर्थ्य तो अनन्त समझना। ज्ञानगुण है, वैसे ही दूसरे श्रद्धा, अस्तित्व आदि गुण भी हैं। ऐसे अनन्त गुणों का पिण्डरूप आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवान है। ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार आत्मा पर के अभावस्वभावरूप, विकार और पर के आधार बिना का, पर की सत्तारहित, अनन्त निर्मल पर्याय का धारक शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, ऐसा स्वीकार होता है।

(६) ऐसा निर्णय करने से साधक जीव को ख्याल आता है कि वर्तमान में मुझे राग होने से प्रत्यक्षरूप से सभी पदार्थों को देख नहीं सकता, परन्तु राग टालकर स्वभाव

में सम्पूर्ण स्थित होकर परिपूर्णता को प्राप्त सर्वज्ञ अनन्त होने चाहिए। मेरी तरह स्वरूप को साधनेवाले साधक भी हैं और वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा नहीं स्वीकार करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव भी हैं। वे राग को और विकार को स्वीकार करते हैं तो उसके निमित्तरूप कर्म भी जगत में हैं, ऐसा सब ख्याल आ जाता है।

(७) प्रथम वस्तुस्वरूप की समझ नहीं थी, समझ होने पर ज्ञानपर्याय ने पलटा मारा कि अहो! इस जगत में आकाशद्रव्य, क्षेत्र से, काल से, भाव से, अनन्ततावाला है, उसकी स्वीकृति मेरा ज्ञान करता है। वह कार्य ज्ञान की पर्याय में होता है तो ज्ञान को पर्याय में समझरूपी कार्य होने का कारण कौन है? कारण तो गुणों का समुद्र ऐसा आत्मा है। अहो! मेरा आत्मा तो अनन्त गुणों से भरपूर है। मेरा ज्ञानस्वभाव अचिन्त्य है, ऐसी महिमा आने पर स्वभावबुद्धि होती है और पर्यायबुद्धि उड़ जाती है, यही धर्मदशा की शुरुआत है।

किस द्रव्य की ना की जा सके, ऐसा है? एक की हाँ करने पर सबकी हाँ होती है। जड़ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और स्वभाव का माप करनेवाला ज्ञान है। रागवाले ज्ञान को असंख्य समय लगते हैं परन्तु राग निकल जाने पर सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है, वह सभी द्रव्यों को प्रत्यक्ष एक समय में जानता है, वह ज्ञान परपदार्थों तथा निमित्त के कारण नहीं होता। तथा आकाश की अपारता और अनन्तता के कारण नहीं होता। ज्ञान तो अन्तर्मुख दृष्टि करने पर प्रगट होता है। ऐसे अमाप चैतन्यस्वभावी सूर्य का माप नहीं!!

(१) एक परमाणु की सामर्थ्य एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड में पहुँच जाये, उतनी है। और भाव में भी उतनी ताकत है। एक गुणा स्निग्ध परमाणु एक समय में अनन्तगुणा स्निग्ध हो जाता है और अनन्तगुणे में से एक गुणा हो जाता है, ऐसी ताकत पुद्गलपरमाणु की है।

(२) धर्मास्तिकाय की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त आत्मा और पुद्गल एकसाथ गति करे तो भी वह सबको गति में निमित्त होता है।

(३) अधर्मास्तिकाय की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त आत्मा और पुद्गल एक

समय में गतिपूर्वक स्थिर हों तो भी वह सबको स्थिरता में निमित्त होता है।

(४) आकाश की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्तानन्त चेतन और जड़ सबको एकसाथ अवकाश दे। अनन्त मेरु जितने परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमे तो एक प्रदेश में समा दे, ऐसी सामर्थ्य है।

(५) काल की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त जड़ और चेतन द्रव्यों को परिणमन में एकसाथ निमित्त होता है।

(६) इन सबकी सामर्थ्य को जाननेवाला जीव है। अनन्त लोकालोक होते तो भी एक समय में उन सबको जान लेने का जीव का स्वभाव है, इसलिए जीव की महिमा है।

जड़ में भाव अनन्त हैं, परन्तु उनका माप करनेवाला चिदानन्द आत्मा है। द्रव्यस्वभाव तो अमाप है, परन्तु सर्वज्ञपर्याय का स्वभाव भी अमाप है।

(१) राग और व्यवहार में रूकना, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं।

(२) और जगत के पदार्थ हैं, इसलिए ज्ञान है, ऐसा नहीं है।

(३) और शुभरागादि का व्यवहार है, इसलिए ज्ञानस्वभाव है, ऐसा नहीं है तथा उसके कारण ज्ञानस्वभाव प्रगट नहीं होता।

(४) अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से ज्ञान प्रगट हो, ऐसा है। अहो! ज्ञानस्वभाव की क्या महिमा! जो जिसका स्वभाव होता है, उसकी क्या मर्यादा! यह सब जड़ के अपार स्वभाव को जाननेवाली तो ज्ञानपर्याय है। यह कार्यदशा की बात चलती है। ज्ञान की कार्य दशा भी बेहद है। कार्य तो एक समय का है, एक कार्य पलटकर नया कार्य उत्पन्न होता है। ज्ञानदशारूपी कार्य का कारण तो ज्ञान और वीतरागता की मूर्ति ऐसा आत्मा है। उसका अवलम्बन लेने से स्वाभाविक ज्ञानदशा प्रगट होती है।

कोई पूछता है कि यह सब अनन्तता का स्वभाव बुद्धिगम्य है?

समाधान - हाँ, बुद्धि अर्थात् ज्ञानगम्य है। यह क्षेत्र है, है और है... ऐसा क्या ख्याल आता नहीं? क्षेत्र का अन्त नहीं। काल को आदि-अन्त नहीं, स्वभाव भी अनन्त

सामर्थ्यवाला है। इस प्रकार क्षेत्र से, काल से और स्वभाव से अनन्तता है, ऐसी जड़ को खबर नहीं है, उस सबको जाननेवाला ज्ञान है। अहो! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है। जड़ द्रव्य के अनन्त क्षेत्र को, अनन्त काल को और अनन्त सामर्थ्यवान उससे स्वभाव को जाननेवाला तू है। तू भी आदि-अन्त बिना का है, तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसे यहाँ शास्त्र तेरी ज्ञानस्वभाव की महिमा के गीत गाते हैं।

कोई पूछे कि गज बड़ा या कपड़े का थान बड़ा? ऊपरी दृष्टि से देखनेवाला कहेगा कि थान बड़ा है, परन्तु यह भूल है। पूरा थान मप जाता है, थान के माप का अन्त आता है, परन्तु गज कम नहीं होता। इसलिए गज बड़ा है। और कोई पूछे कि पैर बड़े या पृथ्वी बड़ी? ऊपरी दृष्टि से देखनेवाला कहेगा कि पृथ्वी बड़ी है परन्तु वह भूल है। पृथ्वी पैर से मापने पर पूरी हो जाती है परन्तु पैर समाप्त नहीं होते, इसलिए पैर बड़े हैं। ये बाह्यदृष्टान्त समझाने के लिये दिये हैं। उसी प्रकार कोई पूछता है कि लोकालोक बड़ा या तू बड़ा? ऊपरी दृष्टिवाला कहेगा कि लोकालोक बड़ा है, परन्तु वह भूल है। तेरे ज्ञानरूपी गज से मापने पर लोकालोक का माप आ जाता है अर्थात् पूरा हो जाता है। परन्तु ज्ञान कम नहीं होता, अनन्त लोकालोक को जान ले, ऐसा तू है, इसलिए तू बड़ा है।

देखो! इस गाथा में लोक-अलोक साबित किये, जो क्षेत्र अवगाहन स्वभाव से अपार है और द्रव्य भी अपार है। वह लोक है और जिस क्षेत्र में अन्य द्रव्य नहीं परन्तु अकेला आकाश है, वह अलोक है। अलोक अनन्त प्रदेशी है और लोक असंख्य प्रदेशी है, परन्तु उसे जानने की सामर्थ्य निमित्त की नहीं, शुभराग की नहीं, इसलिए निमित्त और शुभराग आदरणीय नहीं। एक ज्ञानपर्याय में सबको जानने की ताकत है, उस पर्याय का कारण पर्याय नहीं, पर्याय का कारण त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है, इसलिए पर्याय आदरणीय नहीं, अकेला शुद्ध द्रव्यस्वभाव आदरणीय है। इस गाथा का हेतु रागरहित अचिन्त्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कराने का है।

क्षेत्र से अनन्तता, भाव से अनन्तता, काल से अनन्तता इत्यादि को जाननेवाला आत्मस्वभाव है और पर्याय में होते रागादि विकल्पों को जाननेवाला भी आत्मा है। राग तो एक समय की पर्याय में है। रागरहित ज्ञानस्वभाव की महिमा आने पर स्वयं अपने

में रहकर स्व और पर दोनों का माप करनेवाला है। स्वयं भी स्वज्ञेय है और अपने में रहा हुआ स्व-पर ज्ञेयों को जानता है।

वस्तुस्वरूप वचनगम्य नहीं है, परन्तु ज्ञानगम्य है। वस्तु के आशय की खबर नहीं। वचन के पीछे रहा हुआ आशय ज्ञान पकड़ता है, उस ज्ञान द्वारा साधक जीव निर्णय करता है। मैं इतना कार्य कर सकता हूँ तो बढ़कर पूर्ण होऊँगा। ऐसे पूर्ण हुए सर्वज्ञ जीव भी हैं। साधक भी हैं। ज्ञानस्वभाव से विरुद्ध माननेवाले बाधक भी हैं, वे रागादि में परिणम रहे हैं, उसे निमित्तरूप कर्म का आवरण है। उसमें कर्मों के परमाणु भाव से अनन्त भाववाले हैं, उन सबको जाननेवाला ज्ञानस्वभाव अनन्त शक्तिवाला आत्मा मैं हूँ, ऐसी दृष्टि होना इस गाथा का सार है।

सर्वज्ञदेव जानते हैं, परन्तु किसी का कुछ करते नहीं तथा किसी को कुछ देते नहीं, तो फिर बोधपाहुड़ गाथा २४ में कहा है कि—

देव किसे कहते हैं ? जो दे अथवा प्रदान करे, उसे देव कहते हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार को दे, वह देव है। उसका आशय क्या है ?

समाधान यह है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के दातार देव हैं। अर्थात् कि उसमें निमित्त है, यह न्याय से कहा जाता है।

ज्ञान अथवा मोक्ष - कोई मनुष्य भिखारी के पास जाये तो भिखारी लक्ष्मी मिलने में निमित्तरूप नहीं होता, परन्तु लक्ष्मीवान लक्ष्मी मिलने में निमित्त होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञदेव का निमित्त मिलने पर पात्र जीव ख्याल करता है कि जो दशा मुझे प्रगट करनी है, वैसी दशा भगवान की है। भगवान ने वह दशा आत्मा के अवलम्बन से प्रगट की है, उसी प्रकार मैं भी मेरे आत्मा के अवलम्बन से वह दशा प्रगट कर सकूँ, ऐसा हूँ। सर्वज्ञ तथा मैं समान हैं, भगवान भी ऐसा कहते हैं कि तू सर्वज्ञ है। शरीर, मन, वाणी, तेरा स्वरूप नहीं तथा अल्पज्ञता तेरा स्वरूप नहीं, ऐसा भगवान ने कहा, उसे शिष्य ने जाना और प्रतीति की, इस प्रकार सर्वज्ञ के पास साधकदशा की प्रार्थना करता है, इस प्रकार देव के निमित्त से शिष्य को सच्चा ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान होने पर मोक्ष होता है, इसलिए भगवान ने ज्ञान दिया अथवा मोक्ष दिया, ऐसा कहा जाता है।

धर्म - भगवान के निमित्त से जिसे यथार्थ भान हुआ है, ऐसे साधक जीव को सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो, तब तक शुभराग होता है। उसके कारण पुण्य बँधता है, उसमें भगवान निमित्त है। इसलिए भगवान पुण्य के दातार हैं, ऐसा कहा जाता है।

किसी धर्मी जीव को शुभराग की भूमिका में तीर्थकरपुण्यप्रकृति बँधती है, वह भी तीर्थकरदेव ने दी, ऐसा कहा जाता है।

काम-भोग - जो पुण्यप्रकृति साधक जीव को बँधी है, उसके फल में उसे लक्ष्मी इत्यादि बाहर के पदार्थों की प्राप्ति होती है, इसलिए भगवान काम-भोग के देनेवाले हैं, ऐसा कहा जाता है।

ये चारों बातें धर्मी को लागू पड़ती हैं, उसे चारों की पृथक्ता का भान है और आत्मस्वभाव का भी भान है। अज्ञानी को चार की पृथक्ता का तथा आत्मा का भान नहीं है, उसे ज्ञान या मोक्ष तो नहीं परन्तु ऐसा पुण्य भी नहीं होता। जिसे भान होता है, उसे यह चारों देव ने दिये, ऐसा कहा जाता है। दिव्यशक्ति जिसे खिल गयी है, वह देव है। वह शक्ति पात्रता बिना नहीं खिल सकती, और पात्र जीव सर्वज्ञ के निमित्त से खिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञपद के और तीर्थकरप्रकृति के देनेवाले सर्वज्ञदेव हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दे, उसे देव कहते हैं।

यहाँ इस गाथा में बात आयी कि वस्तु का स्वभाव वचनगम्य नहीं, परन्तु ज्ञानगम्य है। ज्ञानस्वभाव सबको जान न ले तो वह ज्ञानस्वभाव नहीं। द्रव्यों की अपारता, क्षेत्र की अपारता, प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव की अपारता का सम्पूर्ण प्रत्यक्षरूप से ख्याल करनेवाले सर्वज्ञदेव हैं, इसके अतिरिक्त कोई नहीं। वह सर्वज्ञपद आत्मा में से प्रगट होता है। ऐसा निर्णय करनेवाले को अपने चैतन्यस्वभाव की अगाधता का ख्याल आता है। इस प्रकार साधक जीव वस्तुस्वरूप में निश्चल होते हैं। ऐसा यह कैसे? ऐसी शंका ज्ञान का अनुभव करनेवाले को नहीं रहती। वस्तु जैसी है, वैसी है। अपने ज्ञानस्वभाव की अपारता का ख्याल आने पर ज्ञेयों की अपारता का ख्याल आ जाता है। इस प्रकार रागरहित ज्ञानस्वभाव का वेदन करना, वह धर्म है।



आगासं अवगासं गमणटिठदिकारणेहिं देदि जदि।

उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिदठंति किध तत्थ ॥९२॥

आकाशमवकाशं गमनस्थितिकारणाभ्यां ददाति यदि।

ऊर्ध्वगतिप्रधानाः सिद्धाः तिष्ठन्ति कथं तत्र ॥९२॥

आकाशस्यावकाशैकहेतुर्गतिस्थितिहेतुत्वशङ्कायां दोषोपन्यासोऽयम्। यदि खल्वाकाशमवगाहिनामवगाहहेतुरिव गतिस्थितिमतां गतिस्थितिहेतुरपि स्यात् तदा सर्वोत्कृष्टस्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवन्तः सिद्धा बहिरङ्गन्तरङ्गसाधनसामग्र्यां सत्यामपि कुतस्तत्राकाशे तिष्ठन्ति इति ॥९२॥

अवकाश हेतु नभ यदि गति-स्थिति कारण भी बने।

तो ऊर्ध्वगामी आत्मा लोकान्त में जा क्यों रुके ॥९२॥

अन्वयार्थ :- [यदि आकाशम्] यदि आकाश [गमनस्थितिकारणाभ्याम्] गति-स्थिति के कारण सहित [अवकाशं ददाति] अवकाश देता हो (अर्थात् यदि आकाश अवकाशहेतु भी हो और गतिस्थितिहेतु भी हो) तो [ऊर्ध्वगतिप्रधानाः सिद्धाः] ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध [तत्र] उसमें (आकाश में) [कथम्] क्यों [तिष्ठन्ति] स्थिर हों? (आगे गमन क्यों न करें?)

टीका:-जो मात्र अवकाश का ही हेतु है, ऐसा जो आकाश उसमें गतिस्थितिहेतुत्व (भी) होने की शंका ही जाये तो दोष आता है, उसका यह कथन है।

यदि आकाश, जिस प्रकार *अवगाहवालों को अवगाहहेतु है उसी प्रकार, गतिस्थितिवालों को गति-स्थितिहेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्धभगवन्त, बहिरंग-अन्तरंग साधनरूप सामग्री होने पर भी क्यों (-किस कारण) उसमें-आकाश में-स्थिर हों? ॥९२॥

* अवगाह=लीन होना; मज्जित होना; अवकाश पाना।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार

अब कोई प्रश्न करे कि धर्म-अधर्मद्रव्य गति-स्थिति में कारण कैसे कहते हो ? गति-स्थिति में कारण आकाश को कैसे नहीं कहते ? ऐसा प्रश्न करनेवाले में क्या दोष है, वह बताते हैं ।

यदि गति-स्थिति का कारण आकाशद्रव्य है, ऐसा माना जाये और धर्म-अधर्म का अभाव माना जाये तो सिद्धपरमेष्ठी अलोक में भी चले जायें, परन्तु ऐसा नहीं बनता, क्योंकि अलोक में धर्म-अधर्म नहीं है । यहाँ निमित्त साबित करना है ।

(१) यदि जीव अल्पज्ञदशावाला सदा रहा ही करे तो कभी पूर्णदशा प्राप्त नहीं कर सकता । (२) पूर्णदशा प्राप्त होने के पश्चात् ऐसा का ऐसा गमन किया ही करे तो कहीं स्थिर रहेगा नहीं । जो सिद्ध जीव ऐसा का ऐसा चलता जाये तो गति का कार्य पूरा हुआ नहीं कहलाये, सिद्ध भगवान को गतिरूप कार्य की भी कृतकृत्यता हो गयी है, इसलिए एक समय में ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोकाग्र में पहुँच जाते हैं और वहाँ रुक जाते हैं और निमित्तरूप से धर्म-अधर्मद्रव्य भी वहाँ तक हैं, इसलिए वे अलोकाकाश में नहीं जाते ।

सिद्ध भगवान को सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के परिणाम अन्तरंग साधन तो हैं और आकाश को गति में बहिरंग साधन माना जाये तो दोनों साधन होने पर भी सिद्ध भगवान लोकाग्र में क्यों रहते हैं और आगे क्यों नहीं जाते ? यदि गति के लिये आकाश बहिरंग साधन हो तो भगवान अलोक में जाना चाहिए (परन्तु) ऐसा नहीं बनता; इसलिए आकाश गति-स्थिति के लिये बहिरंग साधन नहीं; धर्म-अधर्म गति-स्थिति में निमित्त होते हैं । यही बहिरंग साधन है ।

धर्म-अधर्म अलोक में नहीं, लोक में है और इसलिए लोक की मर्यादा है ।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य देखे हैं। एक द्रव्य के गुण दूसरे के कारण हों तो छह द्रव्य नहीं रहते। आत्मा के गुण ज्ञान और आनन्द हैं, वे गुण जड़ के माने तो भेदज्ञान नहीं कर सकता और स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता।

छहों द्रव्य का कार्य अपने-अपने से है, एक के कारण से दूसरे का कार्य नहीं है। आत्मा का गुण जड़ में नहीं, जड़ का गुण आत्मा में नहीं। धर्म-अधर्म का कार्य आकाश में नहीं होता और आकाश का कार्य धर्म-अधर्म में नहीं होता। एक के कारण दूसरे में कार्य माना जाये तो छह द्रव्यों की स्वयं सिद्धता नहीं रहती, खिचड़ा हो जाता है अर्थात् कि अपने ज्ञान और श्रद्धा झूठे ठहरते हैं। यहाँ प्रश्न किया है कि धर्मद्रव्य चेतन तथा पुद्गल पदार्थों की गति में निमित्त होता है और अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होते हैं तो उस गति-स्थिति में निमित्त होने का कार्य आकाश करता है तो क्या बाधा? यदि ऐसा माना जाये तो द्रव्य पृथक् नहीं रहते।

(अब), लोकाग्र में सिद्धों की स्थिरता बतलाते हैं।

●●

अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार, पूर्ण सुख-सुविधाओं में जिनका पालन-पोषण हुआ हो, वे भी जब सम्यग्दर्शनसहित आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए वन में जाते हैं; तब कहते हैं — ‘माता! मुझे कहीं अच्छा नहीं लगता, मुझे जहाँ अच्छा लगता है, ऐसे अपने स्वरूप में ही मैं जाना चाहता हूँ। मेरा नाथ भगवान् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें आवरण, अशुद्धि या अपूर्णता नहीं है। मेरा ज्ञायक प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसके आनन्द को लूटने के लिए, अनुभवने के लिए मैं तो जाता हूँ। अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ६५२

गाथा - ९३

जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरहिं पण्णत्तं ।

तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि ति ॥९३॥

यस्मादुपरिस्थानं सिद्धानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।

तस्माद्गमनस्थानमाकाशे जानीहि नास्तीति ॥९३॥

स्थितिपक्षोपन्यासोऽयम् । यतो गत्वा भगवंतः सिद्धाः लोकोपर्यवतिष्ठन्ते, ततो गतिस्थितिहेतुत्वमाकाशे नास्तीति निश्चेतव्यम् । लोकालोकावच्छेदकौ धर्माधर्मावेव गतिस्थितिहेतू मंतव्याविति ॥९३॥

लोकान्त में तो रहे आत्मा अष्ट कर्म अभाव कर ।

तो सिद्ध है कि नभ गति-थिति हेतु होता है नहीं ॥९३॥

अन्वयार्थ :- [यस्मात्] जिससे [जिनवरैः] जिनवरों ने [सिद्धानाम्] सिद्धों की [उपरिस्थानं] लोक के ऊपर स्थिति [प्रज्ञप्तम्] कही है, [तस्मात्] इसलिए [गमनस्थानम्] आकाशे न अस्ति] गति-स्थिति आकाश में नहीं होती (अर्थात् गतिस्थितिहेतुत्व आकाश में नहीं है) [इति जानीहि] ऐसा जानो ।

टीका:- (गतिपक्ष सम्बन्धी कथन करने के पश्चात्) यह, स्थितिपक्ष सम्बन्धी कथन है ।

जिससे सिद्धभगवन्त गमन करके लोक के ऊपर स्थित होते हैं (अर्थात् लोक के ऊपर गतिपूर्वक स्थिति करते हैं), उससे गतिस्थितिहेतुत्व आकाश में नहीं हैं, ऐसा निश्चय करना; लोक और अलोक का विभाग करनेवाले धर्म तथा अधर्म को ही गति तथा स्थिति के हेतु मानना ॥९३॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

इस गाथा में आकाश से धर्म-अधर्मद्रव्य भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। जो वीतराग भगवन्त अशरीरीदशा को प्राप्त हुए, उनका निवासस्थान लोकाग्र में है। इसलिए वहाँ तक क्षेत्रान्तर होने में तथा वहाँ टिकने में निमित्तरूप होने का गुण आकाश का नहीं है। आकाश के गुणों से धर्म-अधर्म के गुण अलग हैं। आकाश में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण नहीं, ऐसा हे शिष्य! तू जान।

भावार्थ - शिष्य ने प्रश्न पूछा है कि धर्म-अधर्म की क्या आवश्यकता है? आकाश चेतन और पुद्गल के गमन-स्थिति में निमित्त हो तो क्या बाधा है?

उसका जवाब देते हैं कि यदि सिद्ध भगवान का गमन अलोक में हो तो आकाश में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण सम्भव हो सकता है। यदि उसमें वह गुण हो तो सिद्ध ऐसे के ऐसे चलते जाने चाहिए। परन्तु सिद्ध वहाँ जाते नहीं, वे तो लोकाग्र में रहते हैं। लोकाग्र से आगे जानेरूप कार्य नहीं होता, इसलिए उस कार्य में निमित्तकारणरूप गुण गति-स्थिति हेतु अलोक में नहीं है अर्थात् कि आकाश में वह गुण नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। इसीलिए गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण धर्म-अधर्मद्रव्य में ही है, क्योंकि धर्म-अधर्मद्रव्य लोकाकाश में है, आगे नहीं।

जिस प्रकार धर्म-अधर्म के कार्य आकाश नहीं कर सकता, ऐसा निश्चित हुआ, इस आधार से न्याय निकलता है कि किसी द्रव्य का कार्य दूसरा कोई द्रव्य नहीं कर सकता। उसी प्रकार आत्मा में अन्य के साथ घटित करना। आत्मा का कार्य गुरु कर दे, अनुकूल काल कर दे, शरीर कर दे, ऐसा माने, उसे पर से भिन्न करने का अवसर नहीं रहता। यदि आत्मा को मन, वाणी, देह की क्रिया से धर्म होता हो तो मन, वाणी, देह आत्मा में प्रविष्ट हो जाये। पर्याय में विकार कर्म के कारण होता हो तो कर्म और विकार एक हो जाये। जड़ से आत्मा को लाभ माना जाये तो आत्मा जड़ के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाये और जड़ आत्मा के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता।

यदि दया, दानादि के भाव से धर्म हो, ऐसा माना जाये तो विभाव और स्वभाव एक हो जाये। विभाव क्षणिक है, अशुद्ध है; स्वभाव त्रिकाल, शुद्ध है। इन दो के बीच मर्यादा नहीं रहती।

जो जीव पर से शरीर से और विकार से धर्म मानता है, उसे उन सबके साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है। उसे पर से पृथक् पड़ना नहीं सुहाता। पर से पृथक् पड़ना, वह मुक्ति है। इसलिए यहाँ बताते हैं कि आकाश, धर्म-अधर्म का कार्य करे तो सिद्ध लोकाग्र से दूर जाना चाहिए और कोई मर्यादा नहीं रहती, इसलिए प्रत्येक तत्त्व पृथक् है। धर्मद्रव्य, वह अधर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य आकाशरूप नहीं, आकाश धर्म-अधर्मरूप नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने से है, दूसरे से नहीं तथा आत्मा अपने से है और दूसरे पाँच द्रव्यरूप नहीं। और अनन्त आत्मा में एक आत्मा अपने से है और दूसरे से नहीं। एक आत्मा दूसरे का कार्य करे तो वह अपना क्षेत्र छोड़कर पर में चला जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता।

धर्म-अधर्म का काम आकाश नहीं करता, ऐसा सिद्ध करके भेदज्ञान कराते हैं। पंचास्तिकाय भेदज्ञान का कारण है। उसमें दृष्टि का विषय आ जाता है। ●●

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरो ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद -पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १२९

गाथा - ९४

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
 पसजदि अलोगहाणी लोगस्स च अंतपरिवड्ढी ॥९४॥
 यदि भवति गमनहेतुराकाशं स्थानकारणं तेषाम्।
 प्रसजत्यलोकहानिर्लोकस्य चांतपरिवृद्धिः ॥९४॥

आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वाभावे हेतूपन्यासोऽयम्। नाकाशं गतिस्थितिहेतुः लोकालोकसीमव्यस्थायास्तथोपपत्तेः। यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत, तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते, पूर्वं पूर्वं व्यवस्थाप्यमानश्चांतो लोकस्योत्तरोत्तरपरिवृद्ध्या विघटते। ततो न तत्र तद्वेतुरिति ॥९४॥

नभ होय यदि गति हेतु अर थिति हेतु पुद्गल जीव को।

तो हानि होय अलोक की अर लोक अन्त नहीं बने ॥९४॥

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि [आकाशं] आकाश [तेषाम्] जीव-पुद्गलों को [गमनहेतुः] गतिहेतु और [स्थानकारणं] स्थितिहेतु [भवति] हो तो [अलोकहानिः] अलोक की हानि का [च] और [लोकस्य अंतपरिवृद्धिः] लोक के अन्त की वृद्धि का [प्रसजति] प्रसंग आए।

टीका:-यहाँ, आकाश को गतिस्थितिहेतुत्व का अभाव होने सम्बन्धी हेतु उपस्थित किया गया है।

आकाश गति-स्थिति का हेतु नहीं है, क्योंकि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है। यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जाए, तो आकाश को सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गतिस्थिति की कोई सीमा नहीं रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोक का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि पाने से लोक का अन्त ही टूट जायेगा (अर्थात् पहले-पहले निश्चित हुआ लोक का अन्त फिर-फिर आगे बढ़ते जाने से लोक का अन्त ही नहीं बन सकेगा)। इसलिए आकाश में गति-स्थिति का हेतुत्व नहीं है ॥९४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

इस गाथा में लोक-अलोक के बीच भेदज्ञान कराते हैं।

यदि धर्म-अधर्मद्रव्य नहीं और आकाशद्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन-स्थिति में सहकारी कारण है।—ऐसा माना जाये तो अलोकाकाश का नाश होगा और लोक की वृद्धि होगी।

भावार्थ - आकाश जीव-पुद्गलों को गति-स्थिति का कारण नहीं है क्योंकि यदि गति-स्थिति में आकाश कारण हो तो जीव और पुद्गल अलोक में चले जायें और इसलिए लोक-अलोक की मर्यादा रहे नहीं। लोक-अलोक के बीच भेद करनेवाला धर्म-अधर्मद्रव्य है। लोक और अलोक के भेद तो अनादि से है, परन्तु प्रत्येक के गुण का कार्य भिन्न बतलाना है, इसलिए कहा कि आकाश में गति-स्थितिगुण का अभाव है। यदि ऐसा न हो तो अलोकाकाश का अभाव हो तथा लोकाकाश असंख्य प्रदेश प्रमाणवाला धर्म-अधर्मद्रव्य से बड़ा हो जाये अथवा समस्त अलोकाकाश में जीव-पुद्गल फैल जायें। इसलिए गति-स्थितिगुण आकाश का नहीं, परन्तु धर्म-अधर्म का है।

यहाँ कहा कि जीव और पुद्गल गति किया करे तो असंख्य योजन तक जाये परन्तु अनन्त योजन तक नहीं जाते। यदि अनन्त योजन तक जाये तो लोक-अलोक के क्षेत्र की मर्यादा नहीं रहती। अलोक का अभाव हो और लोक बढ़ जाये, परन्तु ऐसा नहीं होता। उसकी मर्यादा असंख्य प्रदेशी लोकाकाश में असंख्य योजन तक की है। यह दृष्टान्त आत्मा में घटित करते हैं।

मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, शरीर, मन, वाणी पर है और विकार एक समय की अशुद्धता है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव में अशुद्धता नहीं है, ऐसा भान करके साधक जीव को मुक्तदशा प्राप्त करने में अनन्त काल लगे तो मुक्ति के अभाव का प्रसंग आवे। जैसे दृष्टान्त में अलोक के अभाव का प्रसंग आता था, उसी प्रकार यहाँ मुक्ति के

अभाव का प्रसंग आवे। परन्तु जैसे जड़ तथा चेतन पदार्थों को गति करने में लोक के असंख्य प्रदेश ही निमित्त हैं, अनन्त प्रदेश निमित्त नहीं, उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव का साधन करके मुक्तदशा पावे तो असंख्य समय ही लगे, अनन्त समय नहीं लगते। साधक जीव को केवलज्ञान लेने में अनन्त समय नहीं होते, असंख्य समय में ही वह केवलज्ञान प्राप्त करता है।

कोई कहता है कि जो जीव सम्यक्त्व से गिर जाते हैं, उन्हें अर्धपुद्गल परावर्तन काल तो होता है और नरक-निगोद के भव भी होते हैं। तो उसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि समकित को वमन कर डाला, इसलिए साधक नहीं रहता, वह बाधक में जाता है। यहाँ तो स्वभाव का भान करके जो साधक रहता है, उसकी बात चलती है। उसे एक-दो भव लगे तो भी वह असंख्य समय है, अनन्त काल से भटका है, भटकते हुए अनन्त समय लगे परन्तु भान होने के पश्चात् केवल (ज्ञान) प्राप्त करने में असंख्य समय ही लगते हैं।

यहाँ गाथा में बताते हैं कि जीव-पुद्गलों को गति-स्थिति में आकाश को निमित्त माना जाये तो निम्न दोष आते हैं—

(१) सिद्ध को ऊपर जाने के लिये एक समय ही लगता है, ऐसा नियम है। यदि सिद्ध अनन्त अलोक में चले जायें, ऐसा माना जाये तो उन्हें ऐसा का ऐसा चलते-चलते अनन्त समय होंगे।

(२) सिद्ध को ऐसा का ऐसा गति करना बाकी रहा, इसलिए सिद्ध की गतिरूप कार्य की कृतकृत्यता नहीं हुई।

(३) लोक के द्रव्य अलोक में जाने से समस्त जीव-पुद्गल वहाँ फैल जाने से अलोक के अभाव का प्रसंग आयेगा।

(४) लोक की मर्यादा असंख्य प्रदेश की है, वह मर्यादा टूट जायेगी और लोक बढ़ जायेगा।

इस प्रकार दोष आते हैं। इसलिए गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण आकाश

का नहीं है। और आकाश को मर्यादा नहीं है, और सिद्ध चलते जाते कहीं रुक जाते हैं, ऐसी तू मर्यादा करने जायेगा तो तब भी उस कार्य को दूसरे द्रव्य के गुण का कार्य मानना पड़ेगा, क्योंकि आकाश तो अमर्यादित है और सिद्ध चाहे जहाँ रुकेंगे तो वहाँ दो भाग हो जायेंगे। और आकाश अमर्यादित होने से गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण आकाश का नहीं है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार सिद्ध को गति-स्थिति करने में धर्म-अधर्मद्रव्य निमित्त है, ऐसा स्थापित करना पड़ेगा। इसलिए जहाँ तक धर्म-अधर्मद्रव्य अपने असंख्य प्रदेशों में स्थिति है, वहाँ तक लोकाकाश है और वहाँ तक गमन-स्थिति है।

●●



गणधर भी जिन्हें वन्दन करते हैं

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं, जैसे — गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि; इस प्रकार भगवान का मार्ग तो तलवार की धार जैसा अर्थात् दुःखरूप है, दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

बापू! तुझे पता नहीं है, तुझे सत्पुरुषों के चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है, क्योंकि तूने तो चारित्र को दुःखरूप माना है। जबकि चारित्र तो सुखरूप दशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सम्यक् दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति आनन्द का धाम मेरी वस्तु है — ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ उसमें आनन्दमय रमणता होती है अर्थात् आनन्दसहित सुखाकार-स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

गाथा - ९५

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठदिकारणाणि णागासं ।
 इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥९५॥
 तस्माद्धर्माधर्मौ गमनस्थितिकारणे नाकाशम् ।
 इति जिनवरैः भणितं लोकस्वभावं शृण्वताम् ॥९५॥
 आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वनिरासव्याख्योपसंहारोऽयम् । धर्माधर्मावेव गतिस्थितिकारणे
 नाकाशमिति ॥९५॥

इसलिए गति थिति निमित्त आकाश हो सकता नहीं ।

जगत के जिज्ञासुओं को यह कहा जिनदेव ने ॥९५॥

अन्वयार्थ :- [तस्मात्] इसलिए [गमनस्थितिकारणे] गति और स्थिति के कारण
 [धर्माधर्मौ] धर्म और अधर्म है, [न आकाशम्] आकाश नहीं है। [इति] ऐसा
 [लोकस्वभावं शृण्वताम्] लोकस्वभाव के श्रोताओं से [जिनवरैः भणितम्] जिनवरों
 ने कहा है।

टीका:-यह आकाश को गतिस्थितिहेतुत्व होने के खण्डन सम्बन्धी कथन का
 उपसंहार है।

धर्म और अधर्म ही गति और स्थिति के कारण हैं, आकाश नहीं ॥९५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

अब, आकाश का गति-स्थितिकारण गुण नहीं है, ऐसा संक्षेप से बतलाते हैं ।
 युक्ति से बात सिद्ध करने के पश्चात् कहते हैं कि भगवान भी ऐसा ही कहते हैं,
 यह बताते हैं ।

वर्तमान सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं और पूर्व में महावीर

भगवान यहाँ तीर्थकररूप से थे। उनकी दिव्यध्वनि को जो सुननेवाले थे, उन्हें भगवान ने ऐसा कहा कि धर्म-अधर्मद्रव्य गमन और स्थिति में निमित्त कारण है। आकाश गमन-स्थिति में कारण नहीं। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसा लोक का स्वभाव है। भगवान ने छह द्रव्य पृथक्-पृथक् कहे हैं। यदि तू शरीर से आत्मा का कार्य माने और तेरे ज्ञान के लिये शरीर, मन, पुस्तक आदि की आवश्यकता पड़ती है, ऐसा मानेगा तो तेरे गुण की हानि होगी। किसी का कार्य किसी से नहीं होता। परन्तु भव्य जीवों को भगवान ने बात की है, अभव्य तो भगवान के समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकते। गोरडू मूँग लाखों मण पानी में सीझावे तो सीझता नहीं परन्तु बिखरकर चूरा होता है, इसी प्रकार अभव्य जीव को सच्चा उपदेश मिले तो भी वह ज्ञान से पिघलता नहीं। परन्तु पुण्य-पाप से पिघलना चाहता है। ऐसे अभव्य जीव क्रियाकाण्ड करके चूरा हो और पुण्य-परिणाम से स्वर्गादि में जाये परन्तु वापस पाप करके नरक में जाते हैं, चार गति की भटकाभटक में से नहीं छूटते।

भगवान भव्य जीवों को बात सुनाते हैं। (सम्यक् प्रकार से भव्य जीव बारह सभारूप से इकट्ठे हों, उसे समवसरण कहते हैं।) भगवान कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! जैनदर्शन, वह वस्तुदर्शन है, वह स्वभाव—स्वरूप है। आकाश अनन्त द्रव्यों को अवगाहन दे, ऐसे स्वभाववाला है, धर्म अनन्त जीव-पुद्गलों को गति में निमित्त हो, ऐसे स्वभाववाला है। अधर्म गतिपूर्वक अनन्त जीव-पुद्गलों को स्थिति में निमित्त हो, ऐसे स्वभाववाला है। काल अनन्त को परिणमन में निमित्त होता है। परमाणु एक समय में चौदह राजूलोक जाये ऐसा तथा स्पर्शादि की तारतम्यता में अनन्त प्रकार के भाववाला है और जीव अकेला ज्ञानानन्दस्वभावी स्व और पर सबको जाननेवाला है। इस प्रकार छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसा ज्ञान करके पर से पृथक्ता-विभक्तता और स्व से एकत्वपना साधता है, वह जीव धर्मी है, उसने भगवान की वाणी सुनी है।

जो जीव किसी भी एक द्रव्य का स्वभाव उड़ावे, धर्म-अधर्म के गति-स्थितिहेतुत्व गुण को उड़ावे और काल को उड़ावे, वह जीव पर से भिन्नता और स्व में एकत्व नहीं करता। पर से भिन्न हुए बिना स्व में एकत्व नहीं होता।

एक परमाणु चौदह राजूलोक तक किसी की भी सहायता बिना एक समय में

जाये, उसका कारण ? कारण उसका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। जो स्वभाव होता है, वह जाता नहीं और जो नया होता है, वह स्वभाव नहीं कहलाता। राग-द्वेष में अटकना, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं। सच्ची समझ होने पर ज्ञानपर्याय ने अपने ज्ञानस्वभाव में गमन किया और पर से विभक्त हुई, राग-द्वेष से विभक्त होकर स्वभाव में एकत्व किया, उसने भगवान की वाणी सुनी है। जिस जीव ने वाणी सुनने पर भी स्वभाव को नहीं जाना, उसे ये बात जँची नहीं। उसे वाणी सुननेवाला नहीं कहा। जिसने अपने स्वभाव को जाना, उसने वाणी सुनी है, ऐसा कहा है। छह द्रव्य का स्वरूप भगवान इच्छारहित रूप से कहते हैं, वाणी तथा भगवान को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होने से भगवान ने कहा, ऐसा कहा जाता है।

●●

गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधु पद

शान्त... शान्त... मुनिराज को अन्दर में भी अकषाय परिणमन है और बाहर में वाणी तथा शरीर में भी शान्तपना दिखता है। अहो! वे तो उपशमरस / अकषायरस में जम गये हैं। उन्हें मुनि कहते हैं, जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है। देखो! गणधर भी शास्त्र रचना के समय नमस्कार मन्त्र में कहते हैं कि हे सन्तों! तुम्हारे चरणों में मेरा नमस्कार हो। यद्यपि अन्य साधु, गणधर से छोटे हैं; इसलिए गणधर उन्हें बाहर में व्यवहार से नमस्कार नहीं करते, परन्तु वे नमस्कार मन्त्र की रचना करते हैं, उसमें साधु को नमस्कार आ जाता है। जिन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना की है, जो तीर्थङ्कर के वजीर/दीवान हैं, ऐसे गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधुपद कैसा होता है?

अहा! तीर्थङ्कर धर्मराजा हैं और गणधर उनके दीवान हैं। फिर भी जब वे शास्त्र की रचना करते हैं, तब 'णमो लोए सव्व आइरियाणं' कहते हैं। वे आचार्य कैसे होंगे, जिनको गणधर का नमस्कार प्राप्त होता है? गणधर नमस्कार करें, वे ऐसे होते हैं कि जिनका अनाहारी परिणमन है, जिनकी वीतरागी दशा है और जिन्हें आहार लेने का राग उत्पन्न हो तो निर्दोष आहार लेने की वृत्ति है – ऐसे अन्तरङ्ग में रमणतावाले साधु अथवा आचार्य बाहर और अन्दर से शान्त होते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३२)

गाथा - ९६

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समानपरिमाणा ।

पुधगुवलद्धिविसेसा करिति एगत्तमण्णत्तं ॥९६॥

धर्माधर्माकाशान्यपृथग्भूतानि समानपरिमाणानि ।

पृथगुपलब्धिविशेषाणि कुर्वत्येकत्वमन्यत्वम् ॥९६॥

धर्माधर्मलोकाकाशानामवगाहवशादेकत्वेऽपि वस्तुत्वेनान्यत्वमत्रोक्तम् ।
धर्माधर्मलोकाकाशानि हि समानपरिमाणत्वात्सहावस्थानमात्रेणैकत्वभाजिज । वस्तुतस्तु
व्यवहारेण गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपेण निश्चयेन विभक्तप्रदेशत्वरूपेण विशेषेण
पृथगुपलभ्यमानेनान्यत्वभाज्येव भवतीति ॥९६॥

- इति आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम् ।

धर्माधर्म अर लोक का अवगाह से एकत्व है ।

अर पृथक् पृथक् अस्तित्व से अन्यत्व है भिन्नत्व है ॥९६॥

अन्वयार्थ :- [धर्माधर्माकाशानि] धर्म, अधर्म और आकाश (लोकाकाश)
[समानपरिमाणानि] समान परिमाणवाले [अपृथग्भूतानि] अपृथग्भूत होने से तथा
[पृथगुपलब्धिविशेषाणि] पृथक्-उपलब्ध (भिन्न-भिन्न) विशेषवाले होने से [एकत्वम्
अन्यत्वम्] एकत्व तथा अन्यत्व को [कुर्वति] करते हैं।

टीका:-यहाँ धर्म, अधर्म और लोकाकाश का अवगाह की अपेक्षा से एकत्व होने
पर भी वस्तुरूप से अन्यत्व कहा गया है।

धर्म, अधर्म और लोकाकाश समान परिमाणवाले होने के कारण साथ रहनेमात्र
से ही (-मात्र एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से ही) एकत्ववाले हैं; वस्तुतः तो (१) व्यवहार
से गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहहेतुत्वरूप (पृथक्-उपलब्ध विशेष द्वारा) तथा
(२) निश्चय से 'विभक्तप्रदेशत्वरूप पृथक्-उपलब्ध' विशेष द्वारा, वे अन्यत्ववाले ही हैं।

१. विभक्त=भिन्न। (धर्म, अधर्म और आकाश को भिन्नप्रदेशपना है।)

२. विशेष=खासियत; विशिष्टता; विशेषता। (व्यवहार से तथा निश्चय से धर्म, अधर्म और
आकाश के विशेष पृथक् उपलब्ध हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं।)

भावार्थ:-धर्म, अधर्म और लोकाकाश का एकत्व तो मात्र एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से ही कहा जा सकता है; वस्तुरूप से तो उन्हें अन्यत्व ही है, क्योंकि (१) उनके लक्षण गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहहेतुत्वरूप भिन्न-भिन्न हैं तथा (२) उनके प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं॥९६॥

इस प्रकार आकाशद्रव्यास्तिकाय व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

धर्म, अधर्म और आकाश तीनों के गुण भिन्न कहे तो फिर तीनों के क्षेत्र भिन्न होंगे? नहीं, एक क्षेत्र में रहे हैं, तथापि विरोध नहीं आता, यह बताते हैं। घर में अलग-अलग लोग हों, कोई तेज प्रकृति का हो, कोई शान्त हो, तथापि एक घर में साथ रहते हैं। (यह दृष्टान्त है।) उसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश के गुण अलग होने पर भी और सबके कार्य अलग होने पर भी आकाश में एक जगह रहे हुए हैं और एक जगह रहे हुए होने पर भी अपना स्वभाव छोड़ते नहीं।

इसी प्रकार शरीर कर्म और आत्मा एक क्षेत्र में होने पर भी प्रत्येक अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। कोई तर्क करे कि 'ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को हीन करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म नाम दिया।' यहाँ कहते हैं कि भाई! कर्म के कारण तो ज्ञान हीन होता नहीं परन्तु जीव स्वयं अपने कारण से ज्ञान हीन करता है, इसलिए कर्म को ज्ञानावरणीय नाम दिया है, ऐसा भी नहीं है। उसका स्वभाव और उसका नाम उसके कारण से है। और उसका नाम ज्ञानावरणीय पड़ा है, इसलिए यहाँ ज्ञान हीन होता है, ऐसा भी नहीं है। विकार अथवा हीनता जीव स्वयं अपने कारण से करता है और कर्म की अवस्था और नाम कर्म के कारण से है। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं, तथापि एक क्षेत्र में रहते हैं।

आगे की गाथा में बताते हैं कि धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्य एकक्षेत्र में रहे हैं परन्तु निज स्वरूप से तीनों भिन्न-भिन्न हैं।

धर्म-अधर्म और लोकाकाश ये तीन द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा से एक क्षेत्रावगाही हैं। जहाँ आकाश है, वहाँ धर्म, अधर्म दोनों द्रव्य रहे हुए हैं। कैसे हैं, तीनों द्रव्य ? तीनों के असंख्य प्रदेश समान हैं। और कैसे हैं ? निश्चयनय से पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं अथवा अपने स्वभाव से टंकोत्कीर्ण अपनी-अपनी सत्तावाले हैं। पत्थर में टाँकी से उत्कीर्ण मूर्ति की भाँति जैसे के तैसे हैं। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानरूपी टाँकी से भेद कर कि प्रत्येक आत्मा और जड़पदार्थ भिन्न-भिन्न है, कोई उसे लाया नहीं है और किसी ने उसे छोड़ा नहीं है। एक जगह ९० फीट का अखण्ड पत्थर निकला और उसका मानस्तम्भ बना, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अखण्ड पूरा पड़ा है। जैसे पत्थर में रग (सन्धि) होती है, वहाँ से वह पृथक् पड़ जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के बीच स्वभाव अपेक्षा से भेद है, इसलिए वे पृथक् पड़ जाते हैं।

यहाँ कहा कि धर्म-अधर्म, आकाश व्यवहारनय से एक क्षेत्रावगाही है, इसलिए एक भावरूप कहलाते हैं और निश्चयनय से तीनों अपनी-अपनी सत्ता से भेदभाव को करते हैं। इस प्रकार तीनों द्रव्यों का स्वरूप व्यवहार-निश्चय से एकरूप जानना।

इस दृष्टान्त से शरीर, कर्म और आत्मा आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाही कहलाते हैं परन्तु परमार्थ से तीनों के कार्य पृथक्-पृथक् हैं, कोई किसी को सहायता नहीं करता। जैसे पानी में कंकड़ होने पर भी एक-दूसरेरूप नहीं होते, स्वतन्त्र रहे हैं, उसी प्रकार चैतन्य और शरीर, कर्म आदि जड़ एकक्षेत्र में रहे होने पर भी कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

केवलज्ञान का हृदय खोल दिया

दिगम्बर सन्तों ने जो बात कही है, वह अन्य कोई कह ही नहीं सकता। वह बात अन्य मत में तो होती ही नहीं। अहो! केवलज्ञान के साधकों ने केवली का हृदय खोल दिया है। - पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल २६४

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।

मुत्तं पुद्गलद्रव्यं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥९७॥

आकाशकालजीवा धर्माधर्मो च मूर्तिपरिहीनाः।

मूर्तं पुद्गलद्रव्यं जीवः खलु चेतनस्तेषु ॥९७॥

अथ चूलिका। अत्र द्रव्याणां मूर्तामूर्तत्वं चेतनाचेतनत्वं चोक्तम्। स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभावं मूर्तं, स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावममूर्तम्। चैतन्यसद्भावस्वभावं चेतनं, चैतन्याभावस्वभावमचेतनम्। तत्रामूर्तमाकाशं, अमूर्तः कालः, अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि, अमूर्तो धर्मः, अमूर्तोऽधर्मः, मूर्तः पुद्गल एवैक इति। अचेतनमाकाशं, अचेतनः कालः, अचेतनो धर्मः, अचेतनोऽधर्मः, अचेतनः पुद्गलः, चेतनो जीव एवैक इति ॥९७॥

अब, ^१चूलिका है।

जीव अर आकाश धर्म अधर्म काल अमूर्त है।

मूर्त पुद्गल जीव चेतन शेष द्रव्य अजीव हैं ॥९७॥

अन्वयार्थ :- [आकाशकालजीवाः] आकाश, काल, जीव, [धर्माधर्मौ च] धर्म और अधर्म [मूर्तिपरिहीनाः] अमूर्त है, [पुद्गलद्रव्यं मूर्तं] पुद्गलद्रव्य मूर्त है। [तेषु] उनमें [जीवः] जीव [खलु] वास्तव में [चेतनः] चेतन है।

टीका:-यहाँ द्रव्यों का मूर्तोमूर्तपना (-मूर्तपना अथवा अमूर्तपना) और चेतनाचेतनपना (-चेतनपना अथवा अचेतनपना) कहा गया है।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है, वह मूर्त है; स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है, वह अमूर्त है। चैतन्य का सद्भाव जिसका स्वभाव है, वह चेतन है; चैतन्य का अभाव जिसका स्वभाव है, वह अचेतन है।

१. चूलिका=शास्त्र में जिसका कथन न हुआ हो, उसका व्याख्यान करना अथवा जिसका कथन हो चुका हो, उसका विशेष व्याख्यान करना अथवा दोनों का यथायोग्य व्याख्यान करना।

वहाँ आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, जीव स्वरूप से अमूर्त है, पररूप में प्रवेश द्वारा (—मूर्तद्रव्य के संयोग की अपेक्षा से) मूर्त भी है, धर्म अमूर्त है, अधर्म अमूर्त है; पुद्गल ही एक मूर्त है। आकाश अचेतन है, काल अचेतन है, धर्म अचेतन है, अधर्म अचेतन है, पुद्गल अचेतन है; जीव ही एक चेतन है।।९७।।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ८, गुरुवार

अब द्रव्यों के मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व, इस प्रकार से चार भाव बताते हैं।

इस जगत में छह वस्तुएँ हैं। उनके पृथक्-पृथक् भाव हैं। पाँच जड़ पदार्थों का प्रत्येक का भाव अपना-अपना अपने से अभेद है और पर से भेद है। चैतन्यमय जीव का अपना भाव अपने से अभेद है और पर से भेद है। यहाँ काल की बात साथ में ले ली है। आकाशद्रव्य अमूर्तिक है, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है, तथापि आत्मा और आकाश के स्वरूप में अन्तर है। आकाश अचेतन अमूर्तिक है और आत्मा चेतन अमूर्तिक है; इसी प्रकार काल, धर्म, अधर्म, तीनों में स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण नहीं, इसलिए अमूर्तिक है, परन्तु अचेतन है। जबकि आत्मा चेतन अमूर्तिक है।

पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला और अचेतन है। आत्मा चेतन अमूर्तिक है। यह बताकर आत्मा परपदार्थों से भिन्न है, ऐसा कहते हैं। जो पदार्थ अपने से भिन्न हों, उसका त्याग आत्मा किस प्रकार करे। कुटुम्ब, पैसा, शरीर इत्यादि से आत्मा भिन्न है, उसका त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अज्ञानी जीव मानता है कि परपदार्थ को छोड़े, वह त्यागी कहलाये और फिर 'तर्क करता है कि जीव को जो अध्यवसाय होता है, वह क्या पर के आश्रय बिना होगा।' इसलिए पर को छोड़ना चाहिए।

(१) शरीर, कर्म, पैसा, देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि समस्त जड़ और चेतन पदार्थ तुझसे तीनों काल भिन्न है। परवस्तु छोड़नी नहीं पड़ती। वह तो छूटी हुई ही पड़ी है, वह

तुझसे तीनों काल भिन्न है, इसलिए उसके ऊपर की दृष्टि छोड़।

(२) शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थों को मैं छोड़ता हूँ, ऐसी जो भ्रान्ति और विकार—वह भी छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि जो विकार अथवा दोष हुआ, उसे किस प्रकार छोड़ना? और जो दोष अभी हुआ नहीं, उसे किस प्रकार छोड़ना? इसलिए विकार छोड़ा नहीं जाता।

(३) शरीरादि पर है तथा भ्रान्ति और विकार तो एक समय की पर्याय है। मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ। मुझमें परपदार्थ का तीनों काल अभाव है और शुद्धस्वभाव में क्षणिक विकार का भी अभाव है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति होने पर मिथ्यात्व की उत्पत्ति नहीं होती और स्थिरता करने से अचारित्रदशा उत्पन्न नहीं होती। इसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष को छोड़ा, ऐसा कथन किया जाता है।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के भान बिना त्यागी हो जाये और मैं स्त्री, पुत्र, छोड़ता हूँ, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे अपने धर्म का त्याग वर्तता है। उसे स्वधर्म त्यागी कहा है। शरीर, परिवार इत्यादि परवस्तु भिन्न होने पर भी उसे उपाधि मानी है, मैं उसका ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञान है। स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान टल जाता है। आत्मा के ज्ञान बिना व्रत, तप इत्यादि करे और शास्त्र पढ़े तो भी वह रण में शोर मचाने के समान है।

आत्मा अमूर्त और दूसरे चार द्रव्य अमूर्त हैं और पुद्गल एक मूर्त है। आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला है। दूसरे पाँच अचेतन हैं। परपदार्थ से आत्मा का स्वभाव भिन्न है। उसकी रुचि करके, पर को ग्रहण-त्यागने की पर्यायबुद्धि छोड़कर, स्व-अन्तररुचि करना, वह धर्म है, वही मोक्षमार्ग है।

कितने ही जीव काल को उपचारित द्रव्य मानते हैं, कितने ही काल को अनन्त द्रव्यों के रूप में मानते हैं। यह सब मान्यता भूलवाली है। काल असंख्य अचेतन अमूर्तिक द्रव्य है। आत्मा उससे भिन्न चेतन अमूर्तिक है। ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। कर्म रूपी—अचेतन है, आत्मा उससे भिन्न है। कर्म के कारण जीव हो तो जीव का जीवपना नहीं रहता और जीव के कारण कर्म हो तो कर्म का जड़पना नहीं रहता; कर्म, कर्म के कारण से है और जीव, जीव के कारण से है—ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ९८

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।

पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥

जीवाः पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः।

पुद्गलकरणा जीवाः स्कंधा खलु कालकरणास्तु ॥९८॥

अत्र सक्रियनिष्क्रियत्वमुक्तम्। प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया। तत्र सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः जीवाः, सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः पुद्गलाः। निष्क्रियमाकाशं, निष्क्रियो धर्मः, निष्क्रियोऽधर्मः, निष्क्रियः कालः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गल-करणाः। तद्रभावाद्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति ॥९८॥

सक्रिय करण-सह जीव-पुद्गल शेष निष्क्रिय द्रव्य हैं।

काल पुद्गल का करण पुद्गल करण है जीव का ॥९८॥

अन्वयार्थ :- [सह जीवाः पुद्गलकायाः] बाह्य करण सहित स्थित जीव और पुद्गल [सक्रियाः भवन्ति] सक्रिय है, [न च शेषाः] शेष द्रव्य सक्रिय नहीं हैं (निष्क्रिय हैं); [जीवाः] जीव [पुद्गलकरणाः] पुद्गलकरणवाले (-जिन्हें सक्रियपने में पुद्गल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं [स्कंधाः खलु कालकरणाः तु] और स्कन्ध अर्थात् पुद्गल तो कालकरणवाले (-जिन्हें सक्रियपने में काल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं।

टीका:-यहाँ (द्रव्यों का) सक्रिय-निष्क्रियपना कहा गया है।

प्रदेशान्तरप्राप्ति का हेतु (-अन्य प्रदेश की प्राप्ति का कारण) ऐसी जो परिस्पन्दरूप पर्याय, वह क्रिया है। वहाँ, बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले जीव सक्रिय हैं; बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले पुद्गल सक्रिय हैं। आकाश निष्क्रिय है; धर्म निष्क्रिय है; अधर्म निष्क्रिय है; काल निष्क्रिय है।

जीवों को सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गल है;

इसलिए जीव पुद्गलकरणवाले हैं। उसके अभाव के कारण (—पुद्गलकरण के अभाव के कारण) सिद्धों को निष्क्रियपना है (अर्थात् सिद्धों को कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गलों का अभाव होने से वे निष्क्रिय हैं।) पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन *परिणामनिष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरणवाले हैं।

कर्मादिक की भाँति (अर्थात् जिस प्रकार कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों का अभाव होता है, उस प्रकार) काल का अभाव नहीं होता; इसलिए सिद्धों की भाँति (अर्थात् जिस प्रकार सिद्धों को निष्क्रियपना होता है उस प्रकार) पुद्गलों को निष्क्रियपना नहीं होता॥९८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ८, गुरुवार

अब छह द्रव्यों में कितने क्रियावान हैं और कितने निष्क्रिय—स्थिर है, यह बताते हैं।

जीव और पुद्गलद्रव्यों में कितनों का क्षेत्रान्तर होने का स्वभाव है (सिद्ध का नहीं), उसमें परद्रव्य निमित्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में क्षेत्रान्तर होने का स्वभाव बिल्कुल नहीं है। रूपान्तरपना है परन्तु गतिरूप सक्रियपना नहीं है। जहाँ है वहाँ अनादि-अनन्त पड़े हैं, इसलिए उनमें गति का निमित्तपना नहीं है। जीव-पुद्गल में सक्रियपने की योग्यता है तो उसमें निमित्तपना है।

उसमें जीवद्रव्य की बात करते हैं। जीव संसारदशा में है, तब तक अपने कारण से गति करता है और उसमें कर्म तथा शरीर को निमित्त कहा जाता है। यदि कर्म और नोकर्म जीव को गति करा देते हों तो दूसरे चार धर्मादि द्रव्यों को भी गति करा दे। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसके उपादान की योग्यता नहीं है। जीव में गति करने की योग्यता है तो कर्म-नोकर्म को निमित्त कहा जाता है। निगोद से लेकर केवली भगवान

* परिणामनिष्पादक=परिणाम को उत्पन्न करनेवाला; परिणाम उत्पन्न होने में जो निमित्तभूत (बहिरंग साधनभूत) हैं ऐसा।

तक के आत्मा क्षेत्रान्तर अपने कारण से करते हैं तो कर्म तथा शरीर को निमित्त कहा जाता है। जीव मनुष्य में से देव में जाये, घर में जाये, दुकान में जाये और उसमें आत्मा के प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होता है, वह स्वयं के कारण से होता है, शरीर के कारण से या कर्म के कारण से वह नहीं होता परन्तु स्वयं चलता है तो शरीर तथा कर्म को निमित्त कहा जाता है।

अब पुद्गलस्कन्धों की बात करते हैं। लक्ष्मी, मकान, रोटी, दाल, भात इत्यादि पुद्गलस्कन्ध अपने-अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादानकारण है। उसमें निमित्त कालद्रव्य है। देखो! यहाँ जीव का निमित्तपना भी निकाल दिया है। मकान बनते हैं, उसमें उपादानकारण तो उन परमाणुओं की योग्यता है, जीव के कारण नहीं, परन्तु निमित्तरूप से जीव की इच्छा या जीव का ज्ञान या पूर्व के पुण्य का भी निषेध किया है। निमित्तरूप से काल को कहा गया है। यह पुस्तक यहाँ से वहाँ क्षेत्रान्तर होती है, उसमें उपादान तो उसका स्वयं का है परन्तु अँगुली या जीव की इच्छा या ज्ञान को निमित्त भी कहा नहीं परन्तु काल को निमित्त कहा गया है।

कोई जीव कहता है कि जीव परमाणु का कुछ नहीं कर सकता, परन्तु स्कन्ध का तो कर सकता है न? जीव शरीर को चला सकता है न? ऐसा अज्ञानी मानता है। वह तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता। शरीर, मन, वाणी इत्यादि स्कन्धों को जीव नहीं कर सकता, परन्तु उनमें वह निमित्त भी नहीं होता। अज्ञानी की दृष्टि संयोगों के ऊपर जाती है। भले पुद्गल, पुद्गल के कारण से चलता है परन्तु उसमें जीव निमित्त तो है न? यह बात यहाँ उड़ा दी है। मकान बनते हैं, उसमें जीव का राग निमित्त तो है न? रोग मिटे, उसमें साता का उदय है न? यह लकड़ी ऊँची हुई, उसमें जीव निमित्त है न? यह सब बात उड़ा दी है। जीव की इच्छा को या दूसरे पुद्गल को निमित्त नहीं लिया। तेरा निमित्तपना भी उसमें नहीं है। **आठ कर्म बँधते हैं, वे तो उनके कारण से बँधते हैं, परन्तु उसमें जीव का राग या इच्छा निमित्त है न?** रोटी बनती है उसमें बाई की इच्छा निमित्त है न? परमाणु स्वयं के कारण से भाषारूप हों, उसमें निमित्त कौन? ज्ञानी या अज्ञानी की इच्छा उसमें निमित्त है न? केवली की वाणी को योग का निमित्त

है ? यह बँगला हुआ, पैसा आया, उसमें जीव का ज्ञान और राग निमित्त है ? नहीं, उन पुद्गलस्कन्धों का उपादानकारण तो वे परमाणु हैं, जीव की इच्छा और ज्ञान निमित्त भी नहीं, परन्तु काल निमित्त है। स्वकाल में परिणामते पुद्गलों को मात्र काल निमित्त है। ऐसा कहकर सूक्ष्म भेदज्ञान कराया है। उन-उन पुद्गलों के परिणामन का वह स्वकाल है। इसलिए उसके ऊपर से दृष्टि मोड़।

यहाँ अस्तिकाय का स्वरूप बताते हैं। जीवद्रव्य में कहा कि द्रव्य-गुण तो स्वतन्त्र परन्तु जीव के प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होना, एक गति से दूसरी गति में जाना, उसमें जीव की पर्याय की योग्यता, वह उपादानकारण है और उसमें कर्म-नोकर्म को निमित्तकारण कहा है और परमाणु के स्कन्धों में द्रव्य-गुण तो स्वतन्त्र है परन्तु यह क्षेत्रान्तर होता है, वह अपने कारण से है। दूसरे के कारण तो नहीं, परन्तु उसमें जीव की इच्छा या पुद्गल निमित्त नहीं हैं, मात्र काल निमित्त है। सब्जी सुधारते समय जीव की इच्छा, अँगुली निमित्त है न ? दवाखाना हुआ, उसमें जीव का शुभभाव निमित्त है न ? नहीं, जीव निमित्त भी नहीं, मात्र कालद्रव्य निमित्त है - ऐसा कहकर सूक्ष्मता बताते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चार तो अरूपी हैं। अक्रिय हैं। अर्थात् उनमें क्षेत्रान्तर नहीं है, इसलिए उनके निमित्त की तो बात लेनी नहीं, परन्तु जीव में जो रूपान्तर होता है और ज्ञान-दर्शनादि गुणों की अवस्था पलटती है, वह भाव है और पुद्गलों में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के भाव पलटते हैं, उनकी भी बात नहीं है। यहाँ तो दोनों द्रव्य के क्षेत्रान्तर की क्रिया की बात लेनी है। लकड़ी का ऊँचा होना तथा दूसरे स्कन्धों का क्षेत्रान्तर होना, वह उसके कारण से है, परन्तु उसमें जीव का निमित्तपना नहीं कहकर काल को निमित्त कहा गया है। यहाँ कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं, कोई काल को उपचार माने, कोई अनन्त काल द्रव्य माने तो वह सब बात मिथ्या है। इस जगत में असंख्य कालाणु हैं, वे पुद्गल की सक्रियता में निमित्त होते हैं।

पुद्गल जो सक्रिय है, उसका सक्रियपना कायम रहता है; इसलिए उसके निमित्तरूप कायम रहे, ऐसा निमित्त चाहिए। जीव संसारदशा में कायम नहीं रहता। यदि जीव संसार में कायम रहे तो उसका संसार कभी भी मिटे नहीं। पुद्गल का तो

सक्रियस्वभाव त्रिकाल है। उसके निमित्तरूप से कालद्रव्य जो त्रिकाल है, वह लिया परन्तु जीव नहीं लिया क्योंकि जीव निमित्तरूप से सदा रहा करे तो जीव की कभी मुक्ति नहीं हो। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वभावी है, विकार उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है, त्रिकाल स्वरूप तो शुद्ध है, इसलिए पुद्गलों के स्कन्ध में उसका निमित्तपना भी नहीं है। पुद्गलों में जीव का निमित्तपना माना जाये तो पुद्गल तो सदा हैं, तो उसके साथ निमित्तपने का जीव का सम्बन्ध कभी छूटेगा नहीं और इसलिए स्वभाव सन्मुख दृष्टि करने का अवकाश भी रहेगा नहीं, इसलिए पुद्गल का सक्रियपना त्रिकाल है, उसके साथ कालद्रव्य त्रिकाल है, उसे निमित्त लिया है। कोई पूछे कि इसमें धर्म क्या आया? अनादि काल से जीव को परपदार्थों के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है। पुद्गलस्कन्ध भले उसके कारण से परिणमते हैं तो मैं उसमें निमित्त हूँ न? उसका यहाँ निषेध करते हैं। भाई! पुद्गल को निमित्त होने का तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए परपदार्थ के प्रति संयोगी दृष्टि छोड़कर शुद्धचिदानन्दस्वभाव की दृष्टि कर।

भावार्थ - एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करना, उसे क्रिया कहते हैं। छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल क्षेत्रान्तर करते हैं तथा कम्परूप अवस्था को धारण करते हैं, इसलिए ये दो द्रव्य क्रियावन्त हैं और बाकी के चार द्रव्य निष्क्रिय और निष्कम्प हैं। जीवद्रव्य की क्रिया में बहिरंग निमित्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल है, उसके निमित्त से जीव विकाररूप परिणमन करता है। जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति छोड़कर सक्रिय शरीर का संग करता है तो विकार होता है। शरीर, कर्म इत्यादि तो निमित्तमात्र हैं। निमित्त को छोड़ना नहीं। परपदार्थ को निमित्त बनाना या उड़ाना यह तेरे हाथ में है। अर्थात् कि तू राग-द्वेष कर तो शरीर और कर्म को निमित्त कहा जाता है और राग-द्वेष न करे तो शरीर और कर्म को निमित्त भी नहीं कहा जाता।

और जीव का स्वरूप सक्रियपना कायम नहीं रहता। चैतन्यस्वभाव ज्ञानमूर्ति अरूपी गुण का पिण्ड है, शरीर पर है। विकार कृत्रिम है, स्वभाव विकाररहित है। ऐसा भान करके स्व-पर्याय के पुरुषार्थ द्वारा जीव स्वयं शुद्ध दशा को प्राप्त करे, तब पुद्गलकर्म और नोकर्म का अभाव होता है। क्षेत्रान्तर होना, वह जीव की स्वाभाविक क्रिया नहीं।

यदि वह स्वाभाविक वस्तु हो तो कभी छूटे नहीं, निष्क्रियरूप से रहना, उस सिद्धदशारूप होना, वह स्वाभाविक दशा है। जीव स्वयं ज्ञाता-दृष्टारूप रहकर स्थिरता करे तो स्वाभाविक निष्क्रिय, निष्कम्प अवस्थारूप सिद्धदशा को प्राप्त करता है। इस कारण से पुद्गल का निमित्त पाकर जीव क्रियावान जानना। 'निमित्त पाकर?' इसका अर्थ यह है कि जीव में नैमित्तिकपर्याय हुई है तो पुद्गल को निमित्त कहा है। जीव की क्रिया का काल और उस समय पुद्गल का काल एकसाथ है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार

इस जगत में छह पदार्थ हैं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र हैं, उनकी क्षेत्रान्तर होने की पर्याय भी स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि मेरे कारण से स्कन्ध खिसकते हैं। उससे कहते हैं कि भाई! तेरे कारण से नहीं खिसकते। वे उनके कारण से खिसकते हैं। उसमें तेरा निमित्तपना भी नहीं है, ऐसा यहाँ बतलाना है, जीव तथा पुद्गल दोनों को क्षेत्रान्तर होने में सामान्य निमित्त तो धर्मास्तिकाय है, परन्तु यहाँ विशेष निमित्त बतलाना है, इसलिए जीव की क्षेत्रान्तर क्रिया में पुद्गल को निमित्त कहा है और पुद्गल स्कन्धों के क्षेत्रान्तर में काल को निमित्त कहा है।

यह पत्थर, वस्त्र, दाल, भात आते-जाते हैं और शरीर की गति होती है, वह तो उसके कारण से होती है। उसमें अरूपी काल निमित्त है। यहाँ 'काल का बहिरंग कारण पाकर' ऐसे शब्द लिखे हैं, तो क्या काल को खबर है कि मैं इस स्कन्ध को निमित्त होऊँ? पुद्गल स्कन्धों में नैमित्तिक अवस्था होती है, तब काल को निमित्त कहा जाता है, ऐसा उसका अर्थ है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मेरी होशियारी से पैसे आते हैं और उन जड़ पदार्थों की व्यवस्था मैं कर सकता हूँ, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। अज्ञानी जीव व्यर्थ का अभिमान करके भटकता है। पैसे का आना-जाना, शरीर में रक्त का घूमना, पुस्तकें आना-जाना वह सब जीव के कारण तो नहीं। परन्तु उन परमाणुओं के आने-जाने में उपादानकारण

तो वे परमाणु स्वयं हैं। और निमित्तकारण कालद्रव्य है, ऐसा यहाँ कहा है। जीव को निमित्तरूप से भी यहाँ नहीं लिया। जीव तो अपने में राग-द्वेष करे। अथवा समझकर वीतरागता लावे, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

यहाँ काल को सहकारी कारण कहा है। सहकारी अर्थात् साथ में होता है। शरीर तथा अँगुली इत्यादि गति करते हैं, उसमें काल सहकारी कारण है, परन्तु शरीर को खबर नहीं कि मुझे काल निमित्त होता है। काल को खबर नहीं कि मैं शरीर को निमित्त होता हूँ। दोनों को जाननेवाला तो जीव है। जीव कहता है कि मैं तो निमित्त होनेवाला नहीं, मैं तो जाननेवाला हूँ।

यहाँ काल को भी सिद्ध करते जाते हैं। काल शब्द है तो उसका वाच्य कालद्रव्य होना चाहिए। शब्द हो और वस्तु न हो, ऐसा नहीं होता। जैसे सर्वज्ञ शब्द है तो उसका वाच्य सर्वज्ञ आत्मा भी है; उसी प्रकार कालद्रव्य है तो काल अरूपी पदार्थ है। पुद्गल स्कन्धों की सक्रियता में काल निमित्त है। यह पैसा इत्यादि मैं लाता हूँ, ऐसा अज्ञानी जीव अभिमान करता है। भाई! उस वस्तु का वर्तमान सत् है या असत्? वर्तमान सत् है, इसलिए वह उससे है परन्तु जीव से नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि वह तो उसके कारण से क्षेत्रान्तर होता है, उसमें जीव का निमित्तपना भी नहीं है, परन्तु काल निमित्त है। परन्तु इतना विशेष है कि जीवद्रव्य की भाँति पुद्गल निष्क्रिय कभी नहीं होता। जीव शुद्ध हुए पश्चात् कभी क्षेत्रान्तर नहीं करता, पुद्गल में यह नियम नहीं है। पुद्गल परनिमित्त से सदा क्रियावान् रहता है।

यहाँ जीव और पुद्गल दोनों क्रियावान पदार्थ होने पर भी दोनों में भेद बताते हैं। जीव अपने शुद्ध आत्मा का भान करके सिद्धदशा पा जाये, पश्चात् कभी क्षेत्रान्तर नहीं करता, जहाँ तक जीव सिद्ध की पूर्णदशा प्राप्त न करे, तब तक क्षेत्रान्तर करता है। सिद्ध भगवन्त एक स्थान में विराजते हैं, गति नहीं करते, परन्तु पुद्गल में ऐसा नियम नहीं है। पुद्गल परमाणु अकेला हो जाये तो भी क्षेत्रान्तर करता है, दूसरे स्कन्ध साथ में मिल जाये और क्षेत्रान्तर करे। इसलिए पुद्गल को सदा क्रियावान कहा गया है।

यहाँ पुद्गल को सदा क्रियावान कहा है, उसका अर्थ यह है कि जीव की भाँति पुद्गल सदा स्थिर हो जाये, ऐसा नहीं होता। एक परमाणु पृथक् पड़कर शुद्ध हो,

अमुक समय स्थिर भी रहे, वापस क्षेत्रान्तर करता है। सिद्ध की भाँति क्षेत्रान्तर करे ही नहीं, ऐसा नहीं है। और अचेतन महास्कन्ध में कितने ही परमाणु वहीं के वहीं पड़े हैं, जो कभी क्षेत्रान्तर नहीं होते। यह बात गौण करके परमाणु स्थिर नहीं है, परन्तु क्रियावान हैं, इस अपेक्षा से सदा क्रियावान कह दिया है। सिद्ध के निष्क्रिय स्वभाव के सामने पुद्गल का क्रियावान स्वभाव बताया और उसमें कालद्रव्य को निमित्त बताया।

अब, यहाँ काल को निमित्त बतलाया है, वह विशेष निमित्त है। छह द्रव्यों में प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय के परिणमन में काल निमित्त है। वह तो सामान्य निमित्त तो है ही, उन छह द्रव्यों में से क्रियावान जीव और पुद्गल भिन्न किये, उन दो के क्षेत्रान्तर में सामान्य निमित्त धर्मास्तिकाय है। अब दो में विशेष निमित्त का भेद बतलाया कि जीव के क्षेत्रान्तर में कर्म और नोकर्म निमित्त है और पुद्गलस्कन्ध के क्षेत्रान्तर में काल निमित्त है, ऐसी यहाँ विशेष निमित्तों की बात ली है।

और कितने ही पुद्गल परमाणु ऐसे हैं कि जीव ने आज तक ग्रहण नहीं किये। तथा भविष्य में ग्रहण भी नहीं करेगा। जगत में संसारी जीव ने जितने परमाणु ग्रहण किये हैं, उनसे अनन्तगुण अग्राह्य परमाणु इस जगत में हैं कि इसमें जीव कभी भी निमित्त नहीं होता। सब पुद्गल परमाणु में जीव निमित्तरूप से सदाकाल नहीं होता, जिससे सबको गति में सदाकाल निमित्त हो, ऐसा काल है कि जो अनादि-अनन्त निमित्त है। इसलिए उसे यहाँ निमित्त कहा गया है।

(१) जीव और पुद्गलों के क्षेत्रान्तर में धर्मास्तिकाय निमित्त है। परन्तु यह सामान्य बात की। यहाँ विशेष बात की है कि जीव के सक्रियपने में पुद्गल निमित्त है और पुद्गल के सक्रियपने में काल को निमित्त लिया, जीव को नहीं लिया। क्योंकि सभी पुद्गलों को जीव निमित्त नहीं होता। जबकि काल तीनों काल होता है, इसलिए उसे निमित्त कहा।

(२) जो जीव काल को नहीं मानते, उसे पुद्गलों में काल निमित्त है, ऐसा कहकर काल की सिद्धि की है।

(३) जीव और पुद्गल क्रियावान होने पर भी दोनों के सक्रियपने में अन्तर है।

जीव सिद्ध होने पर निष्क्रिय होता है, इसलिए क्रियापना वह जीव का मूल स्वभाव नहीं। जबकि पुद्गल परमाणु पृथक् पड़ने पर भी वापस क्रियावान होता है, इसलिए सक्रियपना उसका स्वभाव है, इसलिए पुद्गल को सदा क्रियावान कहा है। इसलिए पुद्गल हमेशा चला ही करते हैं, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। सिद्ध की भाँति वे सदा स्थिर नहीं रहते, यह बतलाने के लिये सदा क्रियावान कहा गया है।

यह अर्थसमय की बात चलती है। पदार्थों का स्वभाव बताते हैं। तू पदार्थों का ज्ञान कर। अज्ञान तथा राग-द्वेष को छोड़, ऐसा कहते हैं। यह पुस्तक यहाँ से हटी, ऐसा क्यों? अज्ञानी को दृश्य पदार्थों में भ्रम पड़ता है। यहाँ कहते हैं कि उस पुस्तक का आना-जाना तो उसके कारण से है, परन्तु उसमें जीव का ज्ञान, इच्छा या हाथ तीनों में से एक को भी यहाँ निमित्त नहीं लिया। मात्र तीनों काल रहनेवाले काल अरूपी अदृश्य को निमित्त कहा है। इसलिए संयोग के ऊपर से दृष्टि हटा। ऐसा क्यों? ऐसे प्रश्न को स्वभाव में अवकाश नहीं है। स्वभाव ही ऐसा है। तू जानने-देखनेवाला है, ऐसा निश्चित किये बिना शान्ति नहीं होगी।

कितने ही अज्ञानी ऐसा भी तर्क करते हैं कि अपने आरम्भ नहीं करना। मन्दिर, प्रतिमा इत्यादि बनाने का अपने को आरम्भ नहीं करना। तो पूछा जाता है कि क्या उन जड़ पदार्थों की अवस्था को तू कर सकता है? क्या शुभराग से वे जड़पदार्थ होते हैं? कि जिससे अब उस प्रकार का शुभराग रोककर, जो मन्दिर आदि होनेवाले हैं, उन्हें रोक दूँ, ऐसा तू मानता है? यह मान्यता भ्रमणा है। आरम्भ के स्वरूप को समझता नहीं। जीव के शुभराग के कारण मन्दिर नहीं होते तथा शुभराग न करे तो मन्दिर रुक जाये, ऐसा भी नहीं है। जो पदार्थ, जो पत्थर-लोहा इत्यादि जहाँ से और जिस क्षेत्र से आनेवाले हैं, वहाँ से आयेंगे, जहाँ रहनेवाले हैं और मकान के स्कन्धरूप होनेवाले हैं, वहाँ होंगे। मैं उन जड़ पदार्थों को बना सकता हूँ, या रोक सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यादर्शन शल्य है। और यही महा आरम्भ है। आरम्भ जड़ पदार्थों में नहीं रहता। यहाँ तो कहते हैं कि जड़ पदार्थ उसके कारण से आते-जाते हैं, उनमें जीव निमित्त भी नहीं है। मन्दिर आदि बनते हैं, उसमें काल को निमित्त कहकर जीव के शुभराग के निमित्तपने को उड़ाया है, इसलिए संयोगों के ऊपर और शुभराग के ऊपर की दृष्टि को

हटा और शुद्ध चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि कर। परमाणुओं का क्षेत्रान्तर होकर मकान के स्कन्धरूप अवस्था होना, उसमें जीव के ज्ञान को, इच्छा को या हाथ को निमित्त नहीं कहते, अकेले अदृश्य काल को निमित्त कहकर बहुत सूक्ष्म बात की है। जगत के दृश्यमान पदार्थ की संयोगीदृष्टि उठा, ऐसा कहने का भाव है। और सब जड़ पुद्गलों में जीव निमित्त नहीं होता, इसलिए जीव का निमित्तपना उड़ाकर तीनों काल रहनेवाले काल को निमित्त कहा गया है। इसलिए पुद्गल के कर्तापने का अहंकार उड़ाया है। और पुद्गल को सदा क्रियावान कहा, उसका अर्थ ऐसा है कि जब क्रिया करता है, तब क्रियावान समझना, परन्तु सदा चलता रहे, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। परन्तु जीव सिद्धदशा प्राप्त करने के पश्चात् क्रियावान नहीं होता, परन्तु परमाणु पृथक् करने के पश्चात् और स्थिर होने के पश्चात् वापस क्रियावान होता है, इतना बतलाने के लिये सदा क्रियावान है, ऐसा कहा गया है।



अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र या मुनिपना

अहो! जिन्होंने आत्मा को हथेली की रेखा के समान अन्दर में देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर पहले से ही 'आत्मा ऐसा है' — यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्माओं को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह तो उनका स्वरूप ही है। अहो! उनका अवतार धन्य है न!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् + चित् + आनन्द अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर है। उसमें शरीर, वाणी और मन तो नहीं; परन्तु दया, दान, व्रत का राग / विकल्प भी नहीं है। उस आत्मा में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए आश्चर्यकारी बात नहीं है, क्योंकि वह धर्मात्मा की स्थिति ही है, वैसी ही उनकी दशा है, वैसा ही उनका स्वरूप है। अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र और मुनिपना है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

गाथा - ९९

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।

सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥९९॥

ये खलु इन्द्रियग्राह्या विषया जीवैर्भवन्ति ते मूर्ताः।

शेषं भवत्यमूर्तं चित्तमुभयं समाददाति ॥९९॥

मूर्तामूर्तलक्षणाख्यानमेतत्। इह हि जीवैः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु-भिरिन्द्रियैस्तद्विषयभूताः स्पर्शरसगंधवर्णस्वभावा अर्था गृह्यन्ते। श्रोत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयहेतुभूतशब्दाकारपरिणता गृह्यन्ते। ते कदाचित्स्थूलस्कंधत्वमापन्नाः कदाचित्सूक्ष्म-त्वमापन्नाः कदाचित्परमाणुत्वमापन्नाः इन्द्रियग्रहणयोग्यतासदभावद् गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्ता इत्युच्यन्ते। शेषमितरत् समस्तमप्यर्थजातं स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावमिन्द्रिय-ग्रहणयोग्यताया अभावादमूर्तमित्युच्यते। चित्तग्रहणयोग्यतासदभावभागभवति तदुभयमपि, चित्तं ह्यनियतविषयमप्राप्यकारि मतिश्रुतज्ञानसाधनीभूतं मूर्तममूर्तं च समाददातीति॥९९॥

- इति चूलिका समाप्ता।

हैं जीव के जो विषय इन्द्रिय ग्राह्य वे सब मूर्त हैं।

शेष सब अमूर्त हैं मन जानता है उभय को॥९९॥

अन्वयार्थ :- [ये खलु] जो पदार्थ [जीवैः इन्द्रियग्राह्याः विषयाः] जीवों को इन्द्रियग्राह्य विषय है [ते मूर्ताः भवन्ति] वे मूर्त हैं और [शेषं] शेष पदार्थसमूह [अमूर्त भवति] अमूर्त हैं। [चित्तम्] चित्त [उभयं] उन दोनों को [समाददाति] ग्रहण करता है (जानता है)।

टीका:-यह मूर्त और अमूर्त के लक्षण का कथन है।

इस लोक में जीवों द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उनके (-उन इन्द्रियों के) विषयभूत, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णस्वभाववाले पदार्थ (-स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनका स्वभाव है ऐसे पदार्थ) ग्रहण होते हैं (-ज्ञात होते हैं); और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वही पदार्थ उसके (श्रोत्रेन्द्रिय के) 'विषयहेतुभूत शब्दाकार परिणमित होते

हुए ग्रहण होते हैं। वे (वे पदार्थ), कदाचित् स्थूलस्कन्धपने को प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्मत्व को (सूक्ष्मस्कन्धपने को) प्राप्त होते हुए और कदाचित् परमाणुपने को प्राप्त होते हुए इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता का (सदैव) सद्भाव होने से 'मूर्त' कहलाते हैं।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा शेष अन्य समस्त पदार्थसमूह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के अभाव के कारण 'अमूर्त' कहलाता है।

वे दोनों (-पूर्वोक्त दोनों प्रकार के पदार्थ) चित्त द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के सद्भाववाले हैं; चित्त जो कि ^१अनियत विषयवाला, ^२अजुप्यकारी और मतिश्रुतज्ञान के साधनभूत (-मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान में निमित्तभूत) है वह-मूर्त और अमूर्त को ग्रहण करता है (-जानता है)॥९९॥

इस प्रकार चूलिका समाप्त हुई।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार

अब मूर्त-अमूर्त पदार्थ किसे कहना यह बताते हैं। जीवों से इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है, वे पुद्गलपदार्थ हैं। वह मूर्तिक है। इन्द्रियग्राह्य अर्थात् इन्द्रियाँ पदार्थ को पकड़ नहीं लेती, परन्तु इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञात होता है, वह पुद्गल मूर्तिक है और पुद्गल से भिन्न पदार्थों को अमूर्तिक जानना।

भावार्थ - इस लोक में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले पदार्थ स्पर्शन, जीभ, नासिका

१. उन स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णस्वभाववाले पदार्थों को (अर्थात् पुद्गलों को) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होने में हेतुभूत शब्दाकारपरिणाम है, इसलिए वे पदार्थ (पुद्गल) शब्दाकार परिणमित होते हुए श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होते हैं।
२. अनियत=अनिश्चित। (जिस प्रकार पाँच इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है, उस प्रकार मन का विषय नियत नहीं है, अनियत है।)
३. अजुप्यकारी=ज्ञेय विषयों का स्पर्श किये बिना कार्य करनेवाला-जाननेवाला। (मन और चक्षु अजुप्यकारी हैं, चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं।)

और नेत्र - इन चार इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं। भाव इन्द्रिय द्वारा पदार्थ ज्ञात होते हैं, उसमें द्रव्यन्द्रिय निमित्त है। वे सब पुद्गल हैं, मूर्तिक हैं। इन्द्रियाँ उन परपदार्थ को ग्रहण नहीं करतीं तथा छोड़ती नहीं, परन्तु आत्मा कर्म को ग्रहण करता और छोड़ता है, ऐसा भी नहीं होता।

कोई पूछता है कि शास्त्र में कथन आता है कि आत्मा के कषाय परिणाम से स्थिति और रस का बन्ध पड़ता है और योग से प्रदेश और प्रकृति का बन्ध पड़ता है। उसका क्या? तथा 'आत्मसिद्धि' में कथन आता है कि 'ग्रहण करे जड़रूप' तो क्या आत्मा जड़ को, जड़कर्म को ग्रहण करता होगा? और कर्म को बाँधता होगा?—इसका समाधान —

यह सब निमित्त के कथन हैं। जीव का विकारीभाव बतलाने का कथन है। कर्म तो अपनी योग्यता से आते हैं और बाँधते हैं, उसमें आत्मा के विकार का निमित्तपना बतलाना है। आत्मा में पर के ग्रहण-त्यागशून्यत्व (रहितपने की) शक्ति है। भावेन्द्रियाँ पदार्थों को मात्र जानती हैं। (१) यहाँ कहा है कि इन्द्रियों द्वारा जानने में आनेवाले पदार्थ मूर्तिक हैं। (२) किसी समय स्थूल स्कन्धरूप धारण करे। (३) किसी समय सूक्ष्म स्कन्धरूप है। (४) किसी समय परमाणु हो। यह सब मूर्तिक है।

कोई सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु इन्द्रियों द्वारा जानने में आता नहीं तो भी उन पुद्गलों में ऐसी शक्ति है कि किसी समय स्थूलता को धारण करता है और इन्द्रियगम्य होता है, इसलिए चाहे जैसे सूक्ष्म स्कन्ध को अथवा परमाणु को इन्द्रियग्राह्य कहा है। वर्तमान में भले इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होते परन्तु इन्द्रियों द्वारा जानने की योग्यता है, इसलिए इन्द्रिय ग्राह्य कहा है।

आत्मा किसी भी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी अतीन्द्रिय है। वे पाँचों पदार्थ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है तथा इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हों, ऐसे नहीं हैं। इसलिए उन पाँचों को मूर्तिक जानना।

भावमन के उघाड़ से और द्रव्यमन के निमित्त से मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों प्रकार के पदार्थ जाने जा सकते हैं। मेरा आत्मा स्वतन्त्र है, इन्द्रिय और मन से ज्ञान नहीं

होता, मेरे आत्मा के आश्रय से ज्ञान होता है—ऐसी प्रतीति और ज्ञान करके स्वभाव का आश्रय लेने से जो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान स्व को जानते हुए पर को जान लेता है। सूक्ष्म परमाणु, तैजस, कर्मण इत्यादि का ख्याल अनुमान से आ जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल को भी वह ज्ञान जान लेता है और आत्मा की पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष अमूर्तिक हैं, उन्हें भी सम्यक्ज्ञान स्व को जानते हुए, 'राग पर है', ऐसा जान लेता है। उस सम्यक्मति-श्रुतज्ञान का साधन तो आत्मा है। मन निमित्तमात्र है। अपने को जानते हुए अमूर्तिक द्रव्यों, सूक्ष्म मूर्त पदार्थों और अपने अमूर्तिक विकारादि परिणाम को वह जानता है। केवलज्ञान और मतिज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष का अन्तर है।

जब ज्ञान परपदार्थों को जानता है, तब ज्ञान उन पदार्थों में जाता नहीं परन्तु स्वयं अपनी सामर्थ्य से स्व में रहकर जानता है। मति-श्रुतज्ञान का साधन आत्मा है। मन निमित्तमात्र है। इस प्रकार मन के निमित्त से मूर्त-अमूर्त पदार्थ जाने जा सकते हैं।

वर्तमान में जो स्थूल, मूर्त स्कन्ध इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं, वह विभावपर्याय है, वह संयोगी पदार्थ है, मूलपदार्थ नहीं। वह व्यवहारनय का विषय है। निश्चयद्रव्य तो मूल परमाणु है, वह भी अतीन्द्रिय है। इस प्रकार छह द्रव्य अतीन्द्रिय हैं और वे अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ज्ञात हों, ऐसे हैं। अपने आत्मा के आश्रय से अतीन्द्रिय ज्ञान होने पर इन्द्रियों से ग्राह्य कौन से पदार्थ हैं, उसका यथार्थ ज्ञान होता है। अकेली इन्द्रियों से काम करने जाये तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता है।

●●

ऐसे सन्तों की क्या बात करें?

जिसे 'जिसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी' कहा, सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। मुनिधर्म की तो बात ही क्या कहें। तीन कषाय के अभाव सहित जिनके अन्तर में प्रचुर आनन्द का अनुभव है और बाह्य में जिसके वस्त्र का एक धागा भी नहीं है — ऐसे सन्तों की क्या बात करें?

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अध्यात्म रत्नत्रय, पृष्ठ ३१

गाथा - १००

कालो परिणामभवो परिणामो द्रव्यकालसंभूदो।

दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥१००॥

कालः परिणामभवः परिणामो द्रव्यकालसंभूतः।

द्वयोरेष स्वभावः कालः क्षणभङ्गुरो नियतः ॥१००॥

अथ कालद्रव्यव्याख्यानम्। व्यवहारकालस्य निश्चयकालस्य च स्वरूपाख्यानमेतत्। तत्र क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः। तत्र व्यवहारकालो निश्चयकालपर्यायरूपोपि जीवपुद्गलानां परिणामेनावच्छिद्यमानत्वात्तत्परिणामभव इत्युपगीयते, जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तभूतद्रव्यकालसदभावे सति संभूतत्वाद्-द्रव्यकालसंभूत इत्यभिधीयते। तत्रेदं तात्पर्यं - व्यवहार - कालो जीवपुद्गलपरिणामेन निश्चीयते, निश्चयकालस्तु तत्परिणामान्यथानुपपत्त्येति। तत्र क्षणभङ्गी व्यवहारकालः सूक्ष्मपर्यायस्य तावन्मात्रत्वात्, नित्यो निश्चयकालः स्वगुणपर्यायाधारद्रव्यत्वेन सर्वदैवाविनश्वरत्वादिति॥१००॥

अब कालद्रव्य का व्याख्यान है।

क्षणिक है व्यवहार काल अरु नित्य निश्चय काल है।

परिणाम से हो काल उद्भव काल से परिणाम भी॥१००॥

अन्वयार्थ :- [कालः परिणामभवः] काल परिणाम से उत्पन्न होता है (अर्थात् व्यवहार काल का माप जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा होता है); [परिणामः द्रव्यकालसंभूतः] परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। [द्वयोः एषः स्वभावः] यह, दोनों का स्वभाव है। [कालः क्षणभंगुरः नियतः] काल क्षणभंगुर तथा नित्य है।

टीका:-यह व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल के स्वरूप का कथन है।

वहाँ, 'समय' नाम की जो क्रमिक पर्याय, सो व्यवहारकाल है; उसके आधारभूत द्रव्य, वह निश्चयकाल है।

वहाँ, व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्यायरूप होने पर भी जीव-पुद्गलों के परिणाम से मापा जाता है-ज्ञात होता है; इसलिए 'जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होनेवाला' कहलाता है; और जीव-पुद्गलों के परिणाम बहिरंग-निमित्तभूत द्रव्यकाल

के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण 'द्रव्यकाल से उत्पन्न होनेवाले' कहलाते हैं। वहाँ तात्पर्य यह है कि-व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा निश्चित होता है; और निश्चयकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा (अर्थात् जीव-पुद्गलों के परिणाम अन्य प्रकार से नहीं बन सकते इसलिए) निश्चित होता है।

वहाँ, व्यवहारकाल *क्षणभंगी है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय मात्र उतनी ही (-क्षणमात्र जितनी ही, समयमात्र जितनी ही) है; निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी है॥१००॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार

काल की पर्याय अथवा एक समय के परिणाम अपने द्रव्य से उत्पन्न होते हैं परन्तु उसमें जीव-पुद्गल के परिणाम निमित्त हैं। इसलिए समय आदि व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है और कालाणु असंख्य इस जगत में हैं, वे द्रव्य हैं। उनमें अनन्त गुण हैं। एक गुण की एक ऐसी अनन्त पर्यायें हैं और वह द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला है। नयी अवस्थारूप उपजता है, पुरानी का व्यय होता है, स्वयं द्रव्यरूप से टिका रहता है। जीव-पुद्गल के सब परिणाम में यह निश्चय कालाणु निमित्त है। इसलिए काल के कारण जीव-पुद्गल के परिणाम होते हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहारकाल का स्वभाव है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार

यह पंचास्तिकाय का वर्णन चलता है। पाँच पदार्थ 'है' कहने से अस्ति और बहुत प्रदेशों के समूहवाले हैं, इसलिए काय, ऐसे पाँच अस्तिकाय हैं। काल भी वस्तु है, परन्तु समूह नहीं।

* क्षणभंगी=प्रति क्षण नष्ट होनेवाला; प्रतिसमय जिसका ध्वंस होता है ऐसा; क्षणभंगुर; क्षणिक।

इस प्रकार छह द्रव्यों का यह अर्थसमय है। उसे शास्त्र कहते हैं और ज्ञान जानता है। जो शास्त्र रागरहितरूप से पदार्थों को बतलावे, वह शास्त्र है। जो पदार्थ ज्ञान में ज्ञेयरूप से निमित्त है, वह अर्थसमय है और उन पदार्थों का रागरहितरूप से जानना, वह ज्ञानसमय है। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। स्व को जानते हुए राग ज्ञात हो जाता है। ऐसे ज्ञान की रुचि करना, वह शान्ति और सुख का उपाय है।

दर्पण के सामने अनेक चीजें भिन्न-भिन्न आकार की और रंग की पड़ी है। दर्पण उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशित करता है। परन्तु सामने की चीज़ का आकार और रंग उसमें प्रविष्ट नहीं हो जाते। नारियल, नींबू इत्यादि चीज़ों के आकार और रंग दर्पण में प्रवेश पावें तो ये चीज़ें रंग और आकार बिना ही होने से नाश को प्राप्त हों। परन्तु ऐसा नहीं होता। दर्पण की स्वच्छता का परिणाम है, उसमें अनेक चीज़ें ज्ञात होती हैं। उसी प्रकार चैतन्यदर्पण स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला है। उसमें स्व का ज्ञान होने पर परपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा आकृति जैसी है, वैसी ज्ञात हो जाती है, तथापि परपदार्थ आत्मा में प्रविष्ट नहीं होते। दर्पण में बड़ी अग्नि दिखाई देने पर भी दर्पण गर्म नहीं होता, उसी प्रकार मैं आत्मा चिदानन्दस्वभावी हूँ, शरीर-मन-वाणी पर है, पुण्य-पाप विकार है, विकाररहित मैं शुद्ध हूँ, ऐसा स्व का ज्ञान होने से पर का ज्ञान हो जाता है। काल भी ज्ञेय है। उसकी व्याख्या करते हैं।

भावार्थ - जो क्रम से अतिसूक्ष्म प्रवर्तता है, वह व्यवहारकाल है और उस व्यवहारकाल का आधार निश्चयकाल है। काल शब्द है तो काल नाम का पदार्थ भी है। जैसे शक्कर शब्द है तो शक्कर नाम का पदार्थ भी है। सिंह शब्द है तो सिंह नाम का पदार्थ भी है। सर्वज्ञ शब्द है तो सर्वज्ञ नाम का पदार्थ भी है। शब्द के कारण पदार्थ है, ऐसा कहकर पदार्थ का पराधीनपना बतलाना नहीं है, परन्तु शब्द वाचक है और पदार्थ वाच्य है, ऐसा कहकर वाचक-वाच्य का सम्बन्ध बतलाना है। कितने ही काल को उपचार मानते हैं, यह बात मिथ्या है, इसलिए यहाँ कहा जाता है कि काल नाम का दो अक्षर का शब्द है तो काल पदार्थ भी है।

परमेश्वर शब्द है तो परमेश्वर भी हैं। चैतन्यशक्ति का जिसमें पूर्ण विकास हो

गया, उसे सर्वज्ञ अथवा परमेश्वर कहते हैं। शब्द कहते हैं, वैसा पदार्थ है और वैसा ज्ञान में आना चाहिए। सर्वज्ञदशा ज्ञानगुण की पूर्ण दशा है। यद्यपि मुझे वर्तमान में पूर्ण दशा नहीं है, तथापि जगत में पूर्ण दशा को प्राप्त सर्वज्ञ होना चाहिए। वर्तमान में मुझे अल्पज्ञता होने पर भी सर्वज्ञदशा को स्वीकार करता हूँ। उस पर्याय ने सर्वज्ञ को स्वीकार करने का जोर उठाया, वह जोर कहाँ से आया? निमित्त, राग और पर्याय के अवलम्बन से वह जोर नहीं उठता, परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा आने पर वह जोर उठता है।

अहो! वे सर्वज्ञ भगवन्त अपने त्रिकाली ज्ञानगुणवाले आत्मा के आश्रय से सर्वज्ञदशा को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी आत्मा हूँ, मेरे स्वभाव के आश्रय से अल्पज्ञता टालकर सर्वज्ञदशा को प्राप्त करूँगा। अनन्त सर्वज्ञ हुए, उनकी स्वीकृति में अपनी प्रभुता की स्वीकृति आ जाती है। उस प्रभुता की स्वीकृति सर्वज्ञ के कारण नहीं तथा शब्दों के कारण नहीं। मैं मेरी प्रभुता मेरे चैतन्य के आश्रय से स्वीकार करता हूँ, वर्तमान अल्पज्ञता और राग में अटका हूँ, वह मेरी निर्बलता है और इसलिए सर्वज्ञता व्यक्त नहीं है, परन्तु सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से वीतरागी विज्ञान होने से सर्वज्ञ हुआ जा सकता है, ऐसी प्रतीति वर्तती है। ऐसा निर्णय करनेवाले ने सर्वज्ञ शब्द जाना। शब्द ने बताया हुआ पदार्थ भी जाना और सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य है, ऐसा ज्ञान ने निर्णय भी किया, इस प्रकार शब्द, पदार्थ और ज्ञान तीनों समय जाने कहलाते हैं।

मुमुक्षु : 'खरगोश के सींग' शब्द है तो जगत में वैसा पदार्थ है?

समाधान : 'खरगोश के सींग' दो पदवाला वाक्य हो गया। अकेला शब्द कहो तो वैसा पदार्थ होना चाहिए। खरगोश शब्द है तो उस नाम का पदार्थ है और सींग शब्द है तो उस नाम का पदार्थ है। दो शब्द हैं तो दो पदार्थ अलग-अलग हैं, परन्तु दो शब्दों के वाक्य का पदार्थ होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। एक शब्द हो, वैसा पदार्थ हो सकता है और वैसा ज्ञान हो सकता है। शब्द तो शब्द के कारण से है और ज्ञान भी ज्ञान के कारण से होता है। परन्तु शब्द तथा ज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे सर्वज्ञ शब्द से सर्वज्ञपना अपने रागरहित स्वभाव के आश्रय से निश्चित किया, उसी प्रकार काल शब्द है तो काल नाम का पदार्थ भी है और काल पदार्थ का

ज्ञान रागरहित स्वभाव के आश्रय से यथार्थ किया जा सकता है। यहाँ पाँच महाव्रतधारी महान आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि काल नाम का शब्द है तो काल नाम का पदार्थ है। सर्वज्ञ ने कहा है, शास्त्र ने कहा है तेरे ज्ञान के वेदन में युक्ति और अनुमानसहित ख्याल में आ सके, ऐसा है।

व्यवहारकाल एक समय की पर्याय है। वह निश्चयकाल की पर्याय है और पर्याय, पर्यायवान की है, तथापि दूसरे प्रकार से समझाया जाता है। यह व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के नये में से पुरानेरूप होने के परिणामों से उपजता है, ऐसा कहा जाता है। कोई वस्त्र नया था, वह जीर्ण हुआ। कोई बालक था, वह युवा हुआ। बाल, युवक और वृद्ध अवस्था—ऐसे अवस्था के परिणाम से काल का माप ज्ञात होता है। वास्तव में तो व्यवहारकाल की पर्याय निश्चय कालाणु द्रव्य से ही उत्पन्न होती है। परन्तु उसमें जीव-पुद्गल की जीर्ण होनेरूप अवस्था निमित्त है, इसलिए जीव-पुद्गल के परिणाम से व्यवहारकाल का माप आया है, ऐसा कहा जाता है।

इसलिए निश्चित होता है कि समय आदि व्यवहारकाल है, वह जीव-पुद्गल के परिणामों से प्रगट होता है और समयादि व्यवहारकाल है तो उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध धारक निश्चय कालद्रव्य भी है। जहाँ पर्याय है, वहाँ द्रव्य होता ही है। यदि द्रव्य न हो तो पर्याय नहीं होती। पर्याय से पर्याय का अस्तित्व ख्याल में आता है। जैसे कि शक्कर का मीठा स्वाद है, वहाँ शक्कर द्रव्य है; उसी प्रकार परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मन्दगति से जाये, वहाँ एक समय का माप आ गया, पर्याय काल इतने में आ गयी, इसलिए वहाँ द्रव्यकाल भी इतने में आ गया, ऐसा साबित होता है। समयकाल अथवा व्यवहारकाल, द्रव्यकाल को अथवा निश्चयकाल को साबित करता है। निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

यह कालद्रव्य की बात चलती है। वह कालद्रव्य निश्चय से होने पर भी उसका निषेध करे तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। किसी दुकान में शक्कर की बोरी पड़ी होने पर भी दुकानदार कहे कि शक्कर की बोरी नहीं है तो उसका ज्ञान झूठा सिद्ध होता है; उसी प्रकार काल सहित जगत के पदार्थों को जैसा है, वैसा न माने और काल को उड़ावे तो

उसे उड़ाने से अपने ज्ञानस्वभाव को उड़ाया है। अर्थात् कि अपना ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। वर्तमान में कोई जीव काल को नहीं मानते, कोई अनन्त कालद्रव्य मानते हैं - दोनों झूठे हैं। एक प्रदेश में एक, ऐसे असंख्य कालाणु हैं, ऐसा वस्तुस्वरूप है। भगवान ने यह देखा है और ज्ञान-ध्यान में मस्त मुनि भी ऐसा कह रहे हैं। जो मुनि को स्वीकार करता है, उसे कालतत्त्व का स्वीकार भी होना चाहिए। जो काल को स्वीकार नहीं करता, वह एक को भी स्वीकार नहीं करता।

कोई कलाबाज चित्रकार हो, वह पर्दे के पीछे बैठी हुई महिला का चित्र उसका एक अँगूठा देखकर चित्रित कर देता है, अल्पज्ञ अज्ञानी कलाबाज भी एक अंश से पूरे शरीर का तादृश चित्र चित्रित कर देता है, उस कलाबाज की जगत को महिमा आती है, परन्तु आत्मा ज्ञान कलाबाज है। समय के माप में पूरे पर्यायवान काल को निश्चित करने की सामर्थ्यवाला है, उस अपनी कलाबाज की महिमा अज्ञानी को नहीं आती, वह राग-द्वेषादि में रुक जाता है।

यहाँ व्यवहारकाल से निश्चयकाल बतलाते हैं। पर्याय से पर्यायी का अस्तित्व निश्चित होता है। उसमें से व्यवहारकाल क्षणविनश्वर है और निश्चयकाल नित्य है। वह अपने अनन्त गुण-पर्याय से सहित है और सदा अविनाशी है। यद्यपि आत्मा की मोक्षदशा में काल निमित्त है परन्तु काल के कारण मोक्ष नहीं होता तथा आत्मा के ज्ञान में काल ज्ञेय है, इसलिए ज्ञेयरूप से भी निमित्त है। पर्याय निमित्त होती है, द्रव्य तो त्रिकाल है। इस प्रकार नित्य कालद्रव्य अविनाशी कहा।

●●

रत्नत्रय के साधक सन्त

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि का देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे, ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें - ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ २०

गाथा - १०१

कालो ति य ववदेसो सद्भावपरुवगो हवदि णिच्चो।

उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०१॥

काल इति च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः।

उत्पन्नप्रध्वंस्यपरो दीर्घांतरस्थायी ॥१०१॥

नित्यक्षणिकत्वेन कालविभागख्यापनमेतत्। यो हि द्रव्यविशेषः 'अयं कालः, अयं कालः' इति सदा व्यपदिश्यते स खलु स्वस्य सद्भावमावेदयन् भवति नित्यः। यस्तु पुनरुत्पन्नमात्र एव प्रध्वंस्यते स खलु तस्यैव द्रव्यविशेषस्य समयाख्यः पर्याय इति। स तूत्संगितक्षण-भंगोऽप्युपदर्शितस्वसंज्ञानो नयबलादीर्घांतरस्थाय्युपगीयमानो न दुष्यति; ततो न खल्वावलिका-पल्योपमसागरोपमादिव्यवहारो विप्रतिषिध्यते। तदत्र निश्चयकालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्यायरूपत्वादिति ॥१०१॥

काल संज्ञा सत प्ररूपक नित्य निश्चय काल है।

उत्पन्न-ध्वंसी सतत रह व्यवहार काल अनित्य है ॥१०१॥

अन्वयार्थः—[कालः इति च व्यपदेशः] 'काल' ऐसा व्यपदेश [सद्भावप्ररूपकः] सद्भाव का प्ररूपक है, इसलिए [नित्यः भवति] काल (निश्चयकाल) नित्य है। [उत्पन्नध्वंसी अपरः] उत्पन्नध्वंसी ऐसा जो दूसरा काल (अर्थात् उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला जो व्यवहारकाल) वह [दीर्घांतरस्थायी] (क्षणिक होने पर भी प्रवाह अपेक्षा से) दीर्घ स्थिति का भी (कहा जाता) है।

टीकाः—काल के 'नित्य' और 'क्षणिक' ऐसे दो विभागों का यह कथन है।

'यह काल है, यह काल है' ऐसा करके जिस द्रव्यविशेष का सदैव व्यपदेश (निर्देश, कथन) किया जाता है, वह (द्रव्यविशेष अर्थात् निश्चयकालरूप खास द्रव्य) सचमुच अपने सद्भाव को प्रगट करता हुआ नित्य है; और जो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है, वह (व्यवहारकाल) सचमुच उसी द्रव्यविशेष की 'समय' नामक पर्याय है। वह क्षणभंगुर होने पर भी अपनी सन्तति को (प्रवाह को) दर्शाता है, इसलिए उसे नय के बल से 'दीर्घ काल तक टिकनेवाला' कहने में दोष नहीं है; इसलिए आवलिका, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि व्यवहार का निषेध नहीं किया जाता।

इस प्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि-निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है, व्यवहारकाल पर्यायरूप होने से क्षणिक है॥१०१॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार

अब कालद्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य भेद करके बतलाते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार सिंह शब्द दो अक्षर का है, वह सिंह नामक पदार्थ को बतलाता है। जब कोई सिंह शब्द कहे, तब सिंह शब्द का ज्ञान होता है, उसी प्रकार काल शब्द कहने से काल पदार्थ जानने में आता है। शब्द के कारण ज्ञान होता है, ऐसा है ही नहीं, परन्तु वाचक-वाच्य सम्बन्ध बताकर काल को सिद्ध करते हैं। काल शब्द काल नामक निश्चयपदार्थ को बतलाता है। जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं, वैसे काल भी द्रव्य है। असंख्य कालाणु हैं, इस प्रकार काल नाम का पदार्थ निश्चयनय से बताया।

व्यवहारकाल में सबसे सूक्ष्म समय है। वह एक समय की अवस्था है, वह उत्पन्न होती है और नाश पाती है तथा निश्चय कालाणु की पर्याय है। पर्याय उत्पाद-व्ययरूप सिद्धान्त में कही गयी है। उस समय की भूत, भविष्य और वर्तमानरूप परम्परा ली जाये तो आवली, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि अनेक भेदरूप होती है। इसलिए निश्चित होता है कि निश्चयकाल अविनाशी है और व्यवहारकाल विनाशी है। ●●

जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती

जैसे पुत्र में पिता का प्रतिभास आता है, वैसे ही मोक्षमार्गी मुनियों में वीतरागी जिनभगवान का प्रतिभास, वीतरागता का प्रतिभास झलकता है। मात्र शान्त.... शान्त.... वीतराग अकषायभाव ही तैरता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ८४, पृष्ठ २०

गाथा - १०२

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।

लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥

एते कालाकाशे धर्माधर्मो च पुद्गला जीवाः।

लभंते द्रव्यसंज्ञां कालस्य तु नास्ति कायत्वम् ॥१०२॥

कालस्य द्रव्यास्तिकायत्वविधिप्रतिषेधविधानमेतत्। यथा खलु जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि सकलद्रव्यलक्षणसद्भावादद्रव्यपदेशभाजिज भवन्ति, तथा कालोऽपि। इत्येवं षड्द्रव्याणि। किंतु यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां द्वयादिप्रदेश-लक्षणत्वमस्ति अस्तिकायत्वं, न तथा लोकाकाशप्रदेशसंख्यानामपि कालाणूनामेक-प्रदेशत्वादस्त्यस्तिकायत्वम्। अत एव च पञ्चास्तिकायप्रकरणे न हीह मुख्यत्वेनोपन्यस्तः कालः। जीवपुद्गलपरिणामावच्छिद्यमानपर्यायत्वेन तत्परिणामान्यथानुपपत्त्यानुमीयमान-द्रव्यत्वेनात्रैवांतर्भावितः ॥१०२॥

- इति कालद्रव्यव्याख्यानं समाप्तम्।

जीव पुद्गल धर्म-अधर्म काल अर आकाश जो।

हैं 'द्रव्य संज्ञा सर्व की कायत्व है नहीं काल को ॥१०२॥

अन्वयार्थ :- [एते] यह [कालाकाशे] काल, आकाश [धर्माधर्मो] धर्म, अधर्म, [पुद्गलाः] पुद्गल [च] और [जीवाः] जीव (सब) [द्रव्यसंज्ञां लभंते] 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करते हैं; [कालस्य तु] परन्तु काल को [कायत्वम्] कायपना [न अस्ति] नहीं है।

टीका:-यह, काल को द्रव्यपने के विधान का और अस्तिकायपने के निषेध का कथन है (अर्थात् काल को द्रव्यपना है किन्तु अस्तिकायपना नहीं है, ऐसा यहाँ कहा है)।

जिस प्रकार वास्तव में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से वे 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार काल भी (उसे द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से) 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार छह द्रव्य हैं। किन्तु जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को द्वि-आदि

१. द्वि-आदि=दो या अधिक; दो से लेकर अनन्त तक।

प्रदेश जिसका लक्षण है, ऐसा अस्तिकायपना है, उस प्रकार कालाणुओं को-यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी (असंख्य) है तथापि-एकप्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है। और ऐसा होने से ही (अर्थात् काल अस्तिकाय न होने से ही) यहाँ पंचास्तिकाय के प्रकरण में मुख्यरूप से काल का कथन नहीं किया गया है; (परन्तु) जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा जो ज्ञात होती है-मापी जाती है, ऐसी उसकी पर्याय होने से तथा जीव-पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है, ऐसा वह द्रव्य होने से उसे यहाँ 'अन्तर्भूत' किया गया है॥१०२॥

इस प्रकार कालद्रव्य का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार

काल वस्तु है परन्तु उसे काय नहीं - अनेक प्रदेश नहीं। वह एक ही प्रदेशी है, इसलिए वह कायवान नहीं कहलाता। एक प्रदेश में पर्याय पूरी होने पर उसका माप आ जाता है, इसलिए वह एक प्रदेशी है। तथा उसमें रूक्षता-स्निग्धता भी नहीं है, जिससे एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ चिपक नहीं सकता। प्रत्येक कालाणु पृथक् रहता है, यह बताते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव (और आकाश) पाँच द्रव्यों में गुण-पर्याय है, इसलिए द्रव्य का लक्षण जैसे सत् है तथा सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है, उसी प्रकार गुण-पर्यायादि लक्षण काल में है, इसलिए काल को द्रव्य कहा जाता है।

जीव, पुद्गलादि द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। ये तीनों सत् के अंश हैं। यह प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव है। आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव आत्मद्रव्य के कारण है, पुद्गल के कारण नहीं; पुद्गल के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पुद्गल के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। इसी प्रकार काल में अनन्त गुण और पर्याय हैं, वे सत् है, उनमें भी नयी अवस्थारूप से उपजना, पुरानी का टल जाना और ध्रुवरूप

से टिके रहना है। ऐसे लक्षण होने से काल को भी द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार काल तथा दूसरे पाँच द्रव्यों की द्रव्यसत्ता समान है। इस अपेक्षा से सभी समान हैं।

(१) जीव नाम का पदार्थ है। सामने पुद्गल नाम का पदार्थ है। जीव में ज्ञान न हो, ऐसा कभी नहीं होता और पुद्गल में ज्ञान हो, ऐसा कभी नहीं होता। जीव शक्ति वह सर्वज्ञ है, पुद्गल अज्ञ (ज्ञानरहित है)।

(२) धर्मद्रव्य जीव-पुद्गल को गति में निमित्त होता है, सामने अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होता है।

(३) आकाश, क्षेत्र से सर्व व्यापक है – अनन्त प्रदेशी है। सामने काल एक प्रदेशी है, क्षेत्र छोटे में छोटा है।

(४) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पाँच द्रव्य अचेतन हैं और जीव एक चेतन है।

(५) जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं और पुद्गल एक मूर्तिक है।

इस प्रकार विरुद्ध लक्षणवाले द्रव्य हैं। उनमें द्वैतता रही हुई है परन्तु द्रव्य है, इस अपेक्षा से सभी समान हैं।

उनमें से धर्म, अधर्म, लोकाकाश, जीव – इन चार के असंख्य प्रदेश हैं; पुद्गल परमाणु निश्चय से एक प्रदेशी है परन्तु उसमें स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी है, परन्तु काल तो एक ही प्रदेशी है। तथा उसमें रूक्षता-स्निग्धता नहीं है, इसलिए व्यवहार से सप्रदेशी होने की भी योग्यता नहीं है।

भावार्थ – कालाणु रत्न की राशि की भाँति पृथक् पड़े हुए हैं। कालाणु एक प्रदेशी है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं, इसलिए कालाणु द्रव्य भी असंख्य हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहता है, इसलिए काल कायवाला—अनेक प्रदेशोंवाला नहीं है। अर्थात् कि कायरहित है। इसलिए इस पंचास्तिकाय ग्रन्थ में उसका मुख्यरूप कथन नहीं किया है। इस कालद्रव्य का पाँच अस्तिकाय में गर्भित कथन

आ जाता है, क्योंकि जीव-पुद्गल के परिणमन से समयादि व्यवहारकाल जानने में आता है। यदि व्यवहारकाल प्रगट जानने में आता है तो निश्चयकाल का अनुमान होता है। इस कारण से पंचास्तिकाय में जीव-पुद्गलों के परिणमन द्वारा कालद्रव्य जानने में आ सकता है, इसलिए पाँच अस्तिकाय में कालद्रव्य को गर्भित जानना।

यह कालद्रव्य का व्याख्यान पूरा हुआ।

●●

मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद

मुनि को वह विकल्प दुःखदायक लगता है। बाहर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण विकल्प के भाव आयें - उपयोग ज्यों ही बाहर जाए कि तुरन्त सहजरूप से स्वभाव की ओर ढल जाते हैं। तुरन्त ही इस शुभ को छोड़ूँ और अन्तर में स्थिर होऊँ - ऐसे विकल्प से नहीं, किन्तु सहजस्वभाव के बल से स्वोन्मुख हो जाते हैं। अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर जहाँ दृष्टि तथा अनुभव में आया, वहाँ उसके निर्विकल्प स्वाद की दशा में से उपयोग बाहर आने पर विकल्प आया, लेकिन तुरन्त ही स्वरूपानन्द में ढल जाते हैं। अहा! ऐसी है छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज की दशा!

‘बाहर आना पड़े, वह बोझ या उपाधि लगता है।’

अरे! उपदेश देने का विकल्प आये, आहार लेने का विकल्प आये- वह सब बोझ या उपाधि लगता है। राग के भार से रहित ज्ञायकवस्तु में विकल्प बोझ के समान लगता है। अनाकुल आनन्द के रसिक भगवान् आत्मा को राग तो आकुलता, दुःख एवं भाररूप लगता है। मुनि आनन्द में स्थित हैं, उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। अहाहा! मुनिपना, वह तो परमेश्वरपद है। मुनि पञ्च परमेष्ठियों में आते हैं न?

दो छोटे पाण्डव भ्राताओं को विकल्प आया कि तीनों ज्येष्ठ भ्राता उपसर्ग में कैसे होंगे? इतने मात्र से बन्ध हो गया और दो भव बढ़ गये। बाहर आना पड़े; विकल्प उठे, वह मुनि को बोझरूप लगता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/५१

गाथा - १०३

एवं पवयणसारं पंचस्थियसंग्रहं वियाणित्ता ।
 जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुखपरिमोक्षं ॥१०३॥
 एवं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकायसंग्रहं विज्ञाय ।
 यो मुञ्चति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षम् ॥१०३॥

तदवबोधफलपुरस्सरः पञ्चास्तिकायव्याख्योपसंहारोऽयम् । न खलु कालकलितपञ्चास्तिकायेभ्योऽन्यत् किमपि सकलेनापि प्रवचनेन प्रतिपाद्यते । ततः प्रवचनसार एवायं पञ्चास्तिकायसंग्रहः । यो हि नामामुं समस्तवस्तुतत्त्वाभिधायिनमर्थतोऽर्थितयावबुध्यात्रैव जीवास्तिकायांतर्गतमात्मानं स्वरूपेणात्यंतविशुद्धचैतन्यस्वभावं निश्चित्य परस्परकार्यकारणीभूतानादिरागद्वेषपरिणामकर्मबंधसंततिसमारोपितस्वरूपविकारं तदात्वेऽनुभूयमानमवलोक्य तत्कालोन्मीलितविवेकज्योतिः कर्मबंधसंततिप्रवर्तिकां रागद्वेषपरिणतिमत्यस्यति, स खलु जीर्यमाणस्नेहो जघन्यस्नेहगुणाभिमुखपरमाणुवद्भाविवंधपराङ्मुखः पूर्वबंधात्प्रच्यवमानः शिखितप्तोदकदौस्थ्यन्ननुकारिणो दुःखस्य परिमोक्षं विगाहत इति ॥१०३॥

इस भाँति जिनध्वनिरूप पंचास्ति प्रयोजन जानकर ।

जो जीव छोड़े राग-रुष वह छूटता भव दुःख से ॥१०३॥

अन्वयार्थ :- [एवम्] इस प्रकार [प्रवचनसारं] प्रवचन के सारभूत [पंचास्तिकाय-संग्रहं] 'पंचास्तिकायसंग्रह' को [विज्ञाय] जानकर [यः] जो [रागद्वेषौ] रागद्वेष को [मुञ्चति] छोड़ता है, [सः] वह [दुःखपरिमोक्षम् गाहते] दुःख से परिमुक्त होता है।

टीका:-यहाँ पंचास्तिकाय के अवबोध का फल कहकर पंचास्तिकाय के व्याख्यान का उपसंहार किया गया है।

वास्तव में सम्पूर्ण (द्वादशांगरूप से विस्तीर्ण) प्रवचन, कालसहित पंचास्तिकाय से अन्य कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता; इसलिए प्रवचन का सार ही यह 'पंचास्तिकाय-संग्रह' है। जो पुरुष समस्त वस्तुतत्त्व का कथन करनेवाले इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' को ^१अर्थतः ^२अर्थीरूप से जानकर, इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय में ^३अन्तर्गत स्थित अपने को

(निज आत्म को) स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करके 'परस्पर कार्यकारणभूत ऐसे अनादि रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध की परम्परा से जिसमें 'स्वरूपविकार' आरोपित है ऐसा अपने को (निज आत्मा को) उस काल अनुभव में आता देखकर, उस काल विवेकज्योति प्रगट होने से (अर्थात् अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का और विकार का भेदज्ञान उसी काल प्रगट प्रवर्तमान होने से) कर्मबन्ध की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाली रागद्वेषपरिणति को छोड़ता है, वह पुरुष, वास्तव में जिसका 'स्नेह जीर्ण होता जाता है ऐसा, जघन्य 'स्नेहगुण के सन्मुख वर्तते हुए परमाणु की भाँति भावी बन्ध से पराङ्मुख वर्तता हुआ, पूर्व बन्ध से छूटता हुआ, अग्नितप्त जल की 'दुःस्थिति समान जो दुःख उससे परिमुक्त होता है॥१०३॥

१. अर्थत=अर्थानुसार; वाच्य का लक्षण करके; वाच्यसापेक्ष; यथार्थ रीति से।
२. अर्थीरूप से=गरजीरूप से; याचकरूप से; सेवकरूप से; कुछ प्राप्त करने के प्रयोजन से (अर्थात् हित प्राप्ति के हेतु से)।
३. जीवास्तिकाय में स्वयं (निज आत्मा) समा जाता है, इसलिए जैसा जीवास्तिकाय के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वैसा ही अपना स्वरूप है अर्थात् स्वयं भी स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला है।
४. रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध अनादि काल से एक-दूसरे को कार्यकारणरूप हैं।
५. स्वरूपविकार=स्वरूप का विकार। [स्वरूप दो प्रकार का है : (१) द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप, और (२) पर्यायार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप। जीव में जो विकार होता है, वह पर्यायार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में होता है, द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में नहीं; वह (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत) स्वरूप तो सदैव अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यात्मक है।]
६. आरोपित=(नया अर्थात् औपाधिकरूप से) किया गया। (स्फटिकमणि में औपाधिकरूप से होनेवाली रंगित दशा की भाँति जीव में औपाधिकरूप से विकारपर्याय होती हुई कदाचित् अनुभव में आती है।)
७. स्नेह=रागादिरूप चिकनाहट।
८. स्नेह=स्पर्शगुण की पर्यायरूप चिकनाहट। (जिस प्रकार जघन्य चिकनाहट के सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बन्ध से पराङ्मुख है, उसी प्रकार जिसके रागादि जीर्ण होते जाते हैं, ऐसा पुरुष भावी बन्ध से पराङ्मुख है।)

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार

अब पाँच अस्तिकाय के ज्ञान का फल बताते हैं।

पंचास्तिकाय के ज्ञान का फल मुक्ति है, यह बताते हैं। निकट भव्य जीव कहा है। अल्प काल में मुक्ति में जानेवाला है, वह निकट भव्य है। दूसरे की पर्याय बिगड़े या सुधरे, कोई सर्वज्ञ हो या कोई निगोद हो, परमाणु पृथक् पड़े या इकट्ठा हो तो मुझे लाभ या नुकसान नहीं है। मैं मेरे ज्ञान में स्व को जानते हुए इन सब पर को जानता हूँ। दूसरे पदार्थ मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं है और मुझे कल्पना होती है, वह पर के कारण नहीं होती, परन्तु मेरी निर्बलता के कारण है। मैं तो राग का तथा पर का जाननेवाला हूँ, ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिवाला जीव निकट भव्य है।

वह निकट भव्य जीव दिव्यध्वनि में से आये हुए बारह अंग के रहस्य को अथवा पाँच अस्तिकाय के स्वभाव को भले प्रकार जानता है। ‘भले प्रकार जानकर’ इन शब्दों पर खास वजन है। छह द्रव्य स्वतन्त्र जैसे हैं, वैसे जानता है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने से है और दूसरे द्रव्यों से नहीं है, तथा प्रत्येक का वर्तमान स्वयं से है और अन्य द्रव्य से नहीं, इस प्रकार छह द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा पृथक्-पृथक् जानना, वह प्रथम उपाय है।

मिथ्यात्वदशा में छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानता नहीं था, इसलिए मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष की उत्पत्ति थी। अब भेदज्ञान हुआ कि अहो! छह द्रव्य स्वतन्त्र है। किसी के कारण कोई नहीं। मैं आत्मा हूँ, दूसरे जड़ से भिन्न हूँ, तथा दूसरे अनन्त आत्माओं से उससे भी पृथक् हूँ। इसलिए उस पर से मुझे लाभ नहीं तथा नुकसान नहीं। सर्वज्ञ से

९. दुःस्थिति=अशान्त स्थिति (अर्थात् तले-ऊपर होना, खदबद् होना); अस्थिरता; खराब-बुरी स्थिति। (जिस प्रकार अग्नितप्त जल खदबद् होता है, तले-ऊपर होता रहता है, उसी प्रकार दुःख आकुलतामय है।)

लाभ नहीं, दुश्मन से नुकसान नहीं। मेरी पर्याय का अंश उसमें जाता नहीं और उसका अंश मुझमें आता नहीं। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया स्वतन्त्र हो रही है, ऐसा प्रथम पर से भेदविज्ञान करता है।

इस प्रकार भेदविज्ञान होने के पश्चात् इष्ट पदार्थों में प्रीति और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष को छोड़ता है। भेदविज्ञान हुए बिना कभी राग-द्वेष नहीं छूटते, इसलिए यहाँ कहा कि भले प्रकार से जानकर राग-द्वेष को छोड़ता है। पर से भेदविज्ञान किया। कर्म पर है, जड़ है, उन्हें मैं घात नहीं सकता तथा परपदार्थ को मैं ग्रहण या छोड़ नहीं सकता। और मुझमें जो राग-द्वेष होते हैं, वह पर के कारण नहीं होते, मेरे कारण होते हैं। परन्तु वह राग-द्वेष मेरे स्वभाव में नहीं है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, उसे राग-द्वेष को छोड़ते हैं, ऐसा कहा जाता है। राग-द्वेष है, उन्हें किस प्रकार छोड़ना? और उत्पन्न हुए नहीं, उन्हें क्या छोड़ना? मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे स्वभाव में स्थिर होने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। उसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष छोड़ता है, ऐसे उपदेश के वाक्य आते हैं।

(१) प्रथम निमित्त की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि होती है।

(२) पश्चात् स्वभाव में स्थिर होने पर राग-द्वेष छूट जाते हैं।

इस प्रकार वह भव्य जीव संसार के दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १४, रविवार

यह पहला अध्याय पूरा होता है। ज्ञानसमय, अर्थसमय और शब्दसमय—ऐसे तीन प्रकार के समय की बात की थी। जगत के पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होते हैं, उसके कारण राग-द्वेष नहीं होते परन्तु वीतरागता होती है, ऐसा जो शास्त्र बतावे, उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि तुझे परपदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं है। छह द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। पर के कारण संगपना नहीं तथा पर के कारण असंगपना भी नहीं। तुझे असंगपने का

अभाव वर्तता है, इसलिए संसार है। तेरे बेभानपने के कारण संसार है और स्वभाव का भान होने पर संसार टल जाता है और वीतरागता उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता बतलावे, वह शब्दसमय है। शास्त्र और राग के अवलम्बन बिना जो ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञानसमय है। पाँच अस्तिकाय का स्वरूप जानने का फल वीतरागता है, वह बताते हैं।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है। आत्मा परपदार्थ से भिन्न है और पर्याय में विकार हो, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, ऐसा भान होने के पश्चात् निर्बलता के कारण अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे आत्मा में विशेष असंगपने की दृढ़ता करने से नाश को प्राप्त होते हैं और वीतरागता प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। उन सर्वज्ञदेव को दिव्यध्वनि खिरती है, वह द्वादशांग वाणी है, उसमें समय-समय में बारह अंग का रहस्य निकलता है और तदनुसार गणधर शास्त्र की रचना करते हैं।

उस द्वादशांग वाणी के अनुसार जितने शास्त्र रचे गये, वे शास्त्र सच्चे हैं। छहों द्रव्य परिपूर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसा वे शास्त्र बतलाते हैं।

यह छह द्रव्य के स्वरूप में से एक भी वस्तु आगे-पीछे करे और एक भी पदार्थ को निकाल डाले, एक आत्मा कम कहे, पुद्गल कम कहे, धर्म, अधर्म, आकाश को निकाल डाले, काल को न माने अथवा अनन्त कालाणु माने और उसमें फेरफार करके शास्त्र रचे, वे मिथ्यादृष्टि के रचे हुए हैं, वे द्वादशांग वाणी के आधार से लिखे हुए नहीं हैं।

यह शब्दसमय अथवा शब्दश्रुत की बात चलती है। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान दो हजार वर्ष पहले हुए और अमृतचन्द्राचार्य ९०० वर्ष पहले हुए। वे कहते हैं कि 'किसी जगह कुछ भी छूट नहीं की है।' भगवान की वाणी में जरा भी छूट नहीं रखी है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा यहाँ कहा जाता है।

कोई कहे कि द्रव्य पाँच हैं; काल को उपचार मानकर छूट लें तो ?

समाधान - वह वाणी तीर्थंकर की, मुनि की या सन्तों की नहीं है परन्तु मिथ्यादृष्टि की है। यह सिद्धान्त सिद्ध किया। जिसकी परम्परा सच्ची नहीं, उसका एक अक्षर भी सच्चा नहीं।

कोई तर्क करे कि 'हम काल को नहीं मानते परन्तु अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु को तथा द्रव्य-गुण-पर्याय को मानते हैं, तो इतना तो हमारा सच्चा कहो।

उत्तर - नहीं; तेरा एक अक्षर भी सच्चा नहीं है। कालद्रव्य जो सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है, उसका तुझे स्वीकार नहीं, इसलिए तेरे अभिप्राय में एक भी द्रव्य का स्वीकार है ही नहीं। इसलिए तेरी सब बातें मिथ्या हैं।

एक भी द्रव्य कम माने या विपरीत माने, वह सब मिथ्या है और छह द्रव्यों को जैसा है, वैसा बतावे, वे सच्चे शास्त्र हैं। इस पंचास्तिकाय में भी यह निर्णय है, इसलिए यह पंचास्तिकाय प्रवचन है, वह भगवान के प्रमाण वचनों का सार है। क्योंकि इसमें छहों द्रव्यों का स्वतन्त्र प्रतिपादन किया गया है। आत्मा-आत्मारूप से है, पररूप से नहीं; पर, पररूप से है और आत्मारूप से नहीं। इस प्रकार प्रथम वाणी सिद्ध करके उसके अनुसार रचित शास्त्रों में छह द्रव्य स्वतन्त्र बताये हैं, ऐसा सिद्ध किया।

अब उन शास्त्रों में कहे गये छह द्रव्यों के स्वरूप को जानने का फल कहते हैं। समस्त पदार्थों के स्वरूप को बतलानेवाला यह ग्रन्थ पंचास्तिकाय है। जो कोई पुरुष इसे शब्द तथा अर्थ से भलीभाँति जानेगा, वह भेदविज्ञान को प्राप्त करेगा। कोई आत्मा किसी पर को लाभ-नुकसान करने को समर्थ नहीं है, काल पदार्थ है परन्तु उसके कारण दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपने कारण से अपनी हद में वर्त रहा है। कर्म कर्मरूप से है, शरीर शरीररूप से है, दूसरे आत्मा दूसरे रूप से है, मैं मेरेरूप से हूँ। कोई मेरी निन्दा करे तो वे शब्द और उसका भाव मुझे अहित नहीं करता और कोई मेरे हित की भावना करे तो उससे मेरा हित नहीं होता। मेरे कारण से मेरा हित अथवा अहित है। मेरे दुःख का कारण मेरे राग-द्वेष हैं और मेरी शान्ति का कारण मैं हूँ, परपदार्थ शान्ति या दुःख के कारण नहीं है। इस प्रकार यथार्थ रीति से शास्त्र को समझना चाहिए।

कोई जीव ऐसा माने कि दूसरे निन्दा करते हैं, इसलिए मुझे खेद होता है, प्रशंसा करते हैं, इसलिए मुझे राग होता है; कर्म के कारण विकार होता है; स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लड्डू इत्यादि से सुख होता है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-

भिन्न जो नहीं समझता, वह शास्त्र को, पदार्थ को या ज्ञानस्वभाव को एक को भी नहीं समझता।

तीसरी गाथा में (१) शब्दसमय (२) पदार्थसमय (३) ज्ञानसमय की बात की है। तो यहाँ योगफल लाकर रखते हैं। छह द्रव्य स्वतन्त्र बताकर वीतरागता बताते हैं, यह शब्दसमय है। वस्तु भी ऐसी ही है और ज्ञान भी ऐसा ही जानता है। ज्ञान ने जाना कि अहो! मेरे आत्मा को किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, किसी को रोकना या उसका विकास करना, वह मेरे हाथ में नहीं है, मैं तो स्वतन्त्र हूँ। इस प्रकार तीनों का फल वीतरागता है।

मजबूत संहनन हो तो केवल (ज्ञान) होता है, काल अच्छा हो तो धर्म होता है, कोई निन्दा करे तो द्वेष होता है, कोई प्रशंसा करे तो राग होता है—ऐसा माननेवाले को शास्त्रकार कहते हैं कि उस प्रकार की तेरी मूढ़ता पर शून्य लगा। तेरा एक अक्षर सच्चा नहीं है। तू पदार्थ को समझता नहीं, देव-गुरु-शास्त्र को समझता नहीं, तेरे आत्मा को समझता नहीं।

छहों द्रव्यों को जैसा है, वैसा जान। किसी को किसी की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक तत्त्व पृथक् है। शरीर, मन, वाणी, बँगला, पैसा सब स्वतन्त्र है, किसी के कारण कोई नहीं है। दूसरे के कारण से स्वयं है और दूसरे से अपने को सुख है, ऐसा माने तो पर से पृथक् नहीं रहता।

मूल गाथा में 'विज्ञाय' शब्द है, उसका अर्थ किया है कि 'भलीभाँति जानेगा' देखो, यह मूल बात है। 'भले प्रकार जानकर' - ऐसा कहा है। मात्र धारणा की बात नहीं है। जिसे वस्तु की रुचि हुई नहीं, उसने भले प्रकार से स्वरूप को जाना नहीं। अहो! मेरा आत्मा सुख और ज्ञानस्वरूप है। जगत के किसी साधन से शान्ति या अशान्ति नहीं है, किसी से मेरा धर्म प्रगट नहीं होता तथा लुप्तता नहीं, जितनी अशक्ति है, उतना अधर्म है और जितना स्वभाव प्रगट होता है, वह धर्म है। यह पंचास्तिकाय का स्वरूप जानने पर भेदविज्ञान होता है। पर के कारण विकार नहीं, विकार मेरे जीवास्तिकाय का अंश है। इस प्रकार पर से पृथक्ता का भान होने पर धर्मी विचारता है कि विकार

पर्याय में है, तथापि वह शुद्ध त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। इस प्रकार भेदज्ञान करता है, उसने शास्त्र को भले प्रकार जाना कहा जाता है।

अज्ञानी जीव जगत को समझाने के लिये शास्त्र पढ़ जाता है। अकेले शास्त्र को शुभरागसहित जाने, वह पुण्यबन्ध है, वह धर्म नहीं। और किसी अस्तिकाय का कोई अंश दूसरे में मिलाकर छह द्रव्यों की पृथक्ता को जो नहीं मानता, उसे वाणी नहीं मिली, छह पदार्थों का स्वरूप नहीं मिला, और उसे सच्चा ज्ञान नहीं हुआ।

इसलिए यहाँ 'भलीभाँति' शब्द प्रयोग किया है। भले प्रकार से जानने की बात है। अकेली धारणा की बात नहीं। धर्मी जीव स्वर्ग में हो तो भी इन्द्राणी से सुख नहीं मानता, क्योंकि वह पर है। नरक में हो तो भी अग्नि को दुःख का कारण नहीं मानता, क्योंकि वह पर है। धर्मी तिर्यच हो तो सर्दी-धूप के कारण दुःख नहीं मानता है, क्योंकि वह सब पर है, मेरा सुख मुझमें है, ऐसा धर्मी जीव किसी भी गति में हो तो भी मानता है।

अज्ञानी जीव मानता हैं कि गर्मी के कारण आकुलता बहुत होती है। भाई! वह आकुलता करता है तो होती है। और कोई जीव शरीर को धर्म का साधन मानकर कसरत करता है और शरीर मजबूत होगा तो धर्म होगा, ऐसा मानता है। और कहते हैं कि शरीर में १०५ डिग्री बुखार आवे तो सामायिक होगी? उसे कहते हैं कि भाई! तू अज्ञानी है। बुखार शरीर को आता है, आत्मा को बुखार नहीं आता। शरीर से आत्मा भिन्न है। आत्मा के आधार से सामायिक होती है, उसका तुझे भान नहीं है।

इसलिए यहाँ प्रथम भेदज्ञान करने की बात करते हैं। धर्मी जीव छह द्रव्यों को स्वतन्त्र मानता है। विकार पर के कारण नहीं, मेरे अपराध के कारण है। परन्तु वह पर्याय में है; द्रव्य-गुण में नहीं। इस प्रकार पर से भिन्न होकर विचार करता है कि शुभाशुभभाव हेय है, और शुद्ध आत्मस्वभाव उपादेय है। चैतन्यस्वभाव निर्मल है, ऐसा जिसने दृढ़ किया है, वह जानता है कि अविद्या से उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के परिणाम आत्मस्वरूप में विकार उपजाते हैं, परन्तु वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। यहाँ कर्म से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं कहा। अनादि अविद्या से राग-द्वेष होते हैं अर्थात् कि छह

द्रव्यों से पृथक्ता की खबर नहीं, यह अनादि की अविद्या है, इसलिए विकार उत्पन्न होता है। अब भान हुआ कि मेरे कारण से हास्य, रति, अरति, यश, अयश की वृत्तियाँ होती हैं, कर्म के कारण नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम भी चैतन्यस्वभाव की निर्मलता को मलिन करनेवाले हैं। इस प्रकार जो यथार्थ ज्ञान करता है, उसका ज्ञान सच्चा है।

ज्ञानस्वभाव में विकार नहीं, विकार मेरी जाति नहीं; विकार जड़ का है, चैतन्यस्वरूप का नहीं, ऐसा द्रव्यदृष्टि कराने को समयसार में कथन आता है।

यहाँ पंचास्तिकाय में शुभाशुभराग तेरे जीवास्तिकाय का है, पर के कारण नहीं। अपना अंश है, ऐसा ज्ञान कराकर, अब कहते हैं कि वे शुभाशुभभाव चैतन्यस्वरूप को मलिन करनेवाले हैं। ऐसा कहकर निकाल डालते हैं। प्रथम राग-द्वेष तेरे अस्तिकाय में है, ऐसा सिद्ध करने के पश्चात् निकाल दिया।

कोई कहता है, तो क्या करना? व्यवहाररत्नत्रय का साधन भी उड़ा दिया। भाई! तेरा आत्मा वास्तविक साधन है। उसे रखा है। जितना राग-द्वेष होता है, वह मलिनता करनेवाला है। वह मलिनता पर के कारण नहीं है। तेरे कारण से है, तुझे नुकसान करनेवाली है, इसलिए तू ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो तो धर्म और शान्ति हो, ऐसा है।

और कोई कहे कि इन स्त्री, पुत्रादि का क्या करना? उनकी हमें चिन्ता होती है। भाई! वे आत्मा तो पृथक् हैं, उनके कारण चिन्ता होती है, यह मान्यता मिथ्यात्व की चिन्ता है। ज्ञानी को निर्बलता के कारण चिन्ता होती है, परन्तु पर के कारण चिन्ता नहीं मानता। पर आत्मा और परपदार्थ तो मेरा स्वरूप नहीं परन्तु मेरे कारण से मुझमें चिन्ता हो, वह भी मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा ज्ञानी मानता है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान में रहकर राग को जानता है। जिस भाव से तीर्थकरनामकर्म बँधता है, वह राग मेरे आत्मा में मलिनता करनेवाला है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञानी जानता है। जितना व्यवहार शास्त्र में कहा है, वह सब मलिनता करनेवाला है। उससे मेरी परम ज्योति भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह प्रथम श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

जो परपदार्थों को भी भिन्न नहीं मानता, वह जीव विकार से आत्मा भिन्न है और

आत्मा विकार का टालनेवाला है, ऐसी प्रतीति कहाँ से लायेगा ? 'धर्म विवैके निपजे जो करिये तो थाय'—धर्म बाहर से नहीं आता; अन्तर में से—विवेकज्ञान से धर्म प्रगट होता है।

अब जिसे भेदज्ञान हुआ है, वह राग-द्वेष टालकर चारित्र अथवा वीतरागता प्रगट करता है, उसकी बात करते हैं। भेदविज्ञान होने के पश्चात् परम विवेक ज्योति प्रगट होती है अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिरता करता है। भेदविज्ञान के समय दर्शन-ज्ञान थे, अब स्वभाव में एकाग्रता बहुत जम गयी, इसलिए राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार परम विवेक ज्योति के प्रगटपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित कर दिये और वह मोक्षमार्ग है। आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भेदविज्ञान हुआ था परन्तु पर्याय में राग-द्वेष का दोष होता था, वह स्वभाव में एकाग्रता होने पर, वह दोष भी टला है अर्थात् कि परम विवेक ज्योति प्रगट हुई, इसलिए कर्मबन्धन को उपजानेवाली राग-द्वेष की परिणति का नाश हो जाता है। प्रथम अज्ञानदशा में राग-द्वेष होते थे, उसका कारण कर्म नहीं लिया था। वहाँ अविद्या के कारण से राग-द्वेष होते थे, ऐसा कहा परन्तु जो नये राग-द्वेष हों, उसे नये कर्मबन्धन का कारण कहा। इस प्रकार कर्मबन्धन को उपजानेवाली राग-द्वेष परिणति धर्मी जीव को स्वभाव भाव में स्थिरता करने से उत्पन्न नहीं होती, इसलिए वह नाश हो जाती है, ऐसा कथन किया जाता है। इस प्रकार आगामी बन्ध की रीति थी, वह छूट गयी और नया बन्ध होता नहीं।

यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं। जिस प्रकार एक परमाणु एक गुण स्निग्धतावाला अथवा रूक्षतावाला हो तो दूसरे परमाणु के साथ अथवा स्कन्ध के साथ बन्धदशा को प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार जीव अपने में परम विवेक ज्योति प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाता है और राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करता, इसलिए अपने स्वरूप को पहिचानकर अन्दर स्थिर होना, वह क्रिया अबन्ध का कारण है, दूसरी सब क्रिया बन्ध का कारण है। यह चारित्र है। अपने आत्मा में एकाग्र होकर स्थिर हुआ, वह चारित्र है। देह की क्रिया या पंच महाव्रत, वह चारित्र नहीं। पूर्व में बाँधे हुए कर्म संयोग देकर खिर जाते हैं और फिर जीव चार गति के दुःख से निवृत्त होकर मोक्षपद को पाता है। तीर्थकरप्रकृति,

समवसरण आदि संयोग देकर छूट जाता है और भगवान मोक्ष पधारते हैं। और आदिनाथ भगवान के बहुत साधु थे और महावीर भगवान के कम साधु थे, इसलिए उनके मोक्षपद में कुछ अन्तर पड़ता होगा ? भाई ! यह सब बाहर की बातें हैं। समवसरण इत्यादि सब यहाँ पड़ा रहता है। कर्म संयोग देकर खिर जाते हैं। भगवान मुक्तदशा को पाते हैं। किसी की मोक्षदशा में अन्तर नहीं है, सभी सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञान-आनन्द को अनुभव करते हैं।

इस प्रकार प्रथम भगवान की वाणी स्थापित की, उसमें से रचित शास्त्र सच्चे हैं, ऐसा कहा, उसमें बताये हुए छह द्रव्यों की पृथक्ता को जाने, मात्र धारणा नहीं, फिर विकार को मलिन जाने और भेदविज्ञान प्रगट करे, पश्चात् परम ज्योति प्रगट करके राग-द्वेष का नाश करके मोक्षपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार पूरा मोक्षमार्ग का क्रम बतलाया है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १२, सोमवार

अनादि काल से जीव राग-द्वेष से भटकता है। वह यदि भेदज्ञान करे तो धर्मदशा को प्राप्त करे। मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, परपदार्थों के साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है तथा राग-द्वेष होता है, वह क्षणिक उपाधि है, मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है; इस प्रकार पर से भिन्न करके आकुलतारहित मेरा स्वरूप है, ऐसा विवेक करके अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो मोक्षदशा को प्राप्त करता है। यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

पानी अग्नि के निमित्त से गर्म होता है, वहाँ पानी तो अपनी योग्यता से गर्म होता है। (यदि) अग्नि के कारण गर्म होता हो तो वहाँ रहे हुए धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी गर्म होना चाहिए, परन्तु उनकी योग्यता उष्ण होने की नहीं है, इसलिए वे उष्ण नहीं होते। तो अग्नि उन्हें निमित्त भी नहीं होती। पानी अपनी योग्यता से उष्ण होता है तो अग्नि के सम्बन्ध से उष्ण हुआ, ऐसा कहा जाता है। वह पानी अपनी योग्यता के काल में उष्णपना छोड़कर शीतल स्वभाव को प्राप्त होता है। पानी का स्वभाव ठण्डा शीतल है, यह ज्ञान निर्णय करता है। गर्म पानी में हाथ डालने से ठण्डा मालूम नहीं पड़ता, इसी प्रकार आँख, कान, नाक और जीभ द्वारा भी उसका शीतल स्वभाव ज्ञात नहीं होगा

अथवा कोई जीव बहुत आकुलता करे और मन के निमित्त से संकल्प-विकल्प बहुत करे तो भी शीतल स्वभाव ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। परन्तु ज्ञान निर्णय करता है कि पानी का स्वभाव शीतल है। इस दृष्टान्तानुसार भगवत् वचन को अंगीकार करके ज्ञानी जीव कर्म विकार के आताप को नष्ट करके शान्तरस गर्भित सुख को प्राप्त करता है। यहाँ अर्थसमय किसे कहना, यह भी आ जाता है।

भगवान के वचन कहते हैं कि तू त्रिकाली शुद्ध है, परपदार्थ ने विकार नहीं कराया है तथा स्वभाव में विकार नहीं है परन्तु शान्ति और सुख है। इस प्रकार शब्दसमय ने कहा और ज्ञानसमय भी ऐसा ही निर्णय करता है। सन्त अन्तर्मुख दृष्टि करके, आताप नाश करके शीतलता को प्राप्त हुए हैं तथा मैं भी अन्तर्ध्यान करके आताप नाश करूँगा और अनाकुल शान्तरस को प्राप्त करूँगा। मुझे बाहर के साथ कुछ लेना-देना नहीं है। कोई शत्रु आवे तो मेरी पर्याय को बिगाड़ नहीं देता और चौथा काल हो और समवसरण में जीव बैठा हो तो भी अपने स्वभाव के अवलम्बन बिना आताप टले, ऐसा नहीं है।

भगवान किस मार्ग से हुए? आत्मा में से हुए या बाहर में से हुए? जैसे पानी की शीतलता उसके स्वभाव में से आती है, उसी प्रकार शीतल शान्त स्वभाव में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। जीव लाखों मन्दिर बनावे या महाविदेह में जाये तो भी धर्म का साधन तो अपना स्वभाव है। जैसे पानी का स्वभाव ज्ञान से निर्णीत होता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान से निश्चित होता है। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् जीव अन्तर में स्थिर होता है। यहाँ चारित्र की बात है। बाहर में रोगादि की प्रतिकूलता से अन्दर में प्रतिकूलता नहीं आती तथा अन्तर की अनुकूलता से बाहर में अनुकूलता या प्रतिकूलता नहीं आती। इस प्रकार अपने शान्तस्वभाव को जानकर स्थिर होता है, वह आताप का नाश करके आत्मिक शान्तरस गर्भित सुख को पाता है। बाहर के संयोग जैसे हैं, वैसे रहने दे, हजारों तीर्थकर हों, केवली हों, तो भी तेरी परिणति में विभाव कम करना और स्वभाव में ज्वार लेना, वह तेरे आधीन है, भगवान के आधीन नहीं। इस प्रकार अपने स्वभाव को समझकर स्थिर होता है, वह मुक्ति को पाता है।

गाथा - १०४

मुणिरुण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो ।
 पसमियरागदोसो हवदि हदपरापरो जीवो ॥१०४॥
 ज्ञात्वैतदर्थं तदनुगमनोद्यतो निहतमोहः ।
 प्रशमितरागद्वेषो भवति हतपरापरो जीवः ॥१०४॥

दुःखविमोक्षकरणक्रमाख्यानमेतत् । एतस्य शास्त्रस्यार्थभूतं शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानं कश्चिज्जीवस्तावज्जीनीते । ततस्तमेवानुगंतुमुद्यमते । ततोऽस्य क्षीयते दृष्टिमोहः । ततः स्वरूपपरिचयादुन्मज्जति ज्ञानज्योतिः । ततो रागद्वेषौ प्रशाम्यतः । ततः उत्तरः पूर्वश्च बन्धो विनश्यति । ततः पुनर्बन्धहेतुत्वाभावात् स्वरूपस्थो नित्यं प्रतपतीति ॥ १०४ ॥

इति समयव्याख्यायामंतर्नीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः ॥११॥

इस शास्त्र के सारांश रूप शुद्धात्मा को जानकर ।

उसका करे जो अनुसरण, वह शीघ्र मुक्ति वधु वरै ॥१०४॥

अन्वयार्थ :- [जीवः] जीव [एतद् अर्थं ज्ञात्वा] इस अर्थ को जानकर (—इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्धात्मा को जानकर), [तदनुगमनोद्यतः] उसके अनुसरण का उद्यम करता हुआ [निहतमोहः] हतमोह होकर (—जिसे दर्शनमोह का क्षय हुआ हो, ऐसा होकर), [प्रशमितरागद्वेषः] रागद्वेष को प्रशमित (निवृत्त) करके, [हतपरापरः भवति] उत्तर और पूर्व बन्ध का जिसे नाश हुआ है, ऐसा होता है ।

टीका:—इस दुःख से विमुक्त होने के क्रम का कथन है ।

प्रथम, कोई जीव इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्धचैतन्यस्वभाववाले (निज) आत्मा को जानता है; इसलिए (फिर) उसी के अनुसरण का उद्यम करता है; इसलिए उसे दृष्टिमोह का क्षय होता है; इसलिए स्वरूप के परिचय के कारण ज्ञानज्योति प्रगट होती है; इसलिए रागद्वेष प्रशमित होते हैं—निवृत्त होते हैं; इसलिए उत्तर और पूर्व (—पीछे का और पहले का) बन्ध विनष्ट होता है; इसलिए पुनः बन्ध होने के हेतुत्व का अभाव होने से

स्वरूपस्थरूप से सदैव तपता है—प्रतापवन्त वर्तता है (अर्थात् वह जीव सदैव स्वरूपस्थित रहकर परमानन्द ज्ञानादिरूप परिणमित है)॥१०४॥

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) समयव्याख्या नामक टीका में षड्द्रव्यपंचास्तिकाय वर्णन नाम का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १२, सोमवार

अब दुःखों का नाश करने का क्रम बताते हैं। अथवा किस क्रम से जीव संसाररहित होकर मुक्त होता है, यह बताते हैं।

जो पुरुष इस ग्रन्थ का रहस्य जो शुद्धात्मपदार्थ है, उसे जानकर उसमें प्रवीण होने का उद्यमी होता है, वह भेदविज्ञानी जीव मोक्षपद का अनुभवी होता है। कैसा है वह जीव? कि जिसने दर्शनमोह का नाश किया है, राग-द्वेष जिसमें शान्त हो गये हैं और जिसने पूर्वापर बन्ध का नाश किया है।

यह पंचास्तिकाय ग्रन्थ है, उसका रहस्य ऐसा है कि पाँच अस्तिकाय और काल जैसा है, वैसा जानना और उसका फल वीतरागता है।

छह द्रव्यों में से किसी का अभाव वर्तता है, ऐसा नहीं है। और यह द्रव्य ऐसा कैसे परिणमित हुआ, यह भी सवाल नहीं है और यह द्रव्य दूसरे के कारण परिणमा, ऐसा भी नहीं है। सब सबके कारण से है। ऐसा हैपना निश्चित करे तो शुद्ध आत्मा की ओर झुकाव होता है।

सभी पदार्थ हैं—ऐसा कहो, महासत्ता है, अवान्तरसत्ता है—ऐसा कहो, शुद्ध द्रव्यदृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, मोक्षमार्ग कहो, पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि करना कहो, इन सबका फल वीतरागता है। अवान्तरसत्ता में से निश्चित करो कि यह पर्याय है, यह गुण है, यह द्रव्य है। ऐसा है रूप से निर्णय करे तो पर्याय क्षणिक है और द्रव्य त्रिकाल है, ऐसा निर्णय करने से द्रव्य की ओर वजन गये बिना नहीं

रहता। विकार है, पर्याय में अपूर्णता है, द्रव्य पूर्ण शुद्ध है – सब है, ऐसा स्वीकार करनेवाले का वजन विकारी पर्याय पर नहीं जाता परन्तु शुद्ध आत्मा पर वजन जाता है और मैं हूँ, ऐसा निर्णय करने से अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख का भरा हुआ हूँ, ऐसा निर्णय होता है। इस प्रकार धर्मी जीव पर को जानता है, राग को जानता है, राग को त्रिकाल में खतौनी नहीं करता, पर को अपने में खतौनी नहीं करता, अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, उसने पंचास्तिकाय का रहस्य जाना है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मपदार्थ को जानकर, वह जीव आत्मपदार्थ में प्रवीण होने का उद्यमी होता है। इसमें बहुत न्याय आ जाते हैं। देव-गुरु-शास्त्र तीनों ऐसा कहते हैं कि तू तेरे शुद्ध आत्मा की ओर झुकाव कर। शास्त्र ऐसा नहीं कहते कि तू राग का प्रयत्न कर। गुरु ऐसा नहीं कहते कि हम हैं तो तेरा कल्याण होगा। ऐसा यदि कोई गुरु कहे और बहिर्मुखता बतावे तो वह गुरु नहीं है। देव भी राग करने का नहीं कहते। प्रथम श्रवण के समय विकल्प था, तब सुदेवादि का निमित्त था और कुदेवादि का निमित्त छूट गया। विकल्प पहले होता है, इसलिए व्यवहार पहले और निश्चय बाद में, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। परन्तु अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो पूर्व के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है, नहीं तो उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

और कोई कहता है कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से प्रमाद होगा तो ? ऐसा प्रश्न करनेवाला क्रमबद्धपर्याय को नहीं समझता। जिस समय जैसा होना है, वैसा होना है, वैसा यथार्थ समझनेवाले को अन्तर्मुख प्रवीणता हुए बिना नहीं रहती। उसे प्रमाद नहीं रहता। अज्ञानी का प्रश्न है कि 'वस्तु स्वभाव की दृष्टि होने पर दोष हो तो ?' 'जैसा होनेवाला है, वैसा होगा—ऐसा माननेवाले को व्यवहार नहीं समझले तो ?' यह प्रश्न पूछनेवाला वस्तुस्वभाव को समझा नहीं है। स्वभाव के अन्तर्मुख आश्रय बिना यथार्थ जानपना नहीं होता। जो पदार्थ जैसे हैं, वैसे समझने के स्वभाव का प्रयत्न होता है। साधक को निर्बलता का राग है, वह राग की भूमिका में आता है, इसलिए व्यवहार रहेगा नहीं, यह बात नहीं रहती। धर्मी जीव पदार्थ में प्रवीण है और जितना राग है, वह जानने के लिये है, परन्तु कोई व्यवहार की पकड़ करके कहे कि मोक्षमार्ग में बीच में

व्यवहार आयेगा, उलझन में आना नहीं, व्यवहार आये बिना रहेगा नहीं - ऐसा कोई कहे तो उसका वजन व्यवहार के ऊपर है, उसे व्यवहार का अवलम्बन है। उसे व्यवहार को अनुसरकर रहना है, परन्तु शुद्ध आत्मा को अनुसरकर रहना नहीं है।

यहाँ पाठ है कि 'तदनुगमनोद्यतः'—'यह आत्मपदार्थ में प्रवीण होने का उद्यमी होता है। राग और व्यवहार का उद्यमी कहा नहीं, परन्तु शुद्ध आत्मपदार्थ को अनुसरने का उद्यम कहा है। ऐसा जिस धर्मी जीव को भेदविज्ञान वर्तता है, उसकी भ्रान्ति का नाश हो जाता है। मेरा क्या होगा, और कैसे होगा, यह बात नहीं रहती। जड़कर्म का नाश तो कोई जीव कर नहीं सकता और मिथ्याभ्रान्ति का नाश भी कोई नहीं कर सकता। स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ होने पर भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती। उसने दर्शनमोह का नाश किया, ऐसा कहा जाता है। यह एक ही उपाय है, दूसरा उपाय नहीं है।

अब वह जीव चारित्र प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त करता है, यह बताते हैं। उसी स्वभाव के अवलम्बन से शान्ति प्रगट होती है। इतने व्रत, तप करे तो शान्ति होती है—ऐसा है ही नहीं। उसी प्रकार निमित्त, बाह्यक्षेत्र और पर के अवलम्बन से शान्ति नहीं है। ऐसा निर्णय तो किया था, परन्तु धर्मीजीव स्वभाव में विशेष स्थिरता करता है, वह चारित्र है। और कोई कहता है कि 'शास्त्र सुननेवाले बहुत हों तो सन्तोष और शान्ति आवे, अकेले हों तो शान्ति कहाँ से आवे? ऐसा अज्ञानी जीव पर के आश्रय से शान्ति मान बैठा है। भाई! पर का आश्रय लेने में आकुलता है, अकेले स्वभाव के आश्रय से शान्ति है, इस प्रकार भेदविज्ञानी जीव अपने स्वभाव का आश्रय पूरा-पूरा लेता है, इसलिए अस्थिरता टल जाती है, पूर्ण बन्ध नाश पाता है और मोक्षदशा को पाता है।

भावार्थ :- संसारी जीव अनादि अविद्या के कारण से भटकता है। किसी कर्म के कारण से भटकता है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु विद्यमान स्वभाव की अरुचि और विकारादि तथा संयोग या जो क्षणिक है—अविद्यमान है, उनकी रुचि, वह अविद्या है। ऐसी अविद्या के कारण से पुण्य-पाप के भावों को अपना स्वभाव मानता है। इस प्रकार अज्ञानी होकर जीव राग-द्वेषरूप परिणमता है। परन्तु जब स्वपुरुषार्थ करके सर्वज्ञ वीतराग के वचनों को अवधारण करता है, तब उसका मिथ्यात्व नाश पाता है।

भगवान के वचन सुनकर वह जीव जागृत होता है कि अहो! सभी पदार्थ व्यवस्थित हैं, नियमबद्ध हैं, कोई किसी को राग-द्वेष नहीं कराता। स्वयं भूल करता है तो राग-द्वेष होते हैं, और उस स्वभाव के आश्रय से भूल टलती है। अपने ज्ञानस्वभाव में से ज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है। प्राप्त की प्राप्ति है। ऐसे भगवान के वचन रुचे हैं, उसे संसार में से छूटने का अवसर आया है। इस प्रकार पुरुषार्थ करके जो जीव अपने स्वभाव की रुचि करता है, उसकी काललब्धि पक गयी है। ज्ञानस्वभाव जाना, वह स्वभाव है। स्वभावसन्मुख जिस काल में ढाल, वह काललब्धि है और स्वभावसन्मुख ढलने पर कर्म का अभाव होने लगा—इस प्रकार पाँच समवाय एक साथ आ मिलते हैं। उसने वीतराग के वचनों को अवधारण किया है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है और भेदज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानरूप प्रगट होती है।

जिस जीव ने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं किया, उसने स्वभाव को जाना नहीं, उसे कर्म का अभाव नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानी एक भी समवाय को नहीं जानता।

धर्मी जीव विचार करता है कि अहो! सर्वज्ञ भगवान को अनन्त शक्ति खिल गयी है, वह किसी का कुछ भी नहीं कर सकते। तो फिर मैं अल्पज्ञ पर का क्या करूँ? कोई किसी का करने के लिये समर्थ नहीं है। अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा में से ज्ञान प्रगट करता है, वीतराग स्वभावी आत्मा में से वीतरागता प्रगट करता है, अपने वीर्यवान आत्मा में से वीर्य प्रगट होता है। ऐसा निर्णय करनेवाले धर्मी जीव को काललब्धि पक गयी है। मात्र धारणा की बात नहीं परन्तु अन्तर्मुख अवलम्बन की बात है। उसे शंका नहीं रहती। ऐसा भान होने के पश्चात् चारित्रमोह नाश पाता है, यह समझे बिना व्रत, तप करने लगे और उससे चारित्र प्रगट हो जाये, ऐसा नहीं होता। शरीरादि पर हैं, पुण्य-पाप रहित मेरे समस्वभावी चैतन्यसूर्य में से वीतरागता प्रगट होती है। ऐसे भानवाले जीव को चारित्र प्रगट होता है। भेदविज्ञान होने के पश्चात् अस्थिरता के संकल्प-विकल्प होते हैं, परन्तु बाहर में यश के ढेर हों तो इससे मुझे शान्ति नहीं, अपयश के ढेर हों तो इससे मुझे शान्ति नहीं, मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही शान्ति है। ऐसी विशेष दृढ़ता लाकर स्वभाव में लीन होता जाता है।

कोई कहे कि तुम्हारे प्रभावना के शुभराग से बहुत प्रभावना होगी। इसलिए वह राग करना चाहिए। धर्मी जीव समझता है कि शुभराग से परजीवों को लाभ नहीं तथा मुझे भी लाभ नहीं। मैं बाहर में रुकता हूँ, उतना अटकता हूँ। मेरी प्रभावना बाहर में नहीं है; मैं अन्तर में एकाग्र होऊँ, वह मेरी प्रभावना है। इस प्रकार सर्वथा संकल्प-विकल्पों का अभाव करता है, तब स्वरूप में लीन होता है, आगामी बन्ध नहीं होता, पूर्व के कर्म संयोग देकर छूट जाते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती इत्यादि जिसे जिस प्रकार के पुण्य के निमित्त से संयोग मिलनेवाले हों, वे मिल जाते हैं और कर्म छूट जाते हैं, तब वे जीव निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त करके मुक्तदशा को प्राप्त करते हैं और अनन्त काल तक स्वरूप में गुप्त रहकर अनन्त सुख को भोगते हैं। साधकदशा में अल्प राग था, वह टल गया और वीतराग-सर्वज्ञदशा प्राप्त कर अनन्त सुख को भोगते हैं।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १३, मंगलवार

प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र बतलाये। अब नौ पदार्थ का भेद से कथन करते हैं। उसमें प्रथम भगवान की स्तुति करते हैं। क्योंकि जिसका वचन प्रमाण है, वह पुरुष प्रमाण है। और पुरुष प्रमाण से वचन की प्रमाणता है। यह केवली भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, उनके वचन मान्य हो सकते हैं। वीतराग सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य के वचन सच्चे नहीं हैं। कितने ही जीव भगवान के नाम से शास्त्र लिखते हैं। पुस्तक का नाम 'वीरदेशना' रखा हो और अन्दर गप्प मारी हो, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। भगवान के वचन प्रमाण है, इसलिए कुन्दकुन्द आचार्य महाराज भगवान की स्तुति करते हैं।

●●



परिशिष्ट -1

आत्मारथी जीव का उत्साह और आत्मलगन

आत्मारथी जीव की धगश कैसी होती है? उसकी आत्मलगन कैसी होती है? और अपना सम्यक्चरूपी कार्य साधने के लिये उसका उत्साह और उद्यम कैसा होता है? - इन सबका सुन्दर और प्रेरणादायी विवेचन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस प्रवचन में किया है।

जीवादि छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायों का वर्णन करके, उपसंहार में उनके ज्ञान का फल दर्शाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि -

इस रीत प्रवचनसाररूप पञ्चास्तिसंग्रह जानकर।

जो जीव छोड़े राग-द्वेष, पाये सकल दुःखमोक्ष रे॥

इस प्रकार प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

प्रवचन अर्थात् भगवान् सर्वज्ञदेव का उपदेश; उसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह द्रव्य कहे गये हैं। भगवान् सर्वज्ञदेव के प्रवचन में इन छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है; इनसे अन्य कुछ नहीं कहा गया है। जड़-चेतन, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष - यह सब छह द्रव्यों का ही विस्तार है; इसलिए छह द्रव्य ही उस प्रवचन का सार है। जो कालसहित पञ्चास्तिकाय को अर्थात् छह द्रव्यों को स्वीकार नहीं करता है, वह भगवान् सर्वज्ञ के प्रवचन को नहीं जानता है।

छह द्रव्य, भगवान् सर्वज्ञदेव के प्रवचन का सार हैं। ऐसे प्रवचन के सार को जो जीव जानता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है परन्तु किस प्रकार जानता है? कि अर्थतः अर्थरूप से जानता है।

‘अर्थतः अर्थी’ - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने पात्र श्रोता की विशेष योग्यता

बतलायी है। पात्र श्रोता कैसा है? आत्मा का अर्थी है, आत्मा के हित का वाँछक है। किसी भी प्रकार मुझे आत्मा का हित हो - अन्तर में ऐसा गरजवान हुआ है। याचक हुआ है अर्थात् हित के लिये विनय से दीनपने अर्पित हो गया है, सेवक हुआ है। जिनसे आत्मप्राप्ति हो - ऐसे सन्तों के प्रति सेवकभाव से वर्तता है और शास्त्र जानने में उसे दूसरा कोई हेतु नहीं है; एकमात्र आत्महित की प्राप्ति का ही हेतु है। शास्त्र पढ़कर मैं दूसरों से अधिक हो जाऊँ अथवा मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लूँ अथवा दूसरों को समझा दूँ - ऐसे आशय से जो शास्त्र नहीं पढ़ता, परन्तु शास्त्र पढ़कर, छह द्रव्यों का स्वरूप समझकर, मैं अपनी आत्मा का हित किस प्रकार साध लूँ और मेरा आत्मा दुःख से कैसे छूटे? इस प्रकार आत्मा का शोधक होकर जानता है।

वह आत्मा का अर्थी जीव, शास्त्र के अर्थ को किस प्रकार जानता है? कि अर्थतः जानता है अर्थात् अकेले शब्द से नहीं जानता, अपितु उसके वाच्यरूप पदार्थ को अनुलक्ष्य करके जानता है, भावश्रुतपूर्वक जानता है; अकेले शाब्दिक ज्ञान में सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु अन्तर में शोधक होकर वाच्यभूत वस्तु को शोधता है; सुख का शोधक होकर पदार्थों का स्वरूप जानता है।

अहा! अर्थीरूप से जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की कितनी धगश बतलायी है! स्वयं अर्थी होकर-शोधक होकर सुनने जाता है परन्तु ऐसा नहीं है कि जब सहज सुनने का योग बन जाए, तब सुन लेता है और फिर उसकी दरकार नहीं करता। यह शिष्य तो स्वयं अभिलाषी होकर, गरजवान होकर, किसी भी प्रकार मुझे मेरा स्वरूप समझना है - ऐसी अन्तरङ्ग में स्फूर्णा करके समझने की गरज से सुनता है।

सम्यक्त्व की तैयारीवाले जीव को अपना कार्य साधने का बहुत उत्साह होता है। वह जीव, सम्यक्त्व के लिए उत्साहपूर्वक कैसा प्रयत्न करता है? इसका वर्णन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है - इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है; इसलिए अन्तरङ्ग प्रीति से उसका साधन करता है। इस प्रकार साधन करते हुए जब तक—

- (1) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो;
- (2) 'यह इसी प्रकार है' - ऐसी प्रतीतिसहित जीवादितत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो;
- (3) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये;
- (4) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, - तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।'

आत्मार्थी जीव उल्लसित वीर्यवान है, उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं, अपने स्वभाव को साधने के लिए उसका वीर्य उत्साहित होता है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि 'उल्लसित वीर्यवान, परम तत्त्व की उपासना का मुख्य अधिकारी है।' आत्मार्थी जीव अपनी आत्मा के हित के लिए उल्लासपूर्वक श्रवण-मनन करता है। कुलप्रवृत्तिपूर्वक अथवा सुनने का सहज योग बन जाए तो सुन ले, किन्तु समझने का प्रयत्न नहीं करे तो उसे आत्मा की गरज नहीं है। इसलिए यहाँ आत्मा का अर्थी होकर शास्त्र जानने को कहा गया है। कहा भी है कि -

काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग

जिसके अन्तरङ्ग में एक आत्मार्थ साधने का ही लक्ष्य है। मेरे अनादि के भवरोग के दुःख का अभाव कैसे हो? इसके अतिरिक्त अन्य कोई रोग अर्थात् मानादि की भावना जिसके अन्तर में नहीं है; जो शिष्य इस प्रकार आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानता है, वह सर्व दुःख से परिमुक्त होता है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य बहुत दिनों से क्षुधातुर हो और क्षुधा मिटाने के लिए याचक बनकर, मान छोड़कर भोजन माँगता है, वह अपने लिए माँगता है; दूसरों को देने के लिये नहीं। मेरी भूख का दुःख मिटे, ऐसा कोई भोजन मुझे दो - इस प्रकार याचक होकर माँगता है। ऐसे क्षुधातुर व्यक्ति को भोजन प्राप्त हो तो उसे वह कैसा मीठा लगेगा? अरे! सुखी रोटियाँ मिले तो भी मीठी लगती हैं... और अत्यन्त हर्ष से अपनी क्षुधा मिटाता है।

इसी प्रकार जिस जीव को आत्मा की लगन लगी है, भूख लगी है। अरे! अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुए मुझे आत्मा ने कहीं सुख प्राप्त नहीं किया, एकान्त दुःख ही पाया है। अब, दुःख से छूटकर मेरा आत्मा सुखी कैसे हो? इस प्रकार सुख के उपाय के लिये छटपटाता है; वह जीव, ज्ञानी सन्त के समीप जाकर दीनरूप से भिखारी की तरह याचक होकर विनय से माँगता है - हे प्रभु! मुझे अपनी आत्मा के सुख का मार्ग बतलाओ। इस भव दुःख से छूटने का मार्ग मुझे समझाओ। इस प्रकार जो आत्मा का गरजवान होकर आया है और उसे आत्मा के आनन्द की बात सुनने को प्राप्त हो तो वह कैसी मीठी लगेगी! उस समय वह दूसरे किसी लक्ष्य में नहीं रुकेगा, अपितु एक ही लक्ष्य से आत्मा का स्वरूप समझकर अपना दुःख मिटायेगा।

जो वास्तव में आत्मा का अर्थी होकर सुनता है, उसे श्रवण होते ही देशना अन्तर में परिणत हो जाती है। जैसे, जिसे कड़क भूख लगी हो, उसे भोजन पेट में पड़ते ही (तृप्तिरूप) परिणमित हो जाता है; इसी प्रकार जिसे चैतन्य की वास्तविक अभिलाषा जागृत हुई है, उसे वाणी कान में पड़ते ही आत्मा में परिणमित हो जाती है।

जिस प्रकार तृषातुर को शीतल पानी प्राप्त होते ही प्रेमपूर्वक पीता है; इसी प्रकार आत्मा के अर्थी को चैतन्य के शान्तरस का पान मिलते ही अत्यन्त रुचिपूर्वक झेलकर अन्तर में परिणमा देता है। जैसे, कोई एकदम भरी दोपहरी में रेगिस्तान में आ पड़ा हो, प्यास से तड़पते हुए कण्ठगत प्राण हो गया हो, पानी... पानी... की पुकार करता हो और ऐसे समय में शीतल मधुर पानी प्राप्त हो तो कैसी शीघ्रता से पियेगा; इसी प्रकार विकार की आकुलतारूपी भरी दोपहरी में भवारण्य के बीच भ्रमता हुआ जीव सिक रहा है। वहाँ आत्मार्थी जीव को आत्मा की प्यास लगी है - लगन लगी है, वह आत्मा की शान्ति के लिए छटपटा रहा है। ऐसे जीव को सन्तों की मधुर वाणी द्वारा चैतन्य के शान्तरस का पान प्राप्त होते ही अन्तर में परिणमित हो जाता है।

जिस तरह कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है; उसी प्रकार आत्मार्थी जीव, आत्मा के हित की बात को चूस लेता है अर्थात् अन्तर में परिणमित करा देता है।

आत्मारथी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मारथी जीव की पात्रता !

जिस प्रकार थके हुए व्यक्ति को विश्राम मिलने पर अथवा वाहन आदि की सुविधा मिलने पर वह हर्षित होता है और रोग से पीड़ित मनुष्य को वैद्य मिलने पर वह उत्साहित होता है; इसी प्रकार भव-भ्रमण कर करके थके हुए और आत्मभ्रान्ति के रोग से पीड़ित जीव को थकान उतारनेवाली और रोग मिटानेवाली चैतन्यस्वरूप की बात कान में पड़ते ही, वह उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है। सच्चे सद्गुरु वैद्य ने जिस प्रकार कहा हो, उस प्रकार वह चैतन्य का सेवन करता है। सन्त के समीप दीन होकर भिखारी की तरह 'आत्मा' माँगता है कि प्रभु! मुझे आत्मा का स्वरूप समझाओ।

जैसे, कोई व्यक्ति, समुद्र के बीच में डूबकी खा रहा हो तो उसका एक ही लक्ष्य है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ यदि कोई सज्जन आकर उसे बचाता है तो कैसी उपकारबुद्धि होती है? अहा! इन्होंने मुझे समुद्र में डूबने से बचाया, इन्होंने मुझे जीवन दिया, इस प्रकार महाउपकार मानता है। इसी प्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव का एक ही लक्ष्य है कि मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से किस प्रकार बचे? वहाँ कोई ज्ञानी पुरुष उसे तिरने का उपाय बतावे तो वह प्रमादरहित होकर, उल्लसितभाव से उस उपाय को अङ्गीकार करता है।

जिस प्रकार डूबते हुए मनुष्य को कोई जहाज में बैठने के लिए कहे तो क्या वह जरा भी प्रमाद करेगा? नहीं करेगा। इसी प्रकार संसार से तिरने के अभिलाषी आत्मारथी जीव को ज्ञानी सन्त, भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं, वहाँ वह आत्मारथी जीव, भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले सन्तों के प्रति

उसे महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! अनन्त जन्म-मरण के समुद्र में से आपने मुझे बाहर निकाला। भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया। संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है - ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

इस प्रकार अर्थतः अर्थीरूप से इस पञ्चास्तिकाय को जानने को आचार्यदेव ने कहा है। अर्थतः अर्थीरूप से अर्थात् भाव समझने की लगन से, वास्तविक दरकार से, उत्साह से, रुचि से, जिज्ञासा से, गरजवान होकर, याचक होकर, शोधक होकर, आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकाय को जानना चाहिए। इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना चाहिए? वह अब कहते हैं -

पञ्चास्तिकायसंग्रह को अर्थतः अर्थीरूप से जानकर, इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय के अन्तर्गत रहे हुए अपने को/निज आत्मा को स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करना चाहिए।

देखो, यह शास्त्र को जानने की रीत अथवा शास्त्र को जानने का तात्पर्य!

आत्मा का अर्थी जीव, पञ्चास्तिकाय को जानकर अन्तर में यह निश्चय करता है कि मैं सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ। इस प्रकार जो अन्तर्मुख होकर सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप अपने आत्मा को निश्चय करता है, उसे ही पञ्चास्तिकाय का यथार्थ ज्ञान है।

पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या प्राप्त करना है? शुद्ध जीवास्तिकाय ही प्राप्त करने योग्य है। इस जगत् में पञ्चास्तिकाय के समूहरूप अनन्त द्रव्य हैं, उनमें से अनन्त अचेतनद्रव्य तो मुझ से भिन्न विजातीय हैं, वह मैं नहीं हूँ और चैतन्यस्वभाववाले अनन्त जीव भिन्न-भिन्न हैं, वे सभी 'जीवास्तिकाय' में आ जाते हैं। इस प्रकार जीवास्तिकाय में अन्तर्गत होने पर भी दूसरे अनन्त जीवों से भिन्न मैं एक चैतन्यस्वभावी जीव हूँ। इस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ ऐसा आत्मा का निर्णय अपूर्व भाव से करता है। निर्णय की ऐसी ठोस भूमिका के बिना धर्म की चिनाई नहीं होती।

प्रश्न - ऐसे निर्णय का साधन क्या है?

उत्तर - मन्दराग साधन नहीं है, अपितु ज्ञान और वीर्य का उत्साह ही उसका

साधन है। ज्ञान और रुचि के अन्तर्मुख होने के उत्साह के बल से मिथ्यात्वादि प्रतिक्षण टूटते जाते हैं।

‘निर्णय’ यह धर्म की ठोस भूमिका है परन्तु यह निर्णय कैसा ? अकेले श्रवण से हुआ नहीं, परन्तु अन्दर में आत्मा को स्पर्श करके हुआ अपूर्व निर्णय; यह निर्णय ऐसा है कि कदाचित् देह का नाम तो भूल जाए, परन्तु निज-स्वरूप को नहीं भूलता। देह का प्रेमी मिटकर ‘आत्मप्रेमी’ हुआ है। वह कदाचित् देह का नाम तो भूलेगा, किन्तु आत्मा को नहीं भूलेगा। अपने ज्ञान की निर्मलता में अपना ऐसा फोटो पड़ गया है कि जो कभी भी विस्मृत नहीं होगा। जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह राग-द्वेष का क्षय करके अल्प काल में मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा।

अर्थरूप से पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना ? यही कि अपनी आत्मा को अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चित करना। देखो, पाँच में से जीव को पृथक् करके एक में लाये हैं, स्व में लाये हैं। पञ्चास्तिकाय का श्रवण करते समय भी जिज्ञासु जीव का लक्ष्य तो ‘मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है’ – ऐसा निर्णय करने का ही था। मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में लक्ष्यगत करके सुना और वैसा निर्णय किया।

पञ्चास्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को जानकर उनके विचार में अटकना नहीं है परन्तु ‘मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी है’ – ऐसा निश्चय/निर्णय करना है। पाँच द्रव्यों को अर्थरूप से जानने पर उसमें ऐसे जीवास्तिकाय का ज्ञान आ ही जाता है। भगवान के प्रवचन छह द्रव्यों का स्वरूप कहनेवाले हैं। उन छह द्रव्यों का स्वरूप जानकर अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभाव निश्चित करना ही, भगवान के प्रवचन का सार है। भगवान के प्रवचन वस्तुतः किसने जाने कहे जाएँ ? जिसने अपनी आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप निश्चित किया, उसने ही वास्तव में भगवान के प्रवचन को जाना। निज तत्त्व के निर्णय बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कभी होता ही नहीं। इसलिए निज तत्त्व का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना ही भगवान के सर्व प्रवचन का तात्पर्य है, जिसके सेवन से दुःख का अभाव होकर सुख की प्राप्ति होती है।

जगत् के तत्त्वों को जानकर, अन्तरोन्मुख होकर अपने आत्मा को जगत् से पृथक् शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना, उसे मात्र विकार जितना ही मत मान लेना, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना। निर्णय के काल में विकार भी वर्तता होने पर भी, मात्र उस विकार की तरफ नहीं झुककर शुद्ध चैतन्यस्वभाव की तरफ झुकना। जिसके सेवन से दुःख मिटकर आनन्द प्राप्त हो - ऐसा विशुद्ध चेतनस्वरूप मैं हूँ - ऐसा निश्चित करना।

आत्मार्थी जीव के लक्षण, श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं। आत्मा के आनन्द की बात कान में पड़ते ही आत्मार्थी का उत्साह छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार पुत्र के लक्षण पालने से ही दिखने लगते हैं; उसी प्रकार आत्मार्थी के लक्षण आत्मा का श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं।

देखो, यहाँ सुनकर निर्णय करने पर जोर है। क्या निर्णय करना? मेरा आत्मा विशुद्ध ज्ञान-आनन्दस्वरूप है - ऐसा निर्णय करना। ऐसा दृढ़ निर्णय करना कि वीर्य का वेग उस ओर ढले बिना नहीं रहे। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् बारम्बार उस ओर के प्रयत्न से अनुभव होता है; निर्णय के बिना पुरुषार्थ की दिशा नहीं खुलती है।

देखो, भाई! यह बात स्वयं अपने हित के लिये समझने की है। स्वयं समझकर अपना हित कर लेना, दूसरे जीव क्या करते हैं? - यह देखने के लिये रुकना मत! यह वस्तु ही ऐसी है कि जगत् के सभी जीव इसे प्राप्त नहीं कर सकते। कोई विरले ही इसे प्राप्त करते हैं। इसीलिए समयसार, गाथा 205 में आचार्यदेव कहते हैं -

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।

तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे॥

ज्ञानगुण से रहित बहुत लोग इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते। इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो नियत एकरूप ऐसे इस ज्ञानस्वभाव को ग्रहण कर। ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कर।

पहले अफर निर्णय होना चाहिए कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और उसी का मुझे अवलम्बन करने योग्य है। दूसरा कम-ज्यादा आवे, उससे कुछ नहीं होता। कदाचित् कम आवे तो उसका खेद नहीं और अधिक आवे तो उसका अभिमान नहीं, क्योंकि

जिसे आत्मा का स्वभाव आता है, उसे सब आता है और उसने भगवान के समस्त प्रवचन का सार जान लिया है।

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है। ●

ऊँचा नाम रखकर नीचा कार्य करना योग्य नहीं

यदि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेते हैं तो उनकी नवकोटि शुद्ध नहीं है, उनका आहार ही शुद्ध नहीं है - ऐसी बात है। बापू! मार्ग तो ऐसा है। अरे! ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत में महापाप है। इसके बदले तो 'हमारी ऊँची दशा नहीं है, बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं' - ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगे, लेकिन यदि बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धराकर एक कण भी खावे तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, लेकिन मैं सिर्फ एक बार खाता हूँ, इस प्रकार एकासन करे तो अकेला शुभराग है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

परिशिष्ट -2

आत्मारथी जीव का उत्साह और आत्मनिर्णय

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित पञ्चास्तिकाय को 'अर्थतः अर्थीरूप से' जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की विशेष पात्रता बतलायी है। अपना आत्महित साधने के लिए श्रोता को अन्तर में बहुत उत्साह और धगश है। एक आत्मारथी साधने के अतिरिक्त अन्य कोई शल्य उसके हृदय में नहीं है। ऐसे आत्मारथी जीव को ज्ञानी-सन्तों के द्वारा भेदज्ञान का उपदेश प्राप्त होते ही महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने मुझे अनन्त दुःख में से बाहर निकाला, भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया; संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है - ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

जिस प्रकार क्षुधातुर अथवा तृषातुर जीव, दीनरूप से आहार-पानी माँगता है, इसी प्रकार संसार से थका हुआ और आत्मशान्ति के लिए छटपटाता हुआ जीव, सन्तों के समीप जाकर दीनरूप से अतिविनयपूर्वक कहता है कि हे नाथ! जीव को शान्ति का उपाय बतलाओ।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'हे भव्य! हे जिज्ञासु! प्रथम तो तू आत्मा का अर्थी होकर, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छह द्रव्यों को जानकर यह निर्णय कर कि मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। आत्मा का प्रेमी होकर यह निर्णय कर कि जगत् के पदार्थों में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। अकेले श्रवण अथवा विकल्प से नहीं, अपितु अन्तर्लक्ष्य से आत्मा को स्पर्श करके अपूर्व निर्णय कर। आत्मस्वरूप का ऐसा निर्णय ही धर्म की ठोस भूमिका है।

मैं अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, इस प्रकार निजतत्त्व का निश्चय करने के बाद वह मोक्षार्थी जीव क्या करता है? जिस स्वभाव का निश्चय किया है, उसी का अनुसरण करता है और उस काल में रागादिभाव वर्तते होने पर भी उनका अनुसरण नहीं करता, अपितु उन्हें छोड़ता है। जिसने अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय किया है - ऐसा धर्मी जानता है कि मुझमें जो यह राग-द्वेषादि विकार दृष्टिगोचर होता है, वह मेरा

स्वभावभूत नहीं है, अपितु मुझमें आरोपित है। जिस क्षण राग-द्वेष वर्तते हैं, उसी क्षण विवेक -ज्योति के कारण धर्मी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमात्र है; यह राग-द्वेष तो उपाधिरूप है। यह राग-द्वेष की परम्परा मेरे स्वभाव के आश्रय से नहीं हुई है किन्तु कर्मबन्धन के आश्रय से हुई है। अब, मैं अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्याय की परम्परा प्रगट करके इस राग-द्वेष की परम्परा का अभाव कर देता हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव का निश्चय करके, उसका ही अनुसरण करनेवाला जीव समस्त दुःख से परिमुक्त होता है।

अपने स्वभाव को भूलकर कर्म की ओर के झुकाव से जीव को अनादि से राग-द्वेष की परम्परा चल रही है और उन राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है; इस प्रकार राग-द्वेष और कर्मबन्ध की परम्परा अनादि से चली आ रही होने पर भी, वह स्वभावभूत नहीं, किन्तु विभावरूप उपाधि है। धर्मी जीव अपने में उस उपाधि का अवलोकन करके अर्थात् अपनी पर्याय में वे विकारीभाव हैं - ऐसा जानकर, उसी काल में अपने निरुपाधिक शुद्धस्वभाव का निश्चय भी प्रगट वर्तता होने से, उस स्वभाव के सन्मुख झुकता जाता है और राग-द्वेष की परम्परा को मिटाता जाता है। राग-द्वेष की परम्परा मिटने से कर्मबन्धन भी छूटता जाता है और इस क्रम से वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

आचार्यदेव, परमाणु का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्कन्ध में रहा हुआ परमाणु जब जघन्य स्निग्धतरूप परिणमित होने के सन्मुख होता है, तब स्कन्ध के साथ के बन्धन से वह पृथक् हो जाता है। इसी प्रकार शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुके हुए जीव को रागादि स्निग्धभाव अत्यन्त क्षीण होते जाते होने से, वह पूर्व बन्धन से छूटता जाता है और नया बन्धन नहीं होता; इसलिए उबलते हुए पानी के समान अशान्त दुःखों से वह परिमुक्त होता है।

देखो, आत्मा के अर्थीरूप से पञ्चास्तिकाय को जानने का फल! जो जीव वास्तव में आत्मा का अर्थी हुआ, उसे आत्मा की प्राप्ति हुए बिना रहती ही नहीं। पञ्चास्तिकाय को जानकर उसमें से अपने शुद्ध आत्मा को पृथक् करके अर्थात् निर्णय में लेकर, श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन होना ही मोक्ष का उपाय है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि कालसहित पञ्चास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला

यह 'पञ्चास्तिकाय' जिनप्रवचन का सार है, क्योंकि जिनप्रवचन में छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है। छह द्रव्य और उनके गुण-पर्यायों में सब समाहित हो जाता है। बन्धमार्ग-मोक्षमार्ग; हित-अहित; सुख-दुःख; जीव-अजीव; संसार-मोक्ष; धर्म-अधर्म - यह सभी छह द्रव्य के विस्तार में आ जाता है।

छह द्रव्यों में जीवास्तिकाय अनन्त हैं, पुद्गलास्तिकाय भी अनन्त हैं, धर्म-अधर्म और आकाश एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व अपने-अपने में ही परिपूर्णता पाता है। प्रत्येक जीव अथवा परमाणु अपने-अपने में स्वतन्त्र अस्तित्व से परिपूर्ण है। किसी के अस्तित्व का अंश किसी दूसरे में नहीं है। अपने-अपने गुण-पर्यायोंस्वरूप जितना अस्तित्व है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की सीमा है, उतना ही उसका कार्यक्षेत्र है। कोई भी द्रव्य अपने अस्तित्व की सीमा से बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता और दूसरे के कार्य को अपने अस्तित्व की सीमा में नहीं आने देता-ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जिसे सर्वज्ञ भगवान् अरहन्तदेव ने प्रसिद्ध किया है।

हे जीव! अपने हित-अहित का कर्तव्य तुझमें ही है। तुझसे भिन्न पाँच अजीव द्रव्यों में अथवा अन्य जीवों में कहीं तेरा हित-अहित नहीं है; तू स्वयं ही अपने हित-अहितरूप कार्य का कर्ता है, कोई दूसरा तेरे हित-अहित का कर्ता नहीं है; अतः अब तुझे स्वयं अपना अहित कब तक करना है? अभी तक तो अज्ञान से पर को हित-अहित का कर्ता मानकर तूने अपना अहित ही किया है परन्तु अब तो 'मेरे हित-अहित का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ, मेरा अहित मिटकर हित करने की सामर्थ्य मुझमें ही है' - ऐसा समझकर अपना हित करने के लिए तू जागृत हो जा। पर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व की अत्यन्त पृथक्ता जानकर, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में ढल! यही जिनप्रवचन का और सन्तों का उपदेश है; मोक्ष का उपाय भी यही है।

हे जीव! तेरा अस्तित्व तुझमें और दूसरों का अस्तित्व उनमें है। तेरे हित के लिए तुझे दूसरों के सन्मुख देखना पड़े अथवा दूसरों के कारण तुझे रुकना पड़े - ऐसा नहीं है।

प्रश्न - दूसरों की बात तो ठीक किन्तु इस देह की सँभाल के लिए तो रुकना पड़ता है न?

उत्तर - भाई! देह का अस्तित्व पुद्गल में और तेरा अस्तित्व तुझमें है। तू

सँभाल रखे तो देह का अस्तित्व टिकता है - ऐसा नहीं है। जीव का अस्तित्व अपने ज्ञानादि गुणों में है, देह में नहीं और देह का अस्तित्व अजीव परमाणुओं में है, जीव में नहीं। किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है, तब फिर दूसरों के लिए रुकना पड़े - यह बात ही कहाँ रही ?

अरे ! कर्म के कारण रुकना पड़ता है - ऐसा भी नहीं है... कर्म का अस्तित्व पुद्गल में है और जीव का अस्तित्व जीव में है; राग का अस्तित्व भी जीव में है। जीव और कर्म दोनों का अस्तित्व ही भिन्न है, किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा को पृथक् करना। इसकी मुख्यता अर्थात् प्रधानता करके, उसकी महिमा का चिन्तन करके, उस ओर झुकना। इस जगत् के अनन्त द्रव्यों में शुद्धज्ञानरूप निज आत्मा ही मैं हूँ; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा नहीं है - ऐसा निश्चय करके, वैसा ही अनुभव करना। जगत् के सभी सत् पदार्थों की सत्ता स्वीकार करके, स्वकीय चैतन्य सत्ता की शरण लेने की यह बात है। जगत् के पदार्थों को जान-जानकर क्या करना ? यही कि अपने चैतन्यस्वभाव की शरण लेना, उसका आश्रय करना।

- ◆ जगत् में छह प्रकार के द्रव्य हैं;
- ◆ उनमें एक जीव, पाँच अजीव हैं;
- ◆ जीव अनन्त हैं, प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है;
- ◆ उसमें अपना आत्मा भिन्न, ज्ञानस्वरूप है।

इस प्रकार अपनी आत्मा को जगत् से भिन्न निश्चित करना। कैसा निश्चित करना ? विशुद्ध चैतन्यस्वभावरूप निश्चित करना।

जीव के अस्तित्व में दो पहलु : द्रव्य और पर्याय; उसमें द्रव्य तो शुद्ध एक रूप है, पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता दोनों होते हैं। प्रथम शुद्ध द्रव्यस्वभाव का निर्णय कराया कि विशुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना। शुद्ध द्रव्यस्वरूप का निर्णय कराने के पश्चात् पर्याय में जो विकार है, उसका भी ज्ञान कराते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप तो अनारोपित-असली स्वभाव है और विकार तो आरोपित विभाव है। शुद्धद्रव्य का निर्णय किये बिना आरोपित विकार का ज्ञान नहीं होता।

यदि शुद्धस्वरूप के ज्ञान बिना, अकेले विकार को जानने जाए तो वह विकार को ही निज/असली स्वरूप मान लेगा; इसलिए सच्चा ज्ञान नहीं होगा। जिस प्रकार निज जीव को जाने बिना छह द्रव्य ज्ञात नहीं होते; जैसे, उपादान को जाने बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; जैसे, निश्चय के बिना वास्तविक व्यवहार नहीं होता; इसी प्रकार शुद्धस्वरूप को जाने बिना अकेले विकार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता - यह महा सिद्धान्त है। जिस प्रकार उष्णता के समय भी पानी में शीतलस्वभाव है; उसी प्रकार पर्याय में विकार के समय भी आत्मा शुद्ध निर्विकारी चैतन्यस्वभाव है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

प्रश्न - उस स्वभाव का निर्णय किस प्रकार होता है ?

उत्तर - उस स्वभाव सन्मुखता के ध्यान से ही उसका निर्णय होता है। जिस प्रकार उष्णता के समय पानी में शीतलस्वभाव है, वह स्वभाव हाथ-पैर अथवा आँख, कान, नाक, जीभ इत्यादि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता तथा आकुलता, राग-द्वेष, सङ्कल्प-विकल्प द्वारा भी उसका निर्णय नहीं होता किन्तु पानी के स्वभाव सम्बन्धी ज्ञान से ही इसका निर्णय होता है; इसी प्रकार आत्मा की पर्याय में विकार वर्तता होने पर भी सर्वज्ञदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धचैतन्यस्वभावी कहा है और वैसा ही ज्ञानियों ने अनुभव किया है; उस शुद्ध स्वभाव का निर्णय इन्द्रियों से अथवा मन के सङ्कल्प - विकल्पों से नहीं होता, अपितु ज्ञान को अन्तर में विस्तृत करके उस स्वभाव का निर्णय होता है। ज्ञान को अन्तर में झुकाते ही स्वभाव को स्पर्शकर ऐसा निर्णय होता है कि अहा! मेरा स्वभाव आकुलता और आतापरहित परम शान्त है, क्षणिक आकुलता मेरा परमस्वरूप नहीं है, मेरा परमस्वरूप तो आनन्द से उल्लसित है।

अरे! जीवों का लक्ष्य बाहर में दौड़ता है परन्तु अन्तर में स्व तरफ लक्ष्य नहीं जाता; इसलिए अपनी महिमा भाषित नहीं होकर पर की ही महिमा भाषित होती है। सिद्ध भगवन्त कैसे महान्! अरहन्त भगवन् महान्! सन्त-मुनिवर और धर्मात्मा महान्!! इस प्रकार उनकी महिमा गाता है परन्तु हे भाई! जिसकी महिमा तू रात-दिन गाता है, वह तू स्वयं ही है, क्योंकि सन्त कहते हैं कि जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; इसलिए हे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले।

देखो, अरहन्त-सिद्ध अथवा सन्त-महात्माओं की सच्ची महिमा भी तभी ज्ञात

होती है कि जब अपने स्वभाव की महिमा को समझे। सर्वज्ञ और सन्त जिस मार्ग से अन्तर में स्थिर हैं, वह मार्ग तेरा तुझमें ही है। अन्तर के चिदानन्दस्वरूप में से सहज शीतल आनन्द प्रगट करके उन्होंने आताप का नाश किया है, तू भी आताप का नाश करके सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिए अपने चिदानन्दस्वरूप की तरफ जा।

हे जीव! तेरे आनन्द का अस्तित्व तेरे स्वभाव में है, बाहर नहीं। जगत् के बाह्य पदार्थों की जो कुछ परिणति होती हो, उसके साथ तुझे कुछ लेना-देना नहीं है। तेरे दुःख में भी तू अकेला और तेरी शान्ति में भी तू अकेला है। सर्वज्ञ तेरे समीप विराजमान हों तो भी वे तेरी परिणति को सुधार दें - ऐसा नहीं है और अनेक शत्रुओं ने तुझे घेर लिया हो तो भी वे तेरी शान्ति को बिगाड़ सकें - ऐसा नहीं है। तेरे अन्तर स्वभाव के अवलम्बन बिना दूसरों से तुझे शान्ति आनेवाली नहीं है और तेरे स्वभाव के अवलम्बन से जो शान्ति प्रगट हुई है, वह किसी दूसरे से बिगड़नेवाली नहीं है। अहा! कितनी स्पष्ट वस्तुस्थिति है! तथापि अज्ञानी जीव का यह भ्रम नहीं मिटता कि बाहर से मेरी शान्ति आती है और दूसरा मेरी शान्ति को लूट लेता है।

यदि जीव इस वस्तुस्थिति को समझ ले तो अन्तर्मुख होकर अपनी शान्ति अपने अन्तर में ही शोध ले और अन्तर-शोधन से शान्ति उपलब्ध हुए बिना नहीं रहे। भगवान और सन्तों को प्रगट होनेवाला शान्तरस कहाँ से प्रगट हुआ है? अन्तरस्वभाव में शान्तरस का समुद्र भरा था, वही उल्लसित होकर प्रगट हुआ है। हे जीव! सम्यग्ज्ञान द्वारा तू भी अपनी स्वभावशक्ति को उछाल। अहो! मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही शान्तरस का समुद्र भरा है - ऐसा विश्वास करके, उसमें एकाग्रता करना ही शान्ति का उपाय है।

मेरी शान्ति और उस शान्ति का उपाय, बाह्य इन्द्रिय-विषयों में कहीं नहीं है परन्तु अन्तर में अपने अतीन्द्रियस्वरूप में ही है। इस प्रकार पहले अपने अतीन्द्रिय चेतनस्वभाव का ज्ञान से निर्णय कर।

‘मैं कौन हूँ’ - ऐसे निजस्वरूप को जानने के लिए तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का सहारा नहीं है। भले ही तेरे चारों ओर सन्त-मुनियों के समूह विराजमान हों तो भी तेरे अन्तरस्वभाव के आश्रय बिना तुझे शान्ति देने के लिए दूसरा कोई समर्थ नहीं है और यदि तूने अपने स्वभाव का आश्रय किया है तो

फिर भले ही सारी दुनिया डूब जाए अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में खलबलाहट हो जाए तो भी तेरी शान्ति को भङ्ग करने में कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार जगत् से भिन्न अपने अस्तित्व को जानकर और अपनी शान्ति का परिणमन अपने अन्तर-साधन के आधीन है - ऐसा भान करके जो जीव अपने अन्तर में प्रयत्न करता है, वह परमशान्तरस प्रगट करके सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

जिस प्रकार उबलता हुआ पानी खौलता रहता है, वह जरा भी शान्त नहीं रहता; इसी प्रकार इस संसार में जीव दुःखों से खौल रहा है, उसे किञ्चित् भी शान्ति नहीं है - ऐसे संसार-दुःख का जिसे अन्तर में त्रास लगता हो और किसी भी प्रकार से उनसे छूटकर शान्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह जीव वास्तविक आत्मारथी होकर शान्ति का उपाय खोजता है। आत्मा की शान्ति के लिए गरजवान हुआ जीव, प्रथम तो जगत् में कैसे-कैसे तत्त्व हैं ? - उन्हें जानता है और उनमें स्वयं कौन है ? - यह भी जानता है; फिर अपना वास्तविक शुद्धस्वभाव क्या है ? - यह निश्चय करके, अन्तरस्वभाव सन्मुख होता है; इस प्रकार वह जीव, शान्ति प्राप्त करता है।

देखो, जब अपने अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर उसके अतीन्द्रिय शान्ति के अंश का वेदन हुआ, तब उस जीव ने जाना कि अहा! ऐसी शान्तिस्वरूप ही मेरा आत्मा है। यह जो शान्ति का वेदन हुआ, वह मेरे स्वभाव में से ही आयी है और मेरा सम्पूर्ण स्वभाव ऐसी शान्ति से भरपूर है। यह जो राग-द्वेषादि विकारीभाव वेदन में आते हैं, वह वेदन मेरे स्वभाव में से नहीं आया है, वह तो मुझमें आरोपित है। विकार मेरा स्वभावभूत नहीं है, अपितु उपाधिरूप है। इस प्रकार वेदन के स्वाद की भिन्नता से विकारीभाव उसे अपने स्वभाव से स्पष्ट भिन्न ज्ञात होते हैं; इस कारण ज्ञानी को उस क्षण में विकार वर्तता होने पर भी सम्यग्ज्ञानरूप विवेकज्योति भी साथ ही साथ वर्त ही रही है। एक ओर शान्तरस के समुद्र समान शुद्ध स्वभाव को जानता है और दूसरी ओर मलिन जल के डबरे/गड्डे के समान विकार को जानता है। इस प्रकार दोनों को जानता हुआ, विकार की तुच्छता जानकर, उसे तो छोड़ता जाता है और शुद्धस्वभाव की महिमा जानकर, उसमें झुकता जाता है। इस उपाय से अल्प काल में ही समस्त दुःखों का नाश करके, वह जीव परम आनन्दस्वरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। ●

परिशिष्ट -3

आत्मार्थी जीवों को वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन

आत्मा में मोक्ष की झलक लेकर और आत्मार्थी जीवों को हित का मार्ग दर्शाने के लिए सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। वे सन्त, क्षण भर में अन्तर में स्थिरता करके आनन्द में लवलीन हो जाते हैं और किञ्चित् बाहर आने पर शुभवृत्ति उत्पन्न हों, तब शास्त्र लिखते हैं.... इस प्रकार चैतन्य के आनन्द में झूलती दशा में सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। अन्तर की आनन्द की झलक बतलाकर, जगत् को सावधान किया है कि अरे जीवों! रुक जाओ... बाहर में कहीं तुम्हारा आनन्द नहीं है; तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अन्तर में है। अहा! बहिर्मुख दौड़ते हुए जगत् को सावधान करके सन्तों ने रोक दिया है।

देखो, यह बात झेलनेवाला जीव कैसा है? आत्मार्थी है, आत्मार्थ के लिए मर जाने को तैयार है। 'काम एक आत्मार्थ का दूजा नहीं मनरोग' अर्थात् अपना आत्मार्थ साधने के अलावा, जिसके अन्तर में दूसरी कोई मानादिक की शल्य नहीं है, दुनिया अपने को माने या न माने, इसकी उसे दरकार नहीं है। जगत् में दूसरों का सम्बन्ध रहे या न रहे, इसके समक्ष वह देखता भी नहीं है। एकाकी होकर भी अपने आत्मा को ही साधना चाहता है - ऐसा आत्मार्थी जीव, ज्ञानी-सन्तों के चरण की अतिशय भक्तिपूर्वक यह बात झेलता है।

जिसे ऐसी आत्मार्थिता होती है, उसे अन्तर में आत्मा समझानेवाले के प्रति कितना प्रमोद, भक्ति, बहुमान, उल्लास और अर्पणता का भाव होता है! वह आत्मा समझानेवाले के प्रति विनय से अर्पित हो जाता है... अहो नाथ! आपके लिए मैं क्या-क्या करूँ? इस पामर पर आपने अनन्त उपकार किया... आपके उपकार का बदला मैं किसी प्रकार चुका सकूँ - ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार किसी को फुँफकारता हुआ भयङ्कर सर्प, फन ऊँचा करके डस ले, तब जहर चढ़ने से आकुल-व्याकुल होकर वह जीव तड़पता हो, वहाँ कोई सज्जन गारूड़ी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार दे तो वह जीव उस सत्पुरुष के प्रति कैसा उपकार

व्यक्त करेगा? अहा! आपने मेरा जीवन बचाया, दुःख में तड़पते हुए मुझे आपने बचाया, इस प्रकार उपकार मानता है।

इसी प्रकार बाह्य विषयों से और रागादि कषायों से लाभ मानकर, जीव को अनन्तानुबन्धी क्रोध द्वारा फुँफकारते हुए मिथ्यात्वरूपी महाफणधर सर्प ने डस लिया है और वह जीव आकुल-व्याकुल होकर खौलते हुए पानी की तरह दुःख में तड़प रहा है। संसार-भ्रमण के दुःखों में सिकता हुआ, आकुल-व्याकुल होकर हाथ-पैर मारता है। वहाँ धर्मात्मा सन्त, ज्ञानरूपी गारूढी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार देते हैं और उसे दुःख से छूटने का उपाय बताते हैं। उपाय प्राप्त करके उस जीव को सन्तों के प्रति कितना उपकार आता है! अहा नाथ! आपने मुझे जीवन दिया... अनन्त दुःख से तड़पते हुए मुझे आपने उभारा... सर्प के जहर से बचानेवाले ने तो एक बार मरण से बचाया, परन्तु हे भगवान! आपने तो मुझे अनन्त जन्म-मरण के दुःखों से बचाया है।

देखो, इस प्रकार के वास्तविक उपकार का भाव कब जगता है? जबकि सन्तों के द्वारा बताया गया मार्ग अपने आत्मा में प्रगट करे तब।

मोक्ष के साधक वीतरागी सन्तों ने जो मोक्ष का उपाय बताया है, वह मोक्षार्थी जीव को ही परिणमित हो सकता है। जो जीव, विषय-कषाय का और मानादिक का अर्थी हो, उसे अन्तर में मोक्ष का उपाय परिणमित नहीं होता; जो जीव मोक्षार्थी है, उसके लिए ही सन्तों का उपदेश है। समयसार, गाथा 18 में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि -

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धा इस रीति से।

उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से ॥४॥

मोक्षार्थी जीव को क्या करना चाहिए? यह इसमें बताया है। इसी प्रकार समयसार, कलश 185 में भी कहते हैं कि -

मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदा शुद्ध चेतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में मोक्षार्थी जीव के लिए ही सन्तों का उपदेश है।

यहाँ भी यही कहते हैं कि अर्थतः अर्थी होकर, इस शास्त्र को जानना और इसमें कहे गये पदार्थों में से 'अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव ही मैं हूँ' – ऐसा निश्चय करना।

जगत् में समस्त पदार्थों का अस्तित्व होने पर भी, किसी एक की सत्ता दूसरे में नहीं है, सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप-मर्यादा में वर्त रहे हैं; अपने स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके कोई द्रव्य पर में नहीं जाता है। जीव अपने स्वरूप की (विकार की अथवा अविकार की) मर्यादा छोड़कर पर में नहीं जाता और जीव की स्वरूप-मर्यादा में परद्रव्य नहीं आते। अब तदुपरान्त जीव के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में विकार का भी प्रवेश नहीं है, विकार तो बहिर्लक्ष्यी उपाधिरूप भाव है, शुद्ध चैतन्य के साथ उसकी एकता नहीं हो सकती।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप जो निर्मलभाव प्रगट होता है, वह तो जीव के स्वरूप में अभेद हो जाता है; इसलिए उसे तो जीव कहा है परन्तु विकल्पभावों को जीव के शुद्धस्वरूप के साथ अभेदता नहीं होती; इसलिए शुद्धस्वरूप की दृष्टि से वे जीव नहीं, किन्तु अजीव हैं। पर्याय अपेक्षा से देखने पर विकार, निश्चय से अर्थात् अशुद्धनिश्चय से अपना ही है, वह अपना ही अपराधभाव है और शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से विकार, जीव में दिखता ही नहीं; जीव तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दोनों पहलुओं का ज्ञान कराकर, आचार्यदेव कहते हैं कि तेरे शुद्धस्वभाव को मुख्य रूप से लक्ष्य में लेकर, उसकी आराधना कर... और अशुद्धता को गौण करके, उसका आश्रय छोड़।

व्यवहार को उस काल में अर्थात् जब पर्याय को जानते हैं, उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है परन्तु उसका आश्रय करने के लिए नहीं कहा है। जब पर्याय को देखते हैं, उस काल में साधक को विकार अपने में आरोपित हुआ, ज्ञान में आता है परन्तु विकार अनुभव में आने पर भी उसी काल में साथ ही शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान भी वर्तता होने से, वह साधक विकार से विमुख होकर शुद्धस्वरूप में ढलता जाता है अर्थात् स्वभाव और विभाव में निरन्तर भेदज्ञान वर्तता होने से, वह साधक, रागादि

परिणति को शुद्धस्वरूप रूप से कभी अङ्गीकार नहीं करता; अपितु उसे परभावभूत उपाधि जानकर छोड़ता जाता है। रागपरिणति छूटने से कर्मबन्धन की अनादि की परम्परा टूट जाती है।

अनादि से रागपरिणति से कर्म का बन्धन और उसके उदय के समय पुनः रागपरिणति और फिर से कर्म का बन्धन – ऐसी परम्परा अभिच्छिन्नधारा से चल रही थी, किन्तु अब जिसकी परिणति स्वभावसन्मुख हो गयी है – ऐसे जीव को रागादि परिणति छूट जाने पर कर्मबन्धन की परम्परा भी छूट जाती है, उसे नवीन कर्म का संवर होता जाता है और पुराने कर्म झरते जाते हैं; इस प्रकार समस्त कर्मों से विमुक्त होता हुआ वह जीव, दुःख से परिमुक्त होता है। दुःख कैसा है? खौलते पानी के समान, अशान्तरूप है।

अन्तर्मुख स्वभाव में सुख है और बाह्य विषयों में खौलते हुए पानी के समान दुःख है... परन्तु भ्रान्ति के आवेश में भूले हुए जीव, स्वभाव की शान्ति से तो दूर भागते हैं और बाह्य विषयों के दुःख में दौड़कर, व्याकुलित होते हैं। जिस प्रकार भ्रान्ति के आवेश में पड़ा हुआ मृग, विपरीत दिशा में दौड़ता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव की दशा हो रही है।

एक दिशा में मृग को पकड़ने के लिए किसी शिकारी में जाल बिछाया हो और यह देखकर कोई दयालु महाजन, उस मृग को बचाने के उद्देश्य से उसे दूसरी दिशा में जाने के लिए संकेत करता है, वहाँ भ्रान्तिवश, वह मृग उस बचानेवाले को ही मारनेवाला समझकर, उससे डरकर विपरीत दिशा में अर्थात् जिस दिशा में जाल बिछा है, उसी दिशा में दौड़ता है और अन्त में जाल में फँस जाता है।

इसी प्रकार मोह की भ्रान्ति के वश पड़ा हुआ, मृग के समान अज्ञानी प्राणी अनादि से ही विपरीत दौड़ कर रहे हैं और बाह्य बिषयों में – राग में सुख मान-मानकर, उसी में दौड़ रहे हैं। ज्ञानी महाजन करुणापूर्वक उन्हें बिषयों से परान्मुख करके स्वभावसन्मुख करते हुए कहते हैं – अरे प्राणियों! बाह्य बिषयों की सन्मुखतारूप वृत्ति में सुख नहीं है, उसमें तो आकुलता की खलबलाहट है। अरे! व्यवहार की शुभवृत्ति में

भी सुख नहीं है, उसमें भी आकुलता की खलबलाहट है; इसलिए इन बाह्य वृत्तियों से परान्मुख होओ... वापिस मुड़ो... और अन्तर के चिदानन्दस्वभाव में सुख है, उसमें अर्न्तमुख होओ... अर्न्तमुख होओ!

अब, वहाँ जो जीव जिज्ञासु है, आत्मार्थी है, वह तो ज्ञानी सन्तों की ऐसी ललकार सुनकर रुक जाता है और अन्तर में विचार करके उसका विवेक करता है कि अहा! यह बात परमसत्य है, यह मेरे हित की बात है, किन्तु जो जीव भ्रान्ति के वश पड़ा है, जिसकी विचारशक्ति तीव्र मोह के कारण कुण्ठित हो गयी है – ऐसा जीव तो हितोपदेशक को भी अहितरूप समझकर ‘यह तो हमारा व्यवहार भी छुड़ाते हैं’ इस प्रकार उनसे भय खाकर, विपरीत दिशा में ही अर्थात् रागादि और बाह्य बिषयों में ही दौड़ता है और भव-भ्रमण के जाल में फँसकर दुःखी होता है। अपने हित का विचार करके, जो जीव स्वभावसन्मुख होता है और परभाव की परिणति से परान्मुख होता है, वह जीव, दुःख से छूटकर, परम आनन्द को प्राप्त करता है।

देखो, आचार्यदेव ने इस एक गाथा में बहुत-सी बातें बतला दी हैं। आत्मार्थता से लेकर मोक्ष तक की बातें इसमें समझायी हैं। प्रथम तो जिसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय का वर्णन हो, वही जिनप्रवचन है। मोक्षार्थी जीव उस जिनप्रवचन में कहे हुए द्रव्यों को जानता है; ‘अर्थी होकर जानता है’ अर्थात् आत्मा का हित प्राप्त करने की वास्तविक गरज से जानता है; ‘अर्थतः जानता है’ अर्थात् मात्र शब्दों की धारणा से नहीं किन्तु उनकी भाव-भासनपूर्वक जानता है। समस्त पदार्थों को जानकर, उनमें रहे हुए अपने आत्मा को पृथक् करके यह निश्चय करता है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्ववस्तु है, वही मैं हूँ – ऐसा निश्चय करके स्वभावसन्मुख ढलता है। अपने आत्मा में भी रागादि अशुद्धभावों के पहलु का आदर न करके, शुद्धस्वरूप का आदर करता है। पर्याय में विकार होने पर भी, उसी समय विवेकज्योति के बल से शुद्धस्वरूप में ढलता है और रागादि परिणति को छोड़ देता है। तात्पर्य यह है कि निजस्वभाव को छोड़ता नहीं और परभाव का ग्रहण नहीं करता।

यद्यपि उस जीव को राग के काल में भेदज्ञान वर्तता है परन्तु कहीं राग के कारण वह भेदज्ञान नहीं है। राग के साथ ही वर्तते हुए भेदज्ञान के कारण साधक जीव, उस राग

में अभेदता न करके, शुद्धस्वभाव में अभेदता करता जाता है और राग को छोड़ता जाता है। रागरूपी चिकनाहट के छूटने पर कर्म भी छूट जाते हैं। जिस प्रकार परमाणु में स्पर्श की स्निग्धता इत्यादि जघन्य हो जाने पर वह परमाणु स्कन्ध से पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार स्वभावसन्मुख झुके हुए जीव को रागादिरूप स्निग्धता छूट जाने से वह जीव, कर्मबन्धन से छूट जाता है।

श्रोता किसलिए सुनता है? सुनकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने के उद्देश्य से सुनता है। जैसा आत्मस्वरूप सुनता है, वैसा ही श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेने का उद्यम करता है; उद्यमपूर्वक अन्तस्वरूप में एकता करके, कर्म के साथ का एकत्व तोड़ देता है। राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्मबन्ध की परम्परा चलती थी परन्तु जहाँ अन्तर्मुख होकर राग-द्वेषपरिणति को तोड़ दिया, वहाँ पुराने और नये कर्मों के बीच की सन्धि टूट गयी अर्थात् कर्म की परम्परा रुक गयी और वह जीव संसार दुःख से परिमुक्त हुआ।

जीव, स्वभाव के साथ एकत्व से कर्म के साथ एकत्व तोड़कर उनकी परम्परा को छेद देता है। ऐसा नहीं है कि पुराने कर्म, नये बन्ध का कारण हुआ ही करे। जब जीव, राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्म के साथ जुड़ता है, तब ही कर्म की परम्परा चालू रहती है परन्तु यदि अपनी परिणति को स्वभाव के साथ जोड़कर, राग-द्वेष को छोड़े तो कर्म की परम्परा टूट जाती है। जिस प्रकार परमाणु अपने स्वरूप में एकाकीरूप वर्तता है; उसी प्रकार स्वरूप में एकत्वरूप से लगा हुआ जीव भी राग-द्वेषरहित होता हुआ, कर्मबन्धरहित होकर एकाकीरूप अर्थात् मुक्तदशारूप परिणमित होता है।

नियमसार में कहते हैं कि जड़स्वरूप पुद्गल की स्थिति, पुद्गल में ही है - ऐसा जानकर वे सिद्ध भगवन्त अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे? वहीं और भी कहा है कि यदि परमाणु एक वर्णादिरूप प्रकाशित निजगुण समुह में है तो उससे मेरी कुछ कार्यसिद्धि नहीं है। इस प्रकार निजहृदय में मानकर, परम सुखपद का अर्थी भव्य समूह, शुद्ध आत्मा को एक को भजो।

जिस प्रकार परमाणु जघन्य स्निग्धतारूप परिणमित होता है, तब वह स्कन्धरूप बन्ध से भिन्न हो जाता है; इसी प्रकार आत्मा भी परमात्मभावना की उग्रता द्वारा

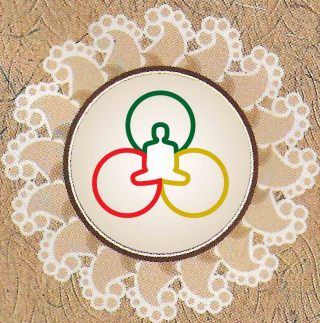
एकत्वस्वरूप में परिणमता हुआ कर्मबन्धन से भिन्न हो जाता है। इस प्रकार एक परमाणु और सिद्धपरमात्मा की तरह जो जीव अपने एकत्वस्वरूप में वर्तता है, उसे नवीन बन्धन नहीं होता और पूर्व में बँधे हुए कर्म भी छूट जाते हैं; इसीलिए वह अशान्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार शीतल जल तो शान्त होता है परन्तु वह ऊष्ण होने पर खौलने लगता है और अशान्त हो जाता है; इसी प्रकार शान्त जल से भरे हुए चैतन्यसरोवर भगवान् आत्मा में राग-द्वेष की ऊष्णता होने पर दुःख के बुलबुले उत्पन्न होते हैं, अशान्ति होती है; चैतन्यस्वभाव की भावना से राग-द्वेष शान्त हो जाने पर जीव उन अशान्त दुःखों से मुक्त होता है और अतीन्द्रिय शान्ति-आनन्द का अनुभव करता है – यह पञ्चास्तिकाय के अवबोध का फल है।

जो जीव, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का निश्चय करके उसके सन्मुख होकर वर्तता है, वह जीव, बन्धनरहित होकर, दुःख से मुक्त होकर परम आनन्द को पाता है। अनादि से स्वरूप की सन्मुखता किये बिना जीव महादुःख में जल रहे हैं। जिस प्रकार उफनते हुए तेल में शकरकन्द सिकता है; उसी प्रकार घोर दुःख के गढ़ों में राग-द्वेष-मोह से जीव आकुलित हो रहे हैं; उस दुःख से मुक्त होने की रीति आचार्यदेव ने इस 103 वीं गाथा में बतलाई है।

जो वन-जङ्गल में बसनेवाले महान सन्त हैं, जो विदेहक्षेत्र में जाकर भगवान् सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनकर आये हैं, जिनके चारित्र का पावर प्रस्फुटित हुआ है और जो चैतन्य के आनन्द में झूला झूल रहे हैं – ऐसे भगवान् कुन्दकुन्द आचार्यदेव का यह कथन है। जो जीव, आत्मार्थी होकर समझेगा, वह दुःख से परिमुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करेगा। ●

પ્રવચન
પ્રભાદ



શ્રી કુન્દકુન્દ-કહાન પારમાર્થિક ટ્રસ્ટ,
મુંબઈ